DUE DATE SLIP

GOVT. COLLEGE, LIBRARY

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DTATE	SIGNATURE

व्यवसाय व्यवस्था के सिद्धान्त

(PRINCIPLES OF BUSINESS ADMINISTRATION)

[राजस्थान विश्वविद्यालय के त्रिवर्षीय वाणिज्य पाठ्यक्रम के अन्तर्गत बी० कॉम० प्रथम वर्ष के विद्यार्थियो के लिए एक विस्तृत एव आलोचनात्मक अध्ययन]

लेखक
डा० एस० सी० सक्सेना,
एम० ए०, एम० कॉम०, एल-एल० बी०, पी एच० डी०,
वाणिज्य विभाग, महारानी लक्ष्मीबाई कॉलेज, ग्वालियर ।

प्रथम संस्करण
१९६२

आगरा
नवयुग साहित्य सदन,
उच्च कोटि के शिक्षा सम्बन्धी साहित्य के प्रकाशक

मूल्य : ८ रुपये ७५ नये पैसे

भूमिका

प्रारम्भिक—

'व्यवसाय व्यवस्था के सिद्धान्त' शीर्षक पुस्तक को लेकर उपस्थित होते हुये मुझे अत्यन्त हर्ष व सन्तोष होता है। गत वर्ष राजस्थान विश्वविद्यालय के त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम के अन्तर्गत बी० कॉम०, पार्ट १ के विद्यार्थियों ने मेरी सम्पूर्ण पुस्तक—'व्यावसायिक एवं औद्योगिक संगठन—सिद्धान्त एवं कार्य प्रणाली'—का अध्ययन किया था। किन्तु, उससे उनकी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की सन्तुष्टि न हो सकी थी, क्योंकि विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने पाठ्यक्रम में कुछ नवीन संशोधन कर दिये थे। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण पुस्तक का क्रय करना भी वित्तीय दृष्टि से असहनीय था। अतएव राजस्थान विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लाभार्थ नए रूप में इस पुस्तक को प्रस्तुत करना पड़ा।

विशेष आकर्षण—

इस पुस्तक की कुछ उल्लेखनीय विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

(१) 'विषय प्रवेश' शीर्षक प्रथम पुस्तिका में व्यावसायिक संगठन एवं व्यवस्था का अर्थ व महत्त्व बतलाया गया है तथा व्यावसायिक गृहों के संगठन की समस्याओं पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध एवं संगठन के सिद्धान्तों को भी अत्यन्त रोचक ढंग से समझाने का प्रयास किया गया है।

(२) 'एकाकी व्यापार का प्रबन्ध एवं संगठन' शीर्षक द्वितीय पुस्तिका में व्यावसायिक संगठन के एकल स्वामित्व वाले स्वरूप का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है।

(३) 'साझेदारी व्यापार का संगठन एवं प्रबन्ध' सम्बन्धी तृतीय पुस्तिका में साझेदारी-व्यापार की प्रकृति एवं विशेषताओं को अत्यन्त सरल ढंग से समझाया गया है।

(४) संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी का संगठन एवं प्रबन्ध' शीर्षक पुस्तिका की सामग्री को पूर्णतया बदल दिया गया है। कम्पनी अधिनियम, १९५६ में आज तक (अर्थात् दिसम्बर सन् १९६० तक) जितने भी संशोधन किये गये हैं, उन सबका समावेश यथास्थान इस पुस्तिका के अध्यायों में कर दिया गया है। प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के वर्तमान स्वरूप पर भी आलोचनात्मक ढंग से विचार किया गया है।

(५) 'व्यापार गृहो का आन्तरिक संगठन' शीर्षक पंचम पुस्तिका मे (i) थोक व्यापार, (ii) फुटकर व्यापार एवं (iii) सहकारी भण्डारो के व्यावसायिक संगठन पर प्रकाश डाला गया है ।

(६) 'विज्ञापन के आधुनिक साधन' सम्बन्धी छटी पुस्तिका मे विज्ञापन की उपयोगिता, इसके संगठन एवं विविध साधनों का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है ।

(७) 'विवेकीकरण एवं वैज्ञानिक प्रबन्ध' शीर्षक सप्तम पुस्तिका में विवेकीकरण व वैज्ञानिक प्रबन्ध के जटिल से जटिल सिद्धान्तो को अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट शब्दों म समझाने का प्रयास किया गया है । 'औद्योगिक उत्पादकता आन्दोलन पर भी एक नया अध्याय जोड दिया गया है ।

(८) 'व्यावसायिक संयोग' सम्बन्धी अष्टम पुस्तिका मे संयोगो के विभिन्न प्ररूपो के गुण व दोषो की व्याख्या की गई है । इस पुस्तिका मे नई सामग्री स सुसज्जित 'भारतीय उद्योगो मे संयोग आन्दोलन' शीर्षक अध्याय भी जोड दिया गया है ।

(९) 'औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन' के क्षेत्र मे भी गत कुछ समय से आश्चर्य-जनक प्रगति हुई है । उदाहरण के लिए, अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण प्रदान करने के लिए अनेक संस्थाओ का जन्म हुआ है, जिनका सम्पूर्ण आधुनिकतम इतिहास (नवीनतम आँकडो सहित) इस पुस्तिका मे दिया गया है ।

(१०) 'निर्माणी संस्थाओ का संगठन' शीर्षक दशम् पुस्तिका मे यह समझाने का प्रयास किया गया है कि किसी निर्माणी संस्था मे कार्य का नियोजन एवं क्रियान्वन किस प्रकार होता है । इसी पुस्तिका मे कार-खाने के प्रशासन एवं प्रबन्ध सम्बन्धी विभागो की भी चर्चा की गई है ।

आभार प्रदर्शन

इस पुस्तक की रचना म मुझे निम्नलिखित पुस्तको से विशेष सहायता मिली है, जिसके लिये मैं उनके लेखको व प्रकाशको के प्रति आभारी हूँ :—

(i) Philosophy of Management by Oliver Sheldon
(ii) Factory Management & Business Organisation by A S Despande
(iii) Industrial Management by Spriegel and Lansburgh
(iv) Modern Business by S S Chetterjee
(v) The Companies Act 1956 as amended by The Companies (Amendment) Act, 1960 by A N Aiyar & T. A Ram Chandran.

इनके अतिरिक्त Economic Times व Financial Times शीर्षक दैनिक पत्रों से भी बहुत सहायता मिली है। नवयुग साहित्य सदन के स्वामी श्री राजेन्द्रकुमार जैन को भी मैं बिना धन्यवाद दिए नहीं रह सकता, क्योंकि एक लघु अवधि में कुशलतापूर्वक मुद्रण एवं प्रकाशन करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। जिन शिक्षकों व विद्यार्थियों ने पत्रों द्वारा प्रेरित करके मुझे प्रोत्साहित किया, वे भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

सुधार हेतु निमन्त्रण—

पुस्तक को और अधिक उपादेय बनाने की दिशा में जो भी सुझाव मिलेंगे, उन पर सहर्ष विचार किया जाएगा।

आनन्द निवास,
जेकब परेड,
ग्वालियर।

—एस० सी० सक्सेना

UNIVERSITY OF RAJASTHAN

SYLLABUS

First Year Examination of 1962 & 1963

(of the Three Year Degree Course)

BUSINESS ADMINISTRATION

Paper I Principles of Business Administration

1 Nature and constitution of business houses (sole traders) Partnerships and Joint stock companies

2 Methods of financing trading and industrial concerns.

3 Organisation of retail houses (including departmental stores, multiple shops and mail order concerns) Wholesale houses and manufacturing business

4 Modern methods of publicity

5 Rationalisation—Scientific management and Business Combination

Note —The subject matter of this paper is to be studied with special reference to India

———

(v) The
(Amendments
Chandran

विपरीत यदि पूंजी का आधिक्य हो तो अतिपूंजीकरण के दोषों के कारण उद्योग को हानि उठानी पड़ेगी (जैसे—अतिरिक्त पूंजी का व्यर्थ ब्याज देना, आदि)। कहने का तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति के समस्त साधनो को एक निश्चित अनुपात मे मिलाना होगा, तभी न्यूनतम व्यय से अधिकतम उत्पादन सम्भव हो सकेगा।

सारांश मे, हम यह कह सकते हैं कि "व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योग की समृद्धि के लिए इनके विभिन्न साधनो मे प्रभावपूर्ण सहकारिता स्थापित करने की कला का नाम ही 'व्यावसायिक संगठन' है।"*

व्यावसायिक संगठन का उदय—

वर्तमान युग मे विविध व्यावसायिक क्रियाओ के संगठन पर हम अधिक बल देते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह कोई नवीन विचारधारा है। वास्तविक बात तो यह है कि मनुष्य सदैव से ही व्यवसायी रहा है। आदि काल का मानव भी अपनी परम आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिए कुछ न कुछ व्यवसाय करता था। आखेट युग मे जानवरो का शिकार करना ही उनका मुख्य व्यवसाय था, चरागाह के युग मे वे अपने जानवरो को लेकर सुन्दर चरागाह की खोज मे इधर-उधर घूमते थे। कृषि युग मे वे खेती करते थे और दस्तकारी युग मे छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे भी करने लगे। इस प्रकार ज्ञान एवं विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ व्यावसायिक क्रियाओ का क्षेत्र भी बढ़ता गया। दस्तकारी के युग तक वस्तु विनिमय (Barter System) के रूप मे व्यापार होता था, किन्तु बाद मे मुद्रा का जन्म हुआ, जिसने विनिमय के क्षेत्र मे उथल-पुथल पैदा कर दी। श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण का भी उदय हुआ। फिर, जब १८वी शताब्दी के द्वितीय चरण मे नई-नई मशीनो तथा यन्त्रो का आविष्कार हुआ तो व्यावसायिक क्रियाओ का कलेवर और भी बदल गया। गृह-उद्योग प्रणाली के स्थान पर कारखाना प्रणाली पनप उठी, मशीनो का बोलबाला होने लगा, बड़ी मात्रा मे वस्तुओ का उत्पादन होने लगा, व्यापारिक संस्थाओ का स्वरूप भी बदल गया, एकाकी व्यापार के स्थान पर साझेदारी की संस्थाएँ एवं कम्पनियो का तांता लग गया। यही नही, सभ्यता के विकास के साथ-साथ व्यावसायिक क्रियाओ के साधनो मे भी बड़ी प्रगति हुई है, जैसे—उन्नत यातायात एवं सन्देशवाहन के साधनो का होना, विशाल बैंक तथा बीमा कम्पनियो का जन्म, संयोग का निर्माण इत्यादि, अतः यह स्पष्ट है कि व्यावसायिक संगठन मानव के इतिहास के प्रारम्भ से चला आ रहा है। हाँ, इसकी रीतियो मे अवश्य अन्तर होता रहा है, जैसे—आखेट युग मे संगठन के साधन सरल तथा साधारण थे, किसी भी प्रकार का विशिष्टीकरण न था, किन्तु धीरे-धीरे इसमे परिवर्तन होता गया, अतः आज की स्थिति सर्वथा भिन्न है।

---

* "Bu iness Organisation is the art of establishing effective [co-o]peration between the various means of Trade, Commerce and [Indust]ry."

गठनकर्त्ता के कार्य—

वास्तव मे सगठन की आवश्यकता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रतीत होती है। यदि किसी परिवार मे मुखिया न हो तो परिवार का कार्य सुचारु रूप से नही चल सकता। जिन परिवारो के मुखिया चतुर एव योग्य नही होते उनमे व्यय अधिक होता है तथा परिवार के सदस्य भी सदैव दुखी रहते है। इसके विपरीत जिन परिवारो के मुखिया चतुर और योग्य होते हैं वहाँ न्यूनतम व्यय से ही सदैव सुख एव समृद्धि छाई रहती है, अत. जिस प्रकार परिवार मे हर प्रकार की आर्थिक क्षति को दूर करने के लिए चतुर मुखिया की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार व्यावसायिक क्रियाओ मे भी आर्थिक क्षति को दूर करने के लिए योग्य सगठन-कर्त्ता (Organiser) की आवश्यकता होती है। यह सगठन-कर्त्ता उत्पादन मे लगे हुए श्रम की देख-भाल करता है और उसको अपना समय नही खोने देता, आधुनिकतम एव श्रेष्ठ मशीन को उत्पादन कार्य मे लगाता है और यदि मशीन मे खराबी हो जाती है तो उसको दूर करता है। वह यह निश्चित करता है कि किसी साधन को कितनी मात्रा मे उत्पादन-कार्य मे लगाया जाय कि कम से कम व्यय पर अधिक से अधिक उत्पत्ति प्राप्त हो। वह यह भी निश्चित करता है कि साहसी को कितना लाभ बाँटा जाय और कितना लाभ भविष्य मे होने वाली हानि को पूरा करने के लिए रखा जाय। इसके अतिरिक्त वह यह भी निश्चित करता है कि निर्मित माल को कहाँ तथा कैसे बेचा जाय, उसका विज्ञापन कैसे किया जाय, आदि? उत्पादन-कार्य मे व्यवस्थापक अथवा सगठन-कर्त्ता वही कार्य करता है जो कि एक सेना का सेनापति करता है अथवा जो कार्य मानव शरीर मे आत्मा करती है, सक्षेप मे, सगठन-कर्त्ता के मुख्य कार्य निम्नलिखित है—

(१) प्रवर्तन—किसी भी व्यवसाय की स्थापना के पूर्व व्यवस्थापक या सगठनकर्त्ता को सर्वप्रथम यह देखना पडता है कि अमुक व्यवसाय की सफलता के लिए पर्याप्त क्षेत्र भी है अथवा नही। इसी को 'प्रवर्तन' (Promotion) या 'प्रारम्भिक अनुसन्धान' कहते हैं।

(२) व्यवसाय की स्थापना के लिये अनुसन्धान—प्रारम्भिक अनुसन्धान के उपरान्त जब उसको इस बात का विश्वास हो जाता है कि व्यवसाय की सफलता के लिए पर्याप्त क्षेत्र है तथा प्रतिद्वन्दिता मे भी वह दृढता के साथ टिक सकेगा, तब वह औद्योगिक स्थानीयकरण के विभिन्न घटकों पर विचार करके व्यवसाय के लिए एक श्रेष्ठ स्थान का चुनाव करता है।

(३) व्यवसाय का समामेलन—सगठनकर्त्ता के सम्मुख तीसरा प्रश्न रजिस्ट्रेशन या समामेलन का। किसी कम्पनी के समामेलन की दशा मे विभिन्न लेख पत्रो को तैयार करना पडता है तथा रजिस्ट्रार के कार्यालय मे फाइल करना पडता है।

(४) कार्यालय का सगठन—व्यवसाय के समामेलन के उपरान्त व्यावसायिक कार्यालय का सगठन करना पडता है।

(५) उत्पादन का प्रबन्ध करना—तत्पश्चात् संगठनकर्त्ता को उत्पत्ति के विविध साधनों को व्यवसाय के स्थान पर एकत्र करना पड़ता है। यह उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। उत्पादन के प्रबन्ध के हेतु उसे तीन बातों का ध्यान रखना पड़ता है—(अ) अधिक से अधिक उत्पादन हो, (ब) श्रेष्ठ व उच्च श्रेणी का उत्पादन हो एवं (स) सस्ता उत्पादन हो।

(६) वैज्ञानिक आधार पर श्रम का प्रबन्ध करना—'श्रम के प्रबन्ध' के अन्तर्गत श्रमिकों की भरती, उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था, निरीक्षण, पदोन्नति, विभागीय हस्तान्तरण, आदि समस्याओं का समावेश किया जाता है। 'श्रम' का सुचारु संचालन बहुत कुछ संगठनकर्त्ता की योग्यता पर निर्भर करता है।

(७) वित्त व्यवस्था करना—पूँजी वास्तव में व्यापार की 'आत्मा' है। बिना पूँजी के कोई भी व्यापार, चाहे वह बड़ी मात्रा का हो, अथवा छोटी मात्रा का, चल ही नहीं सकता। संगठनकर्त्ता को यह निश्चय करना पड़ता है कि व्यवसाय के लिए कितनी स्थाई पूँजी चाहिए एवं कितनी कार्यशील पूँजी। इस निर्धारण के उपरान्त उसको उन साधनों की भी खोज करनी पड़ती है जिनसे वह पर्याप्त मात्रा में आवश्यक पूँजी प्राप्त कर सकता है।

(८) माल के विज्ञापन, वितरण व विक्रय की व्यवस्था करना—जब माल तैयार हो जाता है, तब संगठनकर्त्ता यथोचित ढङ्ग से विक्रय के हेतु उसका विज्ञापन करता है और फिर ऐसे साधनों की खोज करनी पड़ती है, जिनके द्वारा न्यूनतम व्यय पर निर्मित माल उपभोक्ताओं के दरवाजे तक पहुँचे सके।

(९) बजट पर नियन्त्रण रखना—बजट भावी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में संगठनकर्त्ता का अनुमान (Estimate) है। संगठनकर्त्ता को चाहिए कि व्यवसाय की समस्त आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए बजट बनाए एवं बाद में उस पर नियन्त्रण भी रखे, जिससे कि समस्त व्यावसायिक क्रियाएँ पूर्व निश्चित बजट के अनुसार ही हों।

(१०) अनुसन्धान व भविष्यवाणी करना—संगठनकर्त्ता को अनुसन्धानकर्त्ता एवं भविष्य-वक्ता भी होना चाहिए। अनुसन्धान दो प्रकार का हो सकता है:—(अ) तान्त्रिक (ब) व्यापारिक। किसी वस्तु की किस्म व प्रमाप से सम्बन्ध रखने वाला अनुसन्धान तान्त्रिक अनुसन्धान (Technical Research) कहलाता है। उपभोक्ताओं को किस प्रकार की, कब व कितनी वस्तुओं की आवश्यकताएँ हैं—इस समस्या से सम्बन्ध रखने वाली खोज व्यापारिक अनुसन्धान (Commercial Research) कहलाती है। नए-नए बाजारों की खोज भी व्यापारिक अनुसन्धान के अन्तर्गत आती है।

संगठनकर्त्ता को एक योग्य आर्थिक भविष्य वक्ता (Economic Prophet) भी होना चाहिये। उसमें बाजार की भावी दशाओं, मूल्य स्तर, सम्भावित प्रतिस्पर्द्धा, भावित माँग, फैशन व स्टाइल सम्बन्धी प्रवृत्तियों, आदि का अनुमान लगाने की क्षमता होनी चाहिये।

(११) औद्योगिक प्रबन्ध के लिए पूर्व प्रशिक्षण—आजकल यह एक सामान्य अनुभव है कि औद्योगिक प्रबन्ध करना कोई साधारण खेल नहीं है। इसके लिए पूर्व प्रशिक्षण नितान्त आवश्यक है, अत. संगठनकर्त्ता को औद्योगिक प्रशिक्षण की कला में प्रवीण होना चाहिए।

व्यावसायिक क्रियाओं का उद्देश्य—

आजकल प्रायः प्रत्येक व्यावसायिक क्रिया का उद्देश्य 'लाभ कमाना' (Profit Motive) ही रह गया है। आज जब कभी किसी उद्योग की चर्चा चलती है, तो पहला प्रश्न यह होता है कि कितना लाभ होगा? श्रीयुत मार्क्स (Karl Marx) ने भी एक स्थान पर लिखा है कि—"आज का उद्योगपति समाज की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न नहीं करता, वरन् उसका ध्यान सदैव अधिकतम लाभ की ओर ही लगा रहता है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के हेतु वह उत्पादन भी करता है।" पूंजीपतियों का प्रधान उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है, अतएव वे वस्तुओं के मूल्य को ऐसे स्तर पर ले जाते हैं, जिससे उनका लाभ अधिक हो। यदि उनको कभी ऐसी आशंका होती है कि मूल्य स्तर गिर रहा है तो उन्हें अपने माल को नष्ट करने में नेकमात्र भी हिचकिचाहट नहीं होती। इसका तात्पर्य यह है कि माल का नष्ट करना उन्हें स्वीकार है, किन्तु सस्ते मूल्य पर बेचकर जन साधारण की सेवा करना उन्हें नहीं सुहाता। भविष्य में ऊंचे मूल्य पाने की अभिलाषा में कभी-कभी तो वे माल को दबा कर ही रख लेते हैं। भले ही लोग त्राहि त्राहि करें, किन्तु जनता को तड़पाने में ही उन्हें आनन्द आता है। श्री बर्नार्ड शॉ (Bernard Shaw) ने ठीक ही लिखा है कि "पूंजीवाद में आत्मा नहीं होती। पूंजीपतियों की अभिलाषा 'लाभ' तथा उनका ईश्वर 'स्वर्ण' है।" दूसरे, आज के उद्योगपति इसकी भी चिन्ता नहीं करते कि समाज को किस वस्तु की आवश्यकता है, अथवा राष्ट्र के हित में किस वस्तु का उत्पादन श्रेयस्कर होगा। वे तो केवल ऐसे कार्य की ओर ही ध्यान देते हैं जिसमें उन्हें लाभ अधिक हो, भले ही उस उद्योग-विशेष में कार्य करने का क्षेत्र न हो अथवा भले ही वह कार्य राष्ट्र के लिए अहितकर हो।

इस सम्बन्ध में यह लिखना अनावश्यक न होगा कि जो व्यवसायी अपना व्यवसाय केवल लाभ कमाने के उद्देश्य से ही करता है और उसका उद्देश्य जन सेवा का नहीं रहता, वह कुछ समय के लिये भले ही कुछ लाभ कमा ले, किन्तु वह लाभ भी चिर-स्थाई नहीं रह सकता है। कुछ लोगों के विचारानुसार, कोई भी व्यापारी व्यापार में इसलिए प्रवेश करता है कि वह अन्य व्यक्तियों की भांति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये लाभ कमाये, अतः लाभ की भावना सर्वथा उचित है। यह ठीक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवनयापन के लिये धन चाहता है और वह धन उसके व्यापारिक लाभ में ही निहित है, किन्तु 'सेवा-भाव' (Service Motive) को तिलाञ्जलि देकर जो लाभ कमाया जाता है, उसमें स्थायित्व नहीं रहता। व्यावसायिक संगठन का प्रधा

उद्देश्य समाज-सेवा तथा समाज मे सुख, सन्तोष एव शान्ति का प्रसार करना होता है और इसी ध्येय से उद्योगपतियो को कार्य करना चाहिये, तभी राष्ट्र का कल्याण होगा। अमरीकन फोर्ड मोटर कम्पनी के व्यवस्थापक श्री हेनरी फोर्ड के अनुसार—'किसी भी व्यापारी का सर्व प्रथम उद्देश्य 'सेवा' होना चाहिए और दूसरा 'लाभ'। इस सिद्धान्त का प्रयोग श्री फोर्ड ने स्वय अपने कारखाने मे किया। फोर्ड कम्पनी की गाडियो पर केवल नाम मात्र को ही लाभ रखा गया और वह भी इस आश्वासन के साथ कि यदि कोई गाडी खराब हो जाय, तो उसका सुधार नि:शुल्क किया जायगा। फोर्ड एजेन्सियो मे आज भी इस प्रकार की व्यवस्था है। इसमे क्रेताओ मे अटूट विश्वास पैदा हो जाता है एव वस्तुओ का विक्रय भी सुविधा से होता रहता है। फोर्ड के कारखाने मे एक पृथक अनुसन्धान विभाग की स्थापना की गई है, जिसका कार्य गाडी के नमूने मे लोगो की रुचि तथा समय के अनुसार परिवर्तन करना है। इस सेवा-भाव के कारण ही हेनरी फोर्ड एक साधारण व्यवसायी से विश्व का प्रमुख उद्योगपति बन गया है।

सहकारी, जन सेवी तथा राजकीय सस्थाओ का प्रमुख उद्देश्य 'सेवा-भाव' ही होना चाहिये, न कि 'लाभ कमाना'। इन सस्थाओं मे व्यक्तिगत लाभ की भावना का स्थान जन-सेवा की भावना ले लेती है, क्योंकि राष्ट्रीय या राष्ट्रीयकृत उद्योगो का प्रमुख उद्देश्य जन कल्याण होता है। राजकीय उद्योग (Public Enterprises) अन्य उद्योगो की भाँति केवल विशिष्ट हितो के रक्षार्थ ही नही (जैसे मजदूरो, विनियोगको अथवा उपभोक्ताओ के हित), वरन् देश के समस्त नागरिको, जिनमे पुरुष, स्त्री व बच्चे सभी सम्मिलित होते हैं, के लाभार्थ चलाये जाते हैं। राजकीय उद्योगो की दशा मे सेवा-भाव को प्रधानता दी जाती है और इसी हेतु कभी-कभी इन उद्योगो द्वारा निर्मित पदार्थ उत्पादन व्यय से भी कम मूल्य पर बेचे जाते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि राजकीय सस्थाओ का घाटा अतिरिक्त करारोपण द्वारा पूरा किया जाता है। व्यक्तिगत सस्थाओं के लिये यह सम्भव नही हो सकता।

भारतीय व्यापारियों मे 'लाभ की भावना' ही अधिक है और 'सेवा-भाव' कम। इसी का दुखद परिणाम है कि विदेशो मे हमारे माल की ख्याति अच्छी नहीं है। आज भारतीय बाजारो मे विदेशी व्यापारियो की सफल प्रतिद्वन्द्विता तथा अधिक बिक्री का एक मूल कारण यह है कि हमारे व्यापारी व्यवहार-कुशल तथा सेवा-भावी नही हैं। व्यापारिक सेवाओं का माप-दण्ड 'लाभ' न होकर 'सेवा' होना चाहिए। इस नीति को अपनाकर कोई भी व्यापारी अपने छोटे से व्यापार को अन्तर्राष्ट्रीय रूप दे सकता है और वह सर्व-साधारण के हित तथा व्यापार के लिये लाभदायक सिद्ध होता है।

एक पेशे के रूप में व्यावसायिक संगठन के अध्ययन का महत्त्व

वर्तमान व्यावसायिक सगठन की एक नवीनतम व उल्लेखनीय प्रवृत्ति यह है कि शनैः-शनैः लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि 'व्यवसाय भी एक पेशा है' (Busi-

pees is a profession)। पुरातन काल से केवल निम्न तीन क्रियाओं को ही 'पेशे' की संज्ञा दी जाती थी—(अ) पादडियों का पेशा, (ब) वकालत का पेशा, और (स) डाक्टरी का पेशा। परन्तु आजकल 'पेशा' शब्द का प्रयोग अत्यन्त लोकप्रिय हो गया है और इसकी परिभाषा के अन्तर्गत रोटी कमाने से सम्बन्धित प्रत्येक मानवीय क्रिया शामिल की जाने लगी है, जैसे कथावाचक, जादूगर, आदि अपने धन्धों को भी पेशा कहने लगे हैं। 'पेशे' की ये दोनों ही परिभाषायें उपयुक्त नहीं कही जा सकतीं। सच बात तो यह है कि प्रत्येक 'धन्धा' (Occupation) 'पेशा' नहीं कहा जा सकता। 'पेशे' की श्रेणी में गणना के हेतु अमुक व्यावसायिक क्रियाओं में पाँच आवश्यक लक्षण होने चाहिये :—(१) उस व्यावसायिक क्रिया के सम्बन्ध में पर्याप्त सचित ज्ञान उपलब्ध होना चाहिये। (२) पेशे के इच्छुक व्यक्तियों के लिये उस ज्ञान की जानकारी होना अनिवार्य है। (३) पेशे के नैतिक स्तर को बनाये रखने के लिये यह अनिवार्य हो कि उस व्यावसायिक क्रिया को करने वाले सभी व्यक्ति ईमानदारी से काम करें। (४) उस पेशे में सलग्न व्यक्ति 'सज्जन' ही होने चाहिये, अर्थात् उनका नैतिक स्तर अति उच्च होना चाहिये, और (५) लाभ की भावना की अपेक्षा सेवा भाव पर वे अधिक बल देते हों।

एक पेशे की उपर्युक्त पाँच कसौटियों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि व्यावसायिक सगठन एव प्रबन्ध एक सामान्य व्यावसायिक क्रिया नहीं, वरन् एक 'पेशा' है। श्री एच० एन० ननजिन्डिहा (H. N. Nanjundiah) ने "Mangement as a Profession" शीर्षक लेख में निम्नलिखित दलील देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि व्यावसायिक सस्थाओं का प्रबन्ध एक 'पेशा' है :—

(१) समाज के प्रति सेवा की भावना होना—एक समय था, जबकि व्यवसायी केवल लाभ की भावना को ही प्रमुखता देकर सफल हो जाया करते थे और आज भी अनेक ऐसे व्यवसायी हैं, जो 'लाभ' को प्रमुख और 'सेवा भाव' को गौण स्थान देते हैं, परन्तु अब हम यह अनुभव करने लगे हैं कि सेवा-भाव को महत्वपूर्ण स्थान देना होगा। यह भावना विशेषत तब ही जाग्रत हो सकती है जब हम व्यावसायिक प्रबन्ध एव सगठन को एक पेशे के रूप में मान्यता दें।

(२) वर्तमान व्यवसाय की जटिलतायें—आजकल ज्ञान, विज्ञान एव तान्त्रिक कला के क्षेत्र में अनेक अनुसन्धान एव आविष्कारों के परिणामस्वरूप व्यावसायिक-प्रबन्ध एव सगठन के क्षेत्र में भी अनेक जटिलतायें पैदा हो गई हैं। मानव, मशीन एव माल का (Three M's of Industry—Men, Machine and Material) एकत्रीकरण अब इतना सरल नहीं रहा, जितना कि पहले था। अब व्यावसायिक सस्थाओं के प्रबन्धकों को सस्था का सुचारु सगठन करने के लिए विभिन्न विभागों में विशेषज्ञों की नियुक्ति करनी पड़ती है, जिनका सम्बन्ध किसी न किसी पेशे से होता है (जैसे चारटर्ड एकाउन्टेन्ट, वैधानिक सलाहकार, वित्त विशेषज्ञ, विक्रय विशेषज्ञ, इत्यादि)। अतएव यह नितान्त आवश्यक है कि एक सर्वोच्च श्रेणी के पेशेव

सम्बन्धित विवेकशील व्यक्ति ही व्यवसाय की वर्तमान जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिए रखे जाय।[1]

(३) नैतिकता, सत्यशीलता एवं न्याय निष्ठा की आवश्यकता—जैसा कि अंग्रेजी शब्द 'MANAGEMENT' के प्रथम तीन अक्षरों MAN से प्रकट होता है, 'प्रबंध' वास्तव में मनुष्यों अर्थात् किसी कारखाने में काम करने वाले श्रमजीवियों पर नियन्त्रण से सम्बंध रखता है। एक कारखाने का व्यवस्थापक या मैनेजर नियन्त्रण के इस कार्य में केवल उसी दशा में सफल हो सकता है जबकि उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली हो, नैतिक स्तर अति ऊँचा हो एवं सत्यशीलता व न्याय निष्ठा उसके व्यवहार की प्रमुख विशेषताएं हो।[2] यह सम्भव हो सकता है कि एक ऐसा वकील जिसका नैतिक स्तर अत्यन्त गिरा हुआ है, भी सफल अभिभाषक (Pleader) हो अथवा एक चरित्रहीन व्यक्ति सफल डाक्टर हो, परन्तु एक निम्न नैतिक स्तर वाला व्यक्ति कभी भी सफल या कुशल व्यवस्थापक या मैनेजर नहीं बन सकता। इसका कारण यह है कि व्यावसायिक संस्था के प्रधान के लिये आदर्शवादिता नितान्त आवश्यक है। यदि वह स्वयं नैतिकता के मूल भूत सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं करता तो उसके नियन्त्रण में काम करने वाले कर्मचारी कभी भी ईमानदारी, लगन व न्याय निष्ठा से काम नहीं कर सकते। इसलिए यह बड़ा आवश्यक है कि व्यवसाय में नैतिक वातावरण बनाये रखने के लिए ऐसे व्यक्ति हों जो कि अपने पेशे का नैतिक स्तर दृढ़ रख सकें।

(४) श्रेष्ठ व्यवस्थापकों व प्रबन्धकों की आवश्यकता—कभी-कभी व्यंग रूप में ऐसा कहा जाता है कि पार्लियामेंट का सदस्य अथवा किसी व्यावसायिक संस्था का प्रबन्धक बनने के लिये किसी नियत योग्यता की आवश्यकता नहीं होती, अर्थात् कोई भी व्यक्ति, भले ही वह कार्यक्षम व योग्य हो अथवा न हो, पार्लियामेंट का सदस्य या किसी व्यावसायिक संस्था का प्रबन्धक बन सकता है। कम से कम व्यावसायिक संस्था के व्यवस्थापक अथवा प्रबंधक के लिये उपयुक्त व्यंग उचित प्रतीत नहीं होता। आजकल अब वह समय चला गया जब पिता के बाद पुत्र व्यवस्था किया करता था। आजकल किसी अनुभवी व्यवसायी के परिवार में केवल जन्म लेने से ही व्यवस्थापक के गुण नहीं

1 "Only an ultra professional managerial skill, which transcends all known problems of dealing with men in a host of narrow professions can elevate business managements to the required heights The ability of modern business to survive depends on this There is certainly no room for unprofessional management at such heights"—'Management as a Profession' by H. N. Nanjundiah

2 "In no other walk of life is the moral character of man put to test and the superficiality of his professions brought to light as business in management' A N. Nanjundiah

जाते, योग्य एव कार्यक्षम व्यवस्थापक बनने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि अमुक व्यक्ति को अपने व्यापार अथवा उद्योग का पूर्ण तान्त्रिक ज्ञान हो। जिस प्रकार कि वकालत या डाक्टरी के पेशे मे पदार्पण करने के लिये यह जरूरी है कि अमुक व्यक्ति ने पहले एल एल० बी० या एम० बी० बी० एस० कर लिया हो तथा पेशे सम्बन्धी कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व प्रेक्टिकल ट्रेनिंग भी प्राप्त कर ली हो, इसी प्रकार व्यावसायिक पेशे (Business Profession) मे प्रवेश करने के पूर्व उस व्यवसाय से सम्बन्धित विशिष्ट ज्ञान होना अनिवार्य है। तभी वह व्यवसाय के उच्च स्तर को बनाये रख सकता है।[1]

(५) प्रबन्धीय जनतन्त्र की आवश्यकता—वर्तमान औद्योगिकवाद की यह विशेषता है कि स्वामित्व एव प्रबन्ध मे पृथकता रहती है। दूसरे, आजकल इस बात की कोई गारन्टी नही है कि जो लोग किसी औद्योगिक संस्था मे पैसा लगाते हैं वे आवश्यक व्यावसायिक एव प्रबन्धीय नेतृत्व भी प्रदान कर सकेंगे। इस बात का भी कोई निश्चय नही है कि एक कुशल व्यापारी का पुत्र भी कुशल व्यवसायी होगा, भले ही उसने कितनी सम्पत्ति एव पूँजी उत्तराधिकार मे प्राप्त की हो। किसी व्यक्ति को अधिकार प्रदान करके कुशल मैनेजर नही बनाया जा सकता। प्रबन्धीय कुशलता किसी व्यक्ति के मुख पर कृत्रिम ढङ्ग से चित्रित नही की जा सकती। इसके लिए तो बडे त्याग, पुरुषार्थ एव व्यावसायिक पेशे सम्बन्धी ज्ञान के पूर्व अर्जन की आवश्यकता है। अतएव आज आवश्यकता इस बात की है कि हम प्रबन्धीय सामन्तवाद की जगह प्रबन्धीय जनतन्त्रवाद की स्थापना करे और यह तभी सम्भव है जबकि हम व्यावसायिक क्रियाओ को पेशे का रूप देकर अध्ययन करें।[2]

---

1 "If business in the years to come should not suffer from the same problems, developing tomorrow's managers is an inalienable obligation on the part of today's management It is only through the creation of adequate managerial assets that the desired management reserve for tomorrow can be built up It is untrue to say that Managers are born and not made" H. N. Nanjundiah.

2 "We need, therefore, to replace 'Managerial Eistocracy' by 'Managerial democracy' It is the professional features of management which alone are amenable to be taught and learnt as a discipline that make possible the attainment of managerial democracy in modern business. Moreover, it is democracy in management that makes possible the removal of wrong or poor leadership. There lies an additional need for management becoming professional in practice,"

(६) वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता—व्यावसायिक प्रबन्ध एव सगठन एक विज्ञान है, अतएव विज्ञान का अध्ययन करने के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी नितान्त आवश्यक है और यह दृष्टिकोण तभी सम्भव है जब हम प्रबन्ध-कला को एक उच्च स्तरीय पेशे का रूप दे।

भारत मे 'व्यावसायिक सगठन' के अध्ययन का महत्त्व—

उपर्युक्त बातो से यह स्पष्ट है कि व्यावसायिक सस्थाओ का प्रबन्ध एव सगठन एक उच्च-स्तरीय विज्ञान है, जिसके लिये पूर्व प्रशिक्षण नितान्त आवश्यक है। भारतवर्ष एक अर्द्ध-विकसित देश है और अविकसित प्रबन्ध के द्वारा इसकी प्रगति नही की जा सकती। वर्तमान काल हमारे देश के लिये योजना, पुनर्निर्माण एव विकास का काल है। आजकल देश की चहुँमुखी समृद्धि के लिये तरह-तरह की योजनायें बनाई जा रही हैं तथा उनको कार्यान्वित भी किया जा रहा है। देश की औद्योगिक प्रगति के लिये अनेक वृहद्, लघु स्तरीय तथा कुटीर-उद्योग स्थापित किये जा रहे हैं। द्वितीय एव तृतीय पच-वर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत राजकीय क्षेत्र मे अनेक उद्योग स्थापित करने के प्रस्ताव हैं। व्यापार, वाणिज्य एव उद्योग की समृद्धि तथा उनकी वैज्ञानिक प्रगति के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम 'सगठन' का आश्रय ले। बिना व्यावसायिक क्रियाओ के सुचारु सगठन के 'नियोजित औद्योगिक विकास' की कल्पना करना चन्द्रमा को पृथ्वी पर लाने के समान असम्भव है। यही कारण है कि बी० कॉम० कक्षाओ मे अनिवार्य रूप से इसका अध्ययन कराया जाता है।

STANDARD QUESTIONS

1 "Business Organisation is the art of establishing effective co-operation between the various means of trade, commerce and industry Discuss this statement carefully

2 Differentiate between 'Trade', 'Commerce' and 'Industry' explaining the main characteristics of each. State the broad categories under which industries may be classified for purposes of administrative management.

3 Briefly trace the evolution of Business Organisation

4 Who is an 'Organiser'? Briefly summarise his principal functions

5 What are the principal features of modern business organisation? How far do you agree with the view of Bernard

Shaw that "Capitalism has no conscience, its ambition is profit and its God is gold' ?

Service first and Profit next should be the aim of a business man.' Explain this motto with special reference to the Ford Motor Company of America

Attempt a lucid essay on "Management as a profession."

'We need therefore, to replace 'Managerial Aristocracy' by 'Managerial Democracy.' It is the professional features of management which alone are amenable to be taught and learnt as a discipline that make possible the attainment of managerial democracy in modern business" Comment

Discuss the importance of business organisation with special reference to the present day economy of India.

अध्याय २

प्रबन्ध एवं संगठन के सिद्धान्त

"प्रबन्ध उद्योग की वह जीवनदायिनी शक्ति है, जो संगठन को शक्ति देता है, संचालित करता है एवं नियन्त्रण मे रखता है।"

प्रबन्ध
(Management)

'प्रबन्ध', 'व्यवस्था' एव 'संगठन' मे अन्तर—

सामान्यत 'प्रबन्ध (Management), व्यवस्था (Administration) एवं संगठन (Organisation)—ये तीनो ही शब्द पर्यायवाची शब्दो के रूप मे प्रयोग किये जाते हैं। किन्तु, यदि हम गम्भीरता से इनके अर्थ का विश्लेषण करें, तो ज्ञात होगा कि ये तीनो ही शब्द तथा इनके क्षेत्र पृथक पृथक हैं। Philosophy

Management शीर्षक पुस्तक मे ओलिवर शैल्डन ने इन तीनो शब्दो का अन्तर इस प्रकार व्यक्त किया है —"व्यवस्था" सगठन का स्वरूप निर्धारित करता है, जिसका उपयोग प्रबन्ध द्वारा किया जाता है। 'व्यवस्था' का कार्य नीति का निर्धारण करना है और 'प्रबन्ध' का कार्य उसे कार्यान्वित कराना है। व्यवस्था द्वारा निर्धारित नीतियों एव उद्देश्यो को कार्यान्वित करने के लिए प्रबन्ध जिस तन्त्र का उपयोग करता है, उसे 'संगठन' कहते है।"*

टेलर सोसायटी के बुलैटिन मे प्रकाशित एक लेख मे श्री जे० एन० शुल्जे (J. N. Schulze) ने व्यवस्था, प्रबन्ध एव सगठन मे अन्तर इस प्रकार बताया है:— " 'व्यवस्था' उद्योग की वह शक्ति है, जो उन उद्देश्यो को निर्धारित करती है, जिनकी पूर्ति के हेतु सगठन एव प्रबन्ध प्रयत्न करते हैं और जिनके अनुकूल ही उनका आचरण होना है। 'प्रबन्ध' उद्योग की वह शक्ति है, जो कि पूर्ण निश्चित उद्देश्यो को कार्यान्वित करने के लिए सगठन का मार्ग-दर्शन एव नियन्त्रण करता है। 'संगठन' मे आशय मानव, माल, मशीन व औद्योगिक शक्ति आदि के सयोग से है, जो कि निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए वैज्ञानिक ढग से एकत्रित किये जाते है। "An Approach to Management" शीर्षक पुस्तक में श्री जी० ई० मिलवर्ड (G. E. Milward) ने लिखा है कि, " 'व्यवस्था' से तात्पर्य मुख्यत. उस साधन से होता है, जो कि उस उद्देश्य को निर्धारित करता है, जिसे सस्था व उसके कर्मचारी वर्ग को प्राप्त करना है। गौण रूप से 'व्यवस्था' उन सामान्य सिद्धान्तो की योजना बनाती है, जो कि सस्था के कार्यो का नियमन करते रहेगे। इन्ही सामान्य सिद्धान्तो को 'नीतियाँ' कहा जाता है। 'प्रबन्ध' वह साधन है जिसके द्वारा सामान्य नीतियो के पालन की योजना बनाई जाती है तथा देख-रेख की जाती है। 'सगठन' से तात्पर्य उस साधन का है, जो कि सम्पूर्ण कार्य को समुचित भागो मे बाँटता है, विभिन्न भागो को एक पद के अन्तर्गत समूहबद्ध करता है और प्रत्येक कार्य समूह के लिये उपयुक्त व्यक्ति की नियुक्ति करता है तथा नियोजनानुसार कार्य किया जा रहा है या नही, इसकी देखभाल करने के लिये योग्य व्यक्तियो को नियुक्त करता है।" डाक्टर विलियम स्प्रीगल (Dr. William R. Spriegal) के शब्दो मे, " 'व्यवस्था' एक निर्धारात्मक कार्य है और 'प्रबन्ध' एक कार्यकारिणी कार्य है, जिसका प्रमुख काम व्यवस्था द्वारा नीतियो को कार्यान्वित करना

* "Administration determines the organisation management uses it. Administration defines the goal management strives towards it. Organisation is the machine of management in its achievement of the ends determined by administration."

—Philosophy of Management by Oliver Sheldon, Page 32.

है। 'सगठन' वह तंत्र है जो कि 'व्यवस्था' एवं 'संगठन' के बीच समन्वय स्थापित करता है।''*

सरल शब्दों मे, हम इस प्रकार कह सकते है कि किसी भी उद्योग के सुचारु संचालन के लिये साधारण रूप रेखा बनाना 'व्यवस्था' का कार्य है। 'व्यवस्था' उद्योग के प्रत्येक अंग से सम्बन्ध रखती है, किन्तु 'प्रबन्ध' नही। 'व्यवस्था' की सामान्य नीति के अनुसार ही 'प्रबन्ध' किया जाता है। प्रबन्ध उद्योग का वह अंग है जोकि श्रमजीवियों के कार्य एवं सामूहिक प्रयत्न से सम्बन्ध रखता है। दूसरे शब्दों मे, व्यवस्था द्वारा ही प्रबन्ध का नियन्त्रण होता है। 'व्यवस्था' का कार्य तो सामान्य नीति बनाना है और नीति के अनुसार कार्य करना 'प्रबन्ध' का काम है।

प्रबन्ध की परिभाषा—

जैसा कि अंग्रेजी शब्द 'MANAGEMENT' के प्रथम तीन शब्दों MAN से प्रगट होता है, प्रबन्ध वास्तव मे मनुष्यों अर्थात् किसी कारखाने मे काम करने वाले श्रमजीवियों पर नियन्त्रण से सम्बन्ध रखता है। 'प्रबन्ध' वास्तव मे उद्योग रूपी शरीर का मस्तिष्क अथवा उसकी जीवनदायिनी शक्ति है। जिस प्रकार बिना मस्तिष्क एवं प्राण के मानव शरीर अस्थियों एवं मांस का लौंदा है, उसी प्रकार बिना प्रबन्ध एवं संगठन के एक औद्योगिक संस्था भी भूमि, श्रम एवं पूंजी का एक निष्क्रिय समूह मात्र है। जिस प्रकार जितना ही विवेकशील मस्तिष्क होगा उतने ही चमत्कारिक कार्य वह मानव करेगा, ठीक इसी प्रकार जितना चतुर, क्रियाशील एवं योग्य प्रबन्ध होगा, उस उद्योग का उत्पादन भी उतना ही श्रेष्ठ होगा। प्रबन्ध उद्योग की वह जीवनदायिनी शक्ति है जो संगठन को शक्ति देता है, संचालित करता है और नियन्त्रण मे रखता है।

(उद्योग के एक घटक के रूप मे प्रबन्ध अपने सहयोगियों (श्रम एवं पूंजी) से सर्वथा भिन्न है, यद्यपि इन दोनों के समायोजन मे वह एक महत्वपूर्ण कार्य करता है)। पूंजी अथवा यों कहे कि सेवायोजकों से उसकी कोई घनिष्ठता नहीं कही जा सकती, क्योंकि सामान्यतः इसका (प्रबन्ध का) अपने संचालित व्यापार मे लेशमात्र भी आर्थिक हित नही होता। इसी प्रकार श्रमिक वर्ग से भी इसकी विशेष घनिष्ठता नही कही जा सकती, क्योंकि यह तो केवल श्रमिकों के संचालन एवं नियन्त्रण का काम

---

* "Administration is a determinative function. Management on the other hand, is an executive function that is primarily concerned with carrying out the broad policies laid down by the administration Organisation is the machinery through which coordination is established between Administration and Management."—Principles of Organisation and Operation by W. R. Spriegal, p 545

रता है। श्रम एवं पूँजी दोनों से परे होते हुए भी प्रबन्ध इन दोनों में पारस्परिक सहयोग की भावना बढ़ाने का प्रयत्न करता है।

'प्रबन्ध का दर्शन शास्त्र' शीर्षक पुस्तक में श्री ओलिवर शेल्डन ने एक स्थान पर लिखा है कि प्रबन्ध मुख्यतः 'मनुष्यों का प्रबन्ध' है और यदि वह अपने मनुष्यों की मनोवैज्ञानिक दशा को नहीं समझता तो वह कदापि सफल नहीं हो सकता। इस मनोवैज्ञानिक स्थिति की व्याख्या करना ही प्रबन्ध का प्रारम्भिक कार्य है और मानवी समस्याओं पर सामाजिक दृष्टि से विचार करते हुए वह उद्योग रूपी जहाज को सफलतापूर्वक खेकर ले जा सकता है।

प्रबन्ध विज्ञान की उत्पत्ति—

व्यावसायिक संगठन की वर्तमान जटिलताओं को देखते हुए प्रबन्ध विज्ञान कुछ सीमा तक भले ही एक नया-विज्ञान प्रतीत हो, परन्तु उसके मौलिक सिद्धान्त उतने ही पुराने हैं, जितना कि प्राचीनतम इतिहास। इसके सिद्धान्त सभ्यता की प्रगति के साथ विकसित हुए हैं। बाइबिल एक बहुत पुरानी पुस्तक है, लेकिन उसमें इस प्रकार की एक बात आती है—"मूसा ने सारे इसरायल में से योग्य व कुशल व्यक्तियों को प्रबन्ध के हेतु चुना और उन्हें लोगों का प्रधान बनाया। यही चुने हुए व्यक्ति लोगों के मामलों का फैसला करते थे। जो मामले कठिन होते थे, मूसा के सामने पेश किये जाते थे, किन्तु छोटे मामलों का निर्णय वे स्वयं करते थे।" इस कथन से स्पष्ट है कि उस युग में भी प्रबन्ध-विज्ञान था। ईसा के जन्म से कई सौ वर्ष पूर्व बेबीलोनिया के लोग न्यूनतम मजदूरी-दर को भी अपने सरल तरीके से पहचानते थे। चीनी लोग श्रमजीवी की उत्पादन क्षमता से परिचित थे। हमारे देश में कौटिल्य के महत्वपूर्ण ग्रन्थ अर्थ-शास्त्र में, जो कि लगभग २,००० वर्ष पूर्व लिखा गया था, राजनैतिक अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं पर ही प्रकाश नहीं डाला गया है, वरन् सार्वजनिक प्रबन्ध की विभिन्न समस्याओं का भी समाधान किया गया है। प्रायः इसी काल में यूनानी लोग श्रम-विभाजन तथा दक्षता-हस्तांतरण से परिचित थे। इसमें सन्देह नहीं कि इन विभिन्न सिद्धान्तों को व्यक्त करने के लिये जो शब्दावली काम में लाई जाती थी वह वर्तमान काल में प्रयुक्त शब्दावली से भिन्न थी, किन्तु अर्थ व्यवस्था तथा आर्थिक उत्पादन के मौलिक सिद्धान्त (जिनमें कि प्रबन्ध-विज्ञान के मूलभूत तत्व भी सम्मिलित हैं) बहुत पहले पता लगा लिये गये थे।

'प्रबन्ध विज्ञान की उत्पत्ति एवं परिभाषाएं' शीर्षक लेख में श्री. म्युमर्ड शाह ने लिखा है कि "यद्यपि सब मानवीय ज्ञान के प्रारम्भ की जड़ों को अतीत में ढूँढना एक दिलचस्प बात है, किन्तु आधुनिक प्रबन्ध प्रविधि के आधार का निर्माण करने वाले इन सिद्धान्तों का सम्बन्ध उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में औद्योगिक उत्पादन की प्रगति से ही जोड़ा जा सकता है। ये सिद्धान्त उस द्रुत उत्पादन से पैदा हुई सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं, देश के भीतर तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बढ़ती हुई प्रति-

न्दता तथा नई वैज्ञानिक खोजो से सम्बन्धित है। इन सब बातो के कारण विशे ज्ञान, बडे पैमाने पर उत्पादन तथा 'प्रबन्ध' के बहुत पेचीदा कार्य को सम्बन्धित कर की आवश्यकता है। स्मरण रहे कि अब 'प्रबन्ध' का स्वरूप वैसा ही नही रहा जैसा वि पहले था—उस काल मे तो कारीगर ही अपना 'मैनेजर' होता था। उत्पादन-क्षेत्र मे जो वैज्ञानिक प्रगति हुई है, उससे ही आज औद्योगिक प्रबन्ध की समस्या उठ खडी है।

गत कुछ वर्षों से औद्योगिक कुशलता को बढाने के लिये वैज्ञानिक प्रबन्ध का बडा बोलबाला है। विवेकशील उद्योगपति औद्योगिक प्रबन्ध मे विज्ञान के महत्त्व पर अधिक जोर देते है। वैज्ञानिक प्रबन्ध की विचारधारा के जन्मदाता हैं श्री एफ० डब्लू० टेलर। सन् १८७८ मे श्री टेलर ने अमेरिकन मिडवैल स्टील कम्पनी मे एक सामान्य श्रमिक के रूप मे अपना जीवन आरम्भ किया, किन्तु क्रमश उन्नति करते-करते कुछ समय बाद वे उस कम्पनी के चीफ इञ्जीनियर बन गये। श्रमिको के प्रबन्धक के रूप मे श्री टेलर ने यह अनुभव किया कि प्रबन्ध मे विज्ञान के पुट की बडी आवश्यकता है। 'समय', गति' एव 'थकावट' अध्ययन सम्बन्धी उन्होने अनेक प्रयोग किये। सन् १९११ मे टेलर महोदय ने 'वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त' शीर्षक एक लेख लिखा, जो बडा लोकप्रिय हुआ, परन्तु सन् १९१५ मे श्री टेलर की मृत्यु हो गई और उनकी मृत्यु के साथ 'प्रबन्ध-विज्ञान' सम्बन्धी आन्दोलन भी धीमा पड गया। तदोपरान्त जब सन् १९२९-३० की विश्व-व्यापी आर्थिक मन्दी से व्यापारियो एव उद्योगपतियो के पैर लडखडाने लगे, तो उन्होने पुन. टेलरवाद की याद की। वैज्ञानिक प्रबन्ध का आयोजन सबसे पहले इञ्जीनियरिंग कम्पनियो के लिये ही हुआ था, किन्तु बाद मे इसकी उपयोगिता से प्रभावित होकर अन्य उपक्रमो तथा कार्यालयो मे भी उसे स्वीकार किया गया। वैज्ञानिक प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य काम करने की विभिन्न क्रियाओ एव प्रक्रियाओ को इस प्रकार सगठित करना है कि जिससे अनावश्यक प्रयत्न दूर हो, श्रमिको अथवा कर्मचारियो के परिश्रम को न्यूनतम किया जाय तथा कार्यक्षमता व उत्पादन-क्षमता अधिक से अधिक हो।

आजकल व्यावसायिक सस्थाओ का प्रबन्ध एव सञ्चालन एक पेशे का रूप धारण करता जा रहा है। प्रबन्ध-विज्ञान (Science of Management) दिन दूनी रात चौगुनी प्रगति कर रहा है। इसके पूर्व प्रशिक्षण की आवश्यकता पर भी बल दिया जाता है। योरोप तथा अमेरिका मे ऐसी सस्थायें (Schools of Business Administration) खुल गई है, जिनमे वैधानिक पद्धति से प्रबन्धकला का ज्ञान कराया जाता है।

भारत मे प्रबन्ध-प्रशिक्षण—

भारतवर्ष मे वैज्ञानिक प्रबन्ध की दिशा मे प्रशिक्षण का आयोजन कर अत्यन्त आवश्यक है, जिससे कि सीखे-सिखाये मैनेजरो की एक श्रेणी तैयार हो सके ता ही उद्योग तथा व्यापार के भावी नेता होगे। जो देश उद्योग तथा टेक्नॉलोजी मे ये

बढे हैं वहा इस प्रवृत्ति ने एक ठोस रूप ग्रहण कर लिया है। अल्प विकसित देश बहुत तीव्रता से यह अनुभव कर रहे हैं कि उनकी उन्नति के लिए यह अनिवार्य है। भारत मे अभी एक छोटे पैमाने पर प्रबन्ध-प्रशिक्षण प्रारम्भ किया गया है। केवल दिल्ली, बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता के विश्वविद्यालयो मे व्यापार-प्रशिक्षण पाठ्यक्रम प्रारम्भ हुए हैं और वहाँ भी जो सुविधायें उपलब्ध हैं वे मौजूदा माँग की पूर्ति के लिये नितान्त अपर्याप्त हैं। औद्योगिक प्रबन्ध का पाठ्यक्रम केवल खड़गपुर के इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेकनॉलोजी ने प्रारम्भ किया है। यह प्रस्ताव है कि मद्रास बम्बई तथा कानपुर के लिए आयोजित औद्योगिक सस्थानो मे भी ऐसे पाठ्यक्रम प्रारम्भ किये जायँ। कुछ सस्थानो तथा सगठनो द्वारा प्रबन्ध तथा तत्सम्बन्धी विषयो के प्रशिक्षण के लिए अल्पकालीन पाठ्यक्रम आयोजित किए जा रहे हैं, किन्तु जितना और जिस प्रकार का प्रयत्न हुआ है वह आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अभी बहुत अपर्याप्त है।

लक्ष्य यह होना चाहिए कि सारे देश मे ऐसे प्रशिक्षण कार्यक्रम शुरू किए जायँ जिनसे कि वैज्ञानिक प्रबन्ध की परिधि मे आने वाले विभिन्न विषयो की शिक्षा मिले और प्रबन्ध के विभिन्न स्तरो की आवश्यकतायें पूरी हो। इन प्रशिक्षण के आयोजन के लिए हमे उन सभी मौजूदा सगठनो तथा सस्थाओं का पूरा उपयोग करना चाहिए जो कि इस कार्य को सम्पन्न कर सकते हैं। साथ ही, इस प्रकार के पाठ्यक्रमो को चलाने के लिए हमारे देश की जो अपनी प्रतिभा उपलब्ध हो उसका भी उपयोग करना चाहिए। हमे शिक्षको के प्रशिक्षण पर भी ध्यान देना होगा। इस प्रकार के प्रशिक्षण के अन्तर्गत निम्न विषयो की शिक्षा दी जाय—व्यक्तिगत प्रशासन तथा मानव सम्बन्ध, श्रम का अध्ययन, समय तथा गति का अध्ययन, कार्य का मूल्यांकन, कारखाने का आयोजन तथा सयन्त्र की स्थापना, वस्तुओ का व्यवहार तथा उनका उपयोग, उत्पादन का आयोजन तथा नियन्त्रण, व्यय का नियन्त्रण, माल की किस्म पर नियन्त्रण तथा विक्रय-विश्लेषण व वितरण।

प्रबन्ध के कार्य—

व्यवस्था द्वारा निर्धारित उद्देश्यो की पूर्ति के लिए 'प्रबन्ध' का सम्बन्ध प्राय. उपक्रम या सस्था के निम्न छ. 'एम' से होता है—Man, Methods, Materials, Machines, Money and Markets। इन सबके एकत्रीकरण एव समन्वय के हेतु प्रबन्ध को निम्न कार्य करने पड़ते हैं—

(१) योजनाकरण—प्रबन्ध का सर्व प्रमुख कार्य व्यवस्था द्वारा निर्धारित उद्देश्यो की पूर्ति के लिए योजना बनाना है। किसी भी कार्य को करने से पहले उसकी सामान्य रूप-रेखा तैयार करना बडा जरूरी होता है। किसी कार्य को वास्तविक रूप मे करने के पूर्व उसका मानसिक चिन्तन ही 'योजनाकरण' कहलाता है। प्रबन्धक को यह सोचना पडता है कि जो साधन उन्हे इस समय उपलब्ध हैं उनके आधार पर कार्य करने की सर्वश्रेष्ठ रीति क्या होगी, कार्य करने के आदर्श एव लक्ष्य क्या होने चाहिए

और सम्भावित कठिनाइयों पर विजय पाने के लिए कौन-कौन से साधन अपनाये जा सकेंगे, आदि। संक्षेप में, प्रबन्ध का मुख्य कार्य यह निश्चय करना है कि कार्य को कब और कैसे किया जाय।

(२) सङ्गठन—उत्पादन के विभिन्न साधनों में समन्वय स्थापित करने के लिए प्रबन्ध 'सङ्गठन' रूपी तन्त्र का निर्धारण करना है। जो व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से जिस काम के लिए अधिक उपयुक्त होता है उसे वही काम सौंप कर प्रबन्ध संस्था के कर्मचारियों में सहयोग की भावना जागृत करता है।

(३) स्वामी-सेवक के मध्य सम्पर्क स्थापित करना—प्रबन्ध का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य संस्था के स्वामी तथा उसमें काम करने वाले कर्मचारियों के बीच सम्पर्क स्थापित करना है। सद्भावना के द्वारा 'प्रबन्ध' स्वामी-सेवक के बीच की खाई को न्यूनतम करने का प्रयत्न करता है। इसके लिये 'प्रबन्ध' को मनोवैज्ञानिक रूप से कार्य करना पड़ता है।

(४) सञ्चालन एवं नियन्त्रण—अन्त में, प्रबन्ध को यह देखना पड़ता है कि संस्था का सारा कार्य पूर्व निश्चित योजनानुसार हो रहा भी है या नहीं। परिणाम का परिमाण, किस्म तथा उत्पादन व्यय की दृष्टि से मूल्यांकन किया जाता है। यदि काम योजनानुसार नहीं होता, अथवा अनुमानित परिणाम नहीं निकलते, तो ऐसी दशा में 'प्रबन्ध' उचित उपायों द्वारा नियन्त्रण करने का प्रयत्न करना है।

प्रबन्ध का सामाजिक उत्तरदायित्व—

प्रबन्ध के आधारभूत सिद्धान्तों के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि प्रबन्ध वास्तव में उद्योग अथवा यों कहें कि सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधि होता है और इस दृष्टि से उसका यह उत्तरदायित्व है कि वह ऐसी वस्तुओं के ही निर्माण को प्रोत्साहन दे जो सामाजिक दृष्टि से आवश्यक हों। यही नहीं, वस्तुयें उचित मूल्य पर उपभोक्ताओं को उपलब्ध होनी चाहिए। प्रबन्ध का उद्देश्य केवल लाभ कमाना ही नहीं वरन् सेवाभाव भी होना चाहिए। श्री हैनरी फोर्ड ने भी 'लाभ' की अपेक्षा 'सेवा' को अधिक महत्व दिया है और इसी कारण वह एक सफल प्रबन्धक माने जाते हैं।* इस

---

* 'Money chasing is not business... ..It is the function of *business to produce for consumption and not for money or speculation.* Producing for consumption implies that the quality of the article will be high and that the price will be low—that the article be one which serves the people and not *merely* the *producer*" Urwick also makes the point clear saying that "Profit can be no more objective of a business that betting is the objective of racing, making a score the objective of cricket, or eating is the objective of living."

सम्बन्ध में यह लिखना अनावश्यक न होगा कि चरित्रवान एवं कुशल श्रमिकों का निर्माण करना भी 'प्रबन्ध' का ही सामाजिक उत्तरदायित्व है। एक श्रमजीवी प्रातः काल से शाम तक और कुछ उद्योगों में रात्रि में भी प्रबन्ध द्वारा निर्मित वातावरण में रहता एवं कार्य करता है, *अतएव 'प्रबन्ध' के चरित्र का 'श्रम' के चरित्र पर प्रत्यक्ष* प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से प्रबन्ध वास्तव में एक ऐसा शिक्षक है जो कुशल नागरिकों का निर्माण कर सकता है।*

उत्पादन का प्रबन्ध—

आदर्श प्रबन्ध का तीसरा महत्वपूर्ण अंग उत्पादन के प्रबन्ध से सम्बन्ध रखता है। इस सम्बन्ध में प्रबन्धक को निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए:—

(१) उत्तम उत्पादन एक समुचित कला है, जिसके लिए एक योग्य निर्माण प्रबन्ध-कर्ता की आवश्यकता होती है और 'प्रबन्ध' का यह कर्त्तव्य है कि ऐसे योग्य व्यक्ति को चुने।

(२) वस्तुओं का उत्पादन आवश्यकतानुसार, श्रेष्ठ एवं उचित मूल्य पर होना चाहिए।

(३) औद्योगिक प्रगति के लिए एवं श्रेष्ठतम उत्पादन के हेतु अनुसन्धान नितान्त आवश्यक है।

(४) वस्तुओं का प्रमापीकरण होना चाहिए।

(५) योजनाकरण भी सफल उत्पादन के लिए नितान्त आवश्यक है।

(६) परिव्यय लेखाकरण (Costing) उत्पादन का मूल्य निर्धारण करने में सहायक होता है।

श्रम का प्रबन्ध—

श्रम-प्रबन्ध भी 'प्रबन्ध' का एक आवश्यक कर्त्तव्य है और औद्योगिक सम्बन्ध जितने मधुर होंगे, उतना ही श्रेष्ठ प्रबन्ध कहा जावेगा। 'श्रम समस्यायें' वास्तव में उद्योग का 'काश्मीर' है। राजनैतिक क्षेत्र में काश्मीर समस्या की भाँति इनके लिए न केवल

---

* "Better management can make a state great because of its citizens, homes happy because of their parents, communities high-minded because of their counsellors, or it may crush state, home and township under the weight of an apathetic careless, toilworn, degraded or selfish mentality among the masses of the people. Better management requires more highly developed management, bred up in democracy and education and having a sense of respect for the labour." (Quoted by Dr. S. C. Saksena in *his article entitled 'Philosophy of Management'* published in The Indian Journal of Commerce Series No. 31, Vol. VIII. Part III),

योग्यता, व्यवहारिक राजनीति और निर्माण-कुशलता अपितु दूरदर्शिता, सूझ-बूझ भी आवश्यक है।

सबसे पहले मजदूरी की समस्या को लीजिए। सामाजिक दृष्टिकोण से मजदूरी इस प्रकार निश्चित करनी चाहिए कि जो मजदूरा के भौतिक और नैतिक कल्याण की वृद्धि करे। आर्थिक दृष्टिकोण से मजदूरी ऐसी हो जिससे न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन किया जा सके। सक्षेप म, श्रमिक को दी जानेवाली मजदूरी 'उचित' (Fair) होनी चाहिए।

दूसरे, श्रमिको के लिए रोजगार एव सुरक्षा की समुचित व्यवस्था करनी चाहिये। तभी एक कुशल श्रमिक वर्ग प्राप्त हो सकता है। 'रोजगार-कार्य' को उद्योग के एक पृथक विभाग के रूप मे सचालित करना श्रेयस्कर है, जिसके अधिकारा मे श्रमिको को नियुक्त करना, ट्रान्सफर करना और निकालना हो। इस विभाग के मैनेजर को यह ध्यान रखना चाहिय कि सही प्रकार के कर्मचारी ही रखे जावें। अपना 'विवेक' प्रयोग करने के अतिरिक्त वह मनोवैज्ञानिक प्रयोगो से भी सहायता ले सकता है। रोजगार विभाग को उन कारणो का भी अध्ययन करना चाहिये जिनमे कर्मचारी वर्ग का स्थानान्तर या हटाना आवश्यक हो जाता है। इस सम्बन्ध मे न्याय से काम लेना चाहिये। इसी प्रकार सुरक्षा की व्यवस्था करना भी महत्त्वपूर्ण है। श्रमिको के दिमाग मे यह बात होनी चाहिय कि उनका रोजगार सुरक्षित है। कार्य की इस प्रकार व्यवस्था की जाय कि वह वर्ष भर चलता रहे और छॅटनी की आवश्यकता न पडे।

तीसरे, श्रम-प्रबन्ध की सफलता के लिये कल्याण-कार्यों की उपयुक्त व्यवस्था करना आवश्यक है। कल्याण-कार्य का उद्देश्य व्यक्ति को समाज एव उस विशेष सस्था दोना ही के हित मे एक नागरिक और उत्पादक का भाग अदा करने मे सहायता करना है। यह आवश्यक है कि कल्याण कार्य के पीछे एक व्यापक कल्याण भावना हो, नही तो उसके बिना सारा कल्याण-कार्य ही कपट और स्वार्थ है। मानवता के नाते श्रमिको को कार्य की श्रेष्ठ दशाये पाने का अधिकार है और ऐसी दशायें प्रदान करना 'प्रबन्ध' का नैतिक कर्त्तव्य है। प्रबन्ध इस नैतिक कर्त्तव्य को समझे, अन्यथा कितनी भी कानूनी व्यवस्था हो, कोई विशेष फलदायक परिणाम प्रगट होने की आशा एक दुराशा ही रहेगी। कल्याण-कार्य की सफलता के लिये 'सहकारिता' एक आवश्यक घटक है। कल्याण-कार्य की व्यवस्था प्रबन्ध और श्रमिको के मिले-जुले प्रतिनिधियो द्वारा की जाय। ऐसी सहकारिता के बिना, कल्याण-कार्य असफल हो जावेगा। यह ध्यान रखना चाहिये कि कल्याण-कार्य का सम्बन्ध मजदूरो के केवल भौतिक, मानसिक एव नैतिक विकास से नही होता, वह वास्तव मे इससे व्यापक है। साथ ही, कल्याण-कार्य शिक्षात्मक हो, जिससे श्रमिक अपने पैरो पर खडा होना सीख जायें।

चौथे, प्रबन्ध को चाहिये कि श्रमिकों के लिये सामान्य शिक्षा एवं टेक्नीकल प्रशिक्षण की व्यवस्था करे।[1]

पांचवें, उचित श्रम-प्रबन्ध के लिये श्रमिक संघों की ओर अधिक सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार होना आवश्यक है। प्रबन्ध को चाहिये कि उनका मान करे और आवश्यकता पड़ने पर उनका पथ-प्रदर्शन करे।[2]

छठे, सहकारिता का सिद्धान्त श्रम सम्बन्धी प्रत्येक समस्या में अपनाया जाये, अन्यथा पद पद पर विरोध और असहयोग का सामना करना पड़ सकता है। दोनों पक्षों को एक दूसरे के उद्देश्यों एवं भावनाओं को समझकर कार्य करना चाहिए, एक दूसरे में विश्वास रखना चाहिये और एक दूसरे की कठिनाइयों को समझना चाहिए।

प्रबन्ध के सिद्धान्त

प्रबन्ध के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) प्रयोग—प्रयोग एवं अनुसन्धान वास्तव में वैज्ञानिक प्रबंध का प्रधान अङ्ग है। इसके बिना वैज्ञानिक आधार बन ही नहीं सकता। प्रयोग के द्वारा श्रमजीवियों की विभिन्न क्रियाओं की जांच की जाती है तथा उनका विश्लेषण किया जाता है, जिससे उनमें सुधार करने एवं कार्यक्षमता को बढ़ाने की सम्भावनाओं का ज्ञान हो। सामूहिक प्रयत्न में प्रत्येक सम्बन्धित वस्तु के विषय में प्रयोग किये जा सकते हैं, जैसे यन्त्र, उपकरण, श्रमजीवियों की शारीरिक एवं मानसिक कार्य करने की दशाएं इत्यादि।

(२) श्रमिकों का चुनाव एवं शिक्षा—अधिकतम कार्यक्षमता प्राप्त करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि श्रमिकों का चुनाव वैज्ञानिक आधार पर किया जाय तथा उनकी शिक्षा के लिए भी समुचित व्यवस्था हो। प्रत्येक मनुष्य को विभिन्न कार्यों के लिए उसकी प्रवृत्ति के अनुसार ही चुनना चाहिए और जिस काम को करने में उसकी

---

1. "Modern industry cannot be carried on without better education both of masters and men It is in darkness or half lights that collisions occur." Dr. A L. Smith.

2 "This leads to understanding rather than condemnation, to cooperation rather than opposition This may begin be recognizing in each section of the factory some union representative with whom management can cooperate, and who at all times may be regarded as the legitimate mouh piece of the workers in that section, and the normal person with whom to discuss problems which may arise . He should be kept in touch with managerial policy, be consulted on problematic points and be intimate with departmental statistics." 'Philosophy of Management' by Oliver Sheldon, pages 191 and 192.

विशेष रुचि हो वही कार्य उसको सौंपना चाहिये। तान्त्रिक एवं यान्त्रिक शिक्षा का भी समुचित आयोजन करना चाहिए। जिस कार्य के लिये किसी व्यक्ति को चुना जाये उसे उस काम को करने की पद्धति एवं आवश्यक यन्त्रों की शिक्षा देनी चाहिए, जिससे वह मनुष्य अपने कार्य को पूर्ण क्षमता से कर सके।

(३) कार्य का युक्तिपूर्वक वितरण—काम का वितरण श्रमिक को तांत्रिक, शारीरिक एवं मानसिक योग्यता को ध्यान में रखकर करना चाहिये, जिससे श्रमिक भी प्रसन्न रहें और उद्योग को भी अधिकाधिक लाभ हो।

(४) वस्तुओं का युक्तिपूर्ण चुनाव एवं उपयोग—यदि उपयोग में आने वाला कच्चा माल अच्छी श्रेणी का है, तो श्रमजीवी भी कम समय में सुन्दर वस्तु का उत्पादन करने में समर्थ हो सकेंगे। अतएव वस्तुओं का चुनाव युक्तिपूर्ण ढंग से करना चाहिए। इसके अतिरिक्त वस्तुओं के उपयोग करने की रीति भी निश्चित होनी चाहिये, जिससे उपयोग करते समय उनका अपव्यय न हो।

(५) नवीनतम उन्नत मशीनरी एवं उपकरण का उपयोग—वैज्ञानिक प्रबन्ध यन्त्रीकरण से बहुत कुछ सम्बन्धित है। अतएव श्रेष्ठ उत्पादन के लिये यह बड़ा जरूरी है कि आधुनिकतम मशीनरी का उपयोग किया जाय। सरल से सरल उत्पादन प्रणालियों को अपनाया जाय तथा यन्त्रों आदि की समय-समय पर देखभाल की जाय।

(६) कारखाने में स्वास्थ्यप्रद वातावरण—यदि कारखाने का सामान्य वातावरण स्वास्थ्यप्रद एवं आल्हादपूर्ण है, तो श्रमिकों को भी कार्य भार के समान प्रतीत नहीं होगा। सुन्दर वातावरण बनाने के लिये निम्न सुविधाओं का प्रबन्ध होना चाहिये—काम करने के लिये पर्याप्त स्थान, झरोखे, शीतदायक व्यवस्था तथा आवश्यकतानुसार तापक्रम में परिवर्तन करने का आयोजन, जलपान गृह, स्नानगृह, वाचनालय, शिशुगृह, शिशु सदन आदि।

(७) संगठन व योजना—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत विभिन्न क्रियाओं के निरीक्षण के लिये तथा उनमें परस्पर सहकारिता रखने के उद्देश्य से एक समुचित संगठन एवं निरीक्षण पद्धति का भी आयोजन होना चाहिये। इस हेतु एक पृथक योजना विभाग होता है, जो विभिन्न क्रियाओं के समुचित संगठन का नियोजन करता है।

(८) कठिन काम के लिये अतिरिक्त पारितोषण की व्यवस्था—अधिक कार्य-क्षमता और अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि पारितोषिक देने की प्रणाली उत्साहवर्द्धक हो। इसके लिए यह भी जरूरी है कि नियत मजदूरी के अलावा कठिन कार्य करने के लिए अतिरिक्त पारितोषण की व्यवस्था हो।

(९) परिव्यय लेखाकर्म पद्धति—वैज्ञानिक प्रबन्ध में प्रभाव एवं कार्यक्षमता की जाँच के लिए परिव्यय लेखाकर्म पद्धति का समुचित आयोजन होना नितान्त आवश्यक है। इस काम के लिए परिव्यय लेखाकर्म विशेषज्ञ नियुक्त करने चाहिए, जो

परिव्यय निकालें एव उस पर नियन्त्रण रखे, जिससे विभिन्न क्रियाओं मे वस्तुओं का अपव्यय अथवा यन्त्रादि का दुरुपयोग न हो तथा समय का सदुपयोग हो।

(१०) मानसिक क्रान्ति—वैज्ञानिक प्रबन्ध का मूल उद्देश्य उत्पादन क्रियाओं को इस प्रकार से सगठित करना है, जिससे श्रमिकों की उत्पादनशीलता अधिक से अधिक हो। वैज्ञानिक प्रबन्ध की योजना की सफलता के लिए यह बडा आवश्यक है कि स्वामी-सेवक के दृष्टिकोण मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हो तथा उसमे सद्भावना बढे। पारस्परिक सहयोग के द्वारा ही वैज्ञानिक प्रबन्ध का उद्देश्य पूरा हो सकता है।

संगठन
(Organisation)

'संगठन' का अर्थ —

'सगठन' शब्द के सामान्य अर्थ पर हम प्रथम अध्याय मे प्रकाश डाल चुके हैं। वास्तव मे उत्पत्ति के विभिन्न साधनो मे प्रभावपूर्ण सामजस्य स्थापित कराने की कला का नाम ही 'सगठन' है। उरविक (Urwick) के शब्दो मे, "किसी कार्य को सम्पादित करने के लिए किन-किन क्रियाओं को किया जाय, इसका निर्धारण करना एवं उन क्रियाओं को व्यक्तियो के मध्य वितरण की व्यवस्था करना ही 'सगठन' है। सर्व श्री मूने व रैले (Mooney and Reiley) के शब्दो मे, "सगठन, सामान्य हितो की पूर्ति के लिए बनाया गया मनुष्यो का समुदाय है।" यदि कोई भी समुदाय या सघ न्यूनतम प्रयास से अधिकतम परिणाम प्राप्त करना चाहता है, तो यह आवश्यक है कि उस सघ के प्रत्येक सदस्य की क्रियाओं मे पूर्ण सामजस्य हो एव उनका मूल उद्देश्य केवल सामजस्य की प्राप्ति करना ही हो। सगठन के द्वारा सामूहिक प्रयास अधिक उत्पादक बनते हैं एव असफलताओं की आशकाये दूर होकर सफलताओं का मार्ग सरल हो जाता है।

संगठन के सिद्धान्त—

प्रभावशाली प्रबन्ध वास्तव मे सस्था के सुदृढ सगठन रूपी कलेवर पर निर्भर करता है। सगठन के कुछ प्रमुख सिद्धात निम्नलिखित हैं, जिनको ध्यान मे रखना प्रबन्ध का प्रमुख कर्त्तव्य है :—

(१) क्रियाओं का सामूहीकरण—सस्था का कुल कार्य कुछ समूहो मे विभक्त करके विभिन्न विभाग बना दिये जाते है। सगठन के कार्य मे सतुलन एव सामजस्य लाने के हेतु यह आवश्यक है कि प्रत्येक विभाग पर कार्य-भार अधिक न पडे। समय-समय पर इस कार्य भार का मूल्याकन करते रहना चाहिए। सुनिश्चित विभागो मे कार्य बँटा होने मे उत्पादन मे देर लगना, गलतफहमी होना आदि दोषो की सभावना नही रहती।

(२) कार्य का लोगो मे वितरण—प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता, अनुभव एव चतुरता के अनुसार विभाग के काम मे एक निश्चित भाग सौंपा जाता है।

इस प्रकार कार्य का वितरण होने से कर्त्तव्यो एव दायित्वो को टालने का अवसर नही रहता। कार्य मे यदि कोई त्रुटि हो तो उसे सम्बन्धित व्यक्ति पर निश्चित किया जा सकता है। दायित्व इस प्रकार निश्चित हो जाने से कार्य जल्दी होने लगता है।

(३) **अधिकार सौंपना**—अधिकार एव कर्त्तव्य दो सम्बन्धित शब्द है। कार्य का वितरण होने के साथ-साथ अधिकार का वितरण करना भी स्वाभाविक है, जिससे सम्बन्धित व्यक्ति अपने सौंपे गये कार्य को उचित रूप से कर सके। दुर्भाग्य से हमारे देश मे प्रबन्धकर्त्ता अधिकार-वितरण के महत्त्व को भली प्रकार नही समझते हैं। उनकी दृष्टि मे यह उनके अधिकारो मे कमी आना है। अतएव वे अपने आधीन कर्मचारियो को कर्त्तव्य तो सौंप देते हैं, लेकिन उसके साथ का अधिकार नही। इसका फल यह होता है कि आधीन कर्मचारियो को कार्य करने मे रुचि और पहलपन की भावना नही रहती।

(४) **सतुलन एव समन्वय**—सगठन यत्र के सुचारु कार्यकरण के लिए विभिन्न विभागो के कार्यों मे सामजस्य स्थापित करना आवश्यक है, जिससे कि सामान्य उद्देश्यो की पूर्ति मे बाधा उपस्थित न हो। यह सामजस्य स्वत. नही आता, वरन् प्रबन्धको द्वारा लाया जाता है। इस उद्देश्य के लिये सगठन मे कामचलाऊ सम्बन्ध स्थापित कर दिये जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को सम्पूर्ण रचना एव इसमे उसका स्थान, अन्य विभागो एव अधिकारियो के साथ सम्बन्ध इत्यादि समझा दिया जाता है। किन लोगो से मार्गदर्शन प्राप्त किया जा सकता है, किन लोगो से सहायता मिल सकती है एव किन लोगो के प्रति उत्तरदायी होना पड़ेगा, यह भी उसे बतला दिया जाता है।

संगठन सम्बन्धी विधि—

नियन्त्रण के सम्बन्ध मे निम्नलिखित सिद्धान्तों का पालन किया जाता है :—

(१) सर्वोच्च अधिकारियो को चाहिए कि अपने अधीन अधिकारियो एव कर्मचारियो को जो आदेश दें या जो सूचनाय उनसे पाना चाहें उसके लिए वे पद-श्रेणी क्रम का ही अनुकरण करें। किसी भी दशा मे यह क्रम भग नही होने देना चाहिए।

(२) आधीन कर्मचारियो एव अधिकारियो को जो भी रिपोर्ट एव सूचनायें अपने बडे अधिकारियो को भेजनी हो उसके लिए 'नीचे से ऊपर' की पद-श्रेणी क्रम का ही अनुकरण करना चाहिए। इस नियम का पालन न करने से सशय व जलन की भावनायें उठती हैं।

(३) विभिन्न पदाधिकारियो के अधिकार एक दूसरे से टकरायें नही, अन्यथा अनुशासन भग होने का डर रहेगा। उदाहरण के लिये, किसी असिस्टेंट मैनेजर को वर्क्स मैनेजर के बराबर अधिकार केवल इस दृष्टि से दे देना कि वह मैनेजिंग डाइरैक्टर का पुत्र है। एक स्तर पर दो अधिकारी रख देने से कठिनाइयाँ पैदा होने का डर है।

(४) एक ही कार्य को करने का दायित्व दो या दो से अधिक व्यक्तियो

पर न डाला जाय और न समान अधिकार दो या दो से अधिक व्यक्तियों को सौंपे जायें।

(५) सम्पूर्ण सगठन तन्त्र मे विभिन्न कर्मचारियो को समान अनुपात मे कार्य करने के लिये दिया जाय।

(६) सगठन का सन्तुलन अन्य स्वार्थों की तुलना मे अधिक महत्वपूर्ण है। अत: जब किसी सर्वोच्च प्रबन्धक का कोई कुटुम्बी भी आशानुकूल सिद्ध नही होता, तो उसे हटाने मे सकोच नही करना चाहिए।

(७) सगठन लचीला एव सरल होना चाहिए।

संगठन के प्रारूप—

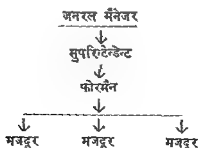
सगठन के तीन मुख्य प्रारूप हैं :—

(i) वैभागिक सगठन,

(ii) कर्मचारी सगठन, एव

(iii) क्रियात्मक सगठन।

(I) वैभागिक या सैनिक सङ्गठन (Departmental or Military Organisation)—इसमे कार्य का विभाजन स्वतन्त्र विभागो मे किया जाता है। प्रत्येक विभाग एक स्वतन्त्र अधिकारी के अन्तर्गत होता है और वह अपने विभाग की समस्त बातो के लिए उत्तरदायी होता है। वैभागिक सगठन की यही विशेषता है कि सब विभागो मे एक काम प्रधान कर्मचारी को सौंप दिया जाता है। जो उस कार्य का विशेषज्ञ होता है, जबकि दूसरा काम किसी दूसरे कर्मचारी की देख-रेख मे दिया जाता है और इसी प्रकार अन्य कार्य भी भिन्न-भिन्न कर्मचारियो को सौंप दिये जाते हैं। प्रत्येक विभाग के कर्मचारी अपने विभागाधिकारी के प्रति उत्तरदायी होते है, जैसे श्रमजीवी फोरमैन के प्रति उत्तरदायी होते है, फोरमैन सुपरिन्टेन्डेन्ट के प्रति और सुपरिन्टेन्डेन्ट जनरल मैनेजर के प्रति। उत्तरदायित्व का यह विभाजन निम्न चार्ट द्वारा भी प्रदर्शित किया जा सकता है :—



क्षेत्र—

यह प्रणाली निम्नलिखित स्थानो पर सफलतापूर्वक अपनाई जा सकती है :—

(१) जहाँ करोबार अपेक्षतया थोडा हो और आधीन कर्मचारी तथा मजदूर

बहुत अधिक न हो, (२) जहाँ बहुत से उपक्रम आसानी से या सरलतापूर्वक निर्देशित किये जाते है, अर्थात् काम प्रायः रोजाना के ढंग का हो, (३) जहाँ मशीनरी पूर्णतः स्वचालित हो, जिसके कारण फोरमैन को बुद्धि लगाने की आवश्यकता नही, और (४) जहाँ श्रम और प्रबन्ध की आपसी समस्यायें हल करना कठिन नही।

लाभ—

इस प्रणाली के मुख्य लाभ ये है—(१) यह चलने मे सरल है, (२) यह मितव्ययी और कार्यसाधक है, क्योकि इसमे जल्दी, निश्चित और कार्यसाधक समंजन हो जाता है, क्योकि विभाग सम्बन्धी सब कार्य एक आदमी के हाथ मे हैं। (३) यह कार्यो की पूर्ति की जिम्मेदारी सुनिश्चित रीति से कुछ व्यक्तियो पर डालती है।

दोष—

जो उद्योग मजदूरो की होशियारी और योग्यता पर निर्भर होता है वह इस प्रणाली को नही अपना सकता। उदाहरण के लिये, वह उद्योग जिसमे एक-एक कर काम होता है, जैसे मोटर निर्माण। क्योकि इस प्रणाली का सरल रूप और काम को एक आदमी के हाथ मे इकट्ठा कर देने की इसकी प्रवृत्ति उसे इस काम के लिए उपयुक्त नही रहने देती, इसलिए इस पद्धति की निम्नलिखित हानिया है :—

(१) यह प्रबन्ध की एकतन्त्रीय प्रणाली पर आधारित है और इसलिए कारोबार एक आदमी के मनमाने फैसलो के आधीन हो जाता है।

(२) काम किसी वैज्ञानिक योजना के अनुसार बाँटने के बजाय मैनेजर की सनक के अनुसार बाँट दिया जावेगा।

(३) यह प्रगति को और कारखाने के अच्छी तरह काम करने को रोकती है।

(४) फोरमैनो को इतना काम करना होता है कि वे सुधार की ओर उतनी जल्दी ध्यान नही दे सकते, जितनी जल्दी देना चाहिए।

(५) इसमे अच्छे कर्मचारियो को इनाम देने और निकम्मे को सजा देने का कोई उपाय नही है।

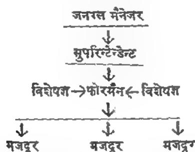
(६) इसमे अपनो के पक्षपात को बढ़ावा मिलने की सम्भावना है। तरक्की खुशामद के आधार पर होने लगती है और नौकरी की सुरक्षा तभी हो पाती है जब जी हज़ूरी की जाय।

(७) बडी कम्पनियो मे इसे लागू करने से प्रबन्ध मे बहुत गडबडी हुए बिना नही रह सकती और आजकल उत्पादन बडे पैमाने पर होता है।

प्रोफेसर सारजेन्ट फ्लोरेन्स ने इस प्रणाली की सहज अदक्षताओ को तीन शीर्षको के नीचे इकट्ठा किया है :—

(क) सही जानकारी प्राप्त कर सकने और उसके अनुसार कार्य करने में विफलता, (ख) लाल फीता (Red-tapism) और तानाशाही तथा (ग) विशेषज्ञो की कुशलता का अभाव।

(II) कर्मचारी संगठन (Line and Staff Type Organisation)—वैभागिक सगठन की पद्धति के दोष दूर करने के लिए कर्मचारी पद्धति का निर्माण हुआ। इस प्रकार के सगठन मे भी काम का विभाजन स्वतन्त्र विभागो मे किया जाता है और उत्तरदायित्व का विभाजन भी लम्बरूप मे ही होता है, किन्तु इस पद्धति की विशेषता यह होती है कि कार्यक्षमता की वृद्धि एव सहकारिता स्थापित करने के लिये प्रत्येक विभाग मे तान्त्रिक एव व्यापारिक विशेषज्ञ होते हैं, जो आवश्यकतानुसार विभागाधिकारियो को सलाह देते रहते हैं। उदाहरण के लिये, विक्रय विभाग का एक विक्रय-विशेषज्ञ होगा, जो कि विक्रय-विभाग के अधिकारी को विक्रय किस प्रकार एव कौन से बाजारो मे किया जाय, इस सम्बन्ध मे सलाह देगा तथा नये-नये बाजारो की खोज करने की विधि भी बतलायेगा और विज्ञापन-पद्धति मे मार्गदर्शन करेगा। इन विशेषज्ञो को आदेश देने का अधिकार नही होता, यह कार्य तो वैभागिक अधिकारी का ही होता है। इसमे उत्तरदायित्व का विभाजन इस प्रकार होता है:—



व्यावसायिक जगत मे कर्मचारी सगठन का जन्म इसी कारण हुआ कि विभागीय प्रबन्धक उत्पादन और विक्रय नियन्त्रण के साधारण काम करते हुए उसी का अनुसन्धान, विचार और योजनाकरण नही कर सकते थे। परिणामतः अनुसन्धान, प्रमापीकरण तथा सलाह देने का काम, अर्थात् विशेषज्ञ का कार्य निर्माण तथा विक्रय की दैनिक क्रियाओ से बिलकुल पृथक कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि 'सोचने' और 'करने' मे स्पष्ट भेद हो गया। 'स्टाफ' सोचने वाला और 'लाइन' करने वाला हो गया। इस बात पर बल देना उचित होगा कि स्टाफ कार्य और लाइन कार्य एक दूसरे के साथ सहयोग से चलने वाले तथा समरूप कार्य हैं। यह प्रणाली मानव प्राणियों में वर्गीकरण करने वाले प्रमुख घटको में से है। एक ओर तो काम करने वाले व्यक्ति हैं और दूसरी ओर विचारक हैं, जो 'क्यो और कैसे' से अधिक सम्बन्ध रखते है।

(III) क्रियात्मक संगठन (Functional Organisation)—डाक्टर टेलर के अनुसार क्रियात्मक सगठन की पद्धति मे प्रबन्ध का विभाजन इस प्रकार किया जाता है कि उप-निरीक्षक से नीचे प्रत्येक व्यक्ति को यथासम्भव कम क्रियायें करनी

पड़े । जहाँ तक सम्भव होता है, प्रबन्ध के प्रत्येक व्यक्ति का कार्य केवल एक प्रमुख क्रिया तक ही सीमित रहता है। संगठन की इस पद्धति का मुख्य लक्षण यह है कि प्रत्येक श्रमिक का प्रबन्धक से केवल अधिकारी द्वारा ही सम्बन्ध रहता है, जो उसे विभिन्न क्रियाओं के करने के लिये आवश्यक आदेश देता है। इस पद्धति में निम्नलिखित आठ अधिकारी होते हैं, जो अपना अपना विशेष कार्य करते हैं :—

(अ) टोली नायक	(उ) कार्यक्रम-लिपिक
(आ) गति नायक	(ऊ) आदेशक या सूचना पत्र कर्ता
(इ) निरीक्षक	(ए) समय तथा परिव्यय लिपिक
(ई) जीर्णोद्धार नायक	(ऐ) अनुशासक

(अ) टोली नायक (Gang Boss)—सरदार अथवा टोली नायक इस विषय की पूर्ण तैयारी करता है कि प्रत्येक श्रमिक को अपना काम पहले किस योजना के अनुसार करना पड़ेगा। वह यह भी देखता है कि कार्य की पूर्ति के हेतु प्रत्येक श्रमिक के पास आवश्यक सामग्री, यन्त्र, उपकरण इत्यादि हैं अथवा नहीं। कभी कभी वह उस रीति का भी प्रदर्शन करता है, जिसके अनुसार श्रमिकों को काम करना चाहिये।

(आ) गति नायक (Speed Boss)—गति नायक यह देखता है कि प्रत्येक श्रम-जीवी सूचना पत्र के अनुसार कार्य कर रहा है या नहीं और उसकी कार्य करने की गति तथा पद्धति उचित है अथवा नहीं। टोली नायक की ही भाँति गति नायक भी कभी कभी इस बात का प्रदर्शन करता है कि कम समय में काम किस प्रकार किया जाता है।

(इ) निरीक्षक (Inspector)—निरीक्षक का मुख्य कार्य निर्मित वस्तुओं की किस्म की जाँच करना होता है।

(ई) जीर्णोद्धार नायक (Repair Boss)—जीर्णोद्धार नायक यह देखता है कि यन्त्र उपकरणादि का व्यवस्थित उपयोग हो रहा है, अथवा नहीं। यन्त्रों की रक्षा, सफाई तथा समय समय पर उनकी दुरुस्ती करना भी इसी का कार्य होता है। वह इस बात का भी निरीक्षण करता है कि मशीनरी में समुचित रूप में तेल दिया जाता है या नहीं।

(उ) कार्य क्रम लिपिक (The Route Clerk)—यह व्यक्ति श्रमिकों को दी जाने वाली सूचनाओं एवं आदेशों की सूची बनाता है। विभिन्न क्रियाओं के नायकों की भी यह सूची बनाता है। प्रत्येक श्रमिक एवं यन्त्रों से किस क्रम में कार्य लेना चाहिए, इस सम्बन्ध में प्रबन्धक उसे आदेश देता है।

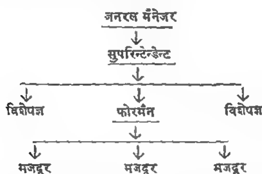
(ऊ) सूचना पत्र कर्ता (Instruction Card Man)—योजना विभाग के उपयोग के लिये यह व्यक्ति आदेश पत्र तैयार करता है। इसी आदेश पत्र के आधार पर योजना विभाग विभिन्न नायकों को उनके कार्य-क्रम सम्बन्धी आदेश देता

है, जिसमे यह किस प्रकार से, किन यन्त्रो पर अथवा किन उपकरणो मे कार्य करेगा, इस बात का पूर्ण विवरण होता है।

(ए) समय तथा परिव्यय लिपिक (Time & Cost Clerk)—यह व्यक्ति समय एव मूल्य सम्बन्धी समुचित लेख (Records) करने के लिये उत्तरदायी होता है।

(ऐ) अनुशासक (Shop Disciplinarian)—अनुशासक प्रत्येक विभाग के श्रमिको के अनुशासन के लिये उत्तरदायी होता है। वह उनकी अनुपस्थिति, विलम्ब आदि के लिए उचित अनुशासन की कार्यवाही करता है। तथा श्रमिको के पारितोषण-निर्धारण मे भी सहायता पहुँचाता है। कारखाने मे शान्तिमय वातावरण बनाए रखने का उत्तरदायित्व भी इसी पर होता है।

इसमे उत्तरदायित्व का विभाजन निम्न ढग से होता है :—



इस प्रकार उक्त पद्धति मे प्रत्येक नायक अपने निश्चित एव सीमित कार्य के लिए उत्तरदायी होता है, अत. प्रत्येक नायक की शिक्षा मे भी अधिक समय नही लगता। सीमित उत्तरदायित्व होने के कारण वह अधिक कार्यक्षम भी हो सकता है। इस पद्धति का एक दोष यह है कि इसमे अनेक अधिकारी (Bosses) होते हैं, जिससे श्रमिक भ्रम मे पड जाते हैं। कभी-कभी तो असन्तुष्ट होकर वे विद्रोह भी कर बैठते हैं।

लाभ—

क्रियात्मक सगठन के बहुत से लाभ हैं :—

(१) आदमी अपना सारा समय एक काम करने मे लगाता है, इसके परिणामस्वरूप विशेषीकरण और दक्षता पैदा होती है।

(२) प्रत्येक व्यक्ति अपनी अधिक से अधिक कोशिश करता है [illegible] सकता है। एकता स्वामित्व की द [illegible] व्यक्ति स [illegible]
अत. यह भ [illegible] की हा [illegible]

(४) यह सगठन की वृद्धि मे रुकावट नही डालता, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति अपने विशेष क्षेत्र मे उन्नति करता है। उदाहरण के लिए, क्रेता ४० चीजें खरीदे या ४०,०००, उसे इसमे कुछ मतलब नही। उसे तो एक काम करना है और एक ही काम पर नियन्त्रण रखना है।

(५) विशेषीकरण द्वारा बहुत बडे उत्पादन मे सहायता करता है।

दोष—

इसके दोष ये हैं :—

(१) नियन्त्रण की प्रक्रियाओ की दृष्टि से यह भ्रम मे डालने वाली है। यदि इस योजना को बहुत आगे तक बढाया जाये, तो सब गडबड हो जाये।

(२) इससे एक ही काम पर कई अधिकारी हो जाते हैं और सुनिश्चितता व जिम्मेदारी का अभाव होने लगता है।

(३) इसमे अनुदेश-पत्र भरने और सब आदेशो तथा विस्तृत बातो को लिखने मे लिखाई का काम बहुत हो जाता है।

(४) यह बोझीली है और अमल मे लाने मे कठिन है, क्योकि यह नियन्त्रण का अधिक विभाजन कर देती है।

(५) यह काम सरलता से समजन नही होने देती और इसकी सरलता मुख्यत. प्रतिभाशाली नेतृत्व पर निर्भर है, जो आधुनिक व्यवसाय मे हमेशा नही मिल पाता।

STANDARD QUESTIONS

What do you understand by the term 'Management'? Differentiate it from administration' and discuss the social responsibility of management in the present age.

'The manager is no longer the man with the greatest drive, no longer the bully with the hardest first, no longer the opportunist with the kneest institution no longer the skilled picker of other man s brains.' Discuss this statement.

Attempt brief notes on (a) Management of production, (b) Management of Labour and (c) Organisation Chart

Critically examine the three forms of organisation—Departmental, staff type and functional

Briefly summarize the f... of management

...ाग के उपयोग के लिये यह व्यक्ति आदेश पत्र तैयार करता है। इसी आ...
...ार पर योजना विभाग विभिन्न नायको को उनके कार्यक्रम सम्बन्धी आदेश देता

ने अपनी रुचि से मोटर का उद्योग प्रारम्भ किया और इसका जो परिणाम हुआ वह हम सबको विदित है। यदि वह अपना पैतृक व्यवसाय ही करता, तो शायद उसे सफलता नही मिलती और न वह इतना धनी ही हो पाता। इस सम्बन्ध मे हमे यह नही भूलना चाहिए कि अपनी रुचि के विषय मे धोखा भी हो सकता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी कार्य को ऊपरी तड़क-भड़क से मोहित होकर हम उसे करने लगते है, परन्तु बाद मे पछताते हैं। इसके विपरीत, यह भी सम्भव है कि अज्ञानता के कारण किसी काम मे हमारी अरुचि हो। ऐसा भी देखा गया है कि एक व्यक्ति अरुचि का कार्य प्रारम्भ करता है, परन्तु शनैः-शनैः उसको समझने लगता है तथा कुछ समय बाद उसकी रुचि उसमे पैदा हो जाती है।

रुचि के बाद दूसरा प्रश्न है "योग्यता" का। बिना व्यावसायिक योग्यता के हम किसी भी कार्य को सफलतापूर्वक नही कर सकते। योग्यता पैतृक हो सकती है अथवा अनुभव एव शिक्षा से भी इसे प्राप्त किया जा सकता है। पैतृक योग्यता पर तो हमारा कोई वश नही होता। अनुभव धीरे-धीरे प्राप्त होता है। हाँ, शिक्षा अवश्य योग्यता प्राप्त करने का एक उचित साधन है।

व्यापार के चुनाव के सम्बन्ध मे निर्णय करते समय रुचि और योग्यता के अतिरिक्त **'क्षेत्र' (Scope)** का ध्यान रखना चाहिए। कुछ व्यापारिक क्षेत्रो मे बड़ी तीखी प्रतियोगिता रहती है। अत. वहाँ नये व्यापारी के लिए पैर टिकाना बड़े साहस का काम है। इसलिए व्यापार मे प्रवेश करने वाले व्यक्ति को ऐसा व्यापार चुनना चाहिए, जिसमे कम से कम प्रतियोगिता हो तथा जिसमे माग की पूरी पूर्ति न हुई हो अथवा जहाँ माँग तेजी से बढ रही हो।

व्यापार का चुनाव करते हुए हमे अपनी **'पर्स'** का भी ध्यान रखना चाहिए। बिना साधन के हम कोई व्यापार नही कर सकते और हमे कौनसा व्यापार चुनना चाहिए, इस प्रश्न के उत्तर मे हमारे साधन महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। **'साधन'** से अभिप्राय 'पूँजी' का है। अन्य वस्तुयें तो इसके द्वारा प्राप्त की जा सकती है। 'तेते पाँव पसारिये जेती लाम्बी सौर"—इस लोकोक्ति के आधार पर हमे ऐसे व्यापार में हाथ डालना चाहिए, जिसका आर्थिक बोझ उठाने की हममे क्षमता हो।

अध्याय ३

व्यावसायिक सफलता के मूल तत्व

"व्यावसायिक सफलता तीन बातों पर निर्भर करती है— (१) रुचि, चातुर्य एवं उत्साह, (२) पर्याप्त पूंजी, एवं (३) व्यावसायिक सम्बन्ध तथा कीर्ति प्राप्त करने के आवश्यक साधन।" —डिक्सी

प्रारम्भिक—

किसी नये व्यापार को प्रारम्भ करना कोई साधारण बात नही है। व्यापार के क्षेत्र मे प्रवेश करने वाले व्यक्ति को अनेक समस्याओ का सामना करना पड़ता है। इन समस्याओ को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—(I) व्यवसाय प्रारम्भ करने के पूर्व की समस्याएं, और (II) व्यवसाय प्रारम्भ करने के बाद की समस्यायें।

(I) व्यवसाय प्रारम्भ करने के पूर्व की समस्याएं

व्यवसाय प्रारम्भ करने के इच्छुक व्यक्ति को निम्नलिखित बातो पर विचार करना चाहिए :—

(१) व्यवसाय या व्यापार का चुनाव— व्यापार मे प्रवेश करने वाले व्यक्ति को सबसे पहले इस बात का निर्णय करना चाहिए कि वह किस प्रकार का व्यापार प्रारम्भ करे। व्यापार की प्रकृति का निर्णय करते समय उसे "व्यक्तिगत रुचि" पर विशेष ध्यान देना चाहिए। 'व्यक्तिगत रुचि' से हमारा तात्पर्य यह है कि जिस काम के करने मे हमे रुचि हो, वही करना चाहिए, क्योकि अरुचि के काम से न तो हमे सुख और शान्ति मिलती है और न कार्य का फल ही अधिक सन्तोषजनक होता है। इस सम्बन्ध मे विश्वविख्यात उद्योगपति हेनरी फोर्ड का उदाहरण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हेनरी फोर्ड के पिता खेती करते थे, किन्तु उसे कृषि कार्य ...न भी रुचि नही थी। हेनरी फोर्ड

व्यवसाय प्रारम्भ करने के पूर्व की समस्यायें

(१) व्यवसाय या व्यापार का चुनाव।
(२) व्यावसायिक सगठन का स्वरूप निश्चित करना।
(३) व्यवसाय प्रारम्भ करने की आज्ञा लेना।
(४) पूंजी का एकत्रीकरण।
(५) व्यापार का स्थान चुनना।
(६) कार्य सामग्री जुटाना।
(७) कर्मचारियो का चुनाव।
(८) कार्यालय की सामग्री एकत्र करना।
(९) राजकीय नीति का अध्ययन एवं पालन।

प्रदान करती है। एकाकी व्यापार के गुण एवं दोषों के सन्तुलन से यह स्पष्ट है कि व्यापार का यह स्वरूप उन व्यवसायों के लिये सर्वश्रेष्ठ है, (i) जो छोटे हैं, (ii) जिनमे कम पूँजी और कम योग्यता की आवश्यकता पडती है, (iii) जिनमे व्यक्तिगत देखरेख महत्त्वपूर्ण होती है और (iv) जिनमे उत्तरदायित्व अधिक नही होता।

साझेदारी की दशा मे दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियो को एक अनुबन्ध करना पडता है। यद्यपि साझेदारी की स्थापना बडी सरलता से की जा सकती है, परन्तु विश्वासपात्र साझेदार सरलता से नही मिलता। हाँ, इसमे व्यापार के लिए विभिन्न प्रकार की योग्यताओ का लाभ अवश्य मिल जाता है। व्यवसाय की आर्थिक सामर्थ्य भी बढ जाती है। परन्तु उत्तरदायित्व के असीमित होने के कारण प्रत्येक साझेदार के लिए बडी जोखिम रहती है। साझेदारी ऐसे कार्यों के लिए अधिक उपयुक्त है, जिनमे जोखिम अधिक है और साथ ही अधिक लाभ होने की सम्भावना है।

कम्पनी की दशा मे बहुत अधिक मात्रा मे पूँजी एकत्रित की जा सकती है। कम्पनियो का अस्तित्व भी स्थायी होता है। इसमे अशधारियों का दायित्व सीमित होता है। प्रबन्ध एव सचालन का कार्य अशधारियो के प्रतिनिधि, जिन्हे सचालक (Director) कहते है, द्वारा होता है। परन्तु व्यावसायिक सगठन के इस स्वरूप मे सबसे बडा दोष यह है कि एक कम्पनी के निर्माण के लिये अनेक वैधानिक कार्यवाहियाँ करनी पडती हैं। दूसरे, इसमे प्रबन्ध एव सचालन व्यवस्था का भी केन्द्रीयकरण हो जाता है। हाँ, यदि बडी मात्रा मे वस्तुओ का उत्पादन करना हो, तो व्यावसायिक सगठन के इस स्वरूप को श्रेष्ठ माना जा सकता है।

(३) व्यवसाय प्रारम्भ करने की आज्ञा लेना—

वर्तमान युग 'हस्तक्षेप का युग' है। आजकल केवल आर्थिक क्षेत्र मे ही नही, वरन् हमारे उठने-बैठने, खाने-पीने, चलने फिरने, व्यवसाय निर्धारण करने आदि सभी बातो मे राज्य का कुछ न कुछ हस्तक्षेप है। सुनने मे यह बात बडी अटपटी प्रतीत होती है, किन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी ही है। जरा सोचिये ! हम स्वेच्छा से सडक पर नही चल सकते—"बॉये को बचो" का नियम ध्यान मे रखना पडता है। यदि सरकार ने मदिरा-पान वर्जित कर दिया है, तो अपनी इच्छा से शराब नही पी सकते। इसी प्रकार "औद्योगिक (विकास एव नियमन) अधिनियम" के अनुसार व्यवसाय खोलने के पूर्व भी सरकार की अनुमति लेनी पडती है एव इसके बाद भी कारखाना अधिनियम, साझेदारी अधिनियम अथवा कम्पनी अधिनियम के आदेशो का पालन करना पडता है। बिना राजकीय लाइसेन्स प्राप्त किये हम मनमाना व्यापार मनमाने स्थान पर नही कर सकते। इस सम्बन्ध मे यह भी उल्लेखनीय है कि एकाकी व्यापार के निर्माण मे किसी प्रकार की वैधानिक कार्यवाही नही करनी पडती, परन्तु साझेदारी के रजिस्ट्रेशन के लिए अथवा कम्पनी के समामेलन के लिये अनिवार्य रूप से अनेक वैधानिक कार्यवाहियाँ करनी पडती हैं।

(४) पूंजी का एकत्रीकरण—

व्यवसाय प्रारम्भ करने की आज्ञा प्राप्त करने के बाद चौथी महत्वपूर्ण समस्या पूंजी एकत्र करने की है। पूंजी की आवश्यकता निम्नलिखित बातों के लिए होती है:—

(अ) स्थायी सम्पत्ति खरीदने के लिये, जैसे मशीन, इमारत, फर्नीचर आदि।

(ब) अस्थायी सम्पत्ति खरीदने के लिए, जैसे कच्चा माल आदि।

पूंजी के सम्बंध में यह ध्यान देने योग्य है कि पूंजी की मात्रा व्यापार की आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त होनी चाहिए। आवश्यकता से कम पूंजी एकत्र होने पर व्यापार में माल पर्याप्त मात्रा में नहीं रखा जा सकता और परिणामस्वरूप अनेक बाधायें उपस्थित हो सकती हैं। समय पर ऋणदाताओं का भुगतान नहीं किया जा सकता। यदि व्यापारी स्वयं धनाढ्य है तो समस्त पूंजी का वह खुद प्रबन्ध कर सकता है। मगर निजी पूंजी अपर्याप्त हो तो वह अपने मित्रों व सम्बन्धियों से उधार ले सकता है या किसी धनी-साभेदार की सहायता से व्यापार प्रारम्भ कर सकता है। मगर कम्पनी के आधार पर व्यापार शुरू करना हो तो प्रोस्पेक्टस प्रकाशित करके जनता से पूंजी एकत्र करनी पड़ेगी।

(५) व्यापार का स्थान—

व्यापार कहाँ शुरू किया जावे, यह भी एक कठिन समस्या है। किसी उद्योग-धन्धे को स्थापित करने के लिए वह स्थान सबसे उपयुक्त होगा जहाँ कच्चा माल सुलभ हो, सस्ती शक्ति हो, सस्ता श्रमिक हो, यातायात तथा संदेशवाहन की सुविधायें हों, अनुकूल जलवायु हो, अधिक माँग हो। यह तो रही व्यापार ■ काम आने वाली वस्तु के निर्माण-स्थल (कारखाना) की उपयुक्तता की बात। जहां तक व्यापारिक कार्यालय का सम्बन्ध है, कुछ अन्य बातों का ध्यान रखना भी आवश्यक होगा। इनका वर्णन 'व्यापारिक कार्यालय' सम्बन्धी पुस्तिका में किया गया है।

(६) कार्य सामग्री—

इसके बाद व्यापार चलाने के लिए उपयुक्त सामग्री संग्रह करने की समस्या उत्पन्न होती है। एक निर्माता को अपने कारखाने के लिये कच्चा माल, मशीन, श्रमिक आदि जुटाने होंगे। एक व्यापारी को, जो खुद तो निर्माता नहीं है, माँग के अनुरूप वस्तुएँ उचित मात्रा में संग्रह करनी पड़ेगी, कार्यालय और कारखान के लिए भवन और गोदाम किराये पर लेने पड़ेंगे, उनके लिए आवश्यक साज-सामान भी जुटाना पड़ेगा और व्यापारिक कार्यालय के लिए दक्ष कर्मचारी भी नियुक्त करने होंगे।

(७) कर्मचारियों का चुनाव—

किसी व्यवसाय को आरम्भ करने के लिये कर्मचारी वर्ग का उचित चुनाव भी अत्यन्त महत्त्व रखता है। यह कार्य बड़ी सावधानी से करना चाहिए। सस्तेपन के विचार से कार्यक्षमता का बलिदान नहीं करना चाहिए। प्रत्येक कर्मचारी को उसकी योग्यता एवं कार्यक्षमता का ठीक अनुमान लगाकर ही नियुक्त करना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो, निष्कपट, ईमानदार, परिश्रमी तथा कुशल व्यक्तियों को ही नियुक्त करना

चाहिए। यदि आरम्भ मे ही श्रम विभाजन की योजना बना ली जाय तो अति उत्तम होगा।

(८) कार्यालय की सामग्री—

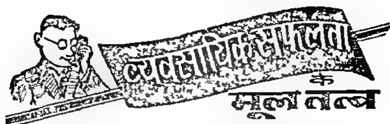
प्रत्येक व्यावसायिक भवन मे एक कार्यालय का होना आवश्यक है। पत्र व्यवहार के लिये टाईटिङ्ग पैड, कागज, टाइपराइटर, फाइल, डुप्लीकेटर-तिथि-यन्त्र, फर्नीचर आदि सामग्री व्यवसाय के आकार के अनुसार होनी चाहिए। ठीक-ठीक हिसाब किताब रखने के लिए उपयुक्त बहियाँ या रजिस्टर भी होना चाहिए। कार्यालय की कार्य प्रणाली अत्यन्त सरल हो, जिससे कि कोई भी नवीन कर्मचारी उसे सुविधापूर्वक ग्रहण कर सके।

(६) राजकोष नीति—

व्यापार को सुव्यवस्थित करने के लिए तथा उसकी प्रगति मे सम्भव बाधाओ का निवारण करने के लिए व्यापार को आरम्भ करने से पूर्व ही प्रवेशकर्त्ता को सरकार की व्यापार तथा अर्थ नीति का पूरा-पूरा अध्ययन कर लेना चाहिए। अपने व्यापार को ध्यान मे रखते हुए उसको सरकार द्वारा दी जाने वाली सुविधा, नियन्त्रण, प्रतिबन्ध आदि का उचित अध्ययन करना चाहिए और यदि कोई सदिग्ध बात हो तो उनका स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए।

(II) व्यवसाय प्रारम्भ करने के बाद की समस्याएँ अथवा व्यवसाय की सफलता के मूल तत्त्व

अब प्रश्न यह है कि किसी व्यवसाय की सफलता किन बातो पर निर्भर करती है ? कुशल सङ्गठन होने पर भी प्राय अनेक व्यवसाय नही पनपते। प्रति दिन ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि कुछ व्यक्तियो के समूह ने अमुक व्यवसाय प्रारम्भ किया, किन्तु कुछ समय बाद उनको अपना व्यवसाय बन्द कर देना पडा। ऐसा क्यो होता है ? व्यवसाय प्रारम्भ करने वाले व्यक्ति मे ऐसी कौनसी विशेषताओ का होना आवश्यक है, जिनके द्वारा उसे सफलता मिले एव उसका व्यवसाय भी निरन्तर प्रगति करे ? यह प्रश्न इतना सरल नही कि नपे-तुले शब्दो मे इसका उत्तर दिया जा सके। यदि हम कुछ सफल व्यापारियो अथवा उद्योगपतियो से पूछें कि उनमे से प्रत्येक को किन-किन साधनों से सफलता मिली तो यह निश्चित है कि प्रत्येक व्यक्ति का उत्तर समान न होगा। प्रत्येक भिन्न भिन्न परिस्थितियो मे व्यवसाय प्रारम्भ करते हैं और प्रत्येक परिस्थिति मे उन्हे अनेक भिन्न भिन्न गुणो से सफलता मिलती है अतः किसी व्यवसाय मे सफलता प्राप्त करना कोई साधारण बात नही है। व्यवसाय मे इस प्रकार के नियम बनाना प्राय असम्भव है कि जिनके द्वारा प्रत्येक मनुष्य व्यवसाय मे सफलता प्राप्त कर ले, किन्तु कुछ ऐसे गुण अवश्य हैं, जिनका व्यापार मे सफलता के लिये प्रत्येक व्यक्ति मे पाया जाना आवश्यक है। नीचे हम व्यावसायिक सफलता के कुछ मूल तत्वो की विवेचना करेंगे :—



१. शारीरिक मानसिक एव नैतिक विकास उच्च कोटि का हो।
२. अथक परिश्रम ही सफलता की आधार शिला है।
३ विवेकशील, कल्पनाशील एव महत्वाकांक्षी होना चाहिये
४. अदम्य उत्साह अपार प्रयास और तीव्र अभिरुचि हो।
५ सिद्धान्तो पर दृढता से चलना व ईमानदारी की नीति अपनावे
६ लाभ की अपेक्षा 'सेवा' को प्राथमिकता देना चाहिये।
७ व्यवसाय मे रुचि हो व विशिष्ट शिक्षा मिली हो।
८. ग्राहको का विश्वास अर्जन कीजिये।
९ चरित्रवान होने से प्रतिभाये निखर उठती है।
१० अपनी योजनाओ के गुण दोषो की अच्छी तरह परखो।
११ विश्व की परिवर्तनशील गतिविधियो से परिचित होना चाहिये
१२ मतभेदो को दूर करने की क्षमता होना चाहिये।
१३ प्रत्येक कार्य अनुशासन युक्त होना चाहिये।



(१) व्यवसायी का व्यक्तित्व—

व्यावसायिक सफलता बहुत कुछ स्वय व्यवसाय का श्रीगरोश करने वाले व्यक्ति के व्यक्तित्व पर निर्भर करती है। एक आदर्श व्यवसायी वह है जिसका शारीरिक, मानसिक एव नैतिक विकास उच्च कोटि का हो। पूर्ण स्वस्थ होने पर वह परिश्रम एव लगन से कार्य कर सकता है। अस्वस्थ होने पर उसे अपने कर्मचारियो पर निर्भर रहना पडेगा। मानसिक कुशलता उसका दूसरा गुरा है और नैतिक चरित्र तीसरा गुण। कुछ लोगो के विचार से मनुष्य के व्यक्तित्व पर उसके गृह के वातावरण का गहरा प्रभाव पडता है। प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एव नैतिक क्षमता वशानुक्रमणागत (Hereditary) होती है, अर्थात् जैसे उसके माता पिता एव अन्य पूर्वज होते हैं, प्राय वैसा वह व्यक्ति भी होता है। यह कथन पूर्णत नही वरन् अशत, सत्य

है। कभी कभी ऐसा भी देखने मे आता है कि पिता तो व्यापार-कुशल है, किन्तु विलासतामय जीवन होने के कारण उसकी संतान अकुशल होती है। यही नही, कभी-कभी साधारण माता पिता की सन्तान अत्यन्त व्यापार-कुशल निकलती है। फिर भी गृह के वातावरण एवं पूर्वजो के व्यक्तित्व का उनकी सन्तान पर काफी प्रभाव पड़ता है।

(२) कठिन परिश्रम—

किसी भी व्यवसाय मे सफलता पाने के लिए अथक परिश्रम की आवश्यकता होती है। अथक परिश्रम ही सफलता की आधार शिला है। यदि एक मनुष्य अपना समस्त कार्य अत्यन्त सावधानी तथा परिश्रम से करता है तो एक-न-एक दिन सफलता स्वय उसके कदम चूमेगी। किसी भी कार्य का केवल आडम्बर ही अच्छा नही होता, जो भी कार्य करना हो उसके निष्पादन मे आत्मा निकाल कर रख देनी चाहिए। यदि व्यवस्थापक किसी कार्य को करने मे कुछ उठा न रखेगा तो उसे सफलता अवश्य प्राप्त होगी। परिश्रमी व्यक्ति ही अपने अन्तर्गत कार्य करने वाले कर्मचारियो से परिश्रम से कार्य करा सकता है। यदि किसी व्यवसाय का स्वामी स्वय आलसी हो तो उसके नियन्त्रण मे कार्य करने वाले कर्मचारी भी काम-चोर होंगे, अतएव अन्य लोगो से काम लेने के पहले स्वय को कर्मशील बनाना चाहिए।

(३) विवेक एवं कल्पना शक्ति—

किसी भी व्यवसायी मे साधारण बुद्धि (Common Sense) होनी चाहिए। व्यवस्थापक को प्रत्येक कार्य खूब सोच-समझकर करना चाहिए। विवेक से कार्य करने से हमारा अभिप्राय यह है कि जो भी कार्य करें, उसके कारण एव परिणाम पर पहिले भली प्रकार गम्भीरता से विचार कर लिया जाय और तत्पश्चात् ही उसे दृढ निश्चय के साथ करना चाहिये। यह कार्य करने की वैज्ञानिक प्रणाली है और ऐसी युक्ति से असफलता न होगी। विवेकहीन होकर कार्य करने मे सदैव हानि की आशका रहती है। किसी ने कहा भी है कि 'बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय।' प्रत्येक व्यक्ति को और मुख्यत: व्यापारियो एव उद्योगपतियो को कल्पनाशील भी होना चाहिए। कल्पना शक्ति के विकास के द्वारा ही मनुष्य महत्त्वाकाक्षी हो सकता है। जो व्यक्ति महत्त्वाकाक्षी नही है वह प्रगति नही कर सकता, अतएव विवेकशील होने के साथ-साथ कल्पनाशील एव महत्त्वाकाक्षी भी होना चाहिए। इस सम्बन्ध मे यह दुहराना अनावश्यक न होगा कि कोरी कल्पना से भी सफलता नही मिल सकती। एक कवि के शब्दो मे —"सुन्दर स्वप्न देखना श्रेष्ठ है, परन्तु उन सुन्दर स्वप्नो को वास्तविकता मे परिवर्तित कर देना सर्वश्रेष्ठ है।" अतएव कल्पना के साथ-साथ उसे पूर्ण करने की तत्परता एव सामर्थ्य भी होनी चाहिए। श्री आल्पस् के शब्दो मे कल्पना शक्ति का कर्म से सम्बन्धित होना आवश्यक है। एक कर्मवीर की ही महत्त्वाकाँक्षाएँ सफल हो सकती है, कोरी कल्पना करने वाले व्यक्ति की नही।

(४) उत्साह, साहस और लगन—

एक सफल व्यवसायी में अदम्य उत्साह, अपार प्रयास और तीव्र अभिरुचि होनी चाहिए। व्यवसाय एक ऐसा परीक्षा स्थल है, जिसमे अनिश्चित मानसिक अवस्था वाले, अशक्त एवं मन्द गति वाले शीघ्र ही असफल हो जाते हैं। व्यापार में उतार-चढ़ाव तथा हानि-लाभ होते ही रहते हैं और जो व्यक्ति कठिनाइयों और हानि के विपरीत भी काम कर सकता है वह सफल व्यापारी भी बन सकता है। असफलताओं के होते हुए भी 'प्रयोग और प्रयास' करते रहने की अधिक आदत डालनी चाहिए। कभी भी असफल न होना इतना गौरवशाली नहीं जितना कि गिर-गिर कर पुन. प्रगति के पथ पर बढ़ना। अतएव असफल होने की दशा में निराश नहीं होना चाहिए, वरन् असफलता को ही सफलता की कसौटी समझकर सदा उन्नति के पथ पर अग्रसर होते चला जाना चाहिए। व्यवसाय का मार्ग पुष्पों की सेज नहीं है। इसमें पग-पग पर जोखिम है, अत. बिना साहस के सफलता पाना कठिन है।

(५) सिद्धान्त और सदाचार—

व्यावसायिक सफलता का पाँचवाँ मूल तत्त्व है सिद्धान्त तथा सदाचार। एक सफल व्यवसायी को सिद्धान्तवादी होना चाहिए। प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में कुछ पूर्व निश्चित सिद्धान्त होने चाहिए और उन्हीं के आधार पर दृढ़ प्रतिज्ञ होकर कार्य करना चाहिए। व्यवसाय में ईमानदारी के बिना सफलता प्राप्त करना असम्भव है। जो व्यक्ति बेईमानी करते हैं, वे कुछ समय तक भले ही फूल फलें, किन्तु न तो उन्हें आत्मिक शान्ति ही मिल सकती है और न वास्तविक सफलता ही। ईमानदारी से संस्था की कीर्ति बढ़ती है तथा यह कीर्ति संस्था की सफलता में बहुत सहायक सिद्ध होती है। कहते भी है कि "ईमानदारी ही सर्वश्रेष्ठ नीति है" (Honesty is the best policy)। ईमानदारी एक पराग है, जिससे आकर्षित होकर भ्रमर रूपी ग्राहक व्यापारी के पास स्वयं चले आते है। ईमानदार व्यवसायी की सब प्रशंसा करते हैं एवं ग्राहकगण भी केवल स्वयं ही माल नहीं खरीदते, वरन् अपने इष्ट मित्रों आदि से भी यही सिफारिश करते हैं कि अमुक व्यक्ति से ही व्यवहार करो। इस प्रकार पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति ईमानदार व्यवसायी का यश दिन दूना रात चौगुना बढ़ता है, विक्रय को प्रोत्साहन मिलता है एवं परिणामस्वरूप लाभ भी अधिक होता है। झूठ बोलकर कुछ व्यक्तियों को हमेशा बहकाया जा सकता है, कुछ को कुछ समय के लिए, किन्तु सबको हमेशा के लिए नहीं बहकाया जा सकता। व्यापारी झूठ बोलकर जिस व्यक्ति को एक एक बार ग्राहक बनाता है उसको हमेशा के लिए खो बैठता है, इसलिए अपनी प्रतिष्ठा के लिए उसको सत्यनिष्ठ होना चाहिये।

(६) ग्राहकों की सन्तुष्टि—

व्यवसाय में प्रवेश करने वाले इच्छुक नवयुवक को यह न भूलना चाहिए कि "समस्त व्यवसाय का केन्द्र ग्राहक ही है।" व्यापारिक भवन ग्राहक के लिए होता है, ग्राहक व्यापारिक भवन के लिए नहीं। व्यापार का तो मुख्य उद्देश्य ही ग्राहकों को

आकर्षित करना तथा उनको सन्तुष्ट करना होता है। यदि व्यापारी ग्राहक को भली भाँति समझकर उससे उसी प्रकार का व्यवहार करे तो ग्राहक पर उसकी विजय निश्चित है। यदि कोई ग्राहक असन्तुष्ट भी हो जाय तो उसकी शिकायतों को दूर करने के लिये भरसक प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि उसे मनोविज्ञान का भी थोड़ा अध्ययन हो। जो व्यापारी ग्राहकों का अनादर करता है तथा उन्हें सन्तुष्ट करना नहीं जानता वह कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है।

उपभोक्ताओं तथा ग्राहकों की सेवा करना प्रत्येक व्यवसायी का सर्वोपरि कर्त्तव्य होना चाहिये। लाभ की अपेक्षा 'सेवा' को प्राथमिकता देनी चाहिये। यदि ग्राहक को व्यवसायी द्वारा सेवा मिलेगी तो वह सदैव प्रसन्न रहेगा और उस व्यवसायी के ग्राहकों की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ती जायगी। यदि किसी व्यापारी की वस्तु अधिक उपयोगी नहीं है एवं ग्राहक भी असन्तुष्ट हैं तो वह व्यापारी कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। इसी कारण फोर्ड मोटर कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड के सेक्रेटरी श्री जी० ई० कोरे (G E Corey) ने एक पत्र में लिखा था कि फोर्ड मोटर कम्पनी की सफलता का प्रधान कारण "कम्पनी का सेवा भाव एवं केवल प्रमाणिक वस्तुओं का निर्माण करना है।" अतएव प्रत्येक व्यवसायी का लक्ष्य अपने उत्पादन अथवा व्यापार द्वारा ग्राहकों की अधिकाधिक सेवा करना ही होना चाहिए। ग्राहकों के साथ नैतिकता एवं मानवता का व्यवहार करना उसका परम कर्त्तव्य है। उसको चाहिए कि सदैव मीठी वाणी में बात करे, जिससे कि किसी को असन्तोष न हो।

(७) रुचि एवं शिक्षा—

व्यवसाय की पूर्ण सफलता तभी सम्भव हो सकती है जब हम रुचिपूर्वक परिश्रम से कार्य करें। यदि हमारी उस व्यवसाय में रुचि नहीं है, आकर्षण नहीं है और हम बेमन से कार्य करते हैं तो व्यवसाय की सफलता नितान्त असम्भव हो जाती है। सम्भव था कि यदि हैनरी फोर्ड अपने पिता का व्यवसाय (अर्थात् कृषि) करते तो उसमें उनको सफलता प्राप्त न होती, परन्तु अपनी रुचि के अनुसार मोटर का कारखाना खोल कर वे आज जगत प्रसिद्ध हो गये हैं। वास्तव में जिस काम में रुचि होती है उसके करने से चित्त को शान्ति मिलती है तथा मनुष्य उन्नति की ओर अग्रसर होकर सफलता प्राप्त कर सकता है।

किन्तु केवल रुचि से ही व्यावसायिक सफलता नहीं मिल सकती। उदाहरणार्थ, यदि किसी को वकालत के व्यवसाय में रुचि है तो इसका यह आशय नहीं है कि वह इस व्यवसाय में सफल ही हो जायगा। उसमें वकालत के व्यवसाय करने की योग्यता भी होनी चाहिए। यह योग्यता तीन प्रकार की होती है—जन्मजात योग्यता, स्वतः अनुभव द्वारा प्राप्त योग्यता तथा विशेष शिक्षा के द्वारा प्राप्त योग्यता, इसमें से जन्मजात योग्यता पर तो हमारा कोई अधिकार नहीं है, किन्तु अन्य योग्यताओं के हेतु शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक है। मनुष्य अपनी रुचि द्वारा चुने हुए व्यवसाय में तभी सफलता प्राप्त कर सकता है जब वह उसके लिये योग्य भी हो, अतएव कुछ लोगों का मत है

कि आधुनिक व्यापार-व्यवसाय प्रकृति एवं शिक्षा का सम्मिश्रण है, अर्थात् व्यवसाय में सफलता के लिये व्यवसायी को सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक 'शिक्षा' प्राप्त करना आवश्यक है। शिक्षा दो प्रकार की होती है—सामान्य शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा। प्रत्येक व्यक्ति को सामान्य शिक्षा तो होनी ही चाहिए, किन्तु इसके अतिरिक्त व्यवसाय विशेष की शिक्षा प्राप्त करना भी अति आवश्यक है, तभी 'सोने में सुहागा' होगा और सफलता निश्चित मिलेगी।

आजकल किसी भी व्यापारिक अथवा औद्योगिक संस्था का प्रबन्ध एवं उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था करना कोई साधारण बात नहीं है। वकालत अथवा डाक्टरी पेशे की भाँति प्रबन्ध एवं व्यवस्था भी एक पेशा है, जिसको सुचारु रूप से करने के लिये पूर्व-शिक्षण की आवश्यकता होती है। दुःख है कि एशियाई देशों में अभी इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा है। अमरीका में ऐसी अनेक संस्थायें हैं, जहाँ केवल प्रबन्ध एवं व्यवस्था सम्बन्धी कला की ही शिक्षा दी जाती है (जैसे—स्कूल ऑफ बिजनेस एडमिनिस्ट्रेशन, हारवर्ड यूनीवर्सिटी, आदि)। गत कुछ समय से भारत में भी 'इन्स्टीट्यूट ऑफ बिजनेस मैनेजमेंट' की स्थापना कर दी गई है।

(८) व्यावसायिक कीर्ति—

व्यवसाय की समस्त सम्पत्तियों में संस्था की कीर्ति सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह संस्था के लाभ के लिये सदैव २४ घन्टे कार्य करती रहती है। संस्था का मुख्य उद्देश्य अपनी वस्तुओं को अच्छे से अच्छे भाव पर बेचना होता है। इस कार्य में तभी सफलता मिल सकती है जब उसके ग्राहकों को संस्था में पूर्ण विश्वास हो। वर्तमान व्यापार प्रायः उधार पर ही निर्भर हैं, अतएव अकसर धन उधार लेने की आवश्यकता को पूर्ण करने में संस्था की कीर्ति (Goodwill) अत्यन्त सहायक होती है। व्यापारियों में पारस्परिक विश्वास एवं सत्य की भावना से ही संस्था की कीर्ति बढ़ती है। उदाहरण के लिये, यदि एक बैंक आपके व्यक्तिगत चरित्र पर विश्वास करती है, तो वह कम प्रतिभूति (Security) पर भी अधिक रुपया दे सकती है, किन्तु इसके प्रतिकूल यदि आपकी ईमानदारी पर लेशमात्र भी सन्देह है तो अपेक्षाकृत अधिक प्रतिभूति देने पर भी कम रुपया ही दिया जाता है, अतएव इन सुविधाओं को पाने के लिये साख की आवश्यकता होती है। साख अपने जीवन को सच्चाई पर अर्पण कर देने से ही मिल सकती है। एक बार भी सत्यता से च्युत होने पर सदैव के लिए साख कलङ्कित हो जाती है।*

(९) चरित्र बल—

प्रतिभूतियाँ निखर उठती हैं, यदि उनको नैतिक चरित्र बल मिल जाता है। नैतिक बल से युक्त होने के लिये व्यवसायी को धर्मभीरु तथा ईश्वरोन्मुख होना चाहिये, लेकिन उसे केवल घण्टा बजाने वाला नहीं होना चाहिए। प्रत्येक कार्य का आत्म

---

* सर एडवर्ड बैनथौल के भाषण से उद्धृत।

निरीक्षण करना चाहिए। प्रोफेसर हॉकिंग के शब्दों मे—"चरित्रवान व्यक्ति अपनी आत्मा के द्वारा अपनी वाणी के द्वारा तथा अपने व्यवहार के द्वारा अन्य व्यक्तियो पर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डाल सकता है एवं उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर सकता है।"

(१०) कुशल आलोचक—

व्यावसायिक सफलता के लिये यह भी आवश्यक है कि वह सफल आलोचक हो। अपनी योजनाओ की अच्छाइयो तथा बुराइयो का उसे अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिये और तत्पश्चात् ही उन्हे कार्यान्वित करना चाहिये। आलोचना इस प्रकार की होनी चाहिये, जिससे ठोस परिणाम निकले। यदि आलोचना केवल आलोचना के लिये ही है तो वह निरर्थक होगी।

(११) चतुर तथा चौकन्ना—

एक कुशल व्यापारी के लिये कूपमण्डूकता हानिकारक होती है, अतः जो व्यक्ति व्यापार मे सफलता पाना चाहता है उसको अपने तक ही सीमित न रहकर विश्व की परिवर्तनशील गति-विधियो की भी जानकारी होनी चाहिए। बाहरी जगत से उसे मुँह नही मोड लेना चाहिये। कुशल व्यापारी वही है जो विश्व के साथ भी कदम-बकदम मिलाकर चलता है।

(१२) एकता प्रिय—

एक कुशल व्यवसायी मे समझौता करने, ग्रहण करने, अवसर के अनुकूल बदलने तथा दूसरो की आलोचना एव सलाह सुनने तथा अध्ययन करने की शक्ति होनी चाहिये। उसमे मतभेदो को दूर करने की क्षमता भी होनी चाहिये। यदि वह सच्चा सहयोगी है तो सफल व्यापारी भी होगा।

(१३) अनुशासन-प्रिय—

'अनुशासन' व्यावसायिक सगठन का प्राण है, अतः अपने कर्मचारी से अनुशासन मे रहने की आशा करने वाले व्यापारी को स्वय अनुशासन का पालन करना चाहिये। यदि वह स्वय अनुशासन मे है तो उसके नेतृत्व मे किया जाने वाला प्रत्येक कार्य अनुशासनयुक्त होगा, यह निश्चय है।

व्यावसायिक सफलता के सम्बन्ध में विभिन्न लोगों का अनुभव—

(१) सर एडवर्ड बेनथील के मतानुसार—"व्यावसायिक सफलता व्यवसायी के चातुर्य व परिश्रम, व्यावसायिक सम्बन्ध तथा कीर्ति, विचार-शक्ति, साहस, व्यावसायिक सच्चाई, व्यावसायिक योग्यता तथा शिक्षा एव व्यवस्थापक का कर्मचारियो पर विश्वास तथा जन सहयोग आदि बातो पर निर्भर करती है।"

(२) प्रोफेसर डिक्सी के शब्दो मे—"व्यावसायिक सफलता तीन बातो पर निर्भर करती है—(अ) रुचि, चातुर्य एव उत्साह, (ब) पर्याप्त पूँजी एव (स) व्यावसायिक सम्बन्ध तथा कीर्ति प्राप्त करने के आवश्यक साधन।"

(३) श्री हैनरी फोर्ड के अनुसार—"किसी भी व्यवसायी का उद्देश्य होना चाहिये, प्रथम उपभोक्ताओं की सेवा और द्वितीय लाभ।"

(४) रावर्ट लुइस स्टीवेन्सन के शब्दों में—"सफलता अत्यन्त सरल है, किन्तु हमें कठिन परिश्रम करना पड़ेगा, सहनशील बनना पड़ेगा एवं विश्वासपात्र बनना पड़ेगा। मनुष्य को बिना पीछे की ओर देखे हुए निरन्तर आगे ही बढ़ते चले जाना चाहिए।"

(५) श्री एस० आर० डावर के मतानुसार—"अच्छी तारतम्य बुद्धि, व्यावसायिक नैतिकता, व्यावसायिक योग्यता, व्यावसायिक शिक्षा एवं पर्याप्त पूँजी आदि बातों पर ही व्यावसायिक सफलता निर्भर करती है।"

(६) श्री ए० कार्नेगी के शब्दों में—"जो व्यक्ति कल्पनाशील नहीं हैं, जिनमें उन्नति की आकांक्षा नहीं है तथा जो अपने जीवन को उच्च ध्येय की ओर निर्देशित नहीं करते, वे मनुष्य कभी सफल नहीं हो सकते और न उन्हें कभी अन्य व्यक्तियों की सहायता ही प्राप्त हो सकती है।"

(७) श्री बेनथोल ने एक बार 'व्यावसायिक सफलता के गुण' शीर्षक विषय पर भाषण देते हुए निम्न बातों पर विशेष बल दिया*—

(१) प्रत्येक क्रिया कारण-परम्परा द्वारा निर्धारित एवं योजनाबद्ध होनी चाहिए। अस्त व्यस्त रूप से किया हुआ कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता।

(२) समस्त पूँजी में कठिन परिश्रम से कमाई हुई साख सबसे अधिक उपयोगी पूँजी है। वह सदैव व्यवस्थापक के साथ रहती है।

(३) विचारशील बनिए, क्योंकि मानसिक व्यायाम उतना ही आवश्यक है जितना कि शरीर के अन्य अवयवों का। अपने मस्तिष्क से हाथ-पैरों के समान ही काम लो।

(४) कल्पनाशील बनिए, किन्तु कोरी कल्पना-शक्ति महत्वहीन है। कल्पनाशील होने के साथ साथ कर्मशील भी बनिए। मनुष्य को सदैव अपनी कल्पना को कार्य रूप में परिणित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(५) 'असफलता ही सफलता की कुंजी है'—इस सिद्धान्त को मानकर कभी भी निराश नहीं होना चाहिए, वरन् सदैव उन्नति के पथ पर बढ़ते चले जाना चाहिए।

(६) तीव्र विचारक बनिए, किन्तु तेज दिमाग वाले नहीं। कब आगे बढ़ें और कब रुकें, इस कला में हमें प्रवीण होना चाहिए।

---

* Extracted from the lecture of Sir Edward Benthol, delivered in 1939 before the Appointment and Information Board of the Calcutta University

(७) खाली हाथ न बैठिए, किन्तु मशीन की भांति सदैव व्यस्त भी न रहिए। अपने आदर्शों पर सदैव स्थिर रहिए।

(८) लोगो के आकर्षक नारों से सावधान रहिए। स्वय विचार करने के उपरान्त जैसे आपकी आत्मा की सलाह हो, उसी के अनुसार कार्य कीजिए।

(६) अपने सहयोगियो एव साथियो के विश्वासपात्र बनिए। अविश्वास एवं उदासीनता से अशान्ति फैलने की आशङ्का रहती है और विश्वास से साख बढ़ती है।

(१०) जीवन मे अन्य किसी भी मूल्यवान वस्तु के समान सफलता भी उत्तरदायित्व के समझने और पूरा करने मे ही मिल सकती है।

व्यापार मे तान्त्रिक प्रशिक्षण की आवश्यकता—

प्रारम्भ मे व्यवसाय की समस्यायें अधिक जटिल न थी, अत. तान्त्रिक प्रशिक्षण की भी विशेष आवश्यकता न थी। वश-परम्परा के अनुसार पुत्र अपने पिता का ही व्यवसाय करता था। भले ही उसको व्यावसायिक क्रियाओं की विशिष्ट जानकारी न हो, किन्तु उस समय व्यवसाय विशेष के वातावरण मे पलने के कारण किसी प्रकार उसकी गाडी खिच जाती थी। उस समय प्रतिद्वन्दिता के अभाव एव व्यापार मे एकाधिकार होने से यदि व्यापार अकुशल हाथो मे भी चला जाता था तो भी उसका लाभ प्रायः सुरक्षित ही रहता था, किन्तु वर्तमान युग म उत्पन्न हुई व्यापारिक प्रतिद्वन्दिता, नये-नये वैज्ञानिक आविष्कार एव अनुसन्धान, बीमा, बैंकिंग एव अर्थ-प्रबन्ध के क्षेत्र मे नवीन विकास, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्यापकता आदि ने प्राचीन व्यवस्था को समाप्त कर दिया है। आजकल जाति के आधार पर व्यवसाय नहीं किये जाते हैं। अब कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार का व्यवसाय करने मे सकोच का अनुभव नही करता। इस नवीन प्रवृत्ति ने व्यवसाय के क्षेत्र को अधिक व्यापक कर दिया है और साथ-साथ नई समस्यायें भी पैदा हो गई हैं। जो व्यक्ति परम्परागत व्यापार करते हैं उनको तो अधिक कठिनाई नहीं होती है, क्योंकि प्रारम्भ से ही अमुक वातावरण मे पलने के कारण उसका उनके सस्कारो पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है, किन्तु जब कोई व्यक्ति परम्परा के विपरीत कोई नया व्यवसाय अपने हाथ म लेता है तो उसके सम्मुख विभिन्न प्रकार की समस्यायें आती हैं। एक नये व्यापार को सुचारु रूप से चलाने के लिये उसका विशिष्ट ज्ञान होना अनिवार्य है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति वस्त्र-मिल-व्यवसाय मे प्रवेश करना चाहता है, तो उसे इस व्यवसाय के विषय में निम्न विशेष बातो का ज्ञान होना चाहिए :—

(१) वस्त्र-मिल के स्थानीयकरण को प्रभावित करने वाले कारण।

(२) कच्चा माल कहा से प्राप्त होगा।

(३) मिल के लिये कौनसी मशीनें उत्तम होगी और कहाँ से प्राप्त की जायेंगी।

(४) श्रमिकों मे कार्य विभाजन किस प्रकार होना चाहिये ।

(५) नवीनतम डिजायनो एव उत्पादन विधियों का साधारण ज्ञान ।

प्राय. कहा जाता है कि पुस्तकीय ज्ञान बेकार है, क्योंकि हमारे विद्यार्थी जब डिग्रिया लेकर विश्वविद्यालय से निकल कर जीवन-क्षेत्र मे प्रवेश करते है तो उनसे कुछ करते नही बनता । कहा जाता है कि वे पत्र-व्यवहार तक ठीक से नही कर सकते, अतः ऐसी शिक्षा से क्या लाभ है ? वास्तव मे पुस्तकीय ज्ञान मनुष्य को 'पूर्ण' नही बनाता । जिस प्रकार कैंची मे दो फलो का होना आवश्यक है अथवा मनुष्य को चलने के लिए दो पैरो की आवश्यकता है उसी प्रकार व्यापार मे सफलता पाने के लिए नवागन्तुक को पुस्तकीय एव व्यावहारिक ज्ञान दोनो ही होना चाहिए । एक के बिना दूसरा अपर्याप्त है । यदि नवागन्तुक बिना सैद्धान्तिक ज्ञान के क्रियात्मक जगत मे उतर पड़ता है तो उसे पद-पद पर कठिनाई उत्पन्न होगी और वह असहाय बन कर दूसरो पर निर्भर रहेगा । यदा-कदा ठोकरें खाकर, नुकसान सहकर वह सही मार्ग पकड़ सकेगा । इसके विपरीत नवागन्तुक केवल पुस्तकीय ज्ञान के सहारे व्यापार आरम्भ करना चाहे तो भी उसे कठिनाइयो का सामना करना पड़ेगा । वास्तव मे वह उचित अवसर पर अपने ज्ञान का प्रयोग नही कर सकेगा, अतः इन दोनो के समन्वय की नितान्त आवश्यकता है । यदि हमारे विद्यार्थियो को बड़ी बड़ी फर्मों के साथ 'कार्य' का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिले तो जीवन-क्षेत्र मे प्रवेश करते समय, जबकि उनके ऊपर ही सारा दायित्व होगा, उनकी बुद्धि अधिक निखरी हुई होगी ।

STANDARD QUESTIONS

1. You are asked to start a new business What points would you take into consideration in its establishment ? Give reasons.
2. What are the essential requisites for the success of a business ?
3. "Honesty is the best policy in business "—Discuss
4. "It has been said that theoretical training is unnecessary and not sufficient for success in a practical business career." Give your considered opinion on this point

---

मे कोई भी वैधानिक प्रतिबन्ध नही है। उसको कभी भी प्रारम्भ किया जा सकता है। हाँ, व्यापार करने वाले व्यक्ति मे अनुबन्ध करने की क्षमता होनी चाहिये। यदि उसमे इस विषय की क्षमता का अभाव है तो वह वैध व्यापारिक अनुबन्ध नही कर सकेगा और लोग उसके सम्पर्क मे आने से हिचकेंगे। दिवालिया, पागल एव अवयस्क मे अनुबन्ध करने की क्षमता नही होती। इसी प्रकार एकाकी व्यापारी बिना किसी आपत्ति अथवा वैधानिक शिष्टाचार के अपने व्यापार को समाप्त भी कर सकता है।

(३) एकाकी प्रबन्ध—एकाकी व्यापारिक सस्था का स्वामी ही साधारणतः व्यापार का सगठनकर्त्ता तथा मैनेजर भी होता है। एकाकी व्यापार की प्रबन्ध व्यवस्था मे किसी प्रकार के पूर्व-निश्चित नियमो अथवा उपनियमो का पालन करना आवश्यक नही होता। प्रबन्ध की सारी बागडोर एकाकी स्वामी के ही आधीन रहती है और वह समयानुसार अपने प्रबन्ध तथा अन्य व्यापारिक पद्धतियो मे हेर-फेर कर सकता है। एकाकी व्यापारी व्यापारिक निर्णय लेने मे भी स्वतन्त्र होता है।

(४) पूँजी पर एकाधिपत्य—एकाकी व्यापार मे व्यवस्थापक ही कुल पूँजी का प्रबन्ध करता है एव हानि-लाभ का उत्तरदायित्व भी पूर्णतः उसके कन्धो पर ही रहता है। हाँ, जैसा कि हम ऊपर सकेत कर चुके है, यदि व्यवस्थापक आवश्यक समझे तो अन्य व्यक्तियो से ऋण ले सकता है।

(५) अपरिमित उत्तरदायित्व—इसमे स्वामित्व और जोखिम सहगामी होते हैं। व्यापार म होने वाली समस्त क्रियाओ के लिये व्यापारी व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होता है। अधिक लाभ की दशा मे वही अकेला सम्पूर्ण लाभ का रसास्वादन करता है और इसके विपरीत यदि हानि हुई तो वह उसको भी सहन करता है। उसके समस्त ऋण के भुगतान के लिए उसकी कुल सम्पत्ति प्रयोग मे लाई जा सकती है, चाहे वह व्यापार से लगी हो या व्यक्तिगत हो।

(६) व्यवसाय की स्वतन्त्रता—एकाकी व्यापारी अपने मनोनुकूल व्यवसाय आरम्भ कर सकता है, परन्तु यदि किसी वस्तु विशेष के व्यापार पर राज्य सरकार का नियन्त्रण हो तो व्यापार आरम्भ करने से पूर्व राज्य सरकार की अनुमति लेनी होगी। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष मे 'औद्योगिक (विकास एव नियन्त्रण) अधिनियम' के अन्तर्गत किसी व्यवसाय को आरम्भ करने के पूर्व सरकार से एक लाइसेन्स प्राप्त करना पड़ता है। इस प्रतिबन्ध के अतिरिक्त एकाकी व्यापारी को अपने व्यापार की स्थापना मे कोई अड़चन नही पड़ती।

(७) कार्यक्षेत्र की निर्धारित सीमा—एकाकी व्यापारी का कार्यक्षेत्र अधिकांशतः एक स्थान विशेष तक ही सीमित रहता है, क्योंकि एक अकेला व्यक्ति एक से अधिक स्थान पर कार्य नही कर सकता। उसकी सीमित पूँजी और प्रबन्ध-क्षमता उसके व्यापार के विस्तार को सीमित करती हैं, किन्तु आजकल ऐसे भी एकाकी

व्यापारी है जिनका व्यापार केवल देश के विभिन्न भागों में ही नहीं वरन् विदेशों में भी फैला हुआ है। हां, ऐसे लोग विरले हैं।

एकाकी व्यापार के गुण एवं दोष

एकाकी व्यापार के गुण—

(१) **प्रारम्भ तथा अन्त करने में वैधानिक शिष्टाचार से मुक्ति**—एकाकी व्यापार की स्थापना में कोई वैधानिक अड़चन नहीं पड़ती और न इसके लिये बहुत प्रबन्ध करने की आवश्यकता ही पड़ती है। इसे जब चाहे और जहां चाहे प्रारम्भ किया जा सकता है। अन्य व्यावसायिक संस्थाओं की भांति इस प्रकार के व्यापार को प्रारम्भ करने अथवा इसकी समाप्ति करते समय विभिन्न प्रकार के वैधानिक लेख-पत्रों को भरने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(२) **निर्णय की स्वतन्त्रता**—एकाकी व्यापारी ही सब बातों का कर्त्ता-धर्त्ता होता है, अतएव उसे किसी की सलाह लेने के लिये ठहरने की आवश्यकता नहीं पड़ती। व्यवसाय सम्बन्धी किसी भी मामले में स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय करके वह शीघ्रता से कार्य कर सकता है। दूसरों पर उसे निर्भर नहीं रहना पड़ता। इस प्रकार स्वावलम्बन अथवा आत्म-निर्भरता की भावना बढ़ती है।

(३) **व्यवसाय को स्वतन्त्रता**—एकाकी व्यापार में व्यवसाय का चुनाव करने में भी उसे पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। वह अपनी इच्छानुसार कोई भी व्यवसाय कर सकता है। इस विषय में अन्य व्यक्तियों से सम्मति प्राप्त करने में व्यर्थ समय नष्ट नहीं करना पड़ता।

(४) **समस्त लाभ पर एकाधिकार**—एकल स्वामित्व की दशा में एक ही व्यक्ति समस्त लाभ का अधिकारी होता है, अतः यह भावना कि सारा लाभ उसकी झोली में जायगा, बड़ी प्रेरणा प्रदान करती है। लाभ को अधिकतम करने के लिए वह अधिकतम परिश्रम और चतुराई से कार्य करता है।

(५) **ग्राहकों से प्रत्यक्ष सम्पर्क**—एकाकी व्यापारी स्वयं अपने ग्राहकों के सम्पर्क में आकर उनमें ऐसी जान-पहचान उत्पन्न कर सकता है जिससे वे सदैव उसकी ओर आकर्षित रहें। भ्रमर रूपी ग्राहकों को आकर्षित करने के लिये वह पराग बनकर स्वयं दूकान पर बैठता है, अतः उसके व्यक्तित्व का ग्राहकों पर अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ता है। निकटतम् सम्पर्क होने के कारण एकाकी व्यापारी उपभोक्ताओं की रुचि व मांग का भी अच्छी तरह अध्ययन कर सकता है एवं उसकी सच्ची सेवा करने में समर्थ हो सकता है।

(६) **कार्यकर्त्ताओं से घनिष्ट सम्बन्ध**—एकाकी व्यापारी का उसके समस्त कार्यकर्त्ताओं से घनिष्ट सम्बन्ध हो जाता है, अतः वह उनकी त्रुटियों और रुचियों से भी भली प्रकार परिचित रहता है और व्यवसाय में उन्नति कर सकता है।

(७) **गोपनीयता**—एकाकी व्यापारी अपने व्यापार के भेदों को गुप्त रख सकता है। वर्तमान प्रतिस्पर्धा के युग में व्यावसायिक सफलता पाने के लिए गोपनीयता

अत्यन्त आवश्यक है, जो कि एकाकी संस्थाओं में ही सुलभ है। कहा जाता है कि चार कानों की बातें कभी भी गुप्त नहीं रहतीं, किन्तु एकाकी व्यापार में यह समस्या पैदा नहीं होती।

(८) मितव्ययिता—एकाकी व्यापार में धन का दुरुपयोग नहीं होता। एकाकी व्यापारी के पूँजी के साधन सीमित होने के कारण वह उनका अधिकतम सदुपयोग करता है, क्योंकि वह जानता है कि लेश मात्र दुरुपयोग से,जो भी हानि होगी, वह उसे सहन करनी पड़ेगी। अन्य व्यक्तियों से प्राप्त ऋणों को भी वह बड़ी सावधानी से खर्च करेगा।

(९) ऋण मिलने की सुविधा—एकाकी व्यापारी अपनी व्यक्तिगत साख के आधार पर बड़ी सुविधा से ऋण भी प्राप्त कर सकता है। व्यक्तिगत सम्बन्ध एवं असीमित उत्तरदायित्व के कारण ऋण मिलने की विशेष सुविधा होती है। इसी प्रकार ऋण के चुकाने में भी उसको किसी अन्य व्यक्ति से परामर्श नहीं करना पड़ता।

(१०) आत्म-विश्वास—एकाकी व्यापार की मंजिल एक ही व्यक्ति के ऊपर खड़ी की जाती है—एकाकी व्यापारी स्वयं ही सब कुछ करता है, अतः उसमें उत्तर-दायित्व, धैर्य तथा आत्म-विश्वास की भावना स्वतः पैदा हो जाती है।

(११) सतर्कता—क्योंकि क्षति होने की दशा में समस्त भार उस एक व्यापारी के कन्धों पर आता है, अतः वह सदैव सतर्क रहता है। इतनी व्यक्तिगत अभिरुचि व्यावसायिक संगठन के प्रारूपों में नहीं देखी जाती, क्योंकि वहाँ पर व्यक्तियों का प्रत्यक्ष हित व्यापार में निहित नहीं रहता।

एकाकी व्यापार के दोष—

इतने लाभ होते हुए भी एकल स्वामित्व में निम्नलिखित कठिनाइयाँ होती हैं—

(१) सीमित पूँजी—व्यक्तिगत स्वामित्व वाली संस्थाओं की पूँजी उस व्यक्ति विशेष की सामर्थ्य पर निर्भर करती है। प्रायः पूँजी की मात्रा स्वामी की निजी पूँजी तथा उसको मिल सकने वाले ऋण तक ही सीमित रहती है। एक विशाल कार-खाना खोलने के लिए बहुत बड़ी धन राशि की आवश्यकता पड़ती है, अतः बड़े पैमाने के व्यवसाय एकाकी व्यापारी की सामर्थ्य के परे हैं।

(२) सीमित प्रबन्ध चातुर्य—इसी प्रकार एकाकी व्यापारी का प्रबन्ध सम्बन्धी चातुर्य भी सीमित होता है। एक व्यक्ति की निर्णय शक्ति, विवेक शक्ति तथा प्रबन्ध क्षमता प्रायः सीमित होती हैं और यह बात बढ़ते हुये व्यापार की सफ-लता में बाधक हो सकती है। यह सत्य है कि वह अपनी इच्छानुसार कुशल कर्मचा-रियों को नियुक्त कर सकता है, किन्तु वेतन पाने वाले कर्मचारियों से निजी उत्सुकता एवं रुचिपूर्वक कार्य करने की आशा करना व्यर्थ है। उनका उद्देश्य तो प्रायः अपना वेतन प्राप्त करना है। दूसरे, जब कर्मचारियों की संख्या बढ़ती है तो उन पर उचित रूप से नियन्त्रण करना भी एक समस्या बन जाती है। इसी आधार पर बहुधा कहा जाता है कि एकाकी व्यापार केवल छोटी मात्रा के व्यवसाय के लिये ही उपयुक्त है।

एक विद्वान ने लिखा है—"एकाकी व्यापार विश्व मे सर्वश्रेष्ठ है, यदि वह एक व्यक्ति इतना बड़ा है कि व्यवसाय को भली प्रकार संभाल सके। व्यवसाय सदैव इतना छोटा या बड़ा होना चाहिये कि एकाकी व्यापारी उसकी समस्याओं को भली प्रकार समझ सके, किन्तु इसका भय सदैव लगा रहता है कि कहीं एक व्यक्ति यह न समझने लगे कि वह सब कुछ जानता है, जबकि वास्तव मे कुछ नहीं जानता, अतएव इस प्रकार का व्यापार प्रायः स्थिर नहीं रहता। यदि वह एक व्यक्ति दुर्भाग्य से अस्वस्थ हो जाता है तो व्यवसाय का यन्त्र भी रुक जाता है और यदि उसको 'राम-राम सत्य' हो गई, तो उस व्यवसाय की भी समाप्ति हो जाती है।" अतएव इन सीमाओं के कारण एकाकी व्यापार अधिक प्रगतिशील नहीं हो पाता।

(३) असीमित दायित्व—एकाकी व्यापारिक संस्था स्थापित करना अपने कुल अण्डे एक ही टोकरी मे रखने के समान है। एकाकी व्यापारी का असीमित दायित्व उसे हतोत्साहित करता है।

(४) जल्द काम शैतान का—यद्यपि एकाकी व्यापारी शीघ्र निर्णय कर सकता है, किन्तु सम्भव है कि अन्य लोगों की सलाह के अभाव में उसका शीघ्र निर्णय समस्त व्यापार के अन्त का कारण बन जाय। कहते भी हैं कि 'जल्दी का काम शैतान का'। एकाकी व्यापारी को परामर्श की सुविधा नहीं होती, इसलिये शीघ्र निर्णय देने के कारण सदैव इस बात की आशङ्का रहती है कि गलत निर्णय से कहीं हानि न हो जाय।

(५) अनुपस्थिति की दशा मे क्षति—व्यापारी की सफलता स्वामी की उपस्थिति एवं उसकी व्यक्तिगत देख-रेख पर निर्भर है, अतएव यदि कार्यवश या अस्वस्थ होने के कारण वह अनुपस्थित रहे तो ऐसी दशा में सारा कार्य कर्मचारियों के हाथ मे छोड़ना पड़ता है, जो कि प्राय. उचित नहीं होता।

(६) गोपनीयता से सन्देह को जन्म—एकाकी व्यवसाय मे कभी-कभी गोपनीयता ही संस्था की प्रगति के मार्ग मे बाधक बन जाती है। ऋण देने वालों को एकाकी व्यापारी की आर्थिक स्थिति का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। वे समझते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की आर्थिक क्षमता सीमित होती है, अतएव इस सीमा से अधिक ऋण एकाकी व्यापारी कदापि प्राप्त नहीं कर सकता।

एकाकी व्यापार का क्षेत्र एवं भविष्य—

उपर्युक्त लाभ तथा हानियों की तुलना से स्पष्ट है कि एकाकी व्यापार उन व्यापारों के लिये ठीक है—(अ) जो छोटे हैं, (आ) जिनमे कम पूंजी और योग्यता की आवश्यकता पड़ती है, (इ) जिनमे व्यक्तिगत देख रेख महत्त्वपूर्ण होती है, और (ई) जिनमे उत्तरदायित्त्व अधिक नहीं होता।

आजकल एकाकी व्यापारी उन क्षेत्रों मे सफलता से कार्य कर रहा है जिनमे बाजार स्थानीय है और प्रत्येक ग्राहक अपनी भिन्न भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति भिन्न-

भिन्न ढङ्गों से चाहता है। ऐसे व्यापारों में फुटकर व्यापार, डाक्टरी का पेशा, दर्जी का काम, कृषि आदि महत्वपूर्ण हैं। एकाकी व्यापार के सम्बन्ध में डाक्टर हैने ने एक स्थान पर लिखा है—"यह स्वरूप उस विस्तृत क्षेत्र में जीवित रहेगा जिसमें पूँजी की आवश्यकता कम होती है, किन्तु व्यक्तिगत योग्यता की अधिक आवश्यकता पड़ती है।...... अर्थशास्त्री एवं राजनीतिज्ञ इस बात को कभी नहीं भूल सकते कि व्यापार में उत्तरदायित्व एवं आत्म निर्भरता के गुण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं तथा ये सब गुण एकाकी व्यापारों में पाये जाते हैं।" श्री टामस के शब्दों में : "ऐसे व्यवसाय में जहाँ विक्रय क्षेत्र स्थानीय हो, माँग नियमित हो तथा कम पूँजी की आवश्यकता हो, जहाँ प्रतियोगिता न हो एवं परस्पर सम्पर्क की आवश्यकता हो और जहाँ जोखिम अधिक न हो, एकाकी व्यापार का ही पूर्ण साम्राज्य है।"

एकाकी नियन्त्रण विश्व में सर्वश्रेष्ठ है ?—

एक विद्वान का कथन है कि एकाकी नियन्त्रण (One man's Control) अथवा एकाकी व्यापार विश्व में सर्वश्रेष्ठ है, यदि वह एक व्यक्ति इतना बड़ा है कि समस्त व्यवसाय को भली प्रकार सम्भाल सके। यदि किसी व्यक्ति में समस्त गुण विद्यमान है—अर्थात् वह धनी है, अनुभवी है, प्रबन्ध एवं संचालन क्षमता रखता है, प्रभावशाली है, अमुक व्यवसाय की तान्त्रिक कला का भी जानकार है—तो उसके द्वारा जो भी व्यापार या व्यवसाय नियन्त्रित किया जायगा उसमें उसको अवश्य सफलता मिलेगी। इसका कारण यह है कि अपने कार्य के संचालन के लिए उसे किसी का मुँह ताकना नहीं पड़ता। वह समय और स्थिति को देखकर अपने व्यापार में आवश्यक परिवर्तन कर सकता है। जिस व्यापार में अनेक व्यक्तियों का हाथ होना है उसके प्रबन्ध में शिथिलताओं और अनियमितताओं की सदैव आशंका रहती है। कहा जाता है कि जहाँ दो व्यक्ति होंगे, मतभेद होना स्वाभाविक है, अतः व्यावसायिक संगठन के अन्य प्ररूपों में समय पर निर्णय लेने में कठिनाई होती है। उनमें शिष्टाचारों की ओर अधिक ध्यान दिये जाने के कारण विलम्ब होने का भय रहता है। इसके विपरीत एकाकी व्यापार के प्रबन्ध एवं नियन्त्रण में एक ही व्यक्ति का हाथ होता है, अतः समस्त योजनायें गोपनीय रखी जा सकती हैं। प्रबन्ध में व्यक्तिगत सम्पर्क रहने के कारण वह अपने कर्मचारियों की कठिनाइयों तथा असुविधाओं को भली प्रकार समझ सकता है और साथ ही, दुर्बलताओं को दूर करने के लिये सुझाव भी दे सकता है। ग्राहकों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने के कारण उसकी इच्छानुसार सेवा करने का भी उसे सुविधाजनक सौभाग्य मिलता है। यही नहीं, प्रबन्ध एवं व्यवस्था में मितव्ययिता भी रहती है, क्योंकि वह कभी भी अनावश्यक व्यय नहीं करता।

अतः स्पष्ट है कि एकाकी व्यापार विश्व में सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु इस कथन के साथ जो आगामी अर्धाली जुड़ी है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है, अर्थात् एकाकी व्यापार उसी दशा में सर्वश्रेष्ठ एवम् सफल होगा, यदि उसको चलाने वाला व्यक्ति पूर्ण रूप से सामर्थ्यवान् एवम् गुण सम्पन्न हो। वास्तव में व्यवहार में ऐसा देखा जाता है कि सर्व

गुण सम्पन्न व्यक्ति विरले ही होते है। विश्व मे कोई भी व्यक्ति पूर्ण नही है और प्रत्येक व्यक्ति की कार्यक्षमता सीमित होती है, इसलिये एक व्यक्ति हर कार्य को चतुराई तथा समान कुशलता के साथ नही कर सकता। यह सत्य है कि अपनी सहायता के लिये वह अन्य कर्मचारियो की नियुक्ति कर सकता है, परन्तु वेतन पर रखे गये कर्मचारी सस्था के कार्यों को उस लगन और व्यक्तिगत रुचि के साथ नही कर सकते जिस प्रकार उसका स्वामी करता है। यदि वह एक व्यक्ति दुर्भाग्य से अस्वस्थ हो जाता है तो व्यवसाय के नियन्त्रण मे उथल-पुथल मच जाती है। जब कर्मचारियो की सख्या बढ जाती है तो उन पर नियन्त्रण रखने की समस्या भी बडी जटिल हो जाती है और व्यवसाय के विभिन्न अङ्गो मे शिथिलता आ जाने से प्रबन्ध मितव्ययी नही रहता। यदि एकाकी व्यापारी को किसी व्यवसाय मे सफलता मिल जाये तो उसको यह नही समझना चाहिये कि वह सब कुछ जानता है तथा उसमे सब कुछ करने की क्षमता है, जबकि यथार्थ रूप मे वह कुछ नही जानता तथा उसमे अनेक त्रुटियाँ होती हैं। यदि व्यापार उसके व्यक्तिगत प्रभाव से चलता है तो उसके अलग हो जाने पर व्यापार का चलना सम्भव नही होता और यदि उसकी 'राम-राम सत्य' हो गई तो व्यवसाय की भी समाप्ति हो जाती है।

भारत मे एकाकी व्यापार की दशा—

भारत एक कृषि प्रधान देश है। देश की अधिकांश जन-सख्या गांवो मे रहती है और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से खेती पर ही निर्भर करती है। गाँवो मे कुटीर उद्योगो तथा लघु उद्योगो के लिये पर्याप्त क्षेत्र है। जन-सख्या का भूमि पर भार कम करने के लिये तथा लोगो को काम दिलाने के लिये महात्मा गाँधी के आदेशानुसार हमारी राष्ट्रीय सरकार लघु एव कुटीर उद्योगो के विकास की ओर अपना ध्यान केन्द्रित कर रही है। इस प्रकार के उद्योगो के लिए व्यापारिक सगठन का एकाकी स्वरूप ही सर्वश्रेष्ठ है। अपनी खुद की बचत पूंजी के रूप मे लगाकर अथवा अपने नाते रिश्तेदारो से धन उधार लेकर स्वय तथा पारिवारिक सदस्यो के सहयोग से व्यापारी कार्य शुरू कर सकता है और कार्य की पूर्ण देखरेख करते हुये ग्राहको से निजी सम्पर्क रख सकता है। इस प्रकार भारत मे एकाकी व्यापार का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।

एकाकी व्यापार का सामाजिक महत्त्व—

निम्न बातो से एकाकी व्यापार के सामाजिक महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है :—

(१) वह अनेक व्यक्तियो को कार्य प्रदान करता है और इस प्रकार बेकारी की समस्या के निवारण मे सहयोग देता है।

(२) वह विपणन मे आने वाली कठिनाई को दूर करता है।

(३) मध्यस्थो के अभाव के कारण एकाकी व्यापारी के द्वारा वस्तुयें उचित मूल्य पर प्राप्त हो जाती हैं।

(४) आधारभूत उद्योगों को छोड़कर मध्यम वर्ग तथा गृह एवं कुटीर उद्योगों के लिये व्यावसायिक सगठन का यह स्वरूप सर्वश्रेष्ठ है।

व्यापार के विकास में साझेदार सहायक हैं अथवा नौकर ?—

जब एकाकी व्यापारी का व्यापार बढ़ता है तो ऐसी दशा में एक समस्या उपस्थित होती है कि वृहत व्यापार को सम्भालने के लिये वेतन पाने वाले कर्मचारियों की नियुक्ति की जाय अथवा व्यावसायिक सगठन का रूप ही बदल कर अन्य साझेदारों का समावेश करके उसे साझेदारी में परिणित कर लिया जाय। यहाँ हम दोनों पक्षों के गुण व दोषों की विवेचना करेंगे।

कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति की दशा में—

यदि बढ़ते हुये व्यापार को सम्भालने के लिये वेतन पाने वाले कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती है तो इसमें एक लाभ यह होता है कि एकाकी व्यापारी अपने निर्णय में पूर्व की भाँति स्वतन्त्र रहता है। जो भी कर्मचारी नियुक्त किये गये हैं वे एकाकी व्यापारी को परामर्श दे सकते हैं, परन्तु उसको मानना अथवा न मानना उसकी स्वेच्छा पर निर्भर करता है। वे अपने स्वामी को अथवा यों कहें कि व्यापार के व्यवस्थापक को अपनी राय के अनुसार कार्य करने के लिये विवश नहीं कर सकते। दूसरे, बढ़ते हुए व्यापार को सम्भालने के लिये जिस व्यक्ति विशेष की आवश्यकता हो उसकी नियुक्ति की जा सकती है। उदाहरण के लिये, यदि व्यापार के लिये अधिक विज्ञापन की आवश्यकता है तो एक विज्ञापन विशेषज्ञ नियुक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार विक्रय को प्रोत्साहन देने के लिये विक्रय-कला-दक्ष विक्रेता की नियुक्ति की जा सकती है। यदि कारखाने में नई प्रकार की मशीन लगाई गई है तो उसके सचालन के लिये पृथक विशेषज्ञ नियुक्त किया जा सकता है। साझेदार में इन विशेष गुणों का होना अनिवार्य नहीं है। तीसरे, एकाकी व्यापारी अपने कर्मचारियों पर पूर्ण नियन्त्रण भी रख सकता है। साझेदार भले ही अपने अन्य भागियों की आज्ञा को टाल दे, परन्तु कर्मचारियों के लिये एकाकी व्यापारी की आज्ञाओं का पालन करना सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य होता है।

उपर्युक्त गुणों के विपरीत, कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति की दशा में अनेक दुर्बलतायें भी होती हैं। प्रथम, वेतन पाने वाला कर्मचारी कभी भी उस लगन एवं अभिरुचि से कार्य नहीं करेगा जैसे कि व्यापार का स्वामी, क्योंकि वह जानता है कि उसे अधिक या कम परिश्रम करने से जो कुछ लाभ-हानि होगी उसका उस पर किसी प्रकार प्रभाव नहीं पड़ सकता। उसको तो निश्चित वेतन मिलेगा ही। अतः वह उतना ही कार्य करता है जितना उसको सुपुर्द किया जाता है। निश्चित काम के घंटों के उपरान्त वह कभी भी व्यापार के विषय में सोचने का कष्ट नहीं करता। संक्षेप में, एक कर्मचारी का व्यापार में व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता। दूसरे, जहाँ तक उत्तरदायित्व का प्रश्न है, एक कर्मचारी का उत्तरदायित्व उसके निर्धारित काल एवं नियत कार्य तक ही सीमित रहता है और उसके लिए वह एक निश्चित सीमा तक अपने स्वामी के प्रति उत्तरदायी होता है। साझेदार की भाँति एक कर्मचारी का दायित्व 'व्यक्तिगत एवं सामूहिक'

(Joint and several) नही होना । तीसरे, यदि व्यापार के विकास के साथ-साथ अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है तो इस समस्या के हल मे भी कर्मचारी सहयोग नही दे सकते । यदि वे व्यापार को ऋण देते भी है तो उस पर एक निश्चित दर से ब्याज देना अनिवार्य होता है, परन्तु साझेदार को लगाई गई पूँजी पर केवल लाभ ही दिया जाता है और हानि की दशा मे उसको भी नुकसान सहन करना पडता है । चौथे, कर्मचारियो की नियुक्ति से व्यापार का अतिरिक्त व्यय भी बढ जाता है । व्यापार मे लाभ हो या न हो, कर्मचारियो को वेतन अवश्य देना पडेगा ।

साझेदार लेने की दशा में—

यदि बढते हुए व्यापार को सभालने के लिए नये साझेदार का सहयोग लिया जाय, तो इससे निम्न लाभ होगे—

(१) कर्मचारियो की अपेक्षा साझेदार पूर्ण लगन एव अभिरुचि से कार्य करेगा । उसके मस्तिष्क मे २४ घन्टे यही भावना रहेगी कि किसी प्रकार व्यापार का विकास हो, क्योकि व्यापार के उत्तरोत्तर विकास मे ही उसका लाभ निहित है । साझेदार जानता है कि यदि वह व्यापार मे पूर्ण रुचि से कार्य नही करेगा तो हानि होने की दशा मे उसकी लगाई हुई पूँजी के साथ-साथ उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति पर भी आक्षेप आ सकता है, क्योकि साझेदारी मे उत्तरदायित्व असीमित होता है ।

(२) साझेदार का उत्तरदायित्व व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनो ही होता है । एक साझेदार केवल व्यापार के लिए एक दूसरे के प्रति उत्तरदायी नही रहते, वरन् समस्त साहूकारो तथा ग्राहको के प्रति भी उत्तरदायी होते हैं ।

(३) यदि बढते हुये व्यापार के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता पडती है तो साझेदार के प्रवेश द्वारा वह प्राप्त की जा सकती है और उस पर ब्याज देना भी अनिवार्य नही होता ।

(४) साझेदार के प्रवेश से व्यापार का अतिरिक्त व्यय भी नही बढता, वरन् सुख-दुख का एक साथी मिल जाता है ।

(५) साझेदार समय पर उचित परामर्श भी दे सकता है ।

इनके विपरीत साझेदार लेने की दशा मे कुछ दोष भी है :—

(१) एक कर्मचारी की भाँति एकाकी व्यापारी साझेदार से अपनी आज्ञाओ का अक्षरशः पालन नही करा सकता ।

(२) साझेदार द्वारा दिए हुये परामर्श को उसे मान्यता देनी होगी । कर्मचारियो की राय की भाँति एकाकी व्यापारी उसे ठुकरा नही सकता ।

(३) मतभेद की दशा में साझेदार को व्यापार से हटाना असम्भव सा हो जाता है । जब साझेदार हटता है तो वैधानिक रूप मे व्यापार का ही अन्त हो जाता है, किन्तु कर्मचारी को किसी भी समय नोटिस देकर हटाया जा सकता है और व्यापार के अस्तित्त्व पर इसका कुछ भी प्रभाव नही पडता ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि व्यापार के बढने की दशा मे कर्मचारियो

की नियुक्ति की अपेक्षा साझेदार को रखना ही अधिक श्रेष्ठ होगा। हाँ, यह अवश्य है कि ऐसा करने मे एकाकी व्यापार के स्वरूप का अन्त हो जायगा और वह साझेदारी मे परिणित हो जायगा।

क्या एकाकी व्यापार 'असभ्यता का अवशेष' है ?—

कुछ आलोचको का यह मत है कि एकाकी व्यापार 'असभ्यता का अवशेष' (Relic of Barbaric Age) अथवा 'जगली युग का प्रतीक' है। उनकी धारणा है कि एकाकी व्यापारी वर्तमान सभ्यता के साथ कदम-बकदम मिलाकर चलने मे असमर्थ है। उसकी असमर्थता के कारणो में सीमित पूँजी, असीमित उत्तरदायित्व, सीमित प्रबन्ध-क्षमता आदि मुख्य हैं। अन्य व्यावसायिक सगठनो की अपेक्षा एकाकी व्यापारी के आर्थिक स्रोतो के अत्यन्त सीमित होने के कारण वह व्यापार मे उपयुक्त पूँजी नही लगा सकता और उसकी व्यापारिक गोपनीयता तथा बाहरी लोगो के अविश्वास के कारण अतिरिक्त आर्थिक सहयोग मिलना कठिन हो जाता है। दूसरे, असीमित उत्तरदायित्व के कारण वह व्यापारिक जोखिम को बढाने मे भी हिचकिचाता है। जहाँ तक प्रबन्ध का प्रश्न है, वह बढते हुये व्यापार के विभिन्न अगो पर सुविधाजनक नियन्त्रण नही कर सकता है और सीमित पूँजी के कारण वह नवीन व्यापारिक साधनो का उपयोग करने मे भी असमर्थ रहता है। आलोचको का यह मत है कि एकाकी व्यापारी प्रायः रूढिवादी होते हैं। वे 'प्रगतिवाद' मे विश्वास नही करते। अपनी परम्परागत पद्धतियो मे उन्हे इतना अधविश्वास होता है कि आधुनिकतम विचारधारा को सुनना भी वे स्वीकार नही करते। नवीन व्यापारिक पद्धतियो को अपनाने का न तो उनमे साहस ही होता है और न सामर्थ्य ही।

एकाकी व्यापार के सम्बन्ध मे उपर्युक्त आलोचना भारतीय व्यापारियो के लिए भले ही सत्य हो, किन्तु पाश्चात्य जगत मे यह निराधार है। भारतीय एकाकी व्यापार अधिकांशतः रूढिवादिता, पूँजी के अभाव, विवेकीकरण एव वैज्ञानिकता की कठिनाइयो, अन्वेषणात्मक कठिनाइयो आदि के कारण प्रायः उसी प्रकार मे चला आता है जिस प्रकार कि वह शताब्दियो पूर्व था। इसके विपरीत विदेशो मे एकाकी व्यापार ने महत्त्वपूर्ण प्रगति की है। वहाँ व्यापारियो ने वर्षों तक खोज करके व्यापार के गठन की नई-नई पद्धतियो को निकाल कर समय और परिस्थितियो के अनुसार अपने को बदला है। जब से हमारा देश स्वतन्त्र हुआ है तब से भारतीय एकाकी व्यापार मे भी प्रगति की भावना बढती जा रही है। इस परिवर्तन का कारण आधुनिक व्यापारिक प्रतिद्वन्दिता, व्यापारिक जटिलता, माँग मे परिवर्तन तथा वृद्धि, जीवन के दृष्टिकोण मे अन्तर आदि बातें हैं, जिन्होंने एकाकी व्यापार प्रणाली को नवीन परिस्थितियो के अनुकूल बनाने के लिये विवश किया है। आजकल कुछ ऐसे व्यवसाय हैं जो केवल एकल व्यापार के रूप मे ही सफलतापूर्वक एव कुशलता से किये जा सकते हैं, जैसे—चित्रकला, डाक्टर का कार्य, दस्तकारी आदि। इस प्रकार के कार्य कभी-कभी अन्य प्रकार के बडे तथा अपरोक्ष सगठनो मे लाभप्रद सिद्ध नही होते, क्योकि इनमे व्यक्तिगत ध्यान देना

पडता है। कलात्मक तथा व्यक्तिगत इच्छाओ की सतुष्टि के लिये एकल व्यापार प्रणाली ही सर्वश्रेष्ठ है। यही कारण है कि वर्तमान व्यापारिक जटिलताओ के होते हुए भी एकाकी व्यापार आज भी विश्व के कोने-कोने मे शान के साथ चल रहा है।

अत. यह स्पष्ट है कि एकाकी व्यापार असभ्यता के युग का प्रतीक न होकर आधुनिक कलात्मक प्रवृत्तियो का पोषक, सीमित बाजारो का प्राण तथा विशाल सगठनो की त्रुटियो का पूरक है।

कृषक तथा एकाकी उत्पादक की समस्याओ मे एकरूपता—

कृषक एव एकाकी उत्पादक की समस्याएँ प्रायः समान ही होती हैं। जिस प्रकार एकाकी व्यापारी अपने कारोबार के लिये स्वय पूँजी, परिश्रम, प्रबन्ध, यन्त्र आदि जुटाता है उसी प्रकार कृषक भी अपनी खेती के लिये परिश्रम, पूँजी, हल, बैल तथा अन्य साधन स्वय लगाता है और उसके उत्पादन का समस्त उत्तरदायित्व उसी के कधो पर रहता है। निकटतम मण्डियो मे अपने उत्पादित माल को बेचने के बाद उसको जो कुछ लाभ होता है उसका रसास्वादन एकाकी व्यापारी की भाति वह स्वय करता है। इसी प्रकार यदि उसे हानि होती है तो वह भी खुद ही सहन करनी पडती है। वह खेतो मे या तो स्वय कार्य करता है अथवा कुछ श्रमजीवियो से काम लेता है। कितना अनाज उत्पन्न किया जाय, किन साधनो से किया जाय तथा किन मण्डियो मे उसका विक्रय किया जाय, आदि प्रश्नो का हल कृषक की कार्यशक्ति एव सामर्थ्य पर निर्भर करता है। कृषि मे लगाई जाने वाली पूँजी वह अपनी ओर से लगाता है अथवा ऋण के रूप मे प्राप्त कर सकता है। कृषक अपने उत्पादित माल की अधिक प्रसिद्धि भी नही कर सकता, क्योकि उसके साधन सीमित होते है। दूसरे, उसका माल भी प्राय इस प्रकार का होता है, जिसका बाजार सीमित ही रहता है। तीसरे, भूमि की उर्वरा शक्ति भी सीमित होती है, इसीलिये माँग के अनुरूप उससे उत्पादन नही बढाया जा सकता है।

एकाकी उत्पादक की समस्याएँ भी कृषक से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। एकाकी उत्पादक भी मुख्यत. अपनी सीमित पूँजी से ही वस्तुओ का निर्माण करता है। व्यापार के बढने की दशा मे वह कुछ कर्मचारियो की नियुक्ति कर लेता है। एकाकी व्यापारी को भी अधिक विज्ञापन की आवश्यकता नही पडती, क्योकि उसका क्षेत्र सीमित होता है और ग्राहको से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। सक्षेप मे, कृषक एव एकाकी उत्पादक मे मुख्य समानतायें निम्न हैं :—

(१) दोनो ही की पूँजी सीमित होती है। अपनी सीमित पूँजी के ही बल पर वे व्यवसाय को बढाने की चेष्टा करते हैं।

(२) दोनो मे व्यक्ति विशेष के कौशल का महत्त्व है। दोनो ही अपने-अपने कार्यो मे दक्ष होते हैं।

(३) उनकी वस्तुओ का बाजार प्राय सीमित होता है। स्वय के उपभोग के बाद जो कुछ भी शेष बचता है उसे वे निकटतम बाजारो मे बेच देते हैं।

(४) व्यापार के सचालन के लिए दोनो को ही व्यक्तिगत रूप से ध्यान देना आवश्यक होता है।

(५) उनका व्यापार अत्यन्त लोचपूर्ण होता है और बिना किसी असुविधा या वैधानिक शिष्टाचार के उसे घटाया तथा बढाया जा सकता है।

संयुक्त हिन्दू पारिवारिक व्यवसाय
(Joint Hindu Family Business)

'संयुक्त हिन्दू पारिवारिक व्यवसाय' से आशय—

जैसा कि इन शब्दो से स्पष्ट प्रगट होता है, यह व्यवसाय का वह स्वरूप है, जिसके अन्तर्गत एक हिन्दू परिवार के सभी व्यक्ति मिलकर परिवार के प्रमुख या 'कर्त्ता' (Karta) के नियन्त्रण मे व्यापार करते हैं। उदाहरण के लिये, एक हिन्दू सम्मिलित परिवार का मुखिया या कर्त्ता श्री रामलाल है, जिसकी परचूनिये (Grocery) की दुकान है। उसके व्यापार मे किसी अन्य व्यक्ति का साझा नही है, वरन् वह स्वतन्त्र रूप से अपनी दुकान को चलाता है। दूसरे शब्दो मे, रामलाल के व्यवसाय को एकाकी व्यापार (Sole Proprietorship Business) कह सकते हैं। रामलाल के दो पुत्र हुये—मोहन व हरी। माता के गर्भ से बाहर आते ही दोनो ही कौटुम्बिक व्यवसाय के सदस्य बन जायँगे।

हिन्दू लॉ के अन्तर्गत, पारिवारिक व्यवसाय के सगठन को दो भागो मे विभक्त किया गया है:—(१) दायभाग (Dayabhaga), और (२) मिताक्षरा (Mitakshara)। दायभाग की पद्धति केवल बगाल मे प्रचलित है और मिताक्षरा की पद्धति भारत के शेष भागो मे लोकप्रिय है। मिताक्षरा कानून के अनुसार, सयुक्त व अविभाजित हिन्दू परिवार प्रथा समाज की एक सामान्य अवस्था है। ऐसे सम्मिलित हिन्दू पारिवारिक व्यवसाय मे वशानुक्रम से एक पूर्वज से जन्म ग्रहण करने वाले सभी लोग होते हैं, जिनमें उनकी पत्नियाँ और अविवाहित पुत्रियाँ भी सम्मिलित होती हैं। सयुक्त परिवार मे ही एक छोटा सा वर्ग ऐसा होता है, जिसमे केवल वे व्यक्ति ही सम्मिलित होते हैं जो कि जन्म से ही पारिवारिक सम्पत्ति (Joint or Coparcenary Property) मे हित प्राप्त कर लेते हैं। ये सम्पत्ति-धारी के पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र होते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सम्पत्ति-धारी के पश्चात् पुरुष पीढी मे तीन अविच्छिन्न सततियो से दादेलाई (Coparcener) की रचना होती है अर्थात् एक हिन्दू को उत्तराधिकार मे अपने पिता, पिता के पिता तथा पितामह से प्राप्त सम्पत्ति पैतृक होती हैं और अन्य सम्बन्धियो से या अपने प्रयत्न से प्राप्त हुई सम्पत्ति उसकी अपनी अलग सम्पत्ति कहलायेगी। पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र जन्म से ही सम्पत्ति के सहस्वामी हो जाते हैं। पिता, परिवार के प्रधान (Head of the family) के रूप में सम्पत्ति को धारण कर सकता है तथा उसका प्रबन्ध कर सकता है, यद्यपि पुत्र को भी पिता के साथ उसकी सम्पत्ति के समान स्वत्व (Title) रखने

तथा उपयोग करने का अधिकार होता है। यदि वह चाहे, तो अपनी सम्पत्ति को पिता की सम्पत्ति से अलग कर सकता है।

हिन्दू लॉ के अन्तर्गत, व्यवसाय को उत्तराधिकार से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति (Heritable Asset) माना गया है। यदि किसी हिन्दू सम्मिलित परिवार मे किसी भी सदस्य की मृत्यु हो जाती है, तो व्यवसाय (Joint Hindu business) अन्य सम्पत्तियो की भाँति उसके उत्तराधिकारी को मिल जायेगा। अगर उत्तराधिकारी पुरुष (Male) हो, तो व्यवसाय उन्ही को मिलेगा और ऐसी परिस्थिति मे व्यवसाय को सयुक्त पारिवारिक फर्म (Joint Family Firm) माना जायगा। ऐसी फर्म भारतीय साझेदारी अधिनियम सन् १९३२ के अन्तर्गत अनुबन्ध से उदय होने वाली साझेदारी सस्था से बिल्कुल भिन्न होगी। इस सयुक्त पारिवारिक फर्म पर हिन्दू लॉ के सामान्य नियम लागू होंगे, साझेदारी अधिनियम के नही।

सामान्यत सयुक्त पारिवारिक व्यवसाय का प्रबन्ध कुटुम्ब के मुखिया द्वारा किया जाता है। यह मुखिया घर का सबसे बड़ा सदस्य (Senior most member of the family) होता है। इसे कर्त्ता या मैनेजर भी कहते हैं। कुटुम्ब के मुखिया के रूप मे मैनेजर या कर्त्ता का व्यवसाय के आय-व्यय पर पूरा नियन्त्रण होता है। परिवार के अन्य सदस्य उसके निर्णय के विरुद्ध आपत्ति नही उठा सकते। हाँ, यदि वे आवश्यक समझें, तो बँटवारे की माँग अवश्य कर सकते हैं, कर्त्ता को व्यवसाय से सम्बन्धित अनुबन्ध करने, रसीद देने, भुगतान लेने या तत्सम्बन्धी समझौते करने का अधिकार होता है। वह चाहे तो पारिवारिक व्यवसाय के लिये उधार ले सकता है। लेकिन अन्य सदस्यो का दायित्व पारिवारिक सम्पत्ति मे उनके भाग तक ही सीमित रहेगा। वह पारिवारिक सम्पत्ति को व्यवसाय के उचित उद्देश्य की पूर्ति के लिए बधक रख सकता है। वही निर्णय करता है कि व्यवसाय को चालू रखा जाय या नही। हाँ, यदि कर्त्ता किसी रकम का दुरुपयोग करता है तो वह उस प्रकार खर्च की गई रकम पूर्ति करने का दायी है।

संयुक्त पारिवारिक व्यवसाय की विशेषतायें—

उपर्युक्त विवरण के विश्लेषण से, सयुक्त परिवार व्यवसाय की निम्नलिखित विशेषतायें स्पष्ट हैं.—

(१) हिन्दू लॉ का नियन्त्रण—एक हिन्दू सम्मिलित परिवार की दशा मे उसके स्वामियो के अधिकारो व कर्त्तव्यो का निर्धारण हिन्दू लॉ के अनुसार होता है। इस पर साझेदारी अधिनियम लागू नही होता और न कम्पनी अधिनियम से ही इसका कुछ सम्बन्ध होता है।

(२) सदस्यता की प्राप्ति—हिन्दू सम्मिलित परिवार के व्यवसाय की एक अनोखी विशेषता यह है कि इसमे माता के गर्भ से बाहर आते ही अमुक व्यक्ति

को व्यवसाय मे सदस्यता (Coparcener) मिल जाती है। इस हेतु उसे किसी प्रकार का अनुबंध नही करना पडता। यहाँ यह लिखना अनावश्यक न होगा कि साझेदारी की दशा मे अनुबन्ध का होना नितान्त आवश्यक होना है। साझेदारी का जन्म ही अनुबन्ध से होता है, अर्थात् यदि कोई व्यक्ति किसी फर्म का साझीदार बनना चाहता है, तो उसे फर्म के विद्यमान सदस्यो से अनुबन्ध करना पडेगा। इसके विपरीत, यदि किसी सयुक्त हिन्दू परिवार के व्यवसाय मे कोई व्यक्ति सदस्यता प्राप्त करना चाहे, तो उसे वह सदस्यता अनुबन्ध के द्वारा सुलभ नही हो सकती।

(३) मृत्यु से अप्रभावित—एक सम्मिलित हिन्दू परिवार के व्यवसाय की तीसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इस पर किसी सदस्य की मृत्यु का कोई प्रभाव नही पडता। अर्थात् यदि कर्त्ता के किसी पुत्र का देहान्त हो जाता है अथवा स्वय कर्त्ता का ही देहान्त हो जाता है, तो ऐसी घटना से व्यवसाय के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नही पडता। इसके विपरीत, साझेदारी फर्म की दशा मे किसी भी साझेदार की मृत्यु के परिणामस्वरूप साझेदारी का अन्त हो जाता है और विपरीत अनुबन्ध के अभाव मे फर्म का भी अन्त हो जाता है।

(४) व्यवसाय का सचालन व प्रबन्ध—हिन्दू सम्मिलित परिवार के व्यवसाय मे कर्त्ता व्यवसाय का प्रधान या मैनेजर माना जाता है। व्यवसाय के प्रबन्ध व सचालन का भार उसी के कन्धो पर होता है। वही व्यापार के कार्य के लिये अन्य पक्षकारो से ऋण ले सकता है और अथवा अनुबन्ध कर सकता है, व्यवसाय के अन्य सदस्यो को यह अधिकार प्राप्त नही होता।

(५) दायित्व—सम्मिलित हिन्दू परिवार के सदस्यो का दायित्व परिवार की सम्पत्ति मे उनके भाग तक सीमित होता है। सदस्यो की व्यक्तिगत सम्पत्ति पर व्यापारिक ऋणो का कोई प्रभाव नही पडता, केवल कर्त्ता की व्यक्तिगत सम्पत्ति ही ऋण के भुगतान के लिये ली जा सकती है।

(६) हिसाब—एक साझेदारी फर्म की दशा मे प्रत्येक साझेदार को यह अधिकार होता है कि फर्म से अलग होने समय वे सारा हिसाब अन्य साझेदारो से ले सके, लेकिन हिन्दू सम्मिलित परिवार के व्यवसाय मे सदस्यो को यह अधिकार नही होता।

(७) स्त्रियो की सदस्यता पर प्रतिबन्ध—एक साझेदारी फर्म की दशा मे स्त्री व पुरुष दोनो ही साझेदार हो सकते हैं, लेकिन हिन्दू सम्मिलित परिवार के व्यवसाय की दशा मे केवल पुरुष ही सदस्य हो सकते है। मिताक्षरा कानून के अन्तर्गत तो पत्नी भी सदस्य नही हो सकती। हाँ, दायभाग कानून के अन्तर्गत कतिपय दशाओ मे स्त्रिया सदस्य हो सकती हैं।

(८) अवयस्क की सदस्यता—एक हिन्दू सम्मिलित परिवार की दशा मे

अवयस्क की सदस्यता पर भी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही है। दूसरे शब्दो मे, वह भी पत्तीदार हो सकता है। इसके विपरीत, एक अवयस्क को 'फर्म' मे साभेदार नही बनाया जा सकता। हाँ, उसे फर्म के लाभो मे सम्मिलित किया जा सकता है।

(९) रजिस्ट्रेशन—एक हिन्दू सम्मिलित परिवार के व्यवसाय के रजिस्ट्रेशन की भी कोई अनिवार्यता नही है। अत. स्पष्ट है कि साभेदारी अथवा कम्पनी की भाँति इसकी स्थापना के लिये वैधानिक औपचारिकायें (Legal formalities) नही करनी पडती।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू सम्मिलित परिवार का व्यवसाय साभेदारी की फर्म से अनेक महत्त्वपूर्ण बातो मे भिन्न है। इस सम्बन्ध मे अब हम गम्भीरता से विचार करेंगे।

साभेदारी तथा सम्मिलित हिन्दू परिवार—

साभेदारी तथा सम्मिलित हिन्दू परिवार मे क्या अन्तर है, इस नियम पर प्रकाश डालना अनावश्यक न होगा :—

क्रमाक	अन्तर का आधार	साभेदारी	हिदू सम्मिलित परिवार
१.	सम्बन्धित नियम	साभेदारी मे 'भारतीय साभेदारी अधिनियम' सन् १९३२ लागू होता है।	हिन्दू सम्मिलित परिवार मे स्वामियो के कर्त्तव्य, अधिकार और अन्य बाता का निर्णय हिन्दू लॉ के द्वारा होता है।
२.	अनुबन्ध	साभेदारी मे अनुबन्ध की आवश्यकता होती है।	हिदू परिवार मे माता के गर्भ से बाहर आते ही अधिकार प्राप्त हो जाता है।
३.	मृत्यु का प्रभाव	एक साभेदार की मृत्यु से साभेदारी का अन्त हो जाता है।	हिदू परिवार के व्यवसाय मे मृत्यु का कोई प्रभाव नही पडता।
४.	ऋण एव अनुबन्ध करना	साभेदारी मे व्यापार के कार्य के लिय कोई साभेदार ऋण ले सकता है या अनुबन्ध कर सकता है और दूसरे साभेदारो पर उसका उत्तरदायित्व डाल सकता है।	हिदू परिवार के व्यवसाय मे परिवार के मालिक कर्त्ता को ही यह अधिकार प्राप्त है, अन्य किसी को नही।
५.	दायित्व	साभेदारी मे दायित्व असीमित होता है। साभेदारा	सम्मिलित हिन्दू परिवार के सदस्यो का दायित्व परिवार

		की व्यक्तिगत सम्पत्ति भी व्यापार के ऋण के लिए ली जा सकती है।	को सम्पत्ति मे उनके भाग तक ही सीमित होता है। उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति पर व्यापारिक ऋण का कोई असर नही पडता, केवल कर्त्ता की व्यक्तिगत सम्पत्ति ऋण के चुकाने के लिये ली जा सकती है।
६.	सचालन	साझेदारी मे सब (अथवा उनमे से एक एजेन्ट के रूप मे) सचालक का कार्य करते है।	हिन्दू सम्मिलित परिवार के व्यवसाय मे केवल कर्त्ता को ही यह अधिकार प्राप्त है।
७.	हिसाब	साझेदार को यह अधिकार है कि अलग होते समय सारा हिसाब दूसरे साझेदारो से ले ले।	हिन्दू सम्मिलित परिवार के व्यवसाय मे सदस्यो को यह अधिकार नही है।
८.	स्त्री-पुरुष सदस्य	साझेदारी मे स्त्री और पुरुष दोनो साझेदार हो सकते हैं।	हिन्दू सम्मिलित परिवार के व्यवसाय मे केवल पुरुष ही सदस्य हो सकते हैं। मिताक्षरा विधान के अन्तर्गत तो पत्नी भी सदस्य नही हो सकती। हाँ, दाय भाग विधान के अन्तर्गत कतिपय दशाओ मे स्त्रियाँ सदस्य हो सकती है।
९.	अवयस्क सदस्य	अवयस्क को साझेदार नही बनाया जा सकता। हाँ, उसे फर्म के लाभो मे शामिल किया जा सकता है।	अविभक्त हिन्दू परिवार मे अवयस्क पत्तीदार हो सकता है।
१०.	रजिस्ट्रेशन	साझेदारी का रजिस्टर्ड होना आवश्यक है, जिससे साझेदार परस्पर या बाहरी व्यक्तियो के विरुद्ध अपने अधिकारो का प्रयोग कर सके।	अविभक्त हिन्दू पारिवारिक फर्म मे रजिस्ट्री की आवश्यकता नही होती।

यदि दो भाई अथवा चाचा-भतीजे मिलकर कोई नया व्यापार आरम्भ करते हैं, तो यह पैतृक व्यापार नही कहा जा सकता, किन्तु उस पर भारतीय साझेदारी अधिनियम लागू होगा। इसी प्रकार यदि कर्त्ता किसी दूसरे व्यक्ति से साझा करता है,

तो केवल कर्त्ता को ही साझेदार कहेगे। परिवार के अन्य लोग साझेदार नही कहे जा सकते। यदि वह चाहे तो सारे परिवार के प्रतिनिधि के रूप मे दूसरो से साझा कर सकता है और ऐसी दशा मे सब सदस्य साझेदार समझे जावेंगे। दो सम्मिलित हिन्दू परिवार आपस मे साझा नही कर सकते, किन्तु दो व्यक्तियो मे, जो अलग-अलग सम्मिलित हिन्दू परिवारो के सदस्य हैं, साझेदारी हो सकती है।

संयुक्त हिन्दू परिवार के व्यवसाय के गुण-दोष

गुण—

सयुक्त हिन्दू परिवार के व्यवसाय के कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं :—

(१) आरम्भ तथा अन्त करने मे वैधानिक शिष्टाचार से मुक्ति— सयुक्त हिन्दू परिवार के व्यवसाय की स्थापना मे कोई वैधानिक अडचन नही पडती और न इसके लिये बहुत प्रबन्ध करने की ही आवश्यकता पडती है। इसे जब चाहें और जहाँ चाहे प्रारम्भ किया जा सकता है। अन्य व्यावसायिक सस्थाओ की भाँति इस प्रकार के व्यापार को प्रारम्भ करने अथवा इसकी समाप्ति करते समय विभिन्न प्रकार के वैधानिक लेख पत्रो को भरने की आवश्यकता नही पडती।

(२) निर्णय की स्वतन्त्रता— सयुक्त हिन्दू परिवार व्यवसाय मे कर्त्ता ही व्यवसाय का प्रधान या मैनेजर होता है, अतएव उसे किसी की सलाह लेने के लिये ठहरने की आवश्यकता नही पडती। व्यवसाय सम्बन्धी किसी भी मामले मे स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय करके वह शीघ्रता से कार्य कर सकता है। दूसरो पर उसे निर्भर नही रहना पडता। इस प्रकार स्वावलम्बन अथवा आत्म निर्भरता की भावना बढती है।

(३) व्यवसाय की स्वतन्त्रता— सयुक्त हिन्दू परिवार के व्यापार मे व्यवसाय का चुनाव करने मे भी कर्त्ता को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। वह अपनी इच्छानुसार कोई भी व्यवसाय कर सकता है। इस विषय मे अन्य व्यक्तियो से सम्मति प्राप्त करने मे व्यर्थ समय नष्ट नही करना पडता।

(४) समस्त लाभ पर एकाधिकार— सयुक्त हिन्दू परिवार के व्यापार की दशा मे परिवार के सदस्यो का ही समस्त लाभ पर अधिकार होता है, अतः यह भावना कि सारा लाभ घर मे ही रहेगा, बडी प्रेरणा प्रदान करती है। लाभ को अधिकतम करने के लिए वह अधिकतम परिश्रम और चतुराई से कार्य करता है।

(५) ग्राहको से प्रत्यक्ष सम्पर्क— सयुक्त हिन्दू परिवार के व्यवसाय मे कर्त्ता स्वय अपने ग्राहको के सम्पर्क मे आकर उनसे ऐसी जान-पहचान उत्पन्न कर सकता है जिससे वे सदैव उसकी ओर आकर्षित रहे। भ्रमर रूपी ग्राहको को आकर्षित करने के लिए वह पराग बन कर स्वय दुकान पर बैठता है, अत. उसके व्यक्तित्व का ग्राहको पर अत्यन्त गहरा प्रभाव पडता है। निकटतम् सम्पर्क होने के कारण कर्त्ता, उपभोक्ताओ की रुचि व माँग का भी अच्छी तरह अध्ययन कर सकता है एव उसकी सच्ची सेवा करने मे समर्थ हो सकता है।

(६) कार्यकर्त्ताओं से घनिष्ट सम्बन्ध—कर्त्ता का उसके समस्त कार्यकर्त्ताओं से घनिष्ट सम्बन्ध हो जाता है, अतः वह उनकी त्रुटियो और रुचियो से भी भली प्रकार परिचित रहता है और व्यवसाय मे उन्नति कर सकता है।

(७) गोपनीयता—कर्त्ता अपने व्यापार के भेदो को गुप्त रख सकता है। वर्तमान प्रतिस्पर्धा के युग मे व्यावसायिक सफलता पाने के लिए गोपनीयता अत्यन्त आवश्यक है, जोकि सयुक्त हिन्दू परिवार के व्यवसाय मे ही सुलभ है। कहा जाता है कि चार कानो की बातें कभी भी गुप्त नही रहती, किन्तु एकाकी व्यापार मे यह समस्या पैदा नही होती।

(८) मितव्ययिता—सयुक्त हिन्दू परिवार के व्यवसाय मे धन का दुरुपयोग नही होता। परिवार के पूँजी के साधन सीमित होने के कारण कर्त्ता उसका अधिकतम सदुपयोग करता है, क्योकि वह यह जानता है कि लेश मात्र दुरुपयोग से जो भी हानि होगी, वह उसे ही सहन करनी पड़ेगी। अन्य व्यक्तियो से प्राप्त ऋणो को भी वह बडी सावधानी से खर्च करेगा।

(९) ऋण मिलने की सुविधा—सयुक्त हिन्दू परिवार के व्यवसाय का कर्त्ता अपनी व्यक्तिगत साख के आधार पर बडी सुविधा से ऋण भी प्राप्त कर सकता है। व्यक्तिगत सम्बन्ध एव असीमित उत्तरदायित्व के कारण ऋण मिलने की विशेष सुविधा होती है। इसी प्रकार ऋण चुकाने मे भी उसको किसी अन्य व्यक्ति से परामर्श नही करना पडता।

(१०) आत्म विश्वास—सयुक्त हिन्दू परिवार के व्यवसाय की मजिल एक ही व्यक्ति के ऊपर खडी की जाती है—कर्त्ता स्वय ही सब कुछ करता है, अत. उसमे उत्तरदायित्व, धैर्य तथा आत्मविश्वास की भावना स्वतः पैदा हो जाती है।

(११) सतर्कता—क्योकि क्षति होने की दशा मे समस्त भार उस परिवार के कन्धो पर आता है, अतः वह सदैव सतर्क रहता है। इतनी व्यक्तिगत अभिरुचि व्यावसायिक सगठन के प्ररूपो मे नही देखी जाती, क्योकि वहाँ पर व्यक्तियो का प्रत्यक्ष हित व्यापार मे निहित नही रहता।

संयुक्त हिन्दू परिवार के व्यापार के दोष—

इतने लाभ होते हुए भी सयुक्त हिन्दू परिवार के व्यवसाय मे निम्नलिखित कठिनाइयाँ होती हैं।

(१) सीमित पूँजी—व्यक्तिगत स्वामित्व वाली सस्थाओ को पूँजी उस व्यक्ति विशेष की सामर्थ्य पर निर्भर करती है। प्राय. पूँजी की मात्रा स्वामी की निजी पूँजी तथा उसको मिल सकने वाले ऋण तक ही सीमित रहती है। एक विशाल कारखाना खोलने के लिए बहुत बडी धन राशि की आवश्यकता पडती है, अत. बड़े पैमाने के व्यवसाय सयुक्त हिन्दू परिवार की सामर्थ्य के परे हैं।

(२) सीमित प्रबन्ध चातुर्य—इसी प्रकार संयुक्त हिन्दू परिवार के व्यवसाय का प्रबन्ध सम्बन्धी चातुर्य भी सीमित होता है। एक व्यक्ति की निर्णय शक्ति, विवेक शक्ति तथा प्रबन्ध क्षमता प्राय: सीमित होती है और यह बात बढ़ते हुए व्यापार की सफलता में बाधक हो सकती है। यह सत्य है कि वह अपनी इच्छानुसार अनेक कर्मचारियों की नियुक्ति कर सकता है, किन्तु वेतन पाने वाले कर्मचारियों से निजी उत्सुकता एवं रुचिपूर्वक कार्य करने की आशा करना व्यर्थ है। उनका उद्देश्य तो प्राय: अपना वेतन प्राप्त करना है। दूसरे, जब कर्मचारियों की संख्या बढ़ती है तो उन पर उचित रूप से नियन्त्रण करना भी एक समस्या बन जाती है। इसी आधार पर बहुधा कहा जाता है कि पारिवारिक व्यवसाय केवल छोटी मात्रा के व्यवसाय के लिये ही उपयुक्त है।

(३) असीमित दायित्व—संयुक्त हिन्दू परिवार की व्यावसायिक संस्था स्थापित करना अपने कुल अण्डे एक ही टोकरी में रखने के समान है। कर्त्ता का असीमित दायित्व उसे हतोत्साहित करता है।

(४) जल्द काम शैतान का—यद्यपि कर्त्ता शीघ्र निर्णय कर सकता है, किन्तु सम्भव है कि अन्य लोगों की सलाह के अभाव में उसका शीघ्र निर्णय समस्त व्यापार के अन्त का कारण बन जाये। कहते भी हैं कि 'जल्दी का काम शैतान का'। कर्त्ता को परामर्श की सुविधा नहीं होती, इसलिए शीघ्र निर्णय देने के कारण सदैव इस बात की आशंका रहती है कि गलत निर्णय से कहीं हानि न हो जाय।

(५) गोपनीयता से सन्देह को जन्म—पारिवारिक व्यवसाय में कभी-कभी गोपनीयता ही संस्था की प्रगति के मार्ग में बाधक बन जाती है। ऋण देने वालों को कर्त्ता की आर्थिक स्थिति का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। वे समझते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की आर्थिक क्षमता सीमित होती है, अतएव सीमा से अधिक ऋण कर्त्ता कदापि प्राप्त नहीं कर सकता।

STANDARD QUESTIONS

1. "Sole trading is that form of business organisation which is started and run by one person who bears profits and losses of it." Amplify this statement and briefly bring out the essentials of such an organisation.
2. What are the advantages and disadvantages of a Single Entrepreneur business. Discuss the prospectus of such a form of business organisation in India.

3. Why is the single proprietorship not in danger of being entirely eliminated by the large scale business establishments of this age ?

4. "One man's control is the best control in the world if that one man is big enough to manage everything" Discuss this statement carefully.

5. A sole trader, whose business is expanding, feels the need of some assistance in his business Should he take a partner or engage a servant. Give reasons.

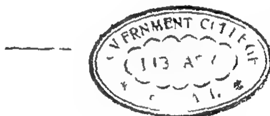
6 "It is wrong to assert that the individual proprietorship is a relic of the barbaric age" How far do you agree with this view ? Please give your arguments.

7. Is there any similarity in the problems of a farmer and a sole manufacturer ? If so, what ?

8 What do you understand by a Joint Hindu Family Business ? Briefly summarise its essential features.

9 Write a short note on Joint Hindu Family business and compare it with Partnership business

10. What are the advantages and disadvantages of Joint Hindu Family Business.



अध्याय ५

साझेदारी का उद्गम, परिभाषा एवं विशेषतायें

"साझेदारी विभिन्न व्यक्तियो मे, जो अनुबन्ध करने की क्षमता रखते हैं, परस्पर एक प्रतिज्ञा है जिसके अनुसार वे अपने लाभार्थ कोई न कोई लाभपूर्ण व्यवसाय करते हैं।" —हैने

साझेदारी को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ—

मनुष्य स्वभाव से ही आत्माभिमानी है। वह जहाँ तक सम्भव हो सकता है, समस्त कार्य स्वय ही करने का प्रयत्न करता है। किसी अन्य व्यक्ति की सहायता प्राप्त करने मे वह अपनी हीनता का अनुभव करता है, किन्तु वर्तमान प्रगतिशील व्यावसायिक जगत मे जब एक व्यक्ति से सस्था का कार्य भार उठाना असम्भव हो जाता है, तो उसे अन्य व्यक्तियो की सहायता लेनी पडती है। प्रत्यक व्यक्ति के साधन और उसकी कार्यक्षमता सीमित होती है तथा बडी मात्रा मे व्यवसाय करने के लिय अन्य व्यक्तिया के सहयोग की आवश्यकता पड ही जाती है। उदाहरण के लिये, किसी व्यक्ति के पास बहुत अधिक मात्रा मे पूँजी हो सकती है, किन्तु यह आवश्यक नही है कि उसमे व्यवसाय-सचालन की योग्यता भी हो। इसी प्रकार हो सकता है कि किसी व्यक्ति मे सचालन-क्षमता हो, परन्तु उसके पास पूँजी का अभाव हो। ऐसी परिस्थितिया म अधिक पैसे वाला व्यक्ति किसी निपुण व्यवस्थापक को और अनुभवी एव कायक्षमता वाला व्यक्ति किसी पूँजीपति को खोजने का प्रयत्न करता है। ऐसी परिस्थितियो के अन्तर्गत ही साझेदारी सस्थाओ का प्रादुर्भाव हुआ। सक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि बढते हुए कार्य का विभाजन, अधिक पूँजी व कार्य कुशलता की आवश्यकताएँ ही वर्तमान साझेदारियो के कारण हैं। दूसरे शब्दो म, हम इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि व्यक्तिगत स्वामित्व के दोषो ने ही साझेदारी को जन्म दिया। साझेदारी मे कई व्यक्ति मिलकर कार्य करते हैं—कुछ धनी-मानी व्यक्ति होते है, कुछ अनुभवी होते है, कुछ विशेष कलाओ मे विशेषज्ञ होते हैं, कुछ व्यवहार कुशल होते हैं, इत्यादि। इस प्रकार विशेष गुणो वाले व्यक्तियो के सामूहीकरण से प्रत्यक को व्यक्तिगत रूप मे भी लाभ होता है। बोल-चाल की भाषा मे ऐसे सामूहीकरण को ही हम साझेदारी कहते है।

साझेदारी की परिभाषा—

साधारणत. विभिन गुणो वाले व्यक्तियो के सामूहीकरण को साझेदारी कहते

है, किन्तु यह परिभाषा श्रेष्ठ प्रतीत नहीं होती। यह कोई आवश्यक नहीं है कि साझेदारी की संस्था मे जितने भी सदस्य हो, उनके गुण एक दूसरे के विपरीत हो अथवा यो कह कि भिन्न-भिन्न विषयो के विशेषज्ञ हो। ऐसा भी सम्भव है कि किसी साझेदारी की सस्था मे कुछ व्यक्ति अधिक पैसे वाले हो, कुछ निर्माण कला मे विशेषज्ञ हो, कुछ विक्रय में विशेषज्ञ हो, कुछ विज्ञापन कला मे दक्ष हो, इत्यादि। किम्बल (Kimball) के अनुसार : "साझेदारी दो से अधिक व्यक्तियो का समूह है, जिन्होंने किसी विशेष व्यवसाय को करने के उद्देश्य से परस्पर पूँजी लगाई है।" इस परिभाषा के अनुसार पैसा अथवा कार्यक्षमता दोनो मे से किसी एक का होना साझेदारी के लिए आवश्यक प्रतीत होता है, यद्यपि प्रत्येक साझेदार साझेदारी मे पूँजी अथवा कुछ न कुछ सेवायें अवश्य प्रदान करता है, परन्तु साझेदारी के लिये इनका होना अनिवार्य नही है। इस दृष्टि से श्री हैने की परिभाषा अधिक सरल एवं उपयुक्त प्रतीत होती है। उनके शब्दो मे : "साझेदारी विभिन्न व्यक्तियों मे, जो अनुबन्ध करने की क्षमता रखते हैं, परस्पर एक प्रतिज्ञा है, जिसके अनुसार वे अपने लाभार्थ कोई न्यायपूर्ण व्यवसाय करते हैं।"

भारतीय साझेदारी अधिनियम के अनुसार साझेदारी उन व्यक्तियो के बीच का सम्बन्ध है, जिन्होने किसी ऐसे कारोबार से लाभ को बांटने का ठहराव किया हो जिसे वे सब अथवा इनमे से कोई एक (या अधिक)' व्यक्ति सबकी ओर से चलाता हो। वे सब व्यक्ति जिन्होने एक दूसरे से साझेदारी कर ली हो, व्यक्तिगत रूप से 'साझेदार' और सामूहिक रूप से 'फर्म' कहलाते है और वह नाम जिससे उनका कारोबार चलाया जाय, 'फर्म का नाम' कहलाता है।

साझेदारी की विशेषतायें—

साझेदारी की उक्त परिभाषाओ का गम्भीरता से अध्ययन करने पर पता चलता है कि इसकी निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

(१) साझेदारी दो या दो से अधिक व्यक्तियो की सस्था होती है— साझेदारी के लिये कम से कम दो व्यक्ति तो होने चाहिए, क्योकि एक अकेला व्यक्ति किसका साझेदार कहलाएगा? साझेदारी अधिनियम मे भी एक स्थान पर लिखा है कि यदि किसी सस्था मे मृत्यु अथवा दिवालिया होने के कारण साझेदारो की सख्या एक ही रह जाती है तो ऐसी परिस्थितियो मे साझेदारी का अन्त हो जायेगा। साझेदारी अधिनियम मे 'व्यक्ति' शब्द की परिभाषा तो नही दी है, परन्तु अन्य धाराओ का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति शब्द

साझेदारी की विशेषतायें

१. साझेदारी दो या दो से अधिक व्यक्तियो की सस्था होती है।
२. साझेदारी के बीच ठहराव का होना परम आवश्यक है।
३. किसी कारोबार का होना आवश्यक है।
४. साझेदारी के कारोबार को कुल साझेदार या उनमे से कोई एक चला सकता है।
५. कारोबार के लाभ को बांटने के सम्बन्ध मे ठहराव होना चाहिए।

के अन्तर्गत कम्पनी, सघ एव अन्य व्यक्तियो के समूह का भी समावेश होता है। अब स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है कि साझेदारी मे सयुक्त पूँजी वाली कम्पनियो तथा अन्य सस्थाओ का समावेश व्यक्ति शब्द के अन्तर्गत होता है अथवा नही। इस विषय मे भारतीय उच्च न्यायालयो के निर्णय माननीय है, जिनके अनुसार एक साझेदारी की सस्था दूसरी साझेदारी की सस्था मे भागी नही बन सकती, क्योकि ऐसी सस्थाओ का कोई पृथक वैधानिक अस्तित्त्व नही होता। हाँ, एक सस्था का कोई भी साझेदार व्यक्तिगत रूप से दूसरी सस्था का साझेदार बन सकता है। यह निर्णय सयुक्त पूँजो वाली कम्पनी मे भी लागू होता है। एक सयुक्त परिवार भी कोई वैधानिक अस्तित्व न होने के कारण इस सस्था मे भागी नही हो सकता, परन्तु परिवार के सदस्य व्यक्तिगत रूप मे किसी भी साझेदारी की सस्था मे भागी बन सकते हैं।

साझेदारी की सस्था मे अधिक से अधिक कितने व्यक्ति होने चाहिए, इस विषय मे साझेदारी अधिनियम तो शान्त है। हाँ, भारतीय कम्पनी अधिनियम की धारा ११ के अनुसार, एक साझेदारो की सस्था मे २० से अधिक (और एक बैंक की दशा में १० से अधिक) व्यक्ति नही होने चाहिए और यदि ज्यादा होगे तो साझेदारी अवैध समझी जायगी। इसके अतिरिक्त यदि किसी साझेदारी का उद्देश्य अनैतिक है अथवा न्यायोचित नही है या लोक नीति के विरुद्ध है तो ऐसी दशा मे भी साझेदारी अवैध मानी जायगी।

(२) साझेदारो के बीच ठहराव अथवा अनुबन्ध का होना परम आवश्यक है—साझेदारो का जन्म अनुबन्ध से ही होता है, अतएव यह अनिवार्य है कि साझेदारो मे कुछ ठहराव हो। ठहराव लिखित हो सकता है अथवा मौखिक। साझेदारी अनुबन्ध मे वे सारे गुण होने चाहिये, जो कि एक वैध अनुबन्ध के लिए आवश्यक होते हैं जैसे—पक्षकारो अथवा साझेदारो की स्वतन्त्र सहमति, प्रतिफल, न्यायोचित उद्देश्य, साझेदारो मे अनुबन्ध करने की क्षमता इत्यादि। अनुबन्ध के अभाव के ही कारण एक हिन्दू सम्मिलित परिवार को साझेदारो की सस्था का रूप नही दे सकते। सम्मिलित परिवार के सदस्य साझेदार नही होते, उनके बीच का सम्बन्ध किसी अनुबन्ध द्वारा पैदा नही होता। उदाहरण के लिये, एक हिन्दू परिवार मे १० लोग हैं, जो सम्मिलित रूप मे ८० दुकानो के मालिक है, और दुकानो का किराया ही उनकी रोजी का एक मात्र साधन है। ऐसी दशा मे ये दस व्यक्ति साझेदार नही कहलायेंगे, क्योकि इनके बीच का सम्बन्ध किसी अनुबन्ध द्वारा पैदा नही हुआ। एक अन्य उदाहरण लीजिये, अशोक एक बहुत बडी दुकान का मालिक है, उसके ७ लडके है। अशोक की मृत्यु के पश्चात् उसके सात लडके साझेदार नही कहलायेगे, किन्तु यदि अपने पिता की दुकान को साझेदारी के रूप मे चलाने के लिए वे लिखित अथवा मौखिक ठहराव कर लें, तो यह साझेदारी हो जायेगी।

(३) किसी कारोबार का होना आवश्यक है—साझेदारी के लिए कुछ न कुछ कारोबार का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। साझेदारी मे कारोबार का होना

गर्भित है, अतएव यदि बिना किसी कारोबार की दृष्टि से दो से ज्यादा व्यक्ति आपस मे ठहराव करें, तो ऐसे ठहराव को साझेदारी का ठहराव नही कहगे। 'कारोबार' एक विस्तृत शब्द है और उसकी परिभाषा मे व्यापार तथा अन्य पेशे भी आते हैं।

(४) साझेदारी के कारोबार को कुल साझेदार अथवा उनमे से कोई चला सकता है—साझेदारी की सबसे बडी विशेषता यह है कि प्रत्यक साझेदार अपनी फर्म का एजेन्ट है और वह अपने कामो से फर्म को बद्ध कर सकता है। सच बात तो यह है कि साझेदारी अधिनियम, एजेन्सी अधिनियम की एक प्रमुख शाखा है और एजेन्सी के आधार पर साझेदारो का उत्तरदायित्व निर्भर है। प्रत्येक साझेदार अपनी फर्म का एजेन्ट भी होता है तथा उसका मालिक भी, अतएव जिस प्रकार एक एजेन्ट के कार्य से आशय उसके मालिक के कार्य से होता है उसी प्रकार किसी साझेदार का कार्य भी फर्म का कार्य कहलाता है और फर्म उसको करने के लिये दायी होता है। प्रत्येक साझेदार नियोक्ता भी है, क्योकि वह अपने अन्य साझेदार अथवा यो कहें कि एजेन्ट के कार्य से बद्ध होता है। थोडे से शब्दो मे, इस प्रकार कह सकते हैं कि साझेदारो के बीच पारस्परिक एजेन्सी (Mutual Agency) होती है, इसलिये किसी एक साझेदार का काम भी 'फर्म का काम' माना जाता है। साझेदारी के लिये यह आवश्यक नही कि सभी साझेदार किसी कार्य-विशेष को करें। कोई भी एक साझेदार अन्य सबकी ओर से कार्य कर सकता है। उदाहरण के लिये, शम्भूदयाल मकरन्दसिह नामक फर्म मे चार साझेदार हैं। इस फर्म मे प्रबन्ध का कार्य केवल शम्भूदयालजी करते हैं। वे ही प्रतिदिन गद्दी पर आकर बैठते हैं, अन्य लोग तो कभी-कभी ही आते हैं और समय-समय पर सलाह देते रहते हैं। इसका आशय यह है कि फर्म के सभी साझेदारो ने प्रबन्ध का कार्य शम्भूदयालजी को सौंप दिया है, अतएव सबकी ओर से काम करने वाले शम्भूदयाल का काम 'फर्म का काम' कहलायेगा और यह साझेदारी ही है। किसी एक साझेदार के कार्य से फर्म (अथवा यों कहें कि अन्य साझेदार) उसी दशा मे बद्ध होगी, जबकि काम साझेदारी के कारोबार से सम्बन्धित है तथा सबकी ओर से किया गया है।

(५) कारोबार के लाभ को बाँटने के सम्बन्ध मे ठहराव होना अनिवार्य है—साझेदारी अनुबन्ध का उद्देश्य एक व्यापार को चलाने का होना चाहिये और यह भी आवश्यक है कि व्यापार वैध हो। एक धार्मिक सस्था अथवा क्लब के सदस्य साझेदार नही कहलाये जा सकते, क्योकि उनके बीच लाभ को बाँटने के सम्बन्ध मे कोई ठहराव नहीं होता है। 'लाभ' शब्द की परिभाषा इस अधिनियम मे तो नही दी है, किन्तु 'लाभ' से आशय है खर्चे के बाद शेष आधिक्य से अथवा 'नेट' लाभ (Net Profits) से। यह आवश्यक नहीं कि हानि के बँटवारे के विषय म भी कोई ठहराव हो, यह बात तो गर्भित होती ही है। वैसे साझेदारी के कारोबार का मुख्य

उद्देश्य लाभ करना होता है। इस बात को स्पष्ट रूप से समझने के लिये निम्नलिखित उदाहरणों से बड़ी सहायता मिलेगी :—

(अ) सुरेश तथा सतीश यह निश्चय करते हैं कि वे रुपये का व्यवहार करेंगे, अर्थात् जिनको आवश्यकता होगी उन्हें ब्याज पर रुपया देंगे और ब्याज से जो आमदनी होगी उसको वे आपस में बाँट लेंगे। यह साझेदारी है।

(ब) सुरेश और सतीश १०० गाँठ कपास की खरीदते हैं और खरीदकर उनको आपस में बाँट लेते हैं। यह साझेदारी नहीं है, किन्तु खरीदने के बाद वे लाभ की दृष्टि से उन्हें बेचने का ठहराव करें, तो यह साझेदारी होगी।

साझेदारी की कसौटी
(Touchstone of Partnership)

दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों के बीच में साझेदारी है अथवा नहीं, इस बात का निर्णय करना सचमुच एक समस्या है। साझेदारी की कसौटी साधारण नहीं है। साझेदारी है अथवा नहीं, इसका पता लगाने के लिए अनेक बातों पर विचार करना चाहिये। इसकी सर्व प्रथम कसौटी पक्षकारों के मध्य अनुबन्ध होना है। क्योंकि जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके है, साझेदारी का सम्बन्ध अनुबन्ध से पैदा होता है, न कि स्थिति से। एक संयुक्त हिन्दू परिवार के व्यवसाय में भी दो से अधिक एवं २० से कम व्यक्ति हो सकते है, किन्तु उसे साझेदारी नहीं कहेंगे, क्योंकि सम्मिलित परिवार का व्यवसाय किसी ठहराव के फलस्वरूप पैदा नहीं हुआ। यदि दो व्यक्ति अपने द्वारा संचालित किसी कारोबार के लाभ को आपस में बाँटने का ठहराव कर, तो उसे साझेदारी कहेंगे, क्योंकि इसका जन्म अनुबन्ध द्वारा हुआ है। किन्तु सम्मिलित हिन्दू परिवार की दशा में, उस परिवार में केवल जन्म लेने से अथवा केवल गोद लिये जाने पर एक व्यक्ति को परिवार के कारोबार में भाग लेने का अधिकार मिल जाता है। अतः उसे साझेदार नहीं कह सकते। वह तो कारोबार का गृह स्वामी है। इसी प्रकार यदि दो से अधिक व्यक्ति मिलकर एक सम्पत्ति के स्वामी हो और उसके लाभ को आपस में बाँटते हो तो वे सह-स्वामी कहलायेंगे, साझेदार नहीं। उदाहरणार्थ, रमेश तथा नरेश मिलकर एक मकान के मालिक हैं और उसे वे किराये पर उठाकर किराये की आय को आपस में बाँट लेते हैं, वे साझेदार नहीं है। किन्तु यदि वे उस मकान में जलपान गृह खोल दें और दोनों मिलकर उसे चलाये, तो जलपान गृह के व्यापार में दोनों साझेदार कहलायेंगे। अत. स्पष्ट है कि साझेदारी के लिये—

(१) दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच एक अनुबन्ध हो,
(२) पक्षकार कुछ न कुछ कारोबार करने के लिये सहमत हो,
(३) कारोबार को कुल साझेदार अथवा उनमें से कोई एक चलाता हो,
(४) कारोबार लाभ कमाने के उद्देश्य से किया जाता हो।

दो या दो से अधिक पक्षकारों के बीच साझेदारी का निर्णय करने के लिये, पक्षकारों के पारस्परिक सम्बन्ध पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये। इस हेतु

उनके बीच मे अनुबन्ध की एक प्रतिलिपि लेकर उसका सावधानी से अध्ययन कीजिये और निम्न प्रश्नो पर विचार करिये—

(१) क्या पक्षकारो को साभेदारी के लाभ मे भाग पाने का अधिकार है ?
(२) क्या उन्हे फर्म के प्रबन्ध एव सचालन मे भाग लेने का अधिकार है ?
(३) क्या प्रत्येक साभेदार की फर्म की पुस्तको एव खातो तक पहुँच है ?
(४) क्या एक साभेदार अपने अन्य सह साभेदारो के कामो से बद्ध होता है ?
(५) क्या एक साभेदार के कार्य से उसके अन्य साभेदार बद्ध होते हैं ।

यदि उपरोक्त समस्त प्रश्नो का उत्तर 'हाँ' मे है, तो हम कह सकते हैं कि पक्षकारो के बीच मे साभेदारी है, किन्तु यदि एक भी प्रश्न का उत्तर नकारात्मक हो, तो उसे साभेदारी नही कहेगे । उपरोक्त प्रश्नो पर थोडा अधिक प्रकाश डालना स्पष्टता की दृष्टि से अनावश्यक न होगा.—

(१) साभेदारी के लाभ मे भाग पाना—

साधारणत किसी कारोबार के लाभ मे भाग पाना साभेदारी की प्रत्यक्ष **कसौटी अवश्य है, किन्तु इसे साभेदारी का अकाट्य प्रमाण नहीं कह सकते ।**[1] उदाहरण के लिये, सिंधिया एण्ड कम्पनी एक साभेदारी की सस्था है । महारानी सिंधिया इस सस्था को रुपया दिया करेंगी और प्रतिफलस्वरूप सस्था उनको कुल लाभ का एक निश्चित प्रतिशत देगी । सस्था के कारोबार पर नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से महारानी साहिबा को कुछ अधिकार भी दिये गये, किन्तु सस्था की ओर से व्यवहार करने का उनको अधिकार नही था । इस उदाहरण से प्रत्यक्ष रूप से तो ऐसा प्रतीत होता है कि महारानी सिंधिया, सिंधिया एण्ड कम्पनी की साभेदार है, किन्तु वैधानिक दृष्टि से उन्हे साभेदार नही कह सकते । सस्था एव महारानी के बीच का सम्बन्ध तो वास्तव मे देनदार एव लेनदार का सम्बन्ध है । ऋणदाता तो केवल कर्ज देता है और उसके बदले मे उसे ब्याज मिलता है—उसको अन्य कोई अधिकार नही होते । उसका मुख्य उद्देश्य तो अधिकतम ब्याज पाना होता है । फर्म को भले ही हानि हो, किन्तु उसको ब्याज मिलना चाहिए । यह भावना उसे साभेदार नही बना सकती । साभेदारी के लिये, एक दूसरे के हित से द्वन्द नही होना चाहिये, वरन् सबका हित समान होना चाहिये ।[2]

इसी आधार पर साभेदारी अधिनियम मे ऐसे कुछ उदाहरण दिये गये हैं, जिनसे यह स्पष्ट है कि किसी कारोबार के लाभ मे किसी व्यक्ति का केवल हिस्सा पाना

---

1. Sharing of profits is a prima facie but not conclusive evidence of partnership.

2. To constitute partnership there must be a community of benefit and not a conflict of interests as in the case of a creditor and debtor.

ही उसको कारोबार चलाने वालो के साथ साझेदार नही बना देता है। उदाहरण के लिये, यदि —

(१) कर्ज देने वाला उन व्यक्तियो से जो कारोबार चला रहे हो या चलाने वाले हो, कुछ पाये,

(२) नौकर अथवा एजेन्ट पारिश्रमिक के रूप मे कुछ पाये,

(३) किसी मृतक साझेदार की विधवा अथवा उसके बच्चे वार्षिक वृत्ति के रूप मे कुछ पायें, अथवा

(४) किसी कारोबार का भूतपूर्व मालिक या उसके एक भाग का मालिक उसकी साख बेचने या उसके भाग के प्रतिफल-स्वरूप कुछ पाये।

तो इस प्रकार 'पाना' ही उस पाने वाले को, उस कारोबार को चलाने वाले व्यक्तियो के साथ, साझेदार नही बना देता।

(२) फर्म के प्रबन्ध एव संचालन मे भाग लेना—

यह तो साझेदारी की एक अनोखी विशेषता है कि प्रत्येक साझेदार फर्म के प्रबन्ध एव सचालन मे भाग ले सकता है। यह भी सम्भव है कि अन्य लोगो की ओर से केवल एक ही साझेदार कारोबार को चलाता हो, किन्तु इससे अन्य साझेदार अधिकारच्युत नही हो जाते।

(३) फर्म की पुस्तको एवं खातो तक पहुंच—

इसी प्रकार प्रत्येक साझेदार को यह भी अधिकार होता है कि वह फर्म की कोई भी पुस्तक एव खाता बही देख सके, जाच सके अथवा उनकी प्रतिलिपि ले सके। इस सम्बन्ध मे 'पुस्तक' (Books) एव 'खातो' (Accounts) मे अन्तर लिखना अनावश्यक न होगा। 'पुस्तक' से आशय फर्म की उन किताबो से है जिनमे कि साझेदारी के कारोबार से सम्बन्धित गोपनीय बातो की चर्चा हो सकती है। उदाहरण के लिए, सर्व श्री वाटरमैन एण्ड ब्रदर्स नाम की एक साझेदारी सस्था है। इस फर्म का मुख्य व्यवसाय फाउन्टेनपैन की स्याही बनाना है। स्याही बनाने का जो गोपनीय फार्मूला है उसका उल्लेख जिस किताब मे होगा वह वैज्ञानिक भाषा मे 'पुस्तक' कही जा सकती है। इसके विपरीत जिन किताबो मे व्यापारिक व्यवहारो की लिखा-पढी की जाती है उन्हे 'खाता-बही' (Account Books) कहते है। फर्म के साझेदारो को केवल खातो को ही देखने या जांचने का अधिकार नही होता, वरन् फर्म की अन्य गोपनीय पुस्तको तक भी उनकी पहुँच हो सकती है। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हो सकते हैं, जिनकी पहुँच खातो तक तो हो, पुस्तक तक नही। उदाहरण के लिये, एक अवयस्क, जिसे फर्म के लाभो मे सम्मिलित कर लिया गया है। यही कारण है कि एक अवयस्क फर्म का पक्का साझेदार नही समझा जाता।

(४) अन्य साझेदारो के कामो से बद्ध होना—

साझेदारी की सस्था मे पक्षकारो के बीच पारस्परिक एजेन्सी का सम्बन्ध होता है। इसी आधार पर एक साझेदार अपने अन्य सह साझेदारो के कामो से बद्ध होता

है, क्योंकि उसकी स्थिति एक नियोक्ता के तुल्य है। जिस प्रकार "Qui facit per alium facit perse" के अनुसार एक एजेन्ट द्वारा किया गया काम उसके नियोक्ता द्वारा किया माना जाता है, उसी प्रकार सह-साझेदारों के द्वारा किया गया कोई भी कार्य एक अमुक साझेदार द्वारा किया गया माना जाता है।

(५) अपने कार्य से सह-साझेदारों को बद्ध करना—

साझेदारी की संस्था में एक साझेदार की स्थिति केवल एक नियोक्ता के तुल्य नहीं होती, वरन् वह फर्म का एजेन्ट भी है और इस नाते फर्म के कारोबार के सामान्य संचालन में वह जो भी कार्य करेगा, फर्म अथवा यों कहें कि अन्य साझेदार उससे बद्ध होंगे।

साझेदारी के भेद

(Kinds of Partnership)

साझेदारी के निम्न भेद किये जा सकते हैं :—

(१) ऐच्छिक साझेदारी—

धारा ७ के अनुसार, यदि साझेदारी के अनुबन्ध में साझेदारी की अवधि सम्बन्धी (अर्थात् कितने समय तक साझेदारी चालू रहेगी) कोई बात नहीं दी है तो ऐसी साझेदारी को "ऐच्छिक साझेदारी" (Partnership at will) कहेंगे, क्योंकि साझेदारों की इच्छा से कभी भी इसका अन्त किया जा सकता है।

(२) विशेष साझेदारी—

धारा ८ के अनुसार, किसी भी विशेष काम अथवा विशेष व्यवसाय में भी कोई व्यक्ति साझेदार हो सकता है और ऐसी साझेदारी को 'विशेष साझेदारी' (Particular Partnership) कहते हैं। भारतवर्ष में ऐसा साधारणतः होता है कि पहले एक साहसी व्यक्ति कुछ सामान खरीदता है, फिर अन्य लोग भी उसमें शामिल हो जाते हैं अथवा पहले से ही वह अन्य लोगों की ओर से कुछ व्यवसाय करता है। व्यवसाय में भाग लेने वाले ऐसे अन्य व्यक्तियों को भी साझेदार कहते हैं और क्योंकि यह विशेष उद्योग के लिये होता है, अतएव इसे 'विशेष साझेदारी' कहते हैं। संयुक्त रूप से किया गया कोई व्यवहार (Joint Venture) इसका उदाहरण है।

(३) निश्चित अवधि के लिए साझेदारी—

ऐसी साझेदारी किसी निश्चित अवधि के लिए ही की जाती है और जैसे ही नियत अवधि समाप्त होती है वैसे ही साझेदारी का भी अन्त हो जाता है। उदाहरण के लिए, सुरेश और सतीश ने यह अनुबन्ध किया कि जुलाई और अगस्त के दो महीने में वे उत्तर-प्रदेश के विभिन्न स्कूलों में जाकर पुस्तकें बेचेंगे। यह नियत अवधि की साझेदारी कहलायेगी।

(४) साधारण साझेदारी—

जिन फर्मों का नियमन व नियन्त्रण भारतीय साझेदारी अधिनियम सन् १९३२

द्वारा किया जाता है उन्हे 'साधारण साझेदारी' (Ordinary Partnership) कहते हैं।

(५) सीमित साझेदारी—

जिस साझेदारी की सस्था मे कुछ साझेदारो का उत्तरदायित्व उनके द्वारा दी गई पूँजी की सीमा तक ही सीमित होता है, उसको 'सीमित साझेदारी' (Limited Partnership) कहते हैं। सामान्य विधि (Common Law) के अनुसार, साझेदारी के समस्त सदस्यो का दायित्व असीमित होता है, परन्तु विधि (Civil Law) के अनुसार साझेदारी के कुछ सदस्यो का दायित्व सीमित हो सकता है। साझेदारी के इस स्वरूप का उदय उन लोगो के लाभार्थ हुआ है, जो अपरिमित दायित्व नही लेना चाहते अथवा जिन्हे सस्था के सचालन मे भाग लेने का समय नही है। सीमित साझेदारी की विशेषताएँ निम्न है :—

सीमित साझेदारी की विशेषताएँ

(i) दो तरह के सदस्य—साधारण व विशेष।

(ii) कम से कम एक साधारण साझेदार और एक विशेष साझेदार।

(iii) अनिवार्य रजिस्ट्रेशन।

(iv) सीमित साझेदार के सकट से समापन नही।

(v) नगद पूँजी।

(vi) सीमित साझेदार सस्था का प्रतिनिधि नही होता।

(i) इसमे दो तरह के सदस्य होते है—साधारण अथवा क्रियाशील साझेदार, जिनका दायित्व अपरिमित होता है और व्यवसाय सचालन मे भाग लेने का पूर्ण अधिकार है तथा विशेष या सीमित साझेदार, जिनका दायित्व सीमित है और जो व्यवसाय सचालन मे भाग नही ले सकते है।

(ii) इसमे कम से कम एक साधारण साझेदार और एक एक सीमित साझेदार होता है।

(iii) इनकी रजिस्ट्री कराना अनिवार्य है और रजिस्ट्री के लिए प्रार्थना-पत्र देते समय उसमे यह भरना पडता है कि किन साझेदारो का दायित्व सीमित है और किनका असीमित।

(iv) यह सीमित साझेदार की मृत्यु, दिवालिया या पागल होने से समाप्त नही होती।

(v) इसकी पूँजी पूर्णत. एव नकद रोकड मे दी हुई होनी चाहिए।

(vi) सीमित साझेदार सस्था का प्रतिनिधि नहीं होता और न वह अपने कार्यों से सस्था को बद्ध कर सकता है।

सीमित साझेदारी के गुण—

(अ) इसके सचालन का भार केवल कुछ व्यक्तियो पर ही रहने के कारण

उसकी कार्य-क्षमता बटती है। सचालकों का दायित्व असीमित होता है। इस कारण वे अधिक चतुराई से कार्य करते हैं।

(आ) यह सगठन अधिक स्थायी है, क्योंकि सीमित साझेदार की मृत्यु, दिवालिया या पागलपन होने से यह समाप्त नही होती।

(इ) यह उन लोगो के लिए लाभदायक है जो अधिक जोखम नही उठाना चाहते या व्यवसाय सचालन मे कुशल नही होते या जिनके पास व्यवसाय संचालन के लिए समय नही होना।

(ई) इससे उन लोगो की इच्छा पूरी होती है जो स्वय संचालन-कार्य मे दक्ष हैं, परन्तु जिनके पास पूंजी की कमी है और जो चाहते हैं कि बिना नियन्त्रण खोये अधिक पूंजी प्राप्त कर ले।

सीमित साझेदारी के दोष—

(१) फर्म के उधार लेने की क्षमता कम हो जाती है, क्योकि सम्भव है कि ऋणदाता को हानि उठानी पड़े। यदि असीमित दायित्व वाला साझेदार अपना भाग सीमित साझेदार को दे, तो दिवाला निकलने पर ऋणदाता पूरा भुगतान नही पा सकते हैं।

(२) सीमित साझेदार साधारण साझेदारो की अनुमति के बिना अलग नहीं हो सकते, क्योंकि इनमे उनको हानि का डर है।

(३) इसमे साधारण साझेदार ही कर्त्ता-धर्त्ता होते हैं, अतः वे अपने व्यवहार से सीमित साझेदारो को हानि पहुँचा सकते हैं।

(४) कभी-कभी पूंजीपति अथवा सीमित साझेदार अपने अधिकारो का दुरुपयोग करते हैं और साधारण साझेदारो से मिलकर अल्पजनो के साथ कपटता का व्यवहार करते हैं।

(६) अवैध साझेदारी—

जब कोई साझेदारी की सस्था भारतीय अनुबन्ध अधिनियम की धारा २३ के अनुसार अवैधानिक कार्य के लिए प्रारम्भ की जाती है, तो उसे 'अवैधानिक साझेदारी' (Illegal partnership) कहेंगे। उदाहरण के लिए, मानसिंह, लाखनसिंह और पुतली ने मिल कर आपस मे यह ठहराव किया कि वे प्रति रात्रि को चोरी-डकैती किया करेंगे और इस प्रकार कमाई हुई राशि को आपस मे बाँट लिया करेंगे। यह 'अवैध साझेदारी' कहलायेगी, क्योंकि इसका उद्देश्य अवैधानिक तथा लोकनीति के विरुद्ध है।

अन्य संस्थाओं से साझेदारी का अन्तर
(Partnership distinguished from other Associations)

साझेदारी तथा सीमित दायित्व वाली कम्पनी मे अन्तर—

इनमे अन्तर की मुख्य बातें इस प्रकार हैं :—

क्रम संख्या	अन्तर का आधार	कम्पनी	साझेदारी
१.	पृथक अस्तित्व	कम्पनी का अपने सदस्यो से पृथक अस्तित्त्व होता है। इसे भारतीय कम्पनी अधिनियम के आदेशानुसार चलना पड़ता है। इसके विपरीत वह कोई	साझेदारी का अपने सदस्यो के व्यक्तित्व से पृथक कोई व्यक्तित्व नही होता।

		कार्य नही कर सकती। इसके अधिकार पार्षद सीमानियम द्वारा निश्चित कर दिये जाते है।	
२.	सदस्यो की सख्या	एक पब्लिक कम्पनी मे सदस्यो की न्यूनतम सख्या ७ निश्चित की गई है। अधिकतम् सख्या कम्पनी की अधिकृत पूंजी के शेयरो की सख्या से सीमित होती है। प्राइवेट कम्पनी मे अधिकतम् सख्या (वर्तमान कर्मचारियो के अलावा) ५० होती है।	साझेदारी मे अधिकतम सख्या २० से अधिक नही हो सकती और यदि वह बैंकिंग व्यापार करती है, तो सख्या १० से अधिक नही होनी चाहिये। यदि सख्या अधिक है, तो साझेदारी अवैध हो जाती है और वह अपने दावे बाहरी व्यक्तियो के विरुद्ध प्रवर्त नही करा सकती।
३.	समामेलन	ज्वाइण्ट स्टाक कम्पनी को कम्पनियो के रजिस्ट्रार से रजिस्टर्ड कराना पडता है और जब तक रजिस्ट्रेशन या समामेलन पूर्ण न हो जाय, कम्पनी अस्तित्व प्राप्त नही करती।	साझेदारी का रजिस्टर्ड होना आवश्यक नही है। भले ही फर्म रजिस्टर्ड न हो, साझेदारो के मध्य ठहराव या साझेदार एव अन्य पक्षकारो के बीच हुए ठहराव पूर्णतः वैध होगे। हाँ, उनको प्रवर्त नही कराया जा सकेगा।
४.	दायित्व	शेयर होल्डरो का दायित्व उनके द्वारा लिये गये शेयरो के अकित मूल्य तक सीमित होता है।	साझेदारी फर्म मे प्रत्येक साझेदार का दायित्व उसकी समस्त जायदाद पर विस्तृत है, प्रत्येक साझेदार सयुक्त एव पृथक दोनो प्रकार से अपने साझेदार होने की अवधि मे फर्म द्वारा उठाये गये दायित्व के लिये दायी है।
५.	प्रबन्ध	शेयर होल्डर को कम्पनी को या अन्य शेयर होल्डरो को बाध्य (Bind) करने का कोई अधिकार नही होता और न वह कम्पनी के कार्यों का प्रबन्ध करने मे कोई सक्रिय भाग ही	साझेदारी मे प्रत्येक सदस्य साधारणतः व्यापार के प्रबन्ध मे भाग ले सकता है और फर्म तथा अपने साझेदारो को व्यापार के साधारण क्षेत्र मे कार्य करते हुए बद्ध कर सकता है।

		ले सकता है। प्रबन्ध का अधिकार तो सचालको के सुपुर्द कर दिया जाता है, अत. केवल वे ही कम्पनी को बाध्य कर सकते हैं। शेयर होल्डरो को पुस्तको का केवल उसी सीमा तक निरीक्षण करने का अधिकार होता है, जिसके लिये अन्तर्नियम मे आज्ञा दी हुई है।	प्रत्येक साझेदार को फर्म के हिसाब-किताब तक पहुँच होती है और वह उनका निरीक्षण कर सकता है। इसमे स्वामित्व और प्रबन्ध साथ-साथ जाते हैं।
६.	हस्तातरण	पब्लिक कम्पनी का अशधारी अपनी इच्छानुसार अशो का हस्तातर कर सकता है। हाँ, प्राइवेट कम्पनियो मे अशो के हस्तातर पर प्रतिबन्ध है। इस तरह कम्पनी के सदस्य बदल सकते हैं। लेकिन कम्पनी के अस्तित्व पर इसका कोई प्रभाव नही पडता।	कोई भी साझेदार अपने स्थान मे दूसरा व्यक्ति नही ला सकता, जब तक कि दूसरे साझेदार राजी न हो।
७.	सीमा नियम	कम्पनी अपने मेमोरेन्डम और अन्तर्नियमो से बधी होती है, जो सनियम के अनुसार बहुत मामूली सीमा तक बदले जा सकते हैं।	साझेदार चाहे जो ठहराव कर सकते हैं और जब चाहें साझेदारी सलेख को बदल सकते हैं।
८.	अकेक्षण और खाते	कम्पनी के लिये उचित हिसाब-किताब रखना आवश्यक है। सीमित दायित्व वाली सस्था का अकेक्षण भी अनिवार्य है। निर्धारित ढग से हिसाब-किताब रखने मे चूक करने पर दन्ड का भागी होना पड़ेगा।	ऐसा करने के लिए साझेदारी पर कोई कानूनी बन्धन नही है।
९.	भग होना	न्यायालय के आदेश पर या एच्छिक समापन के हेतु सदस्यों के प्रस्ताव पर या उन लेनदारो के प्रस्ताव पर, जिनको	साझेदारी पारस्परिक ठहराव द्वारा किसी भी समय भंग की जा सकती है। किसी साझेदार की मृत्यु या निवृत्त होने

		पूरा रुपया नही दिया जा सका है, कम्पनी समाप्त हो जाती है।	पर भी यदि विपरीत आशय का अनुबन्ध न हो गया हो, तो साझेदारी समाप्त हो जाती है।
१०.	लाभ का वितरण	कम्पनी का लाभ साधारण सभा के एक प्रस्ताव द्वारा स्वीकृत किये लाभांशो के रूप मे वितरित किया जाता है। यदि लाभ अधिक हुये है, तो सञ्चालकगण अन्तरिम लाभाशो की घोषणा कर सकते हैं।	साझेदारी मे लाभ निश्चित होने पर या पारस्परिक ठहराव के अनुसार समयान्तरो पर निकाले जा सकते हैं। विभिन्न साझेदारो की पूँजी इस प्रकार कम या अधिक हो जाती है।

सह-स्वामित्व तथा साझेदारी—

सह स्वामित्व तथा साझेदारी का अन्तर निम्न तालिका से भली प्रकार स्पष्ट हो जायगा :—

क्रमाक	अन्तर का आधार	साझेदारी	सह-स्वामित्व
१.	अनुबन्ध	साझेदारी मे अनुबन्ध होना अनिवार्य है, अनुबन्ध लिखित हो सकता है अथवा मौखिक।	सह-स्वामित्वता सदा अनुबन्ध से ही स्थापित नही होती।
२.	उद्देश्य	साझेदारी का उद्देश्य लाभ प्राप्त करना तथा उसे आपस मे बाँटना होता है।	सह-स्वामित्व मे यह आवश्यक नही है।
३.	हित का हस्तातरण	एक साझेदार अपना हित अन्य साझेदारो की अनुमति के बिना बेच नही सकता और न उसको हस्तातरित ही कर सकता है।	एक सह-स्वामी अपनी इच्छा के बिना दूसरे सह-स्वामियो की अनुमति से भी अपना हित बेच सकता है तथा हस्तांतरित कर सकता है।
४.	पारस्परिक एजेन्सी	प्रत्येक साझीदार दूसरे साझीदार का एजेन्ट है।	एक सह स्वामी दूसरे सह-स्वामियो का एजेन्ट नही है।
	हित	एक साझीदार अपना हित वस्तु मे नही ले सकता।	एक सह-स्वामी अपना हित वस्तु मे ले सकता है।
	सख्या	साझेदारी मे साझेदारो की सख्या पर प्रतिबन्ध है।	सह स्वामित्व मे ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही है।

साझेदारी के गुण-दोष
(Merits & Demerits of Partnership)

साझेदारी के लाभ—

साझेदारी के लाभ

(१) सरलता से स्थापना।
(२) विभिन्न प्रकार की योग्यताओं का लाभ।
(३) साझेदारों की संख्या में सरलता से घट-बढ़।
(४) अधिक आर्थिक सहायता की सुलभता।
(५) प्रत्येक कार्य पर पर्याप्त विचार विमर्श होना।
(६) साझेदारों को प्रेरणा अधिक लगन से काम करने के लिये।
(७) सट्टेबाजी की कम सम्भावना।
(८) अल्पमत को पर्याप्त वैधानिक संरक्षण।
(९) परस्पर सहयोग में वृद्धि।
(१०) अधिक जोखम व अधिक लाभ वाले कार्य के लिये उपयुक्त।
(११) विशेषज्ञ साझेदारों की देख-रेख।

(१) सरलता से स्थापना—साझेदारी की स्थापना बड़ी सरलता से की जा सकती है। इसमें कोई खर्च नहीं पड़ता। हाँ विश्वासपात्र साझी सरलता से नहीं मिलता। साझेदारों को फर्म की रजिस्ट्री करानी पड़ती है, किन्तु इसमें भी कोई विशेष कठिनाई अनुभव नहीं होती।

(२) विभिन्न प्रकार की योग्यताओं का लाभ—इसमें व्यापार के लिए विभिन्न प्रकार की योग्यताओं का लाभ मिल जाता है और साथ ही, उसका एकाकी व्यापार का स्वरूप बहुत कुछ बना रहता है।

(३) साझेदारों की संख्या में सरलता से घट-बढ़—वैधानिक कठिनाइयाँ न होने के कारण साझेदारों की संख्या आवश्यकतानुसार घटाई बढ़ाई जा सकती है और इस प्रकार की घट बढ़ का कार्य-संचालन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(४) अधिक आर्थिक सहायता की सुलभता—साझेदारी की फर्म को अधिक आर्थिक सहायता सुलभ होती है, क्योंकि एक से अधिक व्यक्ति उसमें पूँजी लगाते हैं। इसके अतिरिक्त साझेदारों का उत्तरदायित्व असीमित होने के कारण बैंकों व अन्य आर्थिक संस्थाओं से भी सुगमतापूर्वक ऋण मिल जाता है।

(५) प्रत्येक कार्य पर पर्याप्त विचार-विमर्श होना—साझेदारी फर्म में प्रत्येक कार्य खूब सोच-समझ कर किया जाता है। प्रत्येक साझेदार उस पर अच्छी तरह विचार करता है तथा एक दूसरे की राय ली जाती है। इससे किसी मामले की तह तक पहुँचकर उचित-अनुचित का भली प्रकार निश्चय हो जाता है और बाद में गलती होने की सम्भावना नहीं रहती।

(६) लगन से कार्य करने के लिये साझेदारों को अधिक प्रेरणा—साझेदार फर्म का काम दिलचस्पी और लगन से करते हैं, क्योंकि प्रत्येक साझेदार यह भली प्रकार समझता है कि उसकी मेहनत का फल उन्हीं को अधिक लाभ के रूप में मिलेगा। उनको यह भी भय रहता है कि यदि फर्म को अधिक हानि हुई तो उनको घर से लाकर भी हानि पूरी करनी पड़गी।

(७) सट्टेबाजी की कम सम्भावना—असीमित उत्तरदायित्व के कारण ऐसे व्यापार में सट्टेबाजी के लिए बहुत कम सम्भावना रहती है।

(८) अल्पमत को पर्याप्त वैधानिक संरक्षण—इसमें अल्पमत को भी पर्याप्त वैधानिक संरक्षण प्राप्त होता है। प्रत्येक कार्य सब साझेदारों की राय से किया जाता है और बहुमत अल्पमत को दबाता नहीं है।

(९) परस्पर सहयोग में वृद्धि—परस्पर कार्य करते करते और विचार-विनिमय से आपस में सहयोग एवं प्रेम की भावना उदय हो जाती है, जिससे व्यापार की उन्नति को बढ़ावा मिलता है।

(१०) अधिक जोखिम व अधिक लाभ वाले कार्यों के लिये उपयुक्त—यह ऐसे कार्यों के लिए अधिक उपयुक्त है, जिनमें जोखिम अधिक है और साथ ही अधिक लाभ होने की सम्भावना है।

(११) विशेषज्ञ साझेदारों की देख-रेख—साझेदारी व्यवसाय की विभिन्न शाखायें विशेषज्ञ साझेदारों की देख-रेख में चलाई जाती हैं, जिससे प्रत्येक शाखा में विशेषीकरण हो जाता है और व्यवसाय की उन्नति होती है।

साझेदारी के दोष—

साझेदारी के दोष

(१) दैनिक कार्यों में देरी।
(२) अनिश्चित अस्तित्व।
(३) आपसी मतभेद।
(४) असीमित उत्तरदायित्व।
(५) हित के हस्तान्तरण पर रोक।
(६) व्यक्तिगत लाभ की भावना का दुर्बल पड़ना।
(७) गोपनीयता के कारण जनता का कम विश्वास।
(८) एक साझेदार की लापरवाही समस्त व्यवसाय को हानि पहुँचा सकती है।

(१) दैनिक कार्यों में देरी—फर्म को अपने दैनिक कार्यों में धीमे धीमे बढ़ना पड़ता है क्योंकि कार्य के प्रति सब साझेदारों की सहमति लेनी पड़ती है। कभी-कभी तो लाभ के मौके हाथ से जाते रहते हैं।

(२) अनिश्चित अस्तित्व—साझेदारी का अस्तित्व बड़ा अनिश्चित होता है। किसी साझेदार की मृत्यु, दिवालिया या पागल होने से फर्म टूट जाती है। अस्तित्व के अनिश्चित होने से इसके व्यवसाय में इतनी अस्थिरता नहीं होती, जितनी कि एक कम्पनी के व्यापार में।

(३) आपसी मतभेद—जब साझेदारों की संख्या अधिक होती है तो प्रबन्ध

में कठिनाई पड़ने लगती है और आपस में मतभेद भी बहुधा हो जाया करता है, जो आगे चलकर संस्था के अन्त का कारण बन जाता है।

(४) असीमित उत्तरदायित्व—उत्तरदायित्व के असीमित होने के कारण प्रत्येक साझेदार के लिए बड़ी जोखिम रहती है, जिससे व्यवसाय के संचालन में बाधा पड़ती है। यदि अन्य साझेदार ऋण चुकाने में असमर्थ हों तो एक ही साझेदार को अपनी समस्त सम्पत्ति संस्था के ऋण चुकाने के लिए बेच देनी पड़ सकती है।

(५) हित के हस्तांतरण पर रोक—साझेदारों की संख्या साधारण व्यापार में २० और बैंकिंग के काम में १० तक सीमित है। इस संख्या की सीमा के अन्दर भी कोई नया साझेदार बिना अन्य साझेदारों की सम्मति के नहीं बनाया जा सकता। कोई भी साझेदार अपना भाग अन्य साझेदारों की इच्छा के विरुद्ध किसी तीसरे पक्ष को नहीं बेच सकता, अतः बढ़ते हुए व्यापार के लिये आवश्यक साधन भी सीमित हो जाते हैं।

(६) व्यक्तिगत लाभ की भावना का दुर्बल पड़ना—इसमें व्यक्तिगत लाभ की भावना अधिक बलवती नहीं होती, क्योंकि लाभ व हानि सब साझीदारों को होती है।

(७) गोपनीयता के कारण जनता का कम विश्वास—इसके बारे में वैधानिक प्रतिबन्धों के न होने के कारण और व्यवसाय सम्बन्धी विवरण साझीदारों में ही गुप्त रहने के कारण जनता को विश्वास उत्पन्न नहीं होता।

(८) एक साझेदार की लापरवाही समस्त व्यवसाय को हानि पहुँचा सकती है—इस बात का भय रहता है कि कोई साझीदार किसी गुप्त बात को अन्य पक्षों पर प्रगट न कर दे, क्योंकि सभी साझेदार तो निश्छल स्वभाव के होते नहीं। यदि ऐसा हुआ तो सम्पूर्ण व्यवसाय को भारी नुकसान पहुँचेगा।

STANDARD QUESTIONS

1. Define 'Partnership and discuss its origin, merits and demerits.
2. "Partnership is an association of persons who have agreed to share the profits of business carried on by all or any of them acting for all." In the light of this statement, bring out the chief requisites of partnership ?
3. How will you determine whether a group of persons does or does not constitute partnership ?

4. Discuss the following statements :—
   (a) Sharing of profits is a prima facie but not conclusive evidence of partnership.
   (b) To constitute partnership there must be a community of benefit and not a conflict of interests as in the case of a debtor and creditor.
5. Differentiate clearly between the Joint Hindu Family Organisation and partnership.
6. Compare partnership with a single entrepreneur as a type of business organisation for small enterprises.

अध्याय ६

साझेदारों के अधिकार, कर्त्तव्य एवं दायित्व

"प्रत्येक साझेदार को चाहिये कि वह फर्म के कारोबार को अधिक से अधिक लाभ की दृष्टि से चलाये, एक दूसरे के प्रति न्यायनिष्ठ तथा विश्वस्त रहे और किसी साझेदार अथवा उसके वैध प्रतिनिधि को सच्चे हिसाब तथा ऐसी बातों की जानकारी दे जिनका प्रभाव फर्म पर पड़ता है।"

भूमिका—

साझेदारी का सम्बन्ध अनुबन्ध से पैदा होता है। अतएव हम यह कह सकते है कि साझेदार अनुबन्ध द्वारा अपने पारस्परिक सम्बन्धो पर नियन्त्रण रख सकते है। किन्तु भारतीय साझेदारी अधिनियम के अनुसार साझेदारो के कुछ कर्त्तव्य एव अधिकार ऐसे है जिनका पालन करना कानून की दृष्टि से अनिवार्य है और जिन पर विपरीत अनुबध का कोई भी प्रभाव नही पड सकता। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से साझेदारो के सम्बन्ध दो भागों मे विभक्त किये जा सकते हैं :—

(i) साझेदारो के सामान्य कर्त्तव्य एव दायित्व, जिन पर विपरीत अनुबन्ध का कोई प्रभाव नही पडता।

(ii) वे सम्बन्ध, जिन पर अनुबन्ध प्रभावशील होता है।

(१) साझीदारों के सामान्य कर्तव्य एवं दायित्व

साझेदारो का सम्बन्ध पारस्परिक विश्वास पर निर्भर करता है। अतएव प्रत्येक

साझेदारों के अधिकार एवं कर्तव्य

सामान्य अधिकार	सामान्य कर्तव्य
१. न्यायपूर्ण एव विश्वासयुक्त व्यवहार पाना।	१. अधिकतम लाभ की दृष्टि से कार्य करना।
२. कपटपूर्ण हानि से रक्षा।	२. एक दूसरे के प्रति न्यायनिष्ठ व विश्वस्त रहना।
३. सब प्रकार की जानकारी प्राप्त करना।	३. सही हिसाब देना।
४. आकस्मिक परिस्थितियो के अधिकार।	४. कपट नही रखना।
५. हिसाब समझने, प्रतिलिपि लेने व जाचने का अधिकार।	५. व्यापार के बारे मे सही सूचना देना।

अनुबन्ध के अभाव मे अधिकार	अनुबन्ध के अभाव मे कर्तव्य
१. फर्म के कार्य सचालन मे भाग लेना।	१. फर्म का कार्य सपरिश्रम निशुल्क करना।
२. सम्मति प्रगट करने का अधिकार।	२. जानबूझ कर कर्तव्य भग के लिए हर्जाना देना।
३. व्यापार की पुस्तको तक पहुँच।	३. फर्म की सम्पत्ति फर्म के लिये प्रयोग करना।
४. लाभ मे भाग पाना।	४. व्यक्तिगत लाभ का हिसाब देना।
५. पूँजी पर ब्याज नही।	५. लाभ तथा हानि बराबर-बराबर बाँटना।
६. अतिरिक्त पूँजी पर ६% ब्याज।	६. अधिकार की सीमा के भीतर कार्य करना।
७. क्षतिपूर्ति पाने का अधिकार।	७. अपने अन्य अधिकार किसी को न सौंपना।
८. फर्म की सम्पत्ति पर अधिकार।	८. प्रतिद्वन्दिता के व्यापार का लाभ फर्म को देना।
९. फर्म छोडने की स्वतन्त्रता।	९. सबकी सहमति से नया साझेदार बनाना।
१०. फर्म मे बने रहने का अधिकार।	
११. पृथक साझेदार को प्रतियोगी व्यापार चलाने का अधिकार।	
१२. निवृत्त होने पर लाभ व ब्याज पाने का अधिकार।	
१३. आपत्तिकालीन अधिकार।	

साझेदार को सदभावना के साथ कार्य करना चाहिए। आपस में प्रतिद्वन्दिता की भावना का अभाव होना चाहिए और इसके स्थान पर साझेदारी के उद्देश्य को पूरा करने के लिये अधिक सहयोग से कार्य करना चाहिए। कारोबार की उन्नति के लिए पूरा भरसक प्रयत्न करना उनका कर्त्तव्य है। साझेदारों को चाहिए कि अपने ज्ञान तथा शक्ति को फर्म के हित में लगा दें। साझेदारों के सामान्य कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में धारा ९ का आदेश है कि प्रत्येक साझेदार को चाहिए कि वह फर्म के कारोबार को अधिक से अधिक लाभ की दृष्टि से बढ़ाये, एक दूसरे के प्रति न्यायनिष्ठ तथा विश्वस्त रहे और किसी साझेदार अथवा उसके वैध प्रतिनिधि को सच्चे हिसाब तथा ऐसी बातों की जानकारी दे, जिनका प्रभाव फर्म पर पड़े। इस धारा का विश्लेषण करने से हमें यह स्पष्ट पता लगता है कि सामान्यत. साझेदारों के निम्न कर्त्तव्य हैं :—

सामान्य कर्त्तव्य—

(१) अधिकतम लाभ की दृष्टि से काम करना—पारस्परिक विश्वास ही साझेदारी का आधार है, अतएव साझेदारों का यह सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य है कि वे संस्था के कारोबार का संचालन सब साझेदारों के अधिक से अधिक हित के लिए करें।

(२) एक दूसरे के प्रति न्यायनिष्ठ तथा विश्वस्त रहना—साझेदारों को चाहिये कि एक दूसरे में विश्वास रखें तथा न्यायपूर्वक चलें। उदाहरण के लिए, जब किसी साझेदार को निकालने का प्रश्न हो अथवा उसके भाग को खरीदने का प्रश्न हो, तो साझेदारों को चाहिये कि न्याय से कार्य करें तथा जो उचित हो वही करें।

(३) सही हिसाब देना—साझेदारों का यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि वे व्यापार के सम्बन्ध में सही हिसाब उचित रीति से रखें। इसके साथ उनका यह भी कर्त्तव्य है कि प्रत्येक साझेदार को हिसाब किताब देखने, उसकी जाँच करने तथा प्रतिलिपि पाने का भी अवसर एवं अधिकार दें। व्यापार के सम्बन्ध में जो भी रुपया मिले उसे रसीदों (Vouchers) के साथ फर्म में जमा कर देना चाहिए।

(४) व्यापार के बारे में सही सूचना देना—प्रत्येक साझेदार एक दूसरे का एजेन्ट होता है, अतएव उसका कर्त्तव्य है कि व्यापार सम्बन्धी सही सूचना उनको दे। आपस में छुपाव अथवा प्रतिद्वन्दिता की भावना नहीं होनी चाहिये, तभी सद्भावना कहलायेगी।

(५) कपट द्वारा हानि के लिये क्षति पूर्ति करना—प्रत्येक साझेदार का यह कर्त्तव्य होगा कि वह फर्म की प्रत्येक ऐसी हानि की क्षतिपूर्ति करे, जो फर्म को कारोबार के संचालन में हो, उसके कपट द्वारा होने वाली हानियों के लिए भी वह उनके प्रति उत्तरदायी होगा।

साझेदारों के सामान्य अधिकार—

यह तो सामान्य नियम है कि एक व्यक्ति के अधिकार दूसरे के कर्त्तव्य होते हैं और जो दूसरे के अधिकार हैं वे उसके (पहले व्यक्ति के) कर्त्तव्य होते हैं। इस सिद्धान्त

के आधार पर एक साझेदार का दूसरे के प्रति कर्त्तव्य अन्य साझेदारो का अधिकार हो जाता है। सक्षेप मे, साझेदारो के सामान्य अधिकार निम्न है :—

(१) प्रत्येक साझेदार अपने अन्य साझेदारो से न्यायपूर्ण और विश्वासयुक्त व्यवहार पाने की आशा रखता है।

(२) अगर किसी साझेदार को, किसी अन्य सह-साझेदार के कपटपूर्ण व्यवहार के कारण कुछ हानि पहुँचे, तो वह उमसे हानि की पूर्ति कराने का अधिकार रखता है।

(३) प्रत्येक साझेदार अपने सह-साझेदार से फर्म के सम्बन्ध मे प्रत्येक ऐसी जानकारी लेने का अधिकार रखता है, जिसके विषय मे उसे सूचना न हो।

(४) आकस्मिक परिस्थिति मे प्रत्येक साझेदार को वे समस्त कार्य करने का अधिकार होता है, जिनसे फर्म की रक्षा हो और जो कि सामान्य विवेक का व्यक्ति अपने निजी मामले मे स्वय करता हो।

(५) प्रत्येक साझेदार को फर्म की किसी भी हिसाब की पुस्तको व सूचनाओ की प्रतिलिपि लेने, उनका निरीक्षण करने तथा समझने का पूर्ण अधिकार है।

(२) साझेदारी के अधिकार एवं कर्त्तव्य, जिन पर विपरीत अनुबन्ध प्रभावशाली होता है

साझेदार अपने पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्य के लिये अनुबन्ध कर सकते हैं। ऐसा अनुबन्ध गर्भित हो सकता है या लिखित। सब साझेदारो की सहमति मे ऐसे अनुबन्ध मे परिवर्तन भी किया जा सकता है। यह वास्तव मे अनुबन्ध अधिनियम की धारा २७ का एक अपवाद है। इसके अनुसार फर्म के बीच हुये साझेदारो के सलेख मे इस बात का प्रावधान हो सकता है कि जब तक वे फर्म मे साझेदार हैं उनमे मे कोई भी फर्म के कारोबार के अलावा अन्य किसी प्रकार का व्यवसाय नही करेगा।

यदि साझेदारो ने आपस मे कोई भी अनुबन्ध नही किया है, तो ऐसी परिस्थिति मे उनके पारस्परिक अधिकार एव कर्त्तव्यो का निर्धारण साझेदारी अधिनियम की धाराओ ११, १२, १३, १६, २९, ३२, ३३, ३६ और ३७ द्वारा होगा। अन्य शब्दो मे, अब हम साझेदारो के उन कर्त्तव्य और अधिकारो की चर्चा करेंगे, जो कि उस समय लागू होंगे जबकि उनके बीच किसी प्रकार का कोई दूसरा अनुबन्ध न हो।

अनुबन्ध के अभाव मे साझेदारो के कर्त्तव्य—

(१) फर्म का कार्य सपरिश्रम बिना पुरस्कार करना—प्रत्येक साझेदार का यह कर्त्तव्य है कि वह व्यापार मे अपने काम को परिश्रम से करे। व्यापार के कार्य के लिए साझेदारो को वेतन नही दिया जाता। यद्यपि कोई साझेदार अन्य साझेदारो की अपेक्षा अधिक भी काम करता हो, फिर भी वह अपने अधिक कष्ट के लिये किसी वेतन या कमीशन का अधिकारी न होगा। साधारणत: पक्षकार परस्पर अलग से ऐसा अनुबन्ध कर लेते हैं कि उस साझेदार को जो प्रति दिन का कार्य करेगा, कुछ

कमीशन या अतिरिक्त वेतन दिया जायगा। कभी-कभी बिना काम के भी अतिरिक्त वेतन दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी विशेष साभेदार की मृत्यु हो जाये और वे सब मिलकर यह निर्णय करें कि लाभाश के अतिरिक्त १००) मासिक वेतन मृतक साभेदार की विधवा को दिया जाना चाहिये, तो यह ठहराव बंध होगा और विधवा वेतन की अधिकारिणी होगी। एक केस मे (Gokul Vs. Sashimukhi—1911—19 C. W. N. 299) ऐसा हुआ भी है, जिसमे विधवा पर्दानशीन औरत थी और उसको वेतन दिया जाता था।

(२) जान-बूझकर कर्त्तव्य भग के लिए क्षति पूर्ति करना—यदि कोई लापरवाही करता है और उसमे फर्म अथवा किसी साभेदार को कोई हानि उठानी पड़ती है, तो ऐसी हानि की क्षति पूर्ति के लिये वह दायी होगा। जान-बूझकर की गई लापरवाही क्या है ? इसकी परिभाषा इस सनियम मे तो नही दी है, किन्तु एक केस (Tamboli Vs. G. I. P. Ry. और Govind Vs. Raghunath) के निर्णयानुसार उसका आशय ऐसे काम से है जो किसी खास उद्देश्य से जान-बूझकर किया गया हो, अचानक न हुआ हो और जिससे मनुष्य का काम उसके मस्तिष्क के साथ किया गया हो।

(३) फर्म की सम्पत्ति का फर्म के लिए प्रयोग करना—साभेदारो का यह कर्त्तव्य है कि वे साभेदारी की सम्पत्ति को केवल साभेदारी के उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही उपयोग करें, अन्य किसी प्रयोग मे साभेदारी की सम्पत्ति को न लायें।

अब प्रश्न यह है कि साभेदारी की सम्पत्ति क्या है ? इसका निर्णय तो साभेदार स्वय ही कर सकते हैं कि कौनसी सम्पत्ति साभेदारी की है और कौनसी उनकी स्वय की है। यदि उनके बीच कोई अनुबन्ध नही है, तो निम्नलिखित सम्पत्ति 'साभेदारी की सम्पत्ति' समभी जायेगी—

(अ) ऐसी सारी सम्पत्ति, सारे अधिकार तथा हित, जो कि व्यापार के शुरू मे अथवा उसके बाद साभेदारो द्वारा साभेदारी के उद्देश्य की पूर्ति के लिए सम्मिलित सम्पत्ति मे शामिल कर दी गई हो।

(आ) फर्म के रुपये से प्राप्त की हुई कोई सम्पत्ति (भले ही गुप्त लाभ द्वारा यह प्राप्त की गई हो)। और

(इ) व्यापार की साख।

उदाहरण—(१) सुरेश तथा सतीश दो साभेदार है। सुरेश बिना सतीश की सहमति के फर्म के रुपये से कुछ अश खरीद लेता है। यह अश साभेदारी की सम्पत्ति समझे जावेंगे।

(२) सुरेश तथा सतीश दो साभेदार है। सुरेश फर्म के रुपये से कुछ जमीन खरीदता है और फिर फर्म के खातो मे उस धन से अपने को ऋणी (Debtor) के रूप मे लिख देता है। ऐसी दशा मे जमीन फर्म की सम्पत्ति नहीं होगी, क्योकि परिस्थिति से विपरीत उद्देश्य स्पष्ट है। जमीन स्वय के लिए ली गई थी, न कि साभेदार

के उद्देश्य को पूर्ति के हेतु और फिर उसने अपने को ऋणी स्वीकार किया, इसके विपरीत उद्देश्य और भी स्पष्ट है। यदि सुरेश ऋणी के रूप में अपने को न लिखता, तो जमीन साझेदारी की सम्पत्ति मानी जाती, अतएव साझेदारी की सम्पत्ति का निर्णय करने के लिये साझेदारों का उद्देश्य जानना आवश्यक है।

साझेदारी अधिनियम के अनुसार 'साख' (Goodwill) भी साझेदारी की सम्पत्ति समझी जानी चाहिए, किन्तु इस अधिनियम में साख की परिभाषा कहीं भी नहीं दी है। विभिन्न निर्णयों में विभिन्न प्रकार से साख की परिभाषा दी गई है।* लॉर्ड मेक्नाटन (Lord Macnaughten) ने साख की परिभाषा इन शब्दों में दी है—

"पूँजी स्टाक, सम्पत्ति इत्यादि के अतिरिक्त किसी व्यापार को जो लाभ प्राप्त होता है उसे 'साख' कहते हैं। 'साख' जनसाधारण के विशेष प्रोत्साहन के कारण होती है, जनता द्वारा मान पाने के कारण किसी व्यापार को जो लाभ होता है उसे 'साख' कहते हैं।"

धारा १५ के अनुसार, साझेदारी की सम्पत्ति पूर्णतः साझेदारी के व्यापार में ही लगानी चाहिए। साझेदारी की सम्पत्ति सब साझेदारों की होती है, अतः उसका उपयोग सद्भावना से सबके हित के लिए ही होना चाहिए, व्यक्तिगत हित के लिए नहीं। उदाहरण के लिए, कल्पना कीजिए कि 'मध्य प्रदेश ट्रान्सपोर्ट कम्पनी' नामक साझेदारी की संस्था के साझेदार सर्व श्री सुरेशचन्द्र व सतीशचन्द्र हैं। इस संस्था के पास एक मोटर ट्रक है। सुरेश व सतीश को चाहिए कि मोटर ट्रक का उपयोग साझेदारी के कारोबार के लिए ही करें, अपने व्यक्तिगत मनोरंजन के लिए नहीं, जैसे पिकनिक आदि के लिए।

(४) व्यक्तिगत लाभ का हिसाब देना—यदि कोई साझेदार फर्म की सम्पत्ति से या उसके व्यापारिक सम्बन्धों से अथवा उसके नाम से कोई व्यक्तिगत लाभ उठाता है, तो उसे सारा लाभ और उसका हिसाब फर्म को देना होगा।

उदाहरण—सुरेश, सतीश तथा रमेश एक व्यापार में साझेदार हैं। बिना सुरेश व सतीश की सहमति अथवा जानकारी के रमेश उस मकान को पट्टे पर ले

---

* Mr. Justice Wartington defines Goodwill as follows—

"It is the advantage which a person gets by continuing to carry on and being entitled to represent to the outside world that he is carrying on a business which has been carried on for sometime previously."

"Goodwill, I apprehend," said Wood V. C. "must mean every advantage that has been acquired by the old firm in carrying on its business, whether connected with the premises or with the name of the late firm or with any matter carrying with it the benefit of the business."

लेना है, जिससे साझेदारी का नाम होना है। रमेश अपने हित के लिए ऐसा करना है। ऐसी दशा मे सुरेश तथा सतीश भी, यदि वे चाहे तो, पट्टे से लाभ मे भाग पा सकते है।

(५) लाभ अथवा हानि को बराबर-बराबर बाँटना—व्यापार के लाभ मे साझेदारो का समान अधिकार है। यह तो स्पष्ट ही है कि यदि समानता के विपरीत पक्षकारो के बीच कोई अन्य अनुबन्ध है, तो उस अनुबन्ध की बात लागू होगी, इस धारा की नही। अर्थात् अनुबन्ध के अभाव मे साझेदारो के अधिकार एव दायित्व समान होगे। दायित्व से तात्पर्य यह है कि यदि फर्म को हानि होती है, तो वह भी साझेदारो को समान रूप से सहन करनी पडेगी।

(६) अधिकार की सीमा के अन्दर कार्य करना—प्रत्येक साझेदार का कर्त्तव्य है कि वह अपने अधिकार की सीमा के भीतर ही कार्य करे और यदि वह अपनी अधिकार-शक्ति का उलघन करेगा, तो (पुष्टिकरण के अभाव मे) उलघन से होने वाली हानि की उसे क्षतिपूर्ति करनी होगी।

(७) अपने अधिकार अन्य किसी को न सौपना—साझेदारो का यह भी कर्त्तव्य है कि साझेदारी मे अपने हित को वे अन्य किसी व्यक्ति को हस्तान्तरण न करें, क्योकि ऐसा करने से हस्तान्तरिती भी साझेदार समझा जा सकता है। साझेदारी तो पारस्परिक विश्वास की चीज है, अतएव प्रत्येक पर विश्वास भी कैसे किया जा सकता है। इसी दृष्टि से यह नियम बनाया गया है कि कोई साझीदार अपने अधिकार का हस्तान्तरण नही कर सकता, किन्तु एक साझीदार अपने लाभाश तथा साझेदारी की सम्पत्ति मे अपने भाग का हस्तान्तरण कर सकता है, लेकिन ऐसे हस्तान्तरिती का प्रबन्ध मे हस्तक्षेप करने अथवा हिसाब-किताब मांगने का अधिकार नही होगा।

(८) प्रतिद्वन्दिता के व्यापार से लाभ के प्रति हिसाब देना—अनुबन्ध अधिनियम के अनुसार कोई भी व्यापार मे रुकावट डालने का ठहराव नही कर सकता, क्योकि ऐसा ठहराव बेकार या व्यर्थ होता है, लेकिन साझेदार आपस मे ऐसा ठहराव कर सकते हैं कि जब तक वे साझेदार रहे, तब तक फर्म के कारोबार से मिलता-जुलता कोई कारोबार नही कर सकते और ऐसा ठहराव वैध होगा। फर्म के टूटने पर भी साझीदार ऐसा ठहराव कर सकते है कि वे निर्दिष्ट सीमाओ के भीतर फर्म के समान कोई कारोबार नही करेगे। यदि कोई साझेदार फर्म के समान अथवा फर्म से प्रतिद्वन्दिता रखने वाला कोई कारोबार करता है, तो विपरीत अनुबन्ध के अभाव मे उसको चाहिए कि ऐसे कारोबार से उसे जो लाभ हो वह सम्पूर्ण लाभ तथा उसका हिसाब फर्म को दे दे।

(९) सबकी सहमति से नया साझेदार बनाना—साझेदारो का यह भी कर्त्तव्य है कि वे जब कभी किसी नये व्यक्ति को साझेदारी मे प्रवेश देना चाहे, तो ऐसा करने के पहले साझेदारो की सहमति ले लें।

अनुबन्ध के अभाव मे साझेदारो के अधिकार—

(१) फर्म के कार्य-सचालन मे भाग लेना—प्रत्येक साझेदार को, चाहे उसने कितनी पूँजी लगाई हो, व्यापार के सचालन तथा प्रबन्ध मे सक्रिय भाग लेने का अधिकार होता है । यह हो सकता है कि एक साझेदार केवल पूँजी ही लगाये एव सचालन व व्यवस्था का काय अपने दूसरे साथी को सौंप दे , किन्तु ऐसा करने से उसके अधिकार की बलि नही होती, अर्थात् फर्म के सचालन एव प्रबन्ध म भाग लेने का अधिकार रहेगा, भले ही उस अधिकार का वह प्रयोग न करे ।

(२) सम्मति प्रकट करने का अधिकार—व्यापार सम्बन्धी किसी साधारण बात पर मतभेद होने की दशा मे वह बहुमत से तय किया जाना चाहिए । बात तय होने के पहले प्रत्येक साझेदार को यह अधिकार होगा कि वह अपनी राय प्रकट कर सके । इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिए कि साधारण मामले तो बहुमत द्वारा तय किये जा सकते हैं, किन्तु महत्वपूर्ण बातो के लिए केवल बहुमत ही पर्याप्त न होगा । उदाहरण के लिए, यदि साझेदारी सलेख मे कुछ परिवर्तन करना है, तो यह बहुमत से नही कराया जा सकता । ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन के लिए तो सर्व सम्मति की आवश्यकता होती है और जब सब साझेदार उसे स्वीकार कर लें तभी ऐसा परिवर्तन सम्भव है, अतएव व्यापार की प्रकृति मे परिवर्तन बिना सर्व सम्मति के नही हो सकता है । जैसे—यदि कोई जीवन बीमा कम्पनी, जीवन बीमा का काम छोड कर समुद्री बीमा का काम करना चाहती है, तो ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन के लिए सर्व सम्पत्ति की आवश्यकता होती है अथवा यदि व्यापार के स्थान का बदलना चाहती है या व्यापार को बेचना है अथवा व्यापार को बढाना है, जिसके लिए अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकता पडेगी, तो ऐसी सब बातो के लिए सर्व सम्मति का होना अनिवार्य है।

(३) व्यापार की पुस्तको तक पहुँच—प्रत्येक साझेदार को, चाहे वह क्रियाशील हो अथवा निष्क्रिय, व्यापार की किसी भी पुस्तक को जाँचने तथा उसकी प्रतिलिपि लेने का अधिकार होता है । यदि कोई साझेदार स्वय पुस्तक न देखकर अपने किसी एजेन्ट द्वारा उनकी जाँच कराना चाहता है तो ऐसा कर सकता है, यदि अन्य साझेदारो को कोई आपत्ति न हो । एक अवयस्क (जिसको साझेदारी के हितों म शामिल कर लिया गया है) केवल खातो की जाँच कर सकता है, व्यापार की अन्य पुस्तको को वह स्पर्श नही कर सकता, क्योंकि वह साझेदार नहीं होता और पुस्तको मे कुछ ऐसी गुप्त बातें भी होतीं हैं, जो कि साझेदारो के क्षेत्र से बाहर नही जानी चाहिए ।

(४) लाभ मे भाग पाना—प्रत्येक साझेदार को लाभ मे समान भाग पाने का अधिकार होता है । यदि कोई साझेदार इसके विपरीत कोई अन्य धारणा रखता है, तो उसको यह सिद्ध करना पडेगा कि कोई प्रतिकूल अनुबन्ध हुआ था

(५) पूँजी पर ब्याज—पूँजी पर ब्याज पाने का अधिकार साझेदारो को

नही होता, किन्तु यदि इस सम्बन्ध मे उन्होने कोई ठहराव कर लिया है, तो वे ब्याज के अधिकारी होगे, ऐसी दशा मे ब्याज केवल लाभ मे से ही दिया जा सकता है।

(६) अतिरिक्त पूँजी पर ब्याज—यदि कोई साभेदार अपने भाग से अधिक पूँजी व्यापार मे लगाता है, तो उस अतिरिक्त पूँजी पर, निश्चित दर से ब्याज पाने का अधिकारी होगा और यदि कोई दर निश्चित नही है, तो उसको उस पर ६% वार्षिक ब्याज मिलने का अधिकार है।

(७) क्षतिपूर्ति पाने का अधिकार—अगर किसी साभेदार ने कुछ दुकारा किया है या कुछ दायित्व स्वीकार किया है (i) फर्म के साधारण तथा उचित परिपालन मे या (ii) फर्म को हानि से किसी असमय सकट से बचाने के लिये कोई ऐसा काम किया है, जो साधारण बुद्धि का मनुष्य उन्ही दशाओ मे अपने कार्य मे करता, तो उसकी क्षतिपूर्ति का भार फर्म पर होगा।

(८) फर्म की सम्पत्ति पर अधिकार—फर्म की समस्त सम्पत्तियो और हितो पर सभी साभेदारो का सयुक्त अधिकार होता है। इसके अतिरिक्त एक साभेदार को यह भी अधिकार है कि वह फर्म की सम्पत्ति को फर्म के ही काम मे प्रयोग करे।

(९) फर्म छोडने की स्वतन्त्रता—प्रत्येक साभेदार को अन्य साभेदारो की सर्व सम्मति से, फर्म से प्रथक होने का अधिकार है। ऐच्छिक साभेदारी की दशा मे तो केवल सूचना देकर फर्म से सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है।

(१०) फर्म से निकाले जाने का अधिकार—प्रत्येक साभेदार को बने रहने का तथा इसमे से न निकलने का अधिकार है। फर्म से कोई भी साभेदार बहुमत द्वारा भी नही निकाला जा सकता। किन्तु यदि इसके विपरीत कोई अनुबन्ध कर लिया गया है तो किसी साभेदार को फर्म से निकाला जा सकता है। हाँ, ऐसा कार्य सद्भावना द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नही।

(११) प्रतियोगी व्यापार चलाने का अधिकार—एक पृथक हुये साभेदार को यह अधिकार है कि वह फर्म से मिलता-जुलता व्यापार स्वय चला सके। किन्तु यदि इसके विपरीत उसने कोई अनुबन्ध कर लिया है, तो उसका यह अधिकार समाप्त हो जायेगा। साथ ही, वह फर्म का नाम प्रयोग नही कर सकता और न फर्म के ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है।

(१२) साभेदारी से निवृत होने पर लाभ व ब्याज पाने का अधिकार—धारा ३७ के अनुसार, जब किसी फर्म का कोई सदस्य मर जाता है या फर्म से पृथक हो जाता है, अथवा किसी कारण साभेदार नही रहता और शेष साभेदार बिना हिसाब-किताब का निपटारा किये, फर्म की अविभाजित सम्पत्ति से व्यापार चलाते रहे, तो ऐसी दशा मे पृथक हुये साभेदार अथवा उसके वैधानिक उत्तराधिकारी को उस लाभ अथवा ६% ब्याज पाने का अधिकार है, जो उसके भाग की सम्पत्ति से फर्म को प्राप्त होता है। किन्तु यदि शेष साभेदारो ने पृथक होने वाले साभेदार के हिस्से मे

आने वाली सम्पत्ति को खरीद लिया है, तो उस अलग होने वाले साझेदार को अथवा उसके वैधानिक उत्तराधिकारी को यह अधिकार प्राप्त न होगा।

(१३) आपत्तिकालीन अधिकार—एक साझेदार संकट के समय फर्म की सुरक्षा के लिए वह सब काम कर सकता है, जो कि एक विवेकशील व्यक्ति को समान परिस्थिति मे अपने निजी मामले मे करने चाहिये। संकट के समय साझेदार के वे ही अधिकार होते हैं, जो कि समान परिस्थितियों मे एजेन्ट के होते है। इस प्रकार के काम से फर्म बद्ध होगी।

नोट—यदि फर्म के विधान मे कोई परिवर्तन हो, तो नये फर्म में साझेदारों के पारस्परिक अधिकार तथा कर्त्तव्य वही रहेंगे जो परिवर्तन के पूर्व थे। अगर कोई फर्म उस निश्चित अवधि के बाद भी कारोबार चलाती रहे, तो भी साझेदार के पारस्परिक अधिकार एवं कर्त्तव्य वही रहेंगे, जो ठहरी हुई अवधि के भीतर थे।

अनुमानित या गर्भित अधिकार
(Implied Authority)

'अनुमानित' या 'गर्भित अधिकार' से आशय—

फर्म के कारोबार के लिए साझेदार उसका एजेन्ट होता है। फर्म के कारोबार को चलाने के लिये एक साझेदार जो भी कार्य करता है, फर्म उससे बद्ध होती है। साझेदारी सनियम की यही तो विशेषता है कि प्रत्येक साझेदार फर्म का स्वामी तथा एजेन्ट दोनो ही होता है। एक साझेदार का कोई भी काम, जो फर्म को चलाने के लिये साधारण रूप मे किया जाय, फर्म को बद्ध करता है। इस नाते वह फर्म का एजेन्ट है। दूसरे, वह अन्य साझेदारों द्वारा किये गए कार्य मे स्वयं भी बद्ध होता है— इसलिये वह उसका मालिक भी है। मालिक की हैसियत से फर्म के सब कामो का उत्तरदायित्व उसी पर होता है और एजेन्ट की हैसियत से जो कार्य करता है, उसका दायित्व अन्य साझेदारों पर समान होता है। फर्म बद्ध करने वाले इस अधिकार को ही 'अनुमानित' या 'गर्भित अधिकार' कहते हैं। इसके अनुसार एक साझेदार अपनी फर्म के साधारण व्यापारिक कार्यों के लिए फर्म को उत्तरदायी बना सकता है। किन्तु उसका उल्टा सत्य नही है। फर्म साझेदारो का एजेन्ट नहीं है। यदि कोई भुगतान एक साझेदार को दिया गया है, तो वह फर्म के भुगतान के लिये माननीय भुगतान होगा, *किन्तु यदि फर्म को कोई भुगतान किसी साझेदार के व्यक्तिगत ऋण को चुकता करने* के लिये किया गया है, तो सन्नियम के अनुसार फर्म को उसके लेने का कोई अधिकार नहीं है। कानून की दृष्टि से एक फर्म का प्रत्येक साझेदार ही उसका एजेन्ट होता है, जैसा कि इस कथन से स्पष्ट है—"Each partner is praepositus negotus societies" और इसलिए वह अपने कामो से अन्य साझेदारो को भी बद्ध कर सकता है।

गर्भित अधिकार कौन-कौन से हैं—

अनुमानित अधिकार के भीतर साझेदार क्या कर सकते हैं ? एक साधारण साझेदारी की दशा में प्रत्येक साझेदार, अनुमानित अधिकार के अन्तर्गत—

(१) फर्म का सामान बेच सकता है।
(२) फर्म के लिए सामान खरीद सकता है।
(३) फर्म के लिए भुगतान ले सकता है।
(४) चैक तथा अन्य विनिमय पत्र ले या दे सकता है।
(५) फर्म के ऊपर चलाये गये मुकदमे को लड़ सकता है।
(६) फर्म की साख या सम्पत्ति पर ऋण ले सकता है।
(७) साझेदारी के कारोबार के लिये नौकर रख सकता है।

गर्भित अधिकार के बाहर कार्य—

अनुमानित अधिकार के भीतर साझेदार क्या नहीं कर सकते ? धारा १९ (२) के अनुसार निम्नलिखित बातें 'अनुमानित अधिकार' के भीतर नहीं मानी—

(१) एजेन्ट की नियुक्ति करना।
(२) अपना अधिकार किसी दूसरे को सौंपना।
(३) किसी दावे का पारस्परिक निपटारा करना या न्यायालय से उसको हटा लेना।
(४) किसी और पक्ष से फर्म के एजेन्ट के रूप में साझा करना।
(५) व्यापार सम्बन्धी किसी झगड़े को पंचायत के सम्मुख रखना।
(६) अपने नाम में फर्म की ओर से बैंक में खाता खोलना।
(७) फर्म के विरुद्ध चलाये मुकदमे में फर्म का दायित्व स्वीकार करना।
(८) फर्म के लिये अचल सम्पत्ति प्राप्त करना।
(९) फर्म की अचल सम्पत्ति को हस्तान्तरित करना।
(१०) फर्म की लेनदारी के लिये समझौता करना अथवा उसको कम करना।

गर्भित अधिकार में वृद्धि एवं संकुचन—

विशेष अनुबन्ध द्वारा अनुमानित अधिकार को घटाया या बढ़ाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह लिखना अनावश्यक न होगा कि एक साझेदार सङ्कटकालीन परिस्थितियों में फर्म की सुरक्षा के हेतु वे समस्त कार्य कर सकता है, जो कि एक विवेकशील व्यक्ति समान परिस्थितियों में अपने निजी मामलों में करता। सङ्कट के समय साझेदार के वे ही अधिकार हैं, जो कि समान परिस्थितियों में एजेन्ट के होते हैं। इस प्रकार के कार्य से फर्म बद्ध भी होगी।

गर्भित अधिकार के लिए आवश्यक शर्तें—

अनुमानित अधिकार की चर्चा के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि फर्म अथवा यों कह कि अन्य साझेदारों को उत्तरदायी बनाने के लिए कुछ शर्तों का पालन करना अनिवार्य है। वे शर्तें निम्नलिखित हैं :—

(१) प्रत्येक कार्य फर्म के नाम में करना चाहिए।

(२) ऐसी रीति से करना चाहिये, जिससे फर्म को बद्ध करने का इरादा प्रगट हो। और

(३) कार्य अधिकार की सीमा के अन्दर ही करना चाहिये।

(१) प्रत्येक काय फर्म के नाम मे हो—प्रथम शर्त यह है कि काम फर्म के नाम मे होना चाहिए। यदि कोई पक्षकार फर्म के नाम से व्यवहार न करके व्यक्तिगत रूप मे कोई कार्य करता है, तो उसके लिए वह व्यक्तिगत रूप मे ही दायी होगा, अतएव फर्म को उत्तरदायी बनाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि कार्य फर्म की ओर से करना चाहिए, व्यक्तिगत रूप म नही।

(२) ऐसी रीति से किया जाय, जिससे फर्म को बद्ध करने का इरादा प्रगट हो—काम ऐसी रीति मे करना चाहिए कि जिससे स्पष्ट या गर्भित रूप से फर्म को बद्ध करने का अभिप्राय प्रकट हो। वह रीति कैसी होनी चाहिए, यह व्यापार की प्रकृति पर निर्भर करेगा। एक व्यापार विशेष के लिए जो रीति साधारण है वह दूसरो के लिए असाधारण हो सकती है, जैसे चैक इत्यादि का लिखना, स्वीकार न करना, उन पर पृष्ठांकन करना, इत्यादि। एक बैंकिग सस्था के लिए यह एक साधारण रीति है, किन्तु साग-सब्जी के विक्रेता के लिए यह असाधारण बात है।

उदाहरण—(अ) सुरेश तथा सतीश साझेदारी मे बैंकर्स का काम करते हैं। फर्म की ओर से सुरेश कुछ धन स्वीकार करता है तथा सतीश को इस बात की सूचना नही देता। बाद मे सुरेश उस धन को अपने निजी प्रयोग म लाता है। इस धन की पूर्ति फर्म को करनी पडगी।

(आ) सुरेश तथा सतीश साझेदारी मे एक साथ फल आदि की दुकान करते है। फर्म के नाम से, बिना सतीश की जानकारी के, सुरेश हुण्डी बनाता है। ऐसी दशा मे सतीश दायी न होगा, क्योंकि हुण्डी आदि विनिमय-पत्र लिखने का कार्य साधारणतः फल वालों का नही होता।

(इ) सुरेश तथा सतीश दो साझेदार हैं। सुरेश को धोखा देने के उद्देश्य से सतीश कारोबार मे प्रयोग होने वाला कुछ माल खरीदता है और बाद मे बिना सुरेश की जानकारी के उसे प्रयोग म लाता है। इस माल के मूल्य के लिए फर्म दायी होगी।

(३) कार्य अधिकार की सीमा से परे न हो—तीसरी शर्त यह है कि कार्य अधिकार की सीमा से परे न हो। उदाहरण के लिए, यदि कोई साझेदार व्यापार में प्रयोग होने वाला माल उधार खरीदे, तो इस व्यवहार मे सभी साझेदार बद्ध होंगे और यदि माल व्यापार मे प्रयोग आने वाला नही है, तो कार्य 'फर्म का कार्य' नही कहलायेगा और उसमे अन्य साझेदार भी बद्ध न होंगे। जैसे—सुरेश, सतीश तथा नरेश जूतों का धन्धा करते हैं। सुरेश फर्म के छपे हुए पैड पर एक आर्डर श्रीनगर भेजता है, जिसमे एक टोकरी अगूर की मँगाता है। यहाँ यह स्पष्ट है कि आर्डर यद्यपि फर्म के नाम में है, किन्तु सुरेश के अधिकार की सीमा के बाहर दिया गया है, अतएव ऐसी

दशा मे वह स्वय दायी होगा, फर्म नही। सुरेश, सतीश और नरेश का एजेन्ट है, लेकिन केवल जूतो के व्यापार के सम्बन्ध मे, अगूर मँगाने के लिए नही।

साझेदारों का पृथक तथा संयुक्त उत्तरदायित्व
(Joint and several liability of Partners)

साझेदारो की संस्था मे प्रत्येक साझेदार संयुक्त रूप तथा व्यक्तिगत रूप दोनों ही प्रकार से उत्तरदायी होता है।

(१) व्यापार के साधारण सचालन मे यदि कोई साझेदार कुछ बात कहता है अथवा फर्म की ओर से कुछ प्रतिनिधित्व करता है तो उसका ऐसा करना 'फर्म के विरुद्ध गवाही' (Evidence against the firm) माना जायेगा तथा ऐसे काम के लिए वह तथा उसकी फर्म दायी होगी।

(२) कोई पक्षकार (Third Party) किसी साझेदार को कोई सूचना देता है तो एजेन्सी के आधार पर इसका आशय फर्म को ही सूचना देना माना जायेगा, क्योकि फर्म साझेदार से पृथक नही समझी जाती।

(३) एक फर्म का प्रत्येक साझेदार अपने सभी कामो के लिये (अनुबन्ध से पैदा होने वाले तथा बिना अनुबन्ध से पैदा होने वाले दायित्व (Torts) के लिए भी) सयुक्त रूप मे तथा अलग-अलग दायी होता है। इङ्गलिश लॉ के अनुसार अनुबन्ध द्वारा पैदा होने वाले दायित्व के लिए साझेदार केवल सयुक्त रूप से ही दायी होते हैं, किन्तु भारतवर्ष मे उनका दायित्व सयुक्त तथा पृथक दोनो ही होते है। बिना अनुबन्ध से पैदा होने वाले दायित्व (Torts) के लिये दोनो देशो मे एक ही नियम है। अन्य पक्षकारो के प्रति साझेदारो का दायित्व केवल उसी दशा मे होगा यदि (अ) कार्य फर्म के नाम मे तथा फर्म की ओर से किया गया है, (आ) कार्य अधिकार की सीमा के भीतर है तथा (इ) व्यापार के साधारण सचालन मे किया गया है। इन तीनो बातो पर ऊपर विस्तार मे प्रकाश डाल चुके हैं।

साझेदार के त्रुटिपूर्ण कार्य की दशा में फर्म का दायित्व—

यदि एजेन्सी के दौरान मे एजेन्ट कोई ऐसा गलत (Wrongful) काम करता है, जिससे तीसरे पक्षकार को हानि उठानी पडती है, तो ऐसे काम के लिये उसका नियोक्ता दायी होगा। ठीक इसी प्रकार यदि कोई साझेदार फर्म के साधारण सचालन मे या अपने अधिकार की सीमाओ मे ऐसा कोई काम करता है जिससे किसी तीसरे पक्षकार को हानि होती है, तो फर्म उसके लिए उसी सीमा तक दायी है, जिस सीमा तक कि वह साझेदार स्वय दायी है, अतएव व्यापार के साधारण सचालन मे प्रत्येक साझेदार अपने अन्य साथियो (Partners) की त्रुटि, कर्त्तव्य उलघन तथा कपट के लिये उत्तरदायी है। 'क' तथा 'ख' एक ही प्रकृति की साझेदारी की सस्थायें हैं। 'क' फर्म के एक साझेदार ने अपने फर्म के हित की दृष्टि से 'ख' फर्म के एक क्लर्क को १०) रिश्वत

देकर एक गुप्त बात जानने का प्रयत्न किया। ऐसी दशा मे फर्म को दायी ठहराया गया, क्योंकि उस साझेदार ने अपनी फर्म के हित की दृष्टि से गलत काम किया।[1]

कपट की दशा मे दायित्त्व—

अब हम कपट का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—सुरेश ने सतीश तथा रमेश को शराब मोल लाकर लाभ से बेचने के लिए नौकर रखा। सतीश तथा रमेश ने साझेदारी मे इस काम को शुरू किया। सतीश ने शराब के विक्रय के सम्बन्ध मे कुछ हिसाब सुरेश को भेजा है, ऐसा उसने प्रदर्शन किया, यद्यपि वास्तव में बात सब झूठ थी। रमेश को इस कपट की जानकारी नहीं थी। कुछ समय बाद सुरेश ने सतीश तथा रमेश पर वाद प्रस्तुत किया, जिसमे यह फैसला किया गया कि सतीश तथा रमेश दोनो ही कपट के लिए दायी हैं।[2]

कर्त्तव्य अथवा नियम उलंघन की दशा मे—

कर्त्तव्य अथवा नियम उलघन की दशा में भी फर्म अपने साझेदारो के काम के लिए दायी होगी। उदाहरण के लिये, यदि टैक्सी ड्राइवर्स की फर्म का कोई सदस्य नियम विरुद्ध टैक्सी चलाता है, तो फर्म उत्तरदायी होगी। इसी प्रकार यदि डॉक्टर्स की फर्म का कोई सदस्य गलत ढंग से इलाज करता है, तो उसकी फर्म उसकी गल्ती के लिए उत्तरदायी होगी। व्यक्तिगत रूप से किए गये किसी कार्य के लिए फर्म दायी न होगी।

रुपये का अनुचित प्रयोग करने की दशा मे—

यदि कोई साझेदार फर्म का व्यापार करते समय रुपया या सम्पत्ति लेता है और फिर उसका अनुचित प्रयोग करता है, तो इसका दायित्त्व फर्म के ऊपर होगा। इसी प्रकार यदि कुछ रुपया या सम्पत्ति तीसरे पक्ष से फर्म को मिलती है और जबकि वह फर्म के पास है, कोई साझेदार उसका दुरुपयोग करता है, तो फर्म इसके लिए उत्तरदायी होगी।

साझेदारों के भेद

(Kinds of Partners)

सामान्य तथा सीमित साझेदार—

साधारणत. फर्म के सभी साझेदारो का उत्तरदायित्व असीमित होता है, अत. ऐसे साझेदारो को 'सामान्य साझेदार' (General Partner) कहते हैं और ऐसी साझेदारी को सामान्य साझेदारी कहा जाता है। सामान्य साझेदारी की दशा मे साझेदारो की व्यक्तिगत सम्पत्ति भी फर्म के ऋणो को चुकाने के लिये प्रयोग की जा सकती है।

---

1 In Rapp Vs Latham (1918) 2 B and A 795.

2 In Hamlyn Vs Houston and Co. (1903) I. K. B. 81.

'सीमित साझेदार' (**Limited Partner**) उनको कहते हैं जिनका दायित्व उनकी दी हुई पूँजी तक ही सीमित रहता है। ऐसी साझेदारी को सीमित साझेदारी कहते है। एक फर्म के समस्त साझेदार सीमित साझेदार नही हो सकते। भारतीय साझेदारी अधिनियम के अनुसार सीमित साझेदारी अवैध है, किन्तु इस अधिनियम ने इतनी आज्ञा अवश्य दी है कि यदि एक भागी का दायित्व असीमित है, तो शेष का दायित्व उनकी दी हुई पूँजी तक ही सीमित रखा जा सकता है। साधारणतः सीमित साझेदारों के अधिकार घटा दिये जाते हैं। उसे व्यापार के सम्बन्ध में सक्रिय भाग लेने का अधिकार नही होता। उसको हिसाब की बहियाँ देखने का अधिकार होता है। साझेदारी भग करने का अधिकार उसे नही होता। उसकी मृत्यु का भी फर्म के जीवन पर कुछ भी प्रभाव नही पड़ता।

व्यापार संचालन की दृष्टि से साझेदारों के भेद—

(१) **क्रियाशील साझेदार**—क्रियाशील या सक्रिय साझेदार (Active Partners) वे होते है, जो व्यापार के संचालन मे पूर्ण रूप से भाग लेते है तथा उसकी देख-रेख करते है। क्रियाशील साझेदार फर्म के समस्त कार्यों के लिए अन्य साझेदारो का एजेन्ट होता है और अपने कार्यों से वह फर्म को बद्ध करता है।

(२) **निष्क्रिय साझेदार**—'निष्क्रिय' अथवा 'शान्त साझेदार' (Dormant or Sleeping or Inactive Partner) वे है जो व्यापार मे केवल लाभ-हानि के भागी होते हैं और अपनी पूंजी लगाते हैं, किन्तु व्यापार के प्रबन्ध एव संचालन मे कोई विशेष भाग नही लेते। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि निष्क्रिय साझेदार भी अन्य पक्षो के प्रति अपने तथा अपने साथियो के कार्य के लिए उत्तरदायी होगा।

(३) **नाम मात्र के साझेदार**—ऐसा साझेदार, जो फर्म के कारोबार मे न तो कोई पूँजी लगाता है और न कोई काम ही करता है, परन्तु अपने नाम और साख का फर्म को प्रयोग करने देता है, 'नाम मात्र का साझेदार' (Nominal Partner) कहलाता है। यद्यपि वह फर्म के लाभो मे से भाग पाने का अधिकारी नही होता, परन्तु वह साझेदारो द्वारा किये गये कार्यों के लिये ठीक उसी प्रकार दायी होता है जैसे कि सक्रिय साझेदार।

(४) **केवल लाभ मे साझेदार**—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक साझेदार अन्य साझेदारो से यह अनुबन्ध कर लेता है कि वह फर्म के लाभो मे ही कुछ भाग लेने का अधिकारी होगा, हानियो के लिये वह उत्तरदायी न होगा। ऐसे साझेदारो को 'केवल लाभ मे साझेदार' (Partner in profits only) कहते है। वह तृतीय पक्षकारो के प्रति अन्य सब साझेदारो के कामो के लिये दायी होगा।

(५) **गत्यावरोध या प्रदर्शन द्वारा साझेदार**—यदि कोई व्यक्ति मौखिक या लिखित शब्दो से या अपने आचरण से कोई ऐसा कार्य करता है, जिससे दूसरो को यह विश्वास हो जाता है कि वह साझेदार है, यद्यपि वास्तव मे वह साझेदार नही है

और अन्य लोग इसी विश्वास पर ऐसी फर्म को ऋण दे देते है, तो उन ऋणदाताओ के लिये जिन्होंने इस विश्वास पर ऋण दिया है, वह साझेदार माना जायगा और अन्य साझेदारो की ही भांति ऋण चुकाने के लिये उत्तरदायी होगा। दूसरे शब्दो मे, जब कोई व्यक्ति अपने आपको एक साझेदार के रूप मे प्रगट करता है अथवा दूसरो को ऐसा करने देता है, तब वह उचित रूप मे उस स्थिति से जो कि उसने स्वय धारण कर ली है, मुख मोडने से रोक दिया जाता है। इसका आशय यह है कि उसने एक बार जो स्वीकार कर लिया, उस पर उसे टिकना पडेगा। ऐसे साझेदार को *"गत्यावरोध द्वारा" या "प्रदर्शन करने वाला"* (Partner by estoppel or holding out) कहते हैं। इससे यह आवश्यक नही है कि प्रदर्शन करने वाला व्यक्ति यह जानता हो या न जानता हो कि इस प्रकार ऋण देने वालो तक उसका प्रदर्शन हो चुका है। ऐसा व्यक्ति फर्म का साझेदार या एजेन्ट नही हो जाता। हॉ, वह अपने को दायी अवश्य बना लेता है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

सुरेश और सतीश एक फर्म के साझेदार हैं। वे एक प्रसिद्ध व्यक्ति रमेश की उपस्थिति मे नरेश से कहते हैं कि रमेश हमारी फर्म का प्रमुख साझीदार है और इस आधार पर वे नरेश से १,०००) ऋण लेते हैं। रमेश नरेश के सामने कुछ नही कहता। अर्थात् दूसरे शब्दो मे वह सुरेश और सतीश के कथन को स्वीकार करता है तथा उसकी पुष्टि करता है, अतएव रमेश प्रदर्शन करने वाला साझीदार हुआ, क्योकि उसने अपने आचरण से अपने को साझेदार प्रदर्शित किया। अब वह स्वीकार की हुई बात बदल नही सकता और साझेदार के रूप मे नरेश के प्रति उत्तरदायी होगा।

प्रदर्शन करने वाले साझेदार का दायित्व—

मोनी मार्च एण्ड कम्पनी तथा कोर्ट ऑफ वार्ड्स के केस मे यह निर्णय किया गया कि "जब कोई व्यक्ति अपना नाम तथा साख किसी को देता है या फर्म द्वारा अपने नाम के प्रयोग की आज्ञा दे देता है और उसमे 'दर्शनार्थ' साझेदार के रूप मे रहता है, तो वह इस प्रकार की नियुक्ति अथवा सम्बन्ध के प्रति उत्तरदायी है, चाहे वह उसमे किसी प्रकार का स्वत्व रखता हो या नही।" दर्शनार्थ साझेदार जब व्यापार से अलग हो जाता है और उसका कोई नोटिस नही देता और उसके चले जाने के बाद भी साझेदारी मे उसके नाम का प्रयोग किया जाता है, तो वह साझेदार बाहर के लोगो के प्रति तब तक उत्तरदायी रहेगा जब तक कि उसने अपना नाम वापस न ले लिया हो।' यदि प्रदर्शन करने वाले साझेदार की मृत्यु के बाद उसका नाम व्यापार मे प्रयोग किया जा रहा हो, तो मृतक के उत्तराधिकारियो पर इसका कोई प्रभाव नही पडेगा, अर्थात् मृतक के वैधानिक उत्तराधिकारी उसकी सम्पत्ति के स्वामी हो जायेंगे और उसके बाद वह सम्पत्ति साझेदारी के किसी भी कार्य के लिये दायी न होगी।

दर्शनार्थ या प्रदर्शन करने वाले साझेदार के लाभ—

(१) यदि किसी व्यक्ति को व्यापारिक ख्याति प्राप्त हो, तो वह ऐसे अन्य

व्यक्ति को जिसको व्यापार के क्षेत्र में कोई नहीं जानता, परन्तु जिसमें व्यापार करने की क्षमता है, अपने नाम का सहयोग देकर उसे बढ़ा सकता है।

(२) इसकी सहायता से लोग उस पर विश्वास करने लगेंगे और धीरे-धीरे उसकी साख जम जायगी तथा अपने पैरों पर खड़े होने की उसमें क्षमता आ जाती है।

(३) किसी बड़ी साख वाले व्यक्ति का नाम होने से साझेदारी के समस्त सदस्य उसके नाम की लाज रखने के लिये ईमानदारी से कार्य करते हैं, जिससे व्यापार सफल होता जाता है।

(४) आर्थिक कठिनाइयों की परिस्थिति में ऐसे व्यक्ति डूबते को तिनके का सहारा प्रदान करते हैं।

(५) ऐसे व्यक्ति के नाम से बाहर के साहूकार बिना किसी चिन्ता या हिचकिचाहट के फर्म के साथ आर्थिक लेन देन कर सकते हैं।

(६) जो लोग साझेदारी में इस प्रकार अपना नाम देते हैं, वे उसकी गतिविधि पर पूर्ण रूप से नियन्त्रण रखते हैं और साझेदारों को कपटपूर्ण कार्य से रोक लेते हैं। इस प्रकार फर्म की प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

दर्शनार्थ या प्रदर्शन करने वाले साझेदार की हानियाँ—

(१) जब एक व्यक्ति, जिसका व्यापार में किसी प्रकार का हित नहीं होता, वरन् केवल अपना नाम प्रदान करता है, तो फर्म के वास्तविक साझेदारों में मनोवैज्ञानिक हीनता पैदा हो जाती है और वे स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर सकते।

(२) जन साधारण में केवल दर्शनार्थ साझेदार का ही यश बढ़ता है और वास्तविक साझेदार पर्दे के पीछे ही रह जाते हैं।

(३) दर्शनार्थ साझेदार होने की दशा में अन्य भागी निश्चित हो जाते हैं और वे व्यापार में पूरी शक्ति से काम नहीं करते, क्योंकि उनको ज्ञात होता है कि दर्शनार्थ भागी की प्रतिष्ठा के बल पर उनका सारा काम चल ही जायेगा। इससे आत्म-निर्भरता नहीं बढ़ती।

(४) हानि होने की दशा में व्यापार को तो क्षति होती ही है, किन्तु साथ-साथ दर्शनार्थ साझेदार की प्रतिष्ठा भी मिट्टी में मिल जाती है।

(५) अविश्वासी तथा कपटपूर्ण व्यक्ति दर्शनार्थ साझेदार के नाम का दुरुपयोग कर सकते हैं और समाज में उसकी बनी हुई प्रतिष्ठा को भी बिगाड़ सकते हैं।

साझेदार द्वारा अधिकार का हस्तान्तरण—

साझेदारों का यह कर्त्तव्य है कि साझेदारी में अपने हित का वे अन्य किसी व्यक्ति को हस्तान्तरण न करें, क्योंकि ऐसा करने से हस्तान्तरिती भी साझेदार समझा जा सकता है। साझेदारी तो पारस्परिक विश्वास की चीज है, अतएव प्रत्येक पर विश्वास भी कैसे किया जा सकता है। इसी दृष्टि से यह नियम बनाया गया है कि कोई साझेदार अपने अधिकार का हस्तान्तरण नहीं कर सकता। किन्तु एक साझेदार अपना लाभांश तथा साझेदारी की सम्पत्ति में अपने भाग का हस्तान्तरण कर सकता

है। लेकिन ऐसे हस्तान्तरिती को प्रबन्ध मे हस्तक्षेप करने अथवा हिसाब किताब माँगने का अधिकार नही होगा।

यदि फर्म भङ्ग कर दी जाये या हस्तान्तरण करने वाला साझेदार, साझेदार नही रहता, तो हस्तान्तरिती (Transferee) को अन्य साझेदारो के विरुद्ध फर्म की सम्पत्तियो मे वह भाग को पाने का अधिकार होता है, जिसका हस्तान्तरणकर्ता साझेदार अधिकारी था और इस भाग के निर्धारण के आशय के लिये वह भङ्ग होने की तिथि से हिसाब माँगने का भी अधिकारी है।

साझेदारी संलेख
(Partnership Deed)

साझेदारी सलेख की परिभाषा—

साझेदारी अधिनियम के अनुसार ही साझेदारो के बीच अनुबन्ध का होना अति आवश्यक है। यद्यपि बिना ठहराव के भी साझेदारी चलाई जा सकती है, किन्तु उसमें दृढता नही आती। ठहराव के अभाव मे फर्म की अकाल मृत्यु का भय सदैव बना रहता है। किसी भी मतभेद की दशा मे साझेदारी का ठहराव उपस्थित किया जा सकता है। इसकी अनुपस्थिति मे व्यर्थ के झगडे एव मतभेद उठ सकते हैं। साझेदारी का ठहराव लिखित हो सकता है अथवा मौखिक। परन्तु अनुभव के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि ठहराव का लिखित होना ही सर्वोत्तम है। लिखित ठहराव पर मुद्रांक लगाना आवश्यक होता है। साझेदारो के ठहराव का 'साझेदारी सलेख' या 'साझेदारी के अन्तर्नियम (Agreement or Articles of Partnership) भी कहते हैं। साझेदारी के सलेख मे निम्नलिखित बातें होनी चाहिये :—

साझेदारी सलेख की मुख्य बाते—

(१) फर्म का नाम और पता—फर्म के नाम के सम्बन्ध मे इतना कहना पर्याप्त होगा कि साझेदार अपनी फर्म का कुछ भी नाम रख सकते हैं। फर्म के नाम मे साझेदारों के भी नाम हो सकते हैं अथवा अन्य व्यक्तियों के अथवा साझेदार कोई भी अन्य काल्पनिक नाम रख सकते हैं। फर्म के नाम के सम्बन्ध मे निम्नलिखित प्रतिबन्ध हैं :—

साभेदारी संलेख की मुख्य बातें

(१) फर्म का नाम व पता।
(२) व्यापार का क्षेत्र व स्वरूप।
(३) साभेदारी की अवधि।
(४) साभेदार द्वारा लगाई गई पूँजी।
(५) साभेदारों द्वारा ऋण लेना।
(६) लाभ तथा हानि का अनुपात।
(७) साभेदारों का कमीशन एवं वेतन।
(८) साभेदारों द्वारा आहरण।
(९) पुस्तकों एवं खातों का अंकेक्षण।
(१०) अधिकारों का नियन्त्रण।
(११) कार्य का आवन्टन।
(१२) प्रवेश तथा रिटायरमेंट।
(१३) साभेदारी की समाप्ति।
(१४) व्यापारिक साख।
(१५) साभेदार की मृत्यु व उसके उत्तराधिकारी।
(१६) साभेदारी मे बीमे का विभाजन।
(१७) साभेदारी से सम्बन्ध विच्छेदन।
(१८) साभेदारी के नियमों का उल्लघन।
(१९) 'मध्यस्थ' वाक्य।

(अ) एक फर्म का नाम किसी अन्य फर्म के नाम से इतना मिलता-जुलता नहीं होना चाहिये, जिससे किसी को धोखा हो जाय।

(आ) फर्म के नाम मे नीचे लिखे शब्द अथवा ऐसा कोई शब्द, जिससे केन्द्रीय सरकार अथवा किसी राज्य सरकार का अनुमोदन प्रगट हो, नहीं होना चाहिये—क्राउन, एम्परर, एम्प्रेस, इम्पीरियल, किङ्ग, क्वीन, रॉयल, आदि। हाँ, राज्य सरकार की लिखित स्वीकृति के पश्चात् इनमें से कोई भी नाम अपनाया जा सकता है।

(२) व्यापार का क्षेत्र तथा स्वरूप—संलेख मे यह स्पष्ट होना चाहिये कि व्यापार का क्षेत्र स्थानीय, देशीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय है। क्षेत्र का निर्धारण व्यापार

की प्रगति के अनुसार किया जाता है, अतः यह भी स्पष्ट किया जाना चाहिए कि व्यापार किस किस्म का होगा, किस वस्तु मे किया जायगा तथा उसकी क्या-क्या सीमायें होंगी।

(३) साझीदारी की अवधि—साझेदारी सलेख मे यह भी स्पष्ट होना चाहिये कि व्यापार किस किस प्रकार से और कब प्रारम्भ किया जायगा तथा उसकी अवधि क्या होगी। व्यापार एक निश्चित अवधि के लिए हो सकता है और यदि साझेदारी की कोई निश्चित अवधि नही है, तो वह इच्छानुसार कभी भी तोडी जा सकती है।

(४) साझीदारो द्वारा लगाई गई पूंजी—कौन साझेदार कितनी पूंजी तथा किस प्रकार लगायेगा और उनकी पूंजी का क्या अनुपात होगा, इसका भी स्पष्ट उल्लेख साझीदारी सलेख मे होना चाहिए। पूंजी-लेखा चल रहेगा अथवा अचल, यह भी तय हो जाना चाहिए। यदि कोई साझीदार निश्चित पूंजी के अलावा धन लगाता है, *तो क्या ब्याज मिलेगा ? यदि हाँ, तो किस दर से ?*

(५) साझेदारो द्वारा ऋण लेना—क्या आवश्यकता पडने पर साझीदार फर्म से ऋण ले सकते हैं ? यदि हाँ, तो किस सीमा तक तथा वे उस ऋण पर कैसे ब्याज देगे और कैसे उसका भुगतान करेंगे।

(६) लाभ तथा हानि का अनुपात—साझीदारी सलेख मे यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि साझीदारो के बीच लाभ तथा हानि का विभाजन किस प्रकार होगा। यह अनिवार्य नही है कि जिस अनुपात मे उन्होने पूंजी लगाई हो, उसी अनुपात मे लाभ-हानि का विभाजन हो। लाभ-हानि का अनुपात उनकी योग्यता एव कार्यक्षमता, उनका अनुभव, पूंजी लगाने की सामर्थ्य आदि अनेक घटकों पर निर्भर करता है।

(७) साझीदारो का कमीशन एव वेतन—सभी साझीदार कारोबार में समान रूप से समय नही दे सकते, अतः जो व्यक्ति अधिक समय देंगे, क्या उनको अतिरिक्त पारितोषण दिया जायगा ? इसका स्पष्ट उल्लेख साझीदारी सलेख मे होना चाहिए।

(८) साझीदारो द्वारा आहरण—निजी आवश्यकता के लिए साझीदार फर्म से यदि धन ले सकते है, तो सलेख मे ऐसे आहरण की मात्रा, अवधि तथा उससे सम्बंधित अन्य बातो का उल्लेख होना चाहिए। आहरण पर ब्याज की दर क्या होगी ?

(९) पुस्तको एव खातो का अकेक्षण—साझीदारी सलेख मे फर्म के हिसाब किताब रखने का ढङ्ग, व्यापार के हिसाब-किताब की सामयिक जाँच, अन्तिम खातो को बनाने का ढङ्ग आदि का पूर्ण विवरण होना चाहिये।

(१०) अधिकारो पर नियन्त्रण—सामान्यत प्रत्येक साझीदार को फर्म के प्रबन्ध एव सचालन मे भाग लेने का अधिकार होता है, किन्तु व्यवहार मे कार्यों की सुविधानुसार उनके अधिकार मे परिवर्तन होते रहते हैं, अतः समझौते मे अधिकारो

की सीमा तक उन पर नियन्त्रण रखने की विधि का उल्लेख रहना चाहिए, जिससे भविष्य में किसी प्रकार की आपत्ति न उठे।

(११) कार्य का आवटन—समझौते में इस बात का भी स्पष्टीकरण कर देना चाहिये कि कौन व्यक्ति व्यापार में कितना समय तथा योग देगा और व्यापार के सामान्य प्रचलन में उसके क्या कर्त्तव्य होंगे तथा उनका पालन न करने पर क्या कार्यवाही की जा सकेगी।

(१२) प्रवेश तथा रिटायरमेन्ट—अधिनियमानुसार नये साझीदार का प्रवेश पुराने साझीदारों की सर्व सम्मति से होना चाहिये। यदि इस नियम में कोई परिवर्तन करना हो, तो इसका स्पष्ट उल्लेख समझौने में करना चाहिये। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट होना चाहिये कि किन परिस्थितियों में साझेदार का रिटायरमेन्ट होगा।

(१३) साझेदारी का अन्त होना—किन परिस्थितियों में साझेदारी का अन्त होगा—इसका स्पष्ट उल्लेख समझौते में किया जाना चाहिये, अन्यथा फर्म का समापन केवल अधिनियम के अन्तर्गत ही किया जा सकता है।

(१४) व्यापारिक साख—नये साझेदार की नियुक्ति अथवा साझेदारी के भंग होने पर साझेदारी की साख का साझेदारों में किस अनुपात से विभाजन किया जायगा, इसका भी उल्लेख समझौते में करना चाहिये।

(१५) साझेदार की मृत्यु तथा उसके उत्तराधिकारी—किसी साझेदार की मृत्यु की दशा में उसकी सम्पत्ति तथा पूँजी का भुगतान उसके उत्तराधिकारियों को किया जाता है, किन्तु यदि यह राशि व्यापार में ही रहती है और उत्तराधिकारी को साझेदारी के अधिकार दिए जाने हो, तो यह समझौने में पहले ही स्पष्ट कर देना चाहिए। यदि मृतक की राशि को किस्तों में दिया जाय, तो उस पर ब्याज देने की क्या व्यवस्था होगी ?

(१६) साझेदारी में प्रव्याजि या बीमे का विभाजन—साझेदारी में बीमा तो साझेदारी का किया जा सकता है अथवा साझेदारों का। अतः समझौते में यह स्पष्ट होना चाहिए कि उससे प्राप्त धन का विभाजन किस प्रकार किया जावेगा तथा बीमित का क्या अधिकार होगा ?

(१७) साझेदारी से सम्बन्ध विच्छेद—समझौते में यह स्पष्ट होना चाहिए कि किन परिस्थितियों में एक साझेदार फर्म से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर सकता है और उस अधिकार का प्रयोग कैसे किया जायगा ?

(१८) साझेदारी के नियमों का उलघन—यदि कोई साझेदार समझौते का उलघन करता है, तो अन्य साझेदार उसके विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही कर सकते है तथा उसे फर्म से हटा सकते हैं।

(१९) 'मध्यस्थ' वाक्य—यदि साझेदारों में किसी प्रकार का मतभेद हो जाय, तो ऐसी दशा में मध्यस्थ की नियुक्ति कैसे की जायगी, उसके अधिकार क्या होंगे, आदि बातों का उल्लेख भी साझेदारी सलेख में होना चाहिये।

अवयस्क साझीदार
(Minor as a partner)

क्या एक अवयस्क साझेदार हो सकता है—

साझीदारी का सम्बन्ध अनुबन्ध से पैदा होता है। अतः यह नितान्त आवश्यक है कि वे लोग ही साझीदारी मे सम्मिलित किये जा सकते हैं, जिनमे अनुबन्ध करने की क्षमता हो। 'अनुबन्ध करने की क्षमता' (Contractual Capacity) वाक्य के अन्तर्गत इसके तीन प्रधान तत्त्व आते है—(१) पक्षकार वयस्क हो, (२) पक्षकार स्वस्थ मस्तिष्क के हो और (३) किसी राजनियम द्वारा वे अयोग्य घोषित न कर दिये गये हो। इसी स्वर्ण नियम के आधार पर साझीदारी अधिनियम की धारा ३० का यह आदेश है कि कोई भी अवयस्क (Minor) किसी भी फर्म मे साझीदार नही हो सकता। किन्तु वह सब साझीदारो की सहमति से फर्म के लाभो मे सम्मिलित किया जा सकता है।

अवयस्क साझीदार के अधिकार एवं दायित्व—

(१) फर्म की सम्पत्ति एवं लाभ में नियत भाग पाना—ऐसे अवयस्क को फर्म की सम्पत्ति एव लाभ मे ऐसा भाग पाने का अधिकार होगा, जो कि अन्य साझीदारो द्वारा निश्चित कर दिया जाय।

अवयस्क साझीदार के अधिकार एवं दायित्व

(१) फर्म की सम्पत्ति एव लाभ मे नियत भाग पाना।
(२) फर्म के खातो तक पहुंच।
(३) अवयस्क का भाग फर्म के कार्यों के लिये उत्तरदायी है।
(४) केवल फर्म से सम्बन्ध विच्छेद करने की दशा मे वाद का अधिकार।
(५) वयस्क होने पर अपने निर्णय की सार्वजनिक सूचना देना।

यदि साझीदार बनना स्वीकार करे	यदि साझेदार बनना स्वीकार न हो
(१) फर्म के कार्यों के लिये व्यक्तिगत रूप से भी दायी।	(१) सूचना की तिथि, अधिकार व दायित्व अवयस्क के से होगा।
(२) सम्पत्ति तथा लाभो का भाग पूर्ववत् रहेगा।	(२) सूचना देने के बाद के कार्यो के लिये दायी नही।
	(३) सम्पत्ति तथा लाभो मे भाग-पाने के लिये वाद का अधिकार।

(२) फर्म के खातों तक पहुँच—ऐसे अवयस्क की फर्म के खातों तक भी पहुँच होगी, वह उनको जाँच सकेगा तथा उनकी प्रतिलिपि भी प्राप्त कर सकेगा। किन्तु वह फर्म की अन्य पुस्तकों को नहीं देख सकता। पुस्तकों तक अवयस्क की पहुँच न होने का प्रधान कारण यह है कि इनमें ऐसी गोपनीय बातें हो सकती हैं, जो कि साझीदारों तक ही सीमित रहनी चाहियें, जैसे व्यापार के गुप्त भेद, किसी वस्तु के निर्माण का गोपनीय फार्मूला आदि।

(३) अवयस्क का भाग फर्म के कार्यों के लिए उत्तरदायी है—ऐसे अवयस्क का भाग फर्म के कार्यों के लिये उत्तरदायी होगा, किन्तु वह व्यक्तिगत रूप से फर्म के किसी भी कार्य के लिये उत्तरदायी न होगा। इसका स्पष्ट आशय यह है कि एक अवयस्क फर्म के कार्यों के लिए उसी सीमा तक दायी है, जितना कि उसका फर्म में भाग है। व्यक्तिगत रूप से उसे दायी नहीं ठहराया जा सकता।

(४) वाद प्रस्तुत न करना—ऐसा अवयस्क फर्म के साझीदारों पर फर्म की सम्पत्ति अथवा लाभ में अपने भाग का हिसाब देखने या चुकाने के लिए वाद प्रस्तुत नहीं कर सकता। हाँ, फर्म से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करने की दशा में अवश्य ऐसा कर सकता है।

(५) वयस्क होने पर सार्वजनिक सूचना देना—ऐसे अवयस्क को वयस्क होने से अथवा इस बात की जानकारी होने से कि वह साझीदारी के लाभों में शामिल किया जा चुका था, छः माह के भीतर ही किसी भी समय इस बात की सार्वजनिक सूचना (Public Notice) देना आवश्यक है कि उसने उस फर्म में साझीदार बनना अथवा न बनना स्वीकार कर लिया है। यदि वह ऐसी सूचना नहीं देता, तो उपरोक्त ६ माह के बीतने पर वह साझीदार बन जायगा।

यदि अवयस्क साझीदार बनना स्वीकार करता है—

यदि एक अवयस्क, साझीदार बनना स्वीकार कर लेता है, तो वयस्कता प्राप्त करने पर उसके अधिकार एवं कर्त्तव्य इस प्रकार होंगे—

(१) अवयस्क के रूप में उसके अधिकार तथा दायित्व उस तिथि तक रहते हैं जबकि वह साझीदार बन जाता है, परन्तु वह अन्य व्यक्तियों के प्रति फर्म के उन कामों के लिए व्यक्तिगत रूप से भी दायी हो जाता है, जो उसके फर्म के लाभों में शामिल होने के समय से किये गये हैं, और

(२) फर्म की सम्पत्ति तथा लाभों में उसका वही भाग रहेगा, जिस भाग का वह अवयस्क के रूप में अधिकारी था।

यदि अवयस्क साझीदार बनना स्वीकार न करे—

यदि एक अवयस्क वयस्कता प्राप्त करने पर साझीदार बनना स्वीकार नहीं करता है, तो उसके अधिकार व कर्त्तव्य इस प्रकार होंगे—

(१) उसके अधिकार और दायित्व उसकी सार्वजनिक सूचना देने की तिथि तक वे ही रहेंगे, जो कि अवयस्क के होते हैं।

(२) उसका भाग फर्म के उन कामो के लिये दायी न होगा, जो सूचना देने के बाद किये गये हो, और

(३) उसको साझीदारो पर सम्पत्ति तथा लाभो मे अपने भाग के लिए वाद प्रस्तुत करने का अधिकार मिल जायगा।

नये साझीदार का प्रवेश
(Admission of a New Partner)

प्रवेश—

बिना साझीदारो की सर्व सम्मति के कोई भी व्यक्ति नया साझीदार नही बनाया जा सकता। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि सब साझीदारो की राय से ऐसा व्यक्ति हो जिससे फर्म का काम सुचारु रूप से चलता रहे, किन्तु यदि अनुबन्ध के अनुसार किसी एक अनुभवी साझीदार को, नवीन व्यक्ति को साझीदार के रूप मे स्वीकार करने का अधिकार है, तो अन्य साझेदार विरुद्ध होने पर भी उङ्गली नही उठा सकते।

अधिकार एवं दायित्व—

(१) एक नवीन साझीदार, साझीदार बनने के पहिले किये गये कार्यों के लिये उत्तरदायी नही होगा, किन्तु उसके प्रवेश करने के पहले जो कार्य ले लिया गया था और यदि वह अभी तक चल रहा है, तो उसके लिये वह दूसरो के साथ समान रूप से उत्तरदायी होगा।

(२) साझीदार बनने के बाद से फर्म के कार्य के लिये वह दायी होगा।

(३) प्रवेश होने वाले साझीदार को साझीदारी के ठहराव की कुल शर्तों का पालन करना होगा तथा उसको वे सारे अधिकार भी प्राप्त होगे जो अन्य साझीदारो को हैं।

साझीदार का रिटायर्ड होना
(Retirement of a Partner)

'रिटायर' होने से आशय—

निवृत या रिटायर होने से यहाँ आशय यह है कि केवल एक साझीदार तो अपने को पृथक कर ले और शेष साझीदार फर्म के कारोबार को चालू रखें। ऐसी दशा मे फर्म टूटती नही है। यदि किसी एक साझीदार के अलग होने से फर्म टूट जाये, तो इसे 'रिटायरमेण्ट' नही कहेंगे, यह तो फर्म का अन्त होना (Dissolution) कहलायेगा।

रिटायर या निवृत होने की रीति—

एक साझीदार निम्नलिखित तीन रीतियो से निवृत हो सकता है—

(१) अन्य साझीदारो की अनुमति से।

(२) जबकि अनुबन्ध मे ही यह लिख दिया है।

(३) ऐच्छिक साझीदारी मे लिखित सूचना देकर।

रिटायर्ड साझीदार का दायित्व—

(१) रिटायर होने वाला साझीदार अपने रिटायरमेन्ट के पूर्व के फर्म के कार्यों के लिए किसी अन्य पक्षकार के प्रति अपने दायित्व से केवल उसी दशा में मुक्त हो सकता है जबकि वह पुनर्संगठित फर्म के साझीदारों एवं अन्य पक्षकार के साथ इस आशय का ठहराव कर ले।

रिटायर्ड साझीदार का दायित्व

(१)

रिटायरमेन्ट के पूर्व के फर्म के कार्यों के लिये दायी।

(२)

बाद के कार्यों के लिये भी तब तक दायी जब तक सार्वजनिक सूचना न दे।

(३)

उस व्यक्ति के प्रति दायी न होगा, जिसने उसके
साझीदार होने के अन्जान में व्यवहार किया हो।

(४)

निष्क्रिय साझीदार बिना सूचना के भी रिटायर हो सकता है।

(५)

संगठन में हुये परिवर्तनों की जानकारी न रखने वाले
अन्य पक्षों के प्रति दायित्व नव गठित फर्म का होगा
या पूर्व गठित फर्म का, दोनों का नहीं होगा।

(२) रिटायर्ड साझीदार फर्म के कार्यों के लिये तब तक उत्तरदायी होगा जब तक वह अपने निवृत होने की सार्वजनिक सूचना नहीं देता। इस सनियम के पूर्व जन साधारण को सार्वजनिक सूचना के अतिरिक्त प्रत्येक पुराने ग्राहक को भी सूचना देना अनिवार्य था, किन्तु अब केवल सार्वजनिक सूचना ही पर्याप्त होती है।

(३) सार्वजनिक सूचना निवृत हुआ साझीदार अथवा अन्य कोई साझीदार दे सकता है, किन्तु अगर कोई व्यक्ति बिना यह जाने हुये कि वह साझीदार है या नहीं, फर्म से व्यवहार करता है, तो इसके लिये बाहर जाने वाला साझीदार जिम्मेदार न होगा, चाहे सार्वजनिक सूचना दी हो या नहीं।

निवृत होने के पश्चात् भी कुछ परिस्थितियों में निवृत हुआ साझीदार दायी होगा। उदाहरण के लिये, सुरेश, सतीश और रमेश तीन साझीदार हैं। रमेश एक क्रियाशील साझीदार रिटायर हो जाता है और वह सार्वजनिक सूचना भी नहीं देता।

सुरेश और सतीश कारोबार करते हुए किसी जुगेश के प्रति कुछ उत्तरदायित्व ले लेते हैं। ऐसी दशा मे रमेश भी दायी होगा।

(४) एक निष्क्रिय साझीदार (Dorment Partner) बिना किसी सार्वजनिक सूचना के भी रिटायर हो सकता है, क्योकि निष्क्रिय होने के कारण उसके विषय मे सूचना देना या न देना कोई महत्व नही रखता। कोई भी ऋणदाता उसके कारण ऋण नही देता, क्योकि उसकी ख्याति कुछ महत्व नही रखती। उदाहरण के लिए, सुरेश, रमेश और सतीश तीन साझीदार हैं, रमेश निष्क्रिय साझीदार है, जिसको कोई भी ऋणदाता नही जानता। रमेश रिटायर हो जाता है और सार्वजनिक सूचना नहीं देता, फिर वह बाद मे किसी भी ऋण के लिये दायी न होगा।

(५) जब साझीदारी मे नए साझीदार के प्रवेश होने के कारण तथा किसी पुराने साझीदार के निवृत्त होने के कारण कोई परिवर्तन होना है और इस परिवर्तन की जानकारी के बिना कोई अन्य पक्ष फर्म से कुछ व्यवहार करता है, तो ऐसी दशा मे वह अन्य पक्षकार पुरानी फर्म के साझीदारो को दायी ठहरा सकता है अथवा नई फर्म के साझीदारो को, किन्तु वह प्रवेश पाने वाले तथा बाहर जाने वाले दानो साझीदारो को दायी नही ठहरा सकता। उदाहरण के लिये, रमेश, सुरेश, और सतीश श्री नरेश को साझीदारो मे शामिल कर लेते हैं, किन्तु सतीश रिटायर हो जाता है। फर्म का पुराना नाम ही चालू रहता है। इस परिवर्तन की जानकारी के बिना एक ग्राहक फर्म से कुछ व्यवहार करता है। ऐसी दशा मे वह सुरेश सतीश और रमेश को जो पुरानी फर्म के साझीदार हैं, दायी ठहरा सकता है या सुरेश, रमेश और नरेश को, जो कि नई फर्म के साझीदार हैं, किन्तु वह सुरेश, रमेश, सतीश और नरेश सबको दायी नही ठहरा सकता।

साझीदार का निकाला जाना
(Expulsion of a Partner)

साधारणतः बहुमत से एक साझीदार निकाला नही जा सकता, परन्तु यदि बहुमत को ऐसा अधिकार प्रदान किया गया है और यदि वह अधिकार सद्विश्वास के साथ फर्म के हित के लिए प्रयाग किया जाता है, तो वह साझीदार निकाला जा सकता है। निकालने वाले साझीदार को एक नोटिस दिया जाना चाहिए, जिसमे जो अभियोग (Charges) उस पर लगाये गये हैं, सब लिखे हो। निकाले जाने पर फर्म तथा निकाले हुए साझीदार का वही उत्तरदायित्व होगा जो कि निवृत्त होने की दशा मे होता है, अतएव उसे दुहराने की आवश्यकता नही।

साझीदार का दिवालिया होना
(Insolvency of a Partner)

किसी साझीदार के दिवालिया होने की दशा मे निम्नलिखित परिणाम होंगे :–

(१) दिवालिया घोषित किया हुआ साझीदार फर्म का साझीदार नही हो सकता।

(२) जिस दिन दिवालिया होने की आज्ञा दी जाती है (Date of adjudication order) उस तारीख से वह साझीदार फर्म का साझी नही रहता।

(३) यदि अनुबन्ध मे कुछ न लिखा हो, तो एक साझीदार के दिवालिया हो जाने पर फर्म का व्यापार बन्द हो जाता है, किन्तु अनुबन्ध होने की दशा मे फर्म बन्द नही होती।

(४) दिवालिया होने के दिन से उसकी सम्पत्ति फर्म के कार्यों के लिए उत्तरदायी नही होती है।

(५) फर्म दिवालिया साझीदार के कामो की जिम्मेदारी उसके दिवालिया हो जाने के बाद नही लेती है।

साझीदार की मृत्यु

यदि फर्म का व्यापार अनुबन्ध के अनुसार एक साझी की मृत्यु पर बन्द नही होता तो साझी की सम्पत्ति उसकी मृत्यु के बाद फर्म के कामो मे नही लगाई जा सकती और न वह फर्म के कामो की उत्तरदायी होती है। साझीदारो के बीच अनुबन्ध के अनुसार किसी साझीदार की मृत्यु हो जाने पर फर्म टूट जाती है। मृत्यु से जब इस प्रकार फर्म टूट जाती है तो भी शेष साझीदार, जब तक कि टूटने की सार्वजनिक सूचना नही दी गई है, फर्म के कामो के लिये उत्तरदायी होंगे, परन्तु मृतक की भू-सम्पत्ति दायी न होगी।

साझा छोड़ने वालों पर प्रतिबन्ध
(Restrictions on outgoing Partners)

जब एक मनुष्य साझा छोड़ता है, तो उस पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये जाते है, जैसे—

(१) वह फर्म का नाम प्रयोग मे नही ला सकता।

(२) अपने व्यापार को फर्म का व्यापार कहकर प्रसिद्ध नही कर सकता।

(३) फर्म के ग्राहको को तोड़कर वह अपने यहाँ लाने का प्रयत्न नही कर सकता, किन्तु अगर कोई ग्राहक अपने आप आता है। तो सनियम इसके मार्ग मे नही आता।

इनमे से कुछ प्रतिबन्ध अनुबन्ध के द्वारा बढाये जा सकते है। कभी-कभी यह प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है कि उसके साझी न रहने के बाद वह निश्चित अवधि तक निर्दिष्ट स्थानीय सीमाओ के भीतर फर्म के समान कारोबार नही करेगा। ऐसा अनुबन्ध तभी माननीय होगा। यदि अवधि या सीमा अनुचित नही है।

यदि उत्तरजीवी या कायम रहने वाले साझेदार अपने और पृथक होने वाले साझेदारो के बीच हिसाब-किताब का निबटारा किये बिना फर्म की सम्पत्ति से कारोबार चलाते रहें, तो उसके विरुद्ध किसी अनुबन्ध के अभाव मे पृथक होने वाला साझेदार

अपनी इच्छानुसार या तो उस लाभ को पाने का अधिकारी होगा जो उसके साझेदार न रहने के बाद हुआ हो अथवा फर्म की सम्पत्ति में अपने हिस्से की रकम पर ६ प्रतिशत प्रति वर्ष ब्याज पाने का अधिकारी होगा। वह ऐसे लाभ को भी पाने का अधिकारी होगा, जो फर्म की सम्पत्ति में उसके हिस्से के उपभोग के कारण हुआ ठहराया जा सके।

यदि साझेदारी के अनुबन्ध में कोई परिवर्तन होता है, तो ऐसी दशा में परिवर्तन से पूर्व दी हुई कोई चालू गारन्टी अथवा फर्म के सम्बन्ध में किसी अन्य पक्ष को दी गारन्टी समाप्त हो जाती है। उदाहरण के लिए, एन० सी० मुकर्जी नामक एक फर्म है। सुरेश उसका खजान्ची है। सतीश ने सुरेश के आचरण के सम्बन्ध में फर्म को गारन्टी दी। बाद में फर्म के अनुबन्ध में परिवर्तन हो जाता है और परिवर्तनानुसार फर्म का नाम ए० सी० मुकर्जी एण्ड सन्स हो जाता है। ऐसी दशा में सतीश की गारन्टी का अन्त हो जायगा।

STANDARD QUESTIONS

1. Enumerate the rights, duties and responsibilities of a partner.
2. State the rules regulating the mutual relations of partners in the absence of any contract between them.
3. Discuss fully the relations of partners to third parties.
4. Explain clearly the term "Implied authority of a partner to bind the firm" State the acts for which a partner has no implied authority to bind the firm
5. Is it a fact that the law of partnership is a branch of the law of Principal and Agent ? Examine this question in relation to the liability of the firm for the acts of its partners in the matter of contracts made by them for the firm.
6. How far is a firm liable to third parties for acts of an individual partner ? Can a firm be liable for the wrongful acts of a partner ?
7. Explain the doctrine of estoppel or 'Holding out' in its application to partnership.
8. Can a minor be admitted as a partner in a firm and can be sue or be sued in the name of a firm ? Is there any protection afforded by law to minor partner with regard to the

benifits and liabilities arising to him out of business transactions ?

9. Explain the position of a partner in regard to :
   (a) Liabilities existing prior to the time when he is a partner.
   (b) Liabilities at the time of his retiring
   (c) Liabilities incurred by the firm when he has retired

10 Specify with reasons the important clauses which should be included in a properly framed partnership agreement

11. What restrictions are usually imposed on an outgoing partner ?

अध्याय ७

साझेदारी संस्था का अन्त

" 'फर्म के अन्त' की दशा मे साझीदारी का अन्त भी अनिवार्य रूप से हो जाता है, किन्तु 'साझीदारी के अन्त' की दशा मे यह अनिवार्य नहीं है कि फर्म का भी अन्त हो जाय।"

साझीदारी के अन्त से आशय—

एक साझेदारी सस्था का अन्त तभी होता है जब सभी साझीदारो का सम्बन्ध आपस मे टूट जाय। 'साझीदारी का अन्त' (Dissolution of Partnership) तथा 'फर्म का अन्त' (Dissolution of Firm), इन दोनो मे अन्तर है और यह अन्तर सर्वप्रथम साझीदारी अधिनियम सन् १९३२ के द्वारा ही प्रकाश मे आया। 'फर्म के अन्त' की दशा मे साझीदारी का भी अन्त अनिवार्य रूप से हो जाता है, किन्तु 'साझीदारी के अन्त' की दशा मे यह अनिवार्य नही कि फर्म का भी अन्त हो जाय। उदाहरण के लिये, किसी एक साझेदार की मृत्यु या निवृत्त होने पर अथवा निकाल दिये जाने पर यदि और सब साझी मिलकर कार्य कर रहे है, तो 'फर्म का अन्त' नही कहा जायगा, जब हर एक साझी फर्म से अपना नाता तोड दे और उसके व्यापार के सचालन का कार्य बन्द कर दे तभी 'फर्म का अन्त' कहलायेगा।

साझेदारी के समापन की रीतियाँ—

(१) ठहराव द्वारा टूटना—*जिस प्रकार से अनुबन्ध के द्वारा फर्म का जन्म होता है, उसी प्रकार अनुबन्ध के ही अनुसार सब साझेदारों की सहमति से फर्म टूट सकती है।*

(२) अनिवार्य रूप से टूटना—अनिवार्य रूप से एक फर्म का अन्त हो जायगा, यदि—

(अ) सब साझेदार या एक को छोड़कर शेष सब साझेदार दिवालिया हो जायें।

(ब) फर्म का व्यापार अवैध हो जाय, जैसे कि फर्म में जिस वस्तु का व्यापार होता है, उसके क्रय विक्रय पर निषेध (Prohibition) हो जाय अथवा फर्म में साझेदारों की संख्या नियत संख्या से बढ़ जाय अथवा विदेश का साझी लड़ाई होने पर विदेशी शत्रु घोषित कर दिया जाय।

(३) कुछ संयोगों की दशा में अन्त—यदि अनुबन्ध में इसके विपरीत कुछ नहीं लिखा है, तो—

(अ) एक साझेदार की मृत्यु पर,

(आ) एक साझेदार के दिवालिया हो जाने पर,

(इ) किसी साझेदार के फर्म को त्याग देने पर,

(ई) नियत अवधि की समाप्ति पर, अथवा

साझेदारी के समापन की रीतियाँ

(१) ठहराव द्वारा टूटना।

(२) अनिवार्य रूप से टूटना :—

(अ) सब या एक को छोड़कर सब साझेदारों का दिवालिया होना।

(ब) फर्म का व्यापार अवैध होना।

(३) कुछ संयोगों की दशा में अन्त :—

(अ) साझेदार की मृत्यु,

(आ) दिवालिया होना,

(इ) फर्म को त्याग देना,

(ई) नियत अवधि की समाप्ति,

(उ) नियत कार्य की समाप्ति।

(४) ऐच्छिक साझेदारी का सूचना द्वारा टूटना।

(५) न्यायालय द्वारा तोड़ना :—

(अ) जब कोई साझेदार पागल हो जाय।

(आ) कर्त्तव्य पालन में स्थायी रूप से असमर्थ।

(इ) दुराचरण का दोषी।

(ई) जान बूझकर अनुबन्ध का उल्लंघन।

(उ) तीसरे पक्ष को हित का हस्तान्तरण।

(ऊ) फर्म को अत्यधिक हानि।

(ए) अन्य न्यायोचित आधार जैसे असन्तोष की दशा में।

(उ) नियत कार्य की समाप्ति पर फर्म का अन्त हो जायगा ।

(४) ऐच्छिक साझीदारी का सूचना द्वारा टूटना—ऐच्छिक साझेदारी की दशा में जब कोई साझेदार दूसरे साझेदारों को लिखित नोटिस देकर साझा भंग करने की अपनी इच्छा प्रकट करता है, तो फर्म का अन्त माना जायेगा । एक बार लिखित नोटिस दे दिये जाने पर फिर वापिस नहीं लिया जा सकता, जब तक कि जिनको वह दिया गया है, सहमत न हो । यदि सूचना में भंग होने की कोई तारीख दी है, तो उसी तारीख से फर्म का अन्त समझना चाहिए, किंतु यदि कोई विशेष तारीख नहीं दी है, तो सूचना की तिथि से ही फर्म का अन्त माना जावेगा ।

(५) न्यायालय द्वारा तोड़ना—किसी साझीदार के अभियोग चलाने पर न्यायालय नीचे लिखे हुये किसी एक आधार पर भी साझीदारी का अन्त कर सकता है :—

(अ) *यदि कोई साझीदार पागल हो जाय । किसी साझीदार के पागल होने की दशा में फर्म का एकदम अन्त हो जायगा । साझीदारों का फर्म को बद्ध करने का अनुमानित अधिकार रहेगा और उस पागल साझीदार की सम्पत्ति भी तब तक दायी रहेगी जब तक कि फर्म का पूर्णतया अन्त घोषित न हो जाय । पागल साझीदार के कार्यों से भी फर्म बद्ध होगी, जब तक कि न्यायालय अंत घोषित न कर दे, अतएव पागल व्यक्ति के संरक्षक को चाहिए कि फर्म के अन्त के लिए न्यायालय में सूचना दे दे । संरक्षक द्वारा अथवा किसी अन्य साझीदार द्वारा प्रार्थना-पत्र पर न्यायालय फर्म को तोड़ने की आज्ञा दे सकता है । आज्ञा की तिथि से ही फर्म का अन्त माना जावेगा । एक निष्क्रिय साझीदार के पागल होने की दशा में न्यायालय फर्म के अन्त के लिए आज्ञा प्रदान नहीं करेगा, जब तक कि अन्त के लिए कोई विशेष कारण न हो ।*

(आ) *यदि वाद प्रस्तुत करने वाले साझीदार के अतिरिक्त कोई साझीदार अपने साझी की हैसियत से कर्त्तव्य पालन करने में स्थायी रूप से असमर्थ हो जाय, जैसे—अंधा होने की दशा में अथवा लकवा लगने की दशा में या आजीवन कारावास की दशा में । ऐसी आशा की जाती है कि सभी साझी फर्म की देखभाल करते हैं, अतएव किसी एक के असमर्थ होने पर फर्म के अन्त के लिए आज्ञा दी जा सकती है ।*

(इ) *यदि वाद प्रस्तुत करने वाले के अतिरिक्त कोई साझीदार किसी ऐसे दुराचार (Mis-conduct) का दोषी हो (तीसरे पक्ष के साथ) जिससे व्यापार को हानि पहुंचने की आशा हो, तो फर्म के अन्त के लिए न्यायालय आज्ञा दे सकता है । यह कोई आवश्यक नहीं कि दुराचार कारोबार का काम करते हुए ही किया गया हो । दुराचार के*

कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—जुआ खेलना, किसी ग्राहक के रुपये का दुरुपयोग, बिना टिकट सफर करने के कारण पकडे जाना, इत्यादि ।

(ई) यदि अभियोग चलाने वाले साझी के अतिरिक्त कोई साझी जान बूझ कर या लगातार फर्म सम्बन्धी मामले में अनुबन्ध की धाराओं का उलघन इस प्रकार करता है कि दूसरे साझियों को इसके साथ मिल कर व्यापार करना असम्भव हो, फर्म के अन्त के लिये आपस में बराबर झगड़ो का होना, किसी साझीदार द्वारा खातों का गड़बड़ करना, इत्यादि ।

(उ) यदि वाद प्रस्तुत करने वाले साझीदार के अतिरिक्त किसी साझी ने अपना हित तीसरे पक्ष को हस्तान्तरित कर दिया हो ।

(ऊ) यदि साझीदारी का व्यापार बिना हानि से नहीं चलाया जा सकता, तो ऐसी दशा में भी न्यायालय अन्त की आज्ञा दे सकता है ।

(ए) अन्य कोई आधार, जिसके कारण फर्म का तोड़ना उचित तथा न्यायपूर्ण है । लार्ड केर्नस् एक केस* के निर्णय में लिखते हैं : 'साझीदारी के मामले में कभी ऐसी बात भी हो सकती है, जिसके कारण सहयोग बन्द हो जाये और असहयोग की दशा में फर्म का अन्त करना ही उचित होता है ।' उदाहरण के लिय, अपने सह साझी की स्त्री के साथ बुरा व्यवहार करने की दशा में सहयोग न रहना स्वाभाविक है और ऐसी दशा मे फर्म का अन्त करना ही उचित तथा न्यायपूर्ण है ।

फर्म के टूटने के सम्बन्ध में यह न भूलना चाहिए कि जब तक टूटने की सार्वजनिक सूचना न दे दी जाय, साझीदार अन्य पक्षकारों के प्रति, उनमें से किसी के द्वारा किये गये उस काम के लिए उत्तरदायी होगा, जो टूटने से पहले किये जाने की दशा में फर्म का काम होता । कोई भी साझीदार उस फर्म के टूटने के विषय की सार्वजनिक सूचना दे सकता है ।

उदाहरण—सुरेश तथा सतीश साझीदार हैं । वे एसा ठहराव करते हैं जिसके द्वारा १ जनवरी सन् १९५८ से फर्म का अन्त माना जायगा, किन्तु वे इस बात की कोई सार्वजनिक सूचना नहीं देते तथा काम चालू रखते हैं । बाद में सुरेश, रमेश के नाम एक बिल पर पृष्ठांकन करता है । रमेश फर्म के अन्त के विषय में कुछ भी नहीं जानता । ऐसी दशा में फर्म उत्तरदायी होगी ।

फर्म के टूटने पर साझे का हिसाब-किताब—

साझीदारी के बन्द होने पर यह आवश्यक हो जाता है कि सारा हिसाब देख-भाल कर चुकता कर दिया जाय । फर्म के टूटने पर साझीदारों का यह कर्त्तव्य होगा कि वे फर्म की सम्पत्ति को फर्म के ऋण दायित्वों के चुकाने में लगाये और जो भी

---

* Lord Cairns in Atwood Vs Maude (1868) L. R. Page 573.

शेष बचे उसे साभीदारो अथवा उनके प्रतिनिधियो मे उनके अधिकारो के अनुसार बँटवा दें। फर्म का अन्त हो जाने पर भी हिसाब-किताब का निपटारा करने के लिये जब तक कि सारी बातें निपट न जायें, प्रत्येक साभीदार का फर्म को बद्ध करने वाला अनुमानित अधिकार, उनके अधिकार तथा दायित्व पूर्व की ही भाँति चालू रहेंगे।

हिसाब-किताब के निपटारे की विधि—

हिसाब-किताब के निपटारे के सम्बन्ध मे निम्नलिखित आदेश हैं :—

हानि की पूर्ति सर्वप्रथम लाभ से की जावेगी, इसके बाद पूँजी से और अन्त मे यदि आवश्यकता हुई तो साभीदार उस अनुपात मे और धन लगावेंगे, जिसमे कि वे लाभ के अधिकारी थे। फर्म की सम्पत्ति का प्रयोग नीचे लिखी रीति से होगा :—

(१) अन्य पक्षकारो के प्रति फर्म का ऋण चुकाने मे।

(२) प्रत्येक साभीदार ने जो धन ऋण के रूप मे पूँजी के अतिरिक्त फर्म मे दिया हो, उसको उसी अनुपात मे अदा करने मे।

(३) प्रत्येक साभीदार की पूँजी समानुपात से वापिस करने मे।

(४) इसके बाद धन के बचने पर वह साभीदारो को उनके लाभ-हानि के अनुपात मे बाँट दिया जायेगा। फर्म का ऋण तथा साभीदारो के व्यक्तिगत ऋण के चुकाने के सम्बन्ध मे अग्रलिखित आदेश है।

फर्म की सम्पत्ति सबसे पहले फर्म के ऋण को चुकाने मे लगाई जावेगी। इसके बाद शेष सम्पत्ति मे से प्रत्येक साभीदार अपने हित तक अपना व्यक्तिगत ऋण अदा कर सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक साभीदार सबसे पहले अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति मे से अपने व्यक्तिगत ऋण अदा करेगा। फर्म के लेनदारो को (यदि फर्म की सम्पत्ति उनके लिए काफी नही है) साभेदारो की व्यक्तिगत सम्पत्ति को छूने का तब तक अधिकार नही है जब तक कि साभीदार अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति से अपने व्यक्तिगत ऋण पूरे अदा न कर ले।

अगर कोई साभीदार फर्म के टूटने के बाद, लेकिन हिसाब किताब का पूर्ण निपटारा होने के पूर्व, फर्म के नाम अथवा फर्म की सम्पत्ति से कोई लाभ उठाता है तो उसका कर्तव्य है कि ऐसे लाभ का पूरा हिसाब फर्म को दे तथा शेष साभेदारो अथवा मृतक साभीदार के प्रतिनिधियो को भी उस लाभ मे भाग दे।

अगर किसी साभीदार ने किसी निश्चित अवधि की साभेदारी मे प्रवेश होते समय कोई प्रीमियम दिया हो और यदि वह फर्म उस अवधि के समाप्त होने के पहले ही टूट जाय, तो वह उस धन को अथवा उसके ऐसे अंश को जो उचित हो, वापिस पाने का अधिकारी होगा। यदि साभेदारी नीचे दिये हुए किसी कारण से समाप्त हुई है, तो उसको यह अधिकार नही होगा—

(१) किसी साभीदार की मृत्यु से,

(२) प्रीमियम देने वाले साभीदार के दुराचरण के कारण, अथवा

(३) उस अनुबन्ध के अनुसार, जिसमे यह लिखा है कि प्रीमियम अथवा उसका कोई भाग वापिस नही दिया जायगा।

यदि साभेदारी का अन्त—

(४) बिना किसी पक्ष की गलती से,

(५) दोनो पक्ष की गलती से,

(६) प्रीमियम पाने वाले साभीदार की गलती से, अथवा

(७) प्रीमियम पाने वाले साभीदार के दिवालिया होने से हुआ है तो अग्रिम धन अदा करने वाला पक्षकार उस धन का अनुपातिक भाग पाने का अधिकारी होगा। उदाहरण के लिये, सुरेश तथा सतीश १० वर्ष के लिये साभीदार हैं। सुरेश, सतीश को १,०००) का प्रीमियम देता है। आठ वर्ष बाद दोनो मे झगडा होता है, वास्तव मे दोनो की गलती है, अतएव फर्म का अन्त कर दिया जाता है। ऐसी दशा मे सुरेश २००) प्रीमियम सतीश से वापिस पाने का अधिकारी है।

अगर कोई अनुबन्ध जिसमे साभेदारी पैदा होनी हो, किसी पक्षकार के कपट अथवा मिथ्या वर्णन के आधार पर रद्द हो जाये, तो रद्द करने वाले पक्षकार को धारा ५२ के अन्तर्गत निम्न अधिकार होंगे—

(१) किसी ऐसे धन पर विशेषाधिकार (Right of lien) अथवा उसको रोक रखने का अधिकार, जो उसने फर्म के हिस्से खरीदने के लिए अथवा पूँजी के रूप में दिया हो।

(२) फर्म के ऋण मे जो धन उसने चुकाया हो उसके विषय मे फर्म के ऋणदाताओं के रूप मे अपना पद कायम रखने का अधिकार, और

(३) उस साभेदार या साभीदारो से क्षति-पूर्ति कराने का अधिकार जो फर्म के विरुद्ध कपट अथवा मिथ्या वर्णन के दोषी हो।

फर्म के टूटने पर साभीदारो पर प्रतिबन्ध—

(१) किसी विपरीत अनुबन्ध के अभाव म फर्म के टूटने पर प्रत्येक साभीदार एक दूसरे को ऐसा कारोबार करने मे रोक सकता है :—

(अ) जिसमे फर्म का वही नाम प्रयोग मे आता हो, अथवा

(ब) जिसमे फर्म की सम्पत्ति प्रयोग की जाती हो। जब तक कि फर्म के हिसाब-किताब का पूरा निपटारा न हो जाये, तब तक कोई साभीदार ऐसा कारोबार नहीं कर सकता। इसका केवल एक अपवाद है और वह यह है कि जब कोई साभीदार फर्म की साख खरीद लेता है, तो उक्त प्रतिबन्ध उस पर लागू न होगा।

(२) व्यापार मे रोक लगाने वाला ठहराव भी वैध होगा, अर्थात् साभीदार ऐसा ठहराव कर सकते हैं कि फर्म टूटने की दशा मे वे सब अथवा उनमे से कुछ निर्दिष्ट सीमाओं के भीतर अथवा निश्चित अवधि तक फर्म से मिलता-जुलता कारोबार नहीं करेंगे।

फर्म के टूटने पर साख—

फर्म के टूटने पर हिसाब-किताब का निपटारा करने के लिए फर्म की साख भी फर्म की अन्य सम्पत्ति में ही गिनी जायेगी। फर्म की साख भी अन्य सम्पत्ति की ही भाँति अलग से अथवा सम्पत्ति के साथ बेची जा सकती है।

जब फर्म की साख बेच दी जाती है, तो साझेदार फर्म के टूटने के बाद भी क्रेता से प्रतियोगिता करने वाला कारोबार कर सकता है तथा अपने कारोबार का विज्ञापन भी कर सकता है, लेकिन :—

(१) वह फर्म का नाम प्रयोग नहीं कर सकता है।

(२) वह ऐसा भी प्रदर्शन नहीं कर सकता कि वह फर्म का कारोबार करता है।

(३) वह उन लोगों को भी जबरदस्ती अपनी ओर नहीं खींच सकता, जो कि टूटने के पहले फर्म के ग्राहक थे।

साख के विक्रय के बाद कोई साझीदार साख के क्रेता से ऐसा अनुबन्ध कर सकता है कि वह (साझेदार) एक निश्चित समय तक अथवा निर्दिष्ट सीमाओं के भीतर फर्म के कारोबार से मिलता-जुलता कारोबार नहीं करेगा। ऐसा अनुबन्ध भी वैध होगा।

फर्म की साख के साथ फर्म का नाम भी बिकता है और वास्तव में फर्म की साख के विक्रय से आशय फर्म के नाम के विक्रय से ही है। एक उदाहरण इस सम्बन्ध में बड़ा ही सुन्दर है। मेडम एलिस के नाम से एक व्यक्ति 'क' कारोबार करता था। मेडम एलिस 'क' की स्त्री का नाम था। 'क' ने फर्म के साथ फर्म की साख भी बेच दी, किन्तु उसने क्रेता के सम्मुख एक शर्त यह रखी कि वह उसकी बीबी का ही नाम केवल न प्रयोग करे।—'मेडम एलिस एण्ड कम्पनी' नाम रखे। क्रेता ने यह स्वीकार न किया। इसमें यह फैसला किया गया कि क्रेता केवल 'मेडम एलिस' का ही नाम प्रयोग कर सकता है, क्योंकि फर्म की साख से आशय इस नाम से ही है।*

STANDARD QUESTIONS

1. In what different ways can a firm be dissoloved (a) with and (b) without the intervention of the court ?
2. What are the consequences of the dissolution of a firm?

* Chatteris Vs. Isaacson (1887) 57. L. T. 177.

How do you describe the rights of the creditors after dissolution ?

3 Under what circumstances may a firm be dissolved voluntarily compulsorily ?

4. State the rules regulating the mode of settlement of accounts after dissolution.

अध्याय ८

साझेदारी का रजिस्ट्रेशन

रजिस्ट्री कराने की विधि—

फर्म की रजिस्ट्री कराना अनिवार्य नही होता, यदि साझीदार चाहे तो वे फर्म की रजिस्ट्री करा सकते हैं। रजिस्टर्ड कराने के लिए एक प्रपत्र भर कर नियत शुल्क के साथ रजिस्ट्रार को भेजना पडता है। इस प्रपत्र पर प्रत्येक साझीदार के हस्ताक्षर होने चाहिये। इसमे निम्नलिखित सूचना देनी चाहिए —

(१) फर्म का नाम।

(२) फर्म का स्थान अथवा फर्म के कारोबार करने का मुख्य स्थान।

(३) अन्य स्थानो का नाम, जहा पर फर्म का व्यापार चलता है।

(४) वह तिथि जबकि प्रत्यक साझीदार फर्म मे सम्मिलित हुआ है।

(५) हर साझीदार का नाम व स्थाई पता।

(६) साझेदारी की अवधि।

प्रपत्र प्रत्येक साझीदार द्वारा प्रमाणित भी होना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि फर्म के नाम म नीचे लिखा शब्द अथवा ऐसा कोई शब्द, जिससे केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकार की स्वीकृति, पुष्टि या सरक्षण स्पष्ट या गर्भित रूप से प्रगट होता है, नही होना चाहिए—किङ्ग, क्वीन, क्राउन, एम्परर आदि। जब रजिस्ट्रार को यह विश्वास हो जावे कि रजिस्ट्री सम्बन्धी सभी आदेशो का पूर्णतया पालन किया गया है तो वह उस प्रपत्र को फर्मों के रजिस्टर मे दर्ज कर लेगा और तत्पश्चात् फर्म की रजिस्ट्री हो जायगी।

रजिस्ट्रार को परिवर्तन की सूचना—

निम्नलिखित विषयो की सूचना भी नियत शुल्क के साथ रजिस्ट्रार को अवश्य भेजनी चाहिए :—

(१) जब किसी रजिस्ट्री किये हुए फर्म के नाम मे या कारोबार के मुख्य स्थान मे परिवर्तन हो।

(२) जब फर्म किसी स्थान पर अपना कारोबार बन्द करे या किसी नवीन स्थान मे कारोबार खोले।

(३) जब फर्म का कोई साझीदार अपना नाम या स्थाई पता बदले।

(४) जब रजिस्टर्ड फर्म के सगठन मे कोई अन्तर हो।

(५) जब कोई ऐसा अवयस्क, जो रजिस्टर्ड फर्म के लाभो मे शामिल कर लिया गया हो, वयस्क हो जावे और उस फर्म का साझेदार बनना या न बनना पसन्द करे।

फर्म के रजिस्टर मे किसी गलती को सुधारना रजिस्ट्रार का काम है और सब साझेदारो की ओर से प्रार्थना-पत्र आने पर वह गलती को सुधार सकता है। धारा ६५ के अन्तर्गत, किसी न्यायालय की आज्ञा पर भी रजिस्टर मे रजिस्ट्रार द्वारा सुधार किया जा सकता है।

धारा ६६ के अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति नियत शुल्क देकर रजिस्टर ऑफ फर्मस् को जांच सकता है। अगली धारा ६७ के अन्तर्गत, प्रार्थना-पत्र द्वारा कोई भी व्यक्ति नियत शुल्क देकर रजिस्टर के किसी भाग को भी पा सकता हैं। कोई लेख अथवा सूचना, जो फर्मों के रजिस्टर मे लिखी जावे, उस व्यक्ति के विरुद्ध, जिसने उस लेखे अथवा सूचना पर हस्ताक्षर किये हो, उसमे कही गई घटना के बारे मे अकाट्य साक्ष्य (Evidence) होगी।

रजिस्ट्री न होने का प्रभाव—

रजिस्ट्री कराना या न कराना फर्म की इच्छा पर निर्भर होता है, किन्तु रजिस्ट्री न कराने से साझीदारी का ठहराव अथवा साझीदारों तथा अन्य पक्षो के बीच के ठहराव व्यर्थ न होगे। धारा ६९ के अन्तर्गत रजिस्ट्री न कराने का निम्नलिखित प्रभाव होगा :—

रजिस्ट्री न होने के प्रभाव

(१) कोई साभेदार अन्य साभेदारो के विरुद्ध वाद प्रस्तुत नही कर सकता।

(२) कोई साभेदार फर्म के विरुद्ध वाद प्रस्तुत नही कर सकता।

(३) फर्म भी किसी साभेदार के विरुद्ध वाद प्रस्तुत नहीं कर सकती।

(४) फर्म अन्य पक्षो के विरुद्ध भी वाद प्रस्तुत नही कर सकती।

(५) अन्य पक्ष फर्म के विरुद्ध वाद प्रस्तुत कर सकते हैं।

निम्नलिखित अधिकारो पर प्रभाव नहीं

(अ) फर्म तोडने, टूटी हुई फर्म के हिसाब व सम्पत्ति पाने का साभेदार का अधिकार।

(आ) अन्य पक्षो का साभेदार के विरुद्ध वाद प्रस्तुत करने का अधिकार।

(इ) सरकारी रिसीवर का अधिकार।

(ई) भारत से बाहर की फर्मों के साभेदार।

(उ) १००) से कम के दावे।

(१) **कोई साझीदार साझीदारों के विरुद्ध वाद प्रस्तुत नही कर सकता**—जब तक फर्म की रजिस्ट्री न हुई हो और वाद प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति का नाम फर्म के रजिस्टर मे साझीदारो के रूप मे न लिखा हो, तब तक वह या उसका प्रतिनिधि किसी अनुबन्ध द्वारा प्राप्त या अधिनियम द्वारा दिये गये अधिकार प्रवर्तित (Enforce) कराने के लिये फर्म के अन्य साझेदारो के विरुद्ध वाद प्रस्तुत नही कर सकता।

(२) **कोई साझीदार फर्म के विरुद्ध वाद प्रस्तुत नही कर सकता**—कोई भी साझीदार फर्म के विरुद्ध वाद प्रस्तुत नही कर सकता, क्योंकि फर्म का साझीदारो से कोई अलग कानूनी अस्तित्व नही होता और फर्म साझीदारो का ही सामूहिक रूप है। अतः चूँकि साझीदारो के विरुद्ध वाद प्रस्तुत नही किया जा सकता, इसलिये साझीदारो के सामूहिक रूप 'फर्म' के विरुद्ध भी नही किया जा सकता।

(३) **फर्म भी किसी साझीदार के विरुद्ध वाद प्रस्तुत नही कर सकती**—जब तक फर्म की रजिस्ट्री न हो जाय तब तक फर्म (अथवा उसकी ओर से कोई भी साझीदार) किसी भी साझेदार के विरुद्ध वाद प्रस्तुत नही कर सकती, क्योंकि उसका अपना पृथक वैधानिक अस्तित्व नही होता।

(४) **फर्म अन्य पक्षों के विरुद्ध भी वाद प्रस्तुत नही कर सकती**—यदि फर्म का रजिस्ट्रेशन नहीं कराया गया है, तो फर्म (या उसकी ओर से कोई अन्य व्यक्ति) किसी अन्य पक्ष के विरुद्ध वाद प्रस्तुत नही कर सकती।

(५) **अन्य पक्ष फर्म के विरुद्ध वाद प्रस्तुत कर सकते हैं**—फर्म की रजिस्ट्री न होने का अन्य पक्षकारो के अधिकार पर कोई प्रभाव नही पडता, वे फर्म के विरुद्ध वाद प्रस्तुत कर सकते हैं।

रजिस्ट्री न होने से निम्नलिखित अधिकारों पर कोई प्रभाव नहीं—

(अ) कोई अन्य पक्ष फर्म अथवा फर्म के किसी भी साझीदार के विरुद्ध वाद प्रस्तुत करने का अधिकार रखेगा।

(आ) किसी साझीदार को अपनी फर्म के तोडने के लिये अथवा टूटी हुई फर्म के हिसाब के लिये वाद प्रस्तुत करने का अधिकार अथवा टूटी हुई फर्म की सम्पत्ति उगाहने का अधिकार रहेगा।

(इ) किसी सरकारी रिसीवर को किसी दिवालिया साझीदार की सम्पत्ति को उगाहने का अधिकार रहेगा।

(ई) उन फर्मों अथवा उनके साझीदारो के अधिकार पर भी कोई प्रभाव नही पडेगा, जिसका कि कारोबार भारतवर्ष के राज्यो मे नही है।

(उ) किसी ऐसे वाद अथवा प्रति-प्रार्थना के दावे पर भी जो १००) से अधिक न हो, प्रभाव नही पडेगा।

रजिस्ट्री कराने के लाभ—

यद्यपि रजिस्ट्री कराना फर्म की स्वेच्छा पर निर्भर है, किन्तु इससे नीचे लिखे विशेष लाभ होते हैं :—

(१) फर्म को लाभ—यदि फर्म की रजिस्ट्री नही है, तो वह दीवानी कचहरी मे किसी अन्य पक्ष के विरुद्ध अपने अधिकारो के लिये वाद प्रस्तुत करने का अधिकार नही रखती। ऐसी फर्म का साझीदार भी किसी अन्य पक्ष अथवा अपने ही साथी साझीदारो के विरुद्ध वाद प्रस्तुत नही कर सकता। (हाँ, वह फर्म के टूटने के लिये अवश्य वाद प्रस्तुत कर सकता है)।

(२) फर्म से सम्बन्धित अन्य पक्ष वालो को लाभ—यदि फर्म की रजिस्ट्री हो गई है तो फर्म सम्बन्धी विधान (Constitution of the firm) का प्रत्येक शब्द अकाट्य होगा और कोई भी साझीदार, जिसका कि नाम रजिस्टर मे प्रदर्शित है, उन शब्दो के विरुद्ध नही जा सकता अथवा यह नही कह सकता कि मैं साझीदार नही हूँ। इस बात से स्वाभाविक है कि अन्य पक्ष वालो को लाभ होगा, क्योंकि साझीदार अपने दायित्व से पीछे नही हट सकते।

(३) प्रवेश करने वाले साझीदार को लाभ—यदि फर्म की रजिस्ट्री हो गई है तो प्रवेश करने वाला साझीदार अपने अधिकार एव भाग के लिये भली भाँति लड सकता है, किन्तु रजिस्ट्री न होने की दशा मे उसको अन्य साझीदारो की ईमानदारी पर ही निर्भर रहना पडेगा। हा, वह फर्म के टूटने के लिये वाद प्रस्तुत कर सकता है, चाहे फर्म की रजिस्ट्री हुई हो या नहीं।

(४) पृथक होने वाले साझेदार का लाभ—एक मृत अथवा दिवालिया साझेदार की भू-सम्पत्ति तो उसकी मृत्यु अथवा दिवालिया होने के पश्चात किये गये फर्म के कामो के लिये उत्तरदायी न होगी, किन्तु यदि कोई साझेदार फर्म से निकाल दिया गया है अथवा किसी साझेदार ने आर्थिक अवस्था या अन्य किसी कारण से अपने

को फर्म से प्रथक कर लिया है, तो वे पृथक होने के पश्चात् भी फर्म के प्रत्येक कार्य के लिये दायी होंगे। यहाँ यह नोट करने की बात है कि यदि फर्म की रजिस्ट्री हो गई होती तो ऐसे पृथक होने की सूचना रजिस्ट्रार को देना आवश्यक हो जाता तथा इसकी सार्वजनिक सूचना भी दे दी गई होती और तब ऐसे साझीदार पृथक होने की तिथि के बाद से फर्म मे किसी काम के लिये दायी न होते।

STANDARD QUESTIONS

1 Describe the law in India regarding the registration of partnerships

2 What are the legal consequences of non registration of firms ?

3. Are there any advantages of registration ? Discuss them carefully.

अध्याय ६

कम्पनी का उद्गम, परिभाषा एवं विशेषतायें

"संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल एक अदृश्य, अमूर्ति तथा कृत्रिम व्यक्ति है, जिसका अस्तित्व वैधानिक होता है और जो विधान निर्मित होती है।"

कम्पनी का उद्गम तथा विकास—

सयुक्त स्कन्ध कम्पनियो (Joint stock companies) के विकास का इतिहास सचमुच बडा रोचक है। वर्तमान मशीन युग के पूर्व व्यापार एव उद्योग के क्षेत्र मे मुख्यत एकल स्वामित्व तथा साझीदारी की सस्थाओ का ही बोलबाला था, क्योंकि उस युग की परिस्थितियो मे अन्य किसी ढग से व्यापारिक सगठन सम्भव भी न था। वह था गृह उद्योग प्रणाली का युग। उस समय लोगो के पास पूँजी की मात्रा सीमित

थी, आवश्यकतायें भी आज की अपेक्षा कम थी, अतएव छोटी मात्रा मे तथा कुटीर-आधार पर वस्तुओ का उत्पादन किया जाता था। बाजार का क्षेत्र भी सकुचित था, किन्तु अठारहवी शताब्दी के मध्य के उपरान्त जबसे इङ्गलैंड मे औद्योगिक क्रान्ति का आन्दोलन शुरू हुआ तथा मशीनो एवं शक्ति का प्रचलन हुआ तब से औद्योगिक एवं वाणिज्य जगत मे अनेक चमत्कारपूर्ण परिवर्तन हुए। विश्व का आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक कलेवर बदल गया। व्यापार के स्वरूप मे भी क्रमशः परिवर्तन होने लगे। बडी मात्रा मे कारखाना-प्रणाली पर वस्तुओं का उत्पादन होने लगा। बाजार का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया। विश्व की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अधिक मात्रा मे वस्तुओ के उत्पादन की आवश्यकता का अनुभव किया गया, जिसके लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता प्रतीत हुई। एकल स्वामित्व अथवा साझेदारी की सस्थायें इन नवीन आवश्यकताओं को पूरा करने मे असमर्थ सिद्ध हुई। एकाकी व्यापार की दशा मे पूंजी की मात्रा स्वामी की निजी क्षमता तक ही सीमित रहती है। इसी प्रकार साझेदारी के व्यापार मे भी साझेदारो की सख्या सीमित होने के कारण पूंजी का अभाव बढते हुए व्यापार के साथ दृष्टिगोचर होने लगता है तथा प्रत्येक साझेदार का दायित्व असीमित होने के कारण उसकी पूंजी एव व्यक्तिगत सम्पत्ति को भी सदैव खतरा बना रहता है। साझेदारी का अस्तित्व भी बडा अनिश्चित होता है, क्योंकि किसी साझेदार की मृत्यु, दिवालिया या पागल होने से फर्म टूट जाती है। उत्तरदायित्व असीमित होने के कारण फर्म किसी जोखिम के काम मे प्रवेश नही कर सकती, भले ही इसमे लाभ की अधिक सम्भावना हो, किन्तु वर्तमान औद्योगिक युग मे प्रगति के हेतु जोखिम उठानी ही पडती है। फिर आजकल विनियोगक भी ऐसे है जिनमे व्यापारिक योग्यता नही होती, परन्तु धन होता है, जिसे वे सुरक्षित विनियोग मे लगाना चाहते है। इस प्रकार एकल स्वामित्व एव साझेदारी के दोषो तथा दुर्बलताओ ने कम्पनी-प्रणाली को जन्म दिया, किन्तु आधुनिक सयुक्त पूंजी वाली कम्पनी यकायक अस्तित्व मे नही आ गई। इसका विकास तो क्रमशः अनेक शताब्दियो मे धीरे-धीरे होता गया है। यद्यपि विश्व के विभिन्न देशो मे इस नवीन व्यापारिक सगठन का स्वरूप अलग-अलग है (जैसे इङ्गलैंड को Stock company, जर्मनी की Gaselshaft mit beschar inkter Hobtung फ्रास की Societe annyme तथा अमेरिका की Corporation मे कुछ भेद है), किन्तु इन सबके मूल तत्वो मे समानता है। ये समानतायें निम्न है :—

(१) व्यवसाय के स्वामियो मे आपस मे प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्बन्ध बहुत कम होता है अथवा बिल्कुल नही होता।

(२) व्यापार का निग्रह और प्रबन्ध कुछ चुने हुए प्रतिनिधि करते है, जिन पर अशधारियो को विश्वास होता है।

(३) स्वामियो का दायित्व उनको व्यापार मे लगाई हुई पूंजी के अनुसार उसी अनुपात मे सीमित होता है

भारत में कम्पनियो का इतिहास—

हमारे देश मे व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार कम्पनियो का उदगम तथा विकास न होते हुए व्यापार सगठन के इस स्वरूप का आयात इङ्गलैंड से ही हुआ तथा सयुक्त पूँजी वाली प्रथम कम्पनी भी यहाँ अग्रेजो ने ही स्थापित की। इङ्गलैंड मे भी सर्व प्रथम सन् १६०० मे भारत मे व्यापार करने के लिए शाही आज्ञा-पत्र (Royal Charter) द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की गई। इसी प्रकार सन् १६७० मे हडसन वे कम्पनी तथा सन् १६९४ मे बैंक ऑफ इङ्गलैंड की स्थापना हुई। इसके बाद कुछ कम्पनिया पार्लियामेंट के विशेष अधिनियमो द्वारा स्थापित की गई। सन् १८४४ तक जितनी भी कम्पनियाँ बनी वे या तो राजकीय आज्ञा पत्र द्वारा अथवा पार्लियामेंट के किसी विशेष अधिनियम द्वारा बनाई गईं, किन्तु सन् १८४४ मे 'सयुक्त-स्कध-कम्पनी रजिस्ट्रेशन अधिनियम' (Joint Stock Companies Registration Act, 1844) पास किया गया, जिसके अनुसार केवल रजिस्ट्रेशन द्वारा ही कम्पनियो के निर्माण का आयोजन किया गया, परन्तु फिर भी सीमित दायित्व का विशेष अधिकार सन् १८५५ तक स्वीकार नही किया गया, वरन् इसे अधिनियम द्वारा केवल व्यापारिक सयोगो (Combinations) को मान्यता प्रदान की गई। सीमित दायित्व के तत्त्व को सर्व प्रथम English Companies Act, 1855 द्वारा मान्यता प्रदान की गई। फिर भारत मे भी सन् १८५७ मे प्रथम सीमित दायित्व अधिनियम पास हुआ और सन् १८५० के Joint Stock Companies Act के अनुसार बनाई गई अनेक कम्पनियो का इस अधिनियम के अनुकूल सीमित दायित्व के साथ पुन. रजिस्ट्रेशन किया गया। भारत के Consolidating Companies Act सन् १८६६, १८८२ तथा १९१३ मे पास हुए, जा कि सन् १८६२, १८८० तथा १९०८ के अंग्रेजी अधिनियमो के आधार पर बनाए गए। भारतीय कम्पनी अधिनियम सन् १९१३ मे भी अग्रेजी कम्पनी अधिनियम सन् १९२९ की अनेक महत्त्वपूर्ण बातें सम्मिलित कर ली गई। य सशोधन सन् १९३६ के कम्पनी (सशोधन) अधिनियम मे दिए हुए हैं। इसके बाद सन् १९५१ में कुछ महत्त्वपूर्ण सशोधन किए गए। इस प्रकार सन् १९१३ के भारतीय कम्पनी अधिनियम मे समय-समय पर किए गए इन सशोधनो सहित देश के सयुक्त स्कन्ध कम्पनी सम्बन्धित सब वर्तमान नियम हैं। अक्टूबर सन् १९५० मे भारत सरकार ने कम्पनी अधिनियम मे विशेष सशोधन करने के हेतु श्री भाभा की अध्यक्षता मे एक कमेटी नियुक्त की, जिसकी सिफारिशो पर पूर्णत. एक नवीन कम्पनी अधिनियम का निर्माण किया गया है, जो १ अप्रैल सन् १९५६ से लागू भी हो गया है। यह है भारतीय कम्पनी अधिनियम की सक्षिप्त कहानी।

कम्पनी की परिभाषा—

सयुक्त पूँजी वाली कम्पनी लाभ के लिए बनाई गई व्यक्तियो की एक ऐच्छिक सस्था है, जिसकी पूँजी हस्तान्तरणीय अशो मे विभाजित होती है, जिसका उत्तर-

दायित्व साधारणतया सीमित होता है और जिसका कम्पनी की भाँति भारतीय कम्पनी अधिनियम के अनुसार समामेलन होता है। वैधानिक भाषा में कम्पनी अविच्छिन्न उत्तराधिकार वाली कृत्रिम व्यक्ति है।[1] कम्पनी के अंशों को खरीद कर बाहर के व्यक्ति भी किसी भी समय कम्पनी में सम्मिलित किये जा सकते हैं। इस प्रकार संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों में सदस्यों के सम्मिलित होने या अलग होने का क्रम जारी रहता है। यह कृत्रिम व्यक्ति इन सदस्यों से एक भिन्न व्यक्ति होता है, जो सार्व-मुद्रा (Common Seal) द्वारा अपना व्यवसाय करता है। यह सम्पत्ति रख सकता है, ऋण ले सकता है और इसी प्रकार एक व्यक्ति के रूप में ही किसी पर अभियोग चला सकता है तथा इसके विरुद्ध भी वाद प्रस्तुत किया जा सकता है। एक सुप्रसिद्ध अमेरिकन लेखक के अनुसार, संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल "एक अदृश्य, 'अमूर्त तथा कृत्रिम व्यक्ति है, जिसका अस्तित्व वैधानिक होता है और जो विधान निर्मित होती है। यह वही सम्पत्ति अपने अधिकार में रख सकता है, जिसका अधिकार इसके निर्मित आज्ञा-पत्र (Charter) में होता है अथवा जो उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक है। इसके प्रमुख लक्षणों में अमरता—और (यदि हम किसी शब्द का प्रयोग कर सकें तो) व्यक्तित्व और वे सम्पत्तियाँ हैं, जिनका अस्तित्व अनेक व्यक्तियों को हस्तान्तरण होने पर भी इसका स्थायित्व समान रहता है और यह एक व्यक्ति के रूप में कार्य कर सकती है।"[2] हैने[3] के अनुसार "संयुक्त पूंजी वाली कम्पनी लाभ के लिए बनाई गई

---

1 A company is an artificial person with a perpetual succession

2 'A joint stock company is an artificial person invisible, intangible and existing only in contemolation of law, it possess only those properties which the charter of its creation confers upon it either expressly or as incidental to its every existence, among the most important are immortality and if the expression may be allowed, individuality, properties by which a perpetual succession of many persons is considered as the same, and may act as a single individual.

3 "It is an artificial person created by law having a separate entity with a perpetual succession and a common seal"
—Haney

अन्य परिभाषाएँ—

"It is an association of person who contribute money or money's worth to a common stock and employ it for some common purpose" —Lord Lindley

"A company is an association of persons united for a common object" —Justice James

व्यक्तियो की एक ऐच्छिक सस्था है, जिसकी पूँजी हस्तानरणीय अशो मे विभाजित होती है एव जिसके स्वामित्व के लिए सदस्यता आवश्यक है।" भारतीय कम्पनी अधिनियम सन् १६५६ की धारा ३ के अनुसार, कम्पनी से तात्पर्य इस अधिनियम के आधीन निर्माण तथा रजिस्ट्री की गई कम्पनी अथवा किसी विद्यमान कम्पनी से है (जिसकी रजिस्ट्री भारतीय कम्पनी अधिनियम, १८६६ अथवा भारतीय कम्पनी अधिनियम, १८८२ या कम्पनी अधिनियम, १६१३ के अन्तर्गत की गई हो)। इस परिभाषा के अनुसार तो केवल वही सस्था कम्पनी कहलाई जा सकती है, जिसका कि समामेलन भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत हुआ हो, अन्य कोई सस्था कम्पनी नही कही जा सकती।

उक्त परिभाषाओ से हम यह निष्कर्ष निकालते है कि सयुक्त-स्कन्ध प्रमण्डल एक वैधानिक व्यक्ति है, जिसका निर्माण किसी विशेष प्रयोजन से होता है और जिसका निर्माण करने वाले व्यक्तियो से पृथक अस्तित्व होता है तथा उनका दायित्व सीमित होता है।

कम्पनी की विशेषताएँ—

कम्पनी की उपर्युक्त परिभाषा के अध्ययन से हम यह कह सकते है कि इसकी प्रधान विशेषताएँ निम्नलिखित हैं .—

कम्पनी की ६ विशेषतायें हैं

(१) स्थायी अस्तित्व।
(२) सीमित दायित्व।
(३) प्रनिनिधिक व्यवस्था।
(४) सार्व मुद्रा।
(५) अभियोग चलाने का अधिकार।
(६) अन्तर्नियम।

(१) स्थाई अस्तित्व (Perpetual Existence)—कम्पनी का अस्तित्व स्थाई होता है। कम्पनी का जीवन, जो इसके सदस्यो के जीवन से भिन्न होता है, इसके आज्ञा पत्र के द्वारा सदैव के लिए नियोजित किया जा सकता है। सदस्यो पर कुछ भी बीते, कम्पनी को इसमे चिन्तित होने की आवश्यकता नही। एक के बाद दूसरे अशधारी आते और जाते रहते है, किन्तु कम्पनी के स्वरूप मे उनके आवागमन से कोई अन्तर नही पडता। चाहे प्रत्यक मूल सदस्य (Original Member) मर जावे अथवा व्यक्तिगत रूप से दिवालिया हो जाये, कम्पनी से पृथक हो जाय, फिर भी कम्पनी समाप्त नही होती, वरन् निरन्तर प्रगति करती रहती है।

(२) सीमित दायित्व (Limited Liabilty)—सयुक्त स्कन्ध-व्यवसाय का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण यही है कि इसमे अशधारियो का दायित्व सीमित होता है। किसी साझेदारी की दशा मे फर्म के ऋण को वसूल करने के लिए केवल फर्म की सम्पत्ति ही नही वरन् साझेदारो की व्यक्तिगत सम्पत्ति भी ली जा सकती है। किन्तु चूँकि कम्पनी स्वत. एक वैधानिक व्यक्ति होती है और वह अपने सदस्यो को व्यक्तिगत रूप मे ऋण लेन का अधिकार नही देती, अतः ऋणो के भुगतान के लिए

भी कम्पनी ही दायी होती है। अंशधारी तो केवल अपने विनियोग की सीमा तक ही उत्तरदायी होंगे। कम्पनी को लांघ कर सदस्यों की व्यक्तिगत सम्पत्ति को इसके ऋण के भुगतान के लिए नहीं लिया जा सकता। जो कुछ भी कम्पनी के अधिकार में है उसे वह ले सकती व तथा बेच सकती है। उनके सदस्यों का सारा रुपया जो उन्होंने इस जोखिम में लगाया है, इस प्रकार लिया जा सकता है, परन्तु उनकी निजी सम्पत्ति कम्पनी के किसी भी दुर्भाग्य या दुर्घटना के होने पर अपहरण नहीं की जा सकती। इसी को सीमित दायित्व का सिद्धान्त कहते हैं।

(३) प्रतिनिधिक व्यवस्था (Representative Management)—विधान निर्मित कृत्रिम व्यक्ति होने के कारण इसमें मनुष्य की भाँति अस्तित्व नहीं होता और न यह व्यापार-कार्य का सचालन अथवा व्यवस्था ही कर सकती है, अत. कम्पनी में प्रतिनिधि शासन (Representative Government) की पद्धति होती है। कम्पनी में सदस्यों की संख्या अधिक होती है, इसलिए वे सब यथासम्भव इसके प्रबन्ध में भाग नहीं ले सकते, अत कम्पनी का प्रबन्ध उसके सदस्यों के प्रतिनिधि करते हैं, जिन्हें सचालक (Directors) कहते हैं। कम्पनी में स्वामित्व एव प्रबन्ध अलग-अलग कर दिये जाते हैं। प्रत्येक वैधानिक कार्यवाही करने का भार कम्पनी के सचालकों पर ही होता है और ये ही वैधानिक गलतियों के लिए दण्डधारी भी होते हैं।

(४) सार्वमुद्रा (Common Seal)—सार्वमुद्रा कम्पनी के सामूहिक अस्तित्व का प्रतीक है। बिना इसके कम्पनी कोई भी ऐसा कार्य नहीं कर सकती, जिसका पालन करने के लिये कम्पनी बाध्य हो, अपितु उन प्रलेखों पर बिना कम्पनी की सार्व मुद्रा अंकित किए हस्ताक्षर करने वाला व्यक्ति, व्यक्तिगत रूप से दायी होगा।

(५) अभियोग चलाने का अधिकार (Right to Sue)—कम्पनी विधानानुसार अपने नाम में सम्पत्ति रख सकती है। इसको अपने नाम में दूसरों पर वाद प्रस्तुत करने का भी अधिकार है। इसी प्रकार अन्य व्यक्तियों को भी कम्पनी पर अभियोग चलाने का अधिकार है।

(६) अन्तर्नियम (Regulations)—कम्पनी के उद्देश्य तो उसके पार्षद सीमानियम (Memorandum of Association) में दिये होते हैं किन्तु उन उद्देश्यों की पूर्ति तथा कार्य-सचालन सम्बन्धी नियम कम्पनी के पार्षद अन्तर्नियम (Articles of Association) में दिये हुये होते हैं। इन अन्तर्नियमों की सीमा के भीतर ही प्रबन्ध अभिकर्त्ता कम्पनी का कार्य-सचालन करते हैं।

संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों का वर्गीकरण (Classification of Joint Stock Companies)—

कम्पनियाँ कितने प्रकार की हो सकती है, इस सम्बन्ध में निम्न चार्ट बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा—

अनिवार्य नहीं, जो कि लाभ करने के लिए व्यवसाय न करके केवल कला की उन्नति, दान आदि के कार्य सामाजिक उन्नति के लिए करती रहती है। इस धारा का मुख्य उद्देश्य जनता को अनुबन्ध आदि की असुविधाओं एवं कठिनाइयों से बचाने का है। इन विस्तीर्ण व्यापार करने वाली संस्थाओं के विषय में विचारी भोली-भाली जनता कुछ नहीं जानती, अतः इनके चंगुल में फंसकर तथा इनके बहकावे में आकर अपनी पूँजी गवाँ देती है। अधिकांश व्यक्तियों को इस बात का ज्ञान नहीं होता कि ऐसी संस्थाओं की सदस्य-संख्या अधिक होने से वे अवैध हो जाती हैं तथा उनसे अपने ऋण आदि का भुगतान लेने में अड़चनें पैदा हो जाती हैं।

धारा ११ के दो अपवाद : प्रथम तो यह कि ऐसी कोई भी संस्था जिसका मूल उद्देश्य लाभ कमाना नहीं है, वरन् कला आदि की प्रगति करना है, उसके लिये कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत रजिस्ट्री कराना जरूरी नहीं है। दूसरे, कौटुम्बिक व्यापार करने वाले एक संयुक्त हिन्दू परिवार पर भी यह धारा लागू नहीं होती, क्योंकि उसका नियन्त्रण हिन्दू सन्नियमों (Hindu Law) के अन्तर्गत होता है परन्तु ऐसे ही संयुक्त कुटुम्ब यदि दो या दो से अधिक मिलकर कोई व्यवसाय आरम्भ करते हैं या साझेदारी स्थापित करके व्यापार चलाते हैं तो यहाँ प्रत्येक संयुक्त कुटुम्ब एक व्यक्ति नहीं माना जायगा, वरन् उसमें जितने वयस्क (Adults) सदस्य होंगे, उतने ही व्यक्ति माने जायेंगे, परन्तु एक रजिस्टर्ड कम्पनी सदैव एक व्यक्ति ही मानी जायगी।

यदि किसी संस्था का रजिस्ट्रेशन उपयुक्त नियमानुसार नहीं होता तो वह संस्था या संघ अवैधानिक (Illegal) हो जाता है। ऐसी अवैधानिक संस्थाओं का कोई अस्तित्व नहीं होता। ये संस्थायें अस्तित्व-हीन प्रेत के समान होती हैं। इनके निम्न दुष्परिणाम होते हैं :—

(१) ऐसी संस्थायें किसी भी तीसरे पक्ष के विरुद्ध वाद प्रस्तुत नहीं कर सकती, चाहे आगे चलकर वे रजिस्टर्ड भले ही हो जायें।

(२) ऐसी संस्थाओं का प्रत्येक व्यक्ति संस्था के सम्पूर्ण ऋण के लिए व्यक्तिगत रूप से दायी होता है। कोई भी व्यक्ति अपनी देनदारी के लिए ऐसी संस्थाओं के किसी भी सदस्य के विरुद्ध अभियोग चलाकर उसे वसूल कर सकता है।

(३) १५ जनवरी सन् १९३७ के बाद प्रस्थापित हुई ऐसी अवैधानिक संस्थाओं का प्रत्येक सदस्य १,०००) तक अधिकतम दण्ड के लिए भागी होगा।

कम्पनियों के गुण तथा दोष

कम्पनियों के गुण—

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि संयुक्त दायित्व वाली कम्पनियों का जन्म एक विशिष्ट आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ है, जिसमें कि जन-साधारण अपनी पूँजी का कुछ भाग (समस्त सम्पत्ति को लगाये बिना) ही व्यापारिक कार्यों में विनि-

योग कर सके। अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि व्यावसायिक संगठन के अन्य स्वरूपों की अपेक्षा इस स्वरूप (अर्थात् कम्पनी) में क्या विशेष लाभ है :—

गुण
१. स्थायी अस्तित्व।
२. पूँजीकरण को प्रोत्साहन।
३. सीमित दायित्व।
४. श्रेष्ठ प्रबन्ध।
५. बड़े पैमाने पर उत्पादन।
६. आय-कर सम्बन्धी छूटें।

(१) कम्पनियों का अस्तित्व स्थायी होता है—इस पर अंशधारियों की मृत्यु, दिवालिया अथवा पागल होने आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सदस्यों पर कुछ भी बीते, कम्पनी को इससे चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। एक के बाद दूसरे अंशधारी आते और जाते रहते हैं, किन्तु कम्पनी के स्वरूप में उनके आवागमन से कोई अन्तर नहीं पड़ता, *अतएव इस प्रकार की व्यवस्था एक साझेदार की अपेक्षा बहुत स्थायी होती है।* साझेदार संस्था का जीवन अस्थायी होता है। किसी भी सदस्य की मृत्यु या उसके दिवालिया होने पर साझेदारी भंग हो जाने की आशंका रहती है, किन्तु कम्पनी का जीवन, जो इसके सदस्यों के जीवन से भिन्न होता है, इसके सीमा नियम के द्वारा सदैव के लिए नियोजित किया जा सकता है। इस स्थायी अस्तित्व का यह परिणाम होता है कि कम्पनी ऐसे अनुबन्ध कर सकती है जो कई साल तक चले। कम्पनी निर्माण कार्य की ऐसी योजना बना सकती है जो पूर्ण होने में पचीस वर्ष भी ले सकती है। ऐसी दीर्घकालीन योजनाओं की कल्पना करना एकल स्वामित्व एवं साझेदारी की संस्थाओं की सामर्थ्य के परे है।

(२) कम्पनी द्वारा पूँजीकरण को प्रोत्साहन मिलता है—बड़ी-बड़ी विशाल व्यावसायिक संस्थाओं के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है, केवल कम्पनी ही एक बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी एकत्रित कर सकती है। एकाकी व्यापारी अथवा साझेदारी की संस्था के लिये यह साधारणतः असम्भव है। कम्पनी अपनी पूँजी अंशों द्वारा आमन्त्रित करती है। एक कम्पनी में हजारों अंशधारी होते हैं तथा उनके द्वारा बहुत सी पूँजी एकत्रित की जा सकती है। अंशों अथवा ऋण पत्रों के रूप में छोटी-छोटी इकाइयों में पूँजी का विभाजन होने से साधारण आर्थिक स्थिति वाले व्यक्ति भी इनकी ओर आकर्षित होते हैं और इससे *धन-राशि प्राप्त करना अत्यन्त* सरल एवं सम्भव होता है। *एक विनियोगिक अपनी थोड़ी सी धन राशि का भी विभिन्न* कम्पनियों के अंश अथवा ऋण पत्रों में लगा सकता है और इस प्रकार समस्त अंडा को एक ही टोकरी में न रखने के कारण हानि की जोखिम को कम करके वह अपने विनियोग को अत्यन्त सुरक्षित रख सकता है। यही नहीं, विभिन्न आर्थिक स्थिति वाले एवं विभिन्न प्रकार की मनोवृत्ति वाले व्यक्तियों से पैसा आकर्षित करने की सर्व श्रेष्ठ रीति कम्पनियों के रूप में व्यवसाय का संगठन करना है। कुछ विनियोगक अधिक

चौकन्ने होते हैं, कुछ कम और कुछ साहसी मनोवृत्ति के होते है। इनके अतिरिक्त कुछ विनियोगिताओ के पास विनियोग के लिए पर्याप्त धन रहता है, जिसे वे सुगमतापूर्वक लगा भी सकते है, जबकि कुछ लोगो के पास अधिक धन न होकर केवल आय का थोड़ा सा भाग ही लगाने के लिये होता है और उसका विनियोग करते समय भी वे दस बार सोचते हैं। इस प्रकार विनियोगिताओं मे स्वभाव एव आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त अन्तर होता है। उनके विभिन्न स्वभाव और उनकी विभिन्न आर्थिक दशाओ को देख कर कम्पनियाँ भी विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियाँ निर्गमित करती हैं और उनकी आवश्यकताओ के ही अनुसार उनके लेने के लिए प्रस्ताव करती हैं। जो विनियोगक निश्चित आय चाहते है वे ऋण पत्र ले सकते है, विशेष अधिकारो की कामना करने वाले पूर्वाधिकार अश ले सकते हैं और अन्य साहसी व्यक्ति साधारण अशो का क्रय कर सकते है। इस सम्बन्ध मे यह लिखना अनावश्यक न होगा कि सगठित स्कन्ध विपणि (Organised Stock Exchanges) से कम्पनियो के अश और ऋण पत्र सरलता से खरीदे और बेचे जाते है, क्योकि सरलता से कोई विनियोगक कम्पनी से अलग हो सकता है, इसलिए हर विनियोगक कम्पनी मे प्रवेश करने के लिए बहुत जल्दी आकर्षित हो जाता है और वह कम्पनी मे विनियोग लगाने के लिए उत्सुक होता है, अतः किसी विनियोगक के लिए यह आवश्यक नही है कि वह स्थायी रूप से कम्पनी से बँधा रहे।

(३) कम्पनी मे अशधारियो का दायित्व सीमित होता है—सयुक्त स्कन्ध व्यवसाय का सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि इसमे दायित्व सीमित होता है। किसी साझेदारी की दशा मे फर्म के ऋण को वसूल करने के लिए केवल फर्म की सम्पत्ति ही नही वरन् साझेदारो की व्यक्तिगत सम्पत्ति भी ली जा सकती है, किन्तु क्योकि कम्पनी स्वय एक वैधानिक व्यक्ति होती है और वह अपने सदस्यो को व्यक्तिगत रूप से ऋण लेने का अधिकार नही देती, अत ऋण के भुगतान के लिए कम्पनी ही दायी होती है। अशधारी तो केवल अपने विनियोग की सीमा तक ही उत्तरदायी होते हैं, उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति को कम्पनी के ऋण को अदा करने के लिए स्पर्श नही किया जा सकता। सीमित दायित्व का यह सिद्धान्त बडा उपयोगी है, क्योकि वह अशधारियो की जोखम को कम कर देता है। अशधारियो के दायित्व के सीमित होने से कम्पनी की धन राशि का काफी भाग प्रयोगात्मक कार्यों मे व्यय किया जा सकता है तथा जोखिम के कार्य भी निडरता के साथ किये जा सकते है। यदि ये प्रयोग सफल हो जाते हैं तो वे अशधारियो के लिए केवल बडे लाभ ही प्रदान नही करते वरन् अनेक उत्पादन कार्यों की भी उत्पत्ति होती है, जिसमे केवल सस्था को ही नही, वरन् राष्ट्र को भी लाभ पहुँचता है।

(४) श्रेष्ठ प्रबन्ध एव सचालन—साझेदारी मे प्रत्येक सदस्य फर्म का एजेन्ट (प्रतिनिधि) होता है और वह अपने कार्यों के लिए फर्म को बाध्य कर सकता है। अन्य लोग कपटपूर्ण व्यवहार से बचने के लिये सब साझेदारो के लिए यह

आवश्यक हो जाता है कि वे फर्म के कार्यों मे व्यक्तिगत ध्यान दें। यद्यपि इस व्यक्तिगत ध्यान से व्यवसाय मे एक ओर तो अधिक से अधिक कार्यक्षमता आती है, दूसरी ओर इससे सदस्यो की सख्या सीमित होती है, क्योंकि जो व्यक्ति व्यक्तिगत ध्यान नही दे सकते, वे अखाडे मे आने का साहस भी नही कर सकते,–किन्तु इसके विपरीत एक कम्पनी मे कार्य सचालन का क्षेत्र अति विस्तृत होता है। कम्पनी मे प्रतिनिधि शासन की पद्धति होती है। कम्पनी मे सदस्यो की सख्या अधिक होती है, इसलिए वे सब यथासम्भव इसके प्रबन्ध मे भाग नही ले सकते, अत. कम्पनी का प्रबन्ध उसके सदस्यो के प्रतिनिधि करते है, जिन्हे 'सचालक' कहते हैं। कम्पनी मे स्वामित्व और प्रबन्ध अलग अलग कर दिया जाता है, जिसमे यह सम्भव हो जाता है कि प्रबन्ध के लिए उच्च कोटि के और योग्य व्यक्ति मिल सकें। कम्पनी अत्यन्त श्रेष्ठ, अनुभवी तथा प्रवीण सचालको एव अन्य कर्मचारियो की नियुक्ति से लाभ उठा सकती है। यह नीति सम्बन्धी प्रश्नो को बडी सरलता से हल कर सकती है और इस प्रकार व्यवसाय की कार्यक्षमता मे वृद्धि की जा सकती है। यही नही, प्रबन्ध मे परिवर्तनशीलता भी सम्भव होती है, क्योंकि सदस्यगण चाहे तो वे अक्षम सचालको को हटा कर उनके स्थान पर नये एव योग्य सचालको की नियुक्ति कर सकते हैं।

(५) कम्पनी मे बडे पैमाने पर उत्पादन होता है और इसलिए प्रत्येक उत्पादित वस्तु सस्ती पडती है तथा वस्तुएँ बहुधा उपभोक्ताओं को सस्ते मूल्य पर मिल सकती हैं।

(६) आय कर सम्बन्धी विशेष अधिकार—साझीदारी की दशा मे साझीदारो को दिये गए किसी कमीशन, वेतन एव ब्याज अथवा बोनस पर आय-कर मे छूट नही दी जाती, किन्तु कम्पनी के द्वारा इसके अशधारियो अथवा सचालको को दी गई ऐसी धन राशि पर आय-कर मे छूट मिलती है।

कम्पनी संगठन के दोष—

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कम्पनी का सगठन प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त (Democratic Principle) पर किया जा सकता है, जिस प्रकार प्रजातन्त्र-राज्य अनेक सुधारो एव अनुभवो के उपरान्त भी दोषो से युक्त है, उसी प्रकार कम्पनी व्यवसाय मे भी अनेक दोष हैं। कम्पनी के कुछ प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं :—

(१) प्रवर्तकों द्वारा कपट की आशका—कम्पनी का निर्माण करने वाले व्यक्तियो (Promoters) को कम्पनी की प्रतिभूतियाँ खरीदने वाले व्यक्तियो को ठगने का बहुत सुअवसर मिलता है। कम्पनी के अश खरीदने वालो को जाच करने का अवसर नही मिलता और जो कुछ बेचने वाला उसे बताता है उसके अतिरिक्त वह कुछ नही जान सकता या थोडा ही जान सकता है। प्राय. प्रॉस्पेक्टस मे कुछ बडे व्यक्तियो के नाम दिये होते हैं। वह यह विश्वास कर लेता है कि इन व्यक्तियो ने सब आवश्यक जॉच-पडताल कर ली होगी, लेकिन जो चमकता है वह सब सोना

नही होता। इसी प्रकार प्रॉस्पेक्टस मे कम्पनी के लाभो को बढ़ा चढ़ा कर वर्णन किया जाता है, जिससे साधारण विनियोगक बडी सरलता से भुलावे मे आ जाते है। इसके अतिरिक्त जनता को पूरी बातें नही बताई जाती। प्रारम्भिक व्यय बढ़ा चढा कर बताये जाते है और अशो एव ऋण-पत्रों आदि के कामा म इनका अप्रत्यक्ष भाग होता है। जहा व्यापारिक सस्थाओ का फिर से निर्माण किया जाता है और वतमान असाधारण लाभो के आधार पर पूँजी खडी की जाती है, वहाँ प्रवत्तको को अपना हित साधने का बडा अवसर मिलता है, क्योकि जनता बढते हुए लाभ की लालसा मे अधिक रुपया लगाने के लिए बडी तत्पर होती है।

दोष

(१) प्रवर्तको द्वारा कपट की आशका।
(२) सचालन व्यवस्था का केन्द्रीयकरण।
(३) अशधारियो का शोषण।
(४) बड व्यापार की बुराइयो की जननी।
(५) सट्टेबाजी को प्रोत्साहन।
(६) सीमित दायित्व का दुरुपयोग।

(२) सचालन व्यवस्था का केन्द्रीयकरण—कम्पनी व्यवसाय मे कहने को तो प्रजातन्त्रीय व्यवस्था है, परन्तु वास्तव मे कई प्रकार से प्रबन्ध कुछ व्यक्तियो के हाथ मे केन्द्रित हो जाता है। प्रथम तो भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिभूतियो का निर्गमन करते समय कम्पनी उन पर मतदान सम्बन्धी अधिकारो का इस प्रकार नियोजन कर सकती है कि एक विशिष्ट प्रकार की प्रतिभूतियां खरीदने वाले व्यक्ति के पास अधिक मताधिकार एकत्र हो जाय। दूसरे, अधिकाश विनियोगको के पास न तो समय होता है और न योग्यता और लगन। उन्हे तो अपने लाभांश प्राप्त करने से काम। जब तक इसमे अथवा पूँजी की सुरक्षा मे बाधा नही पडती, वे बेखबर सोये रहते है। कम्पनी की सभाओ मे भाग नही लेते और इस प्रकार श्रेष्ठ, निष्पक्ष एव कर्त्तव्यपरायण सचालको की नियुक्ति करने का अधिकार, जो उन्हे अधिनियम के अन्तर्गत प्राप्त है, प्रयोग नही कर पाते। इसके अतिरिक्त दूर-दूर बिखरे होने और एक दूसरे से अपरिचित होने के कारण उनमे परस्पर विचार विनिमय और सगठन का भी अभाव है। तीसरे, सचालक और प्रबन्धकर्त्ता मताधिकारो पर अकुश रखने के अलावा अन्य अधिकार भी रखते है, जैसे—अशो के हस्तान्तरण को अस्वीकृत करने का अधिकार, प्रति पुरुष पद्धति (Proxy System) का प्रयोग आदि। वे जानकारी एव रुचि रखने वाले लोगो को सदस्य बनने ही नही देते। इस प्रकार जब सचालन व्यवस्था सचालको और अभि-वर्त्ताओ का ही गणतन्त्र बन जाती है तो वे अशधारियो के प्रति उत्तरदायित्व का अनुभव नही करते और अपने अधिकारो को निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए प्रयोग करते है।

(३) अशधारियो का शोषण—कम्पनी व्यवसाय मे स्वामित्व प्रबन्ध से अलग होता है, इसलिए शक्तिमान व्यक्तियो द्वारा असहाय व्यक्तियो के शोषण के लिए

बड़े अवसर मिलते हैं। कम्पनी के लिए वास्तव मे कर्त्तव्यपरायण और ईमानदार व्यक्तियो की आवश्यकता है, जो सार्वजनिक हित को सर्वोपरि समझें।

(४) बड़े व्यापार की बुराइयो की जननी कम्पनी ही है—क्योंकि यदि कम्पनी पद्धति नही होती तो आज ये बड़े-बड़े व्यापार भी नही होते। वैसे तो वृहद् व्यापार (Big Business) सुन्दर प्रतीत होता है और यह प्रगति का सूचक है, किन्तु इसका मार्ग बड़ा कटकाकीर्ण है। यदि अनुकूलतम परिणाम की ओर ध्यान नही दिया गया तो सम्भव है कि सस्थाओ का समूह आवश्यकता से अधिक बड़ा हो जाये, जिसका प्रबन्ध तथा नियन्त्रण भी कुशलता से न किया जा सके। ऐसी दशा मे वृहद् व्यापार की त्रुटियां आ जाती है और कार्यक्षमता बढने की अपेक्षा घटने लगती है। औद्योगिक सस्थाओ के समूह न्यूनतम उत्पादन व्यय पर अधिकतम उत्पत्ति करने के लिए बड़ी मात्रा मे उत्पादन करते है। वस्तुओ की किस्मे कम कर दी जाती हैं और उत्पादन में प्रमापीकरण किया जाता है। मूल्यवान वस्तुओ का प्रयोग किया जाता है। ऐसी परिस्थिति मे यदि कही दुर्भाग्यवश स्थिति मे परिवर्तन हो जाय अथवा वस्तुओ की मांग घट जाये तो वह मशीन बेकार हो जायगी और उसके स्थान मे दूसरी के लिए अर्थ-प्रबन्ध करना कठिन हो जायगा।

(५) सट्टेबाजी को प्रोत्साहन—कम्पनी के अंश सरलता से ट्रान्सफर किये जा सकते हैं, इसलिए इनके सम्बन्ध मे सट्टेबाजी की प्रवृत्ति को बढावा मिलता है। बहुधा प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने लाभ तथा सामान्य अंशधारियो की प्राणघातक हानि के लिए स्टॉक एक्सचेज मे अंशो के मूल्य इधर-उधर करके अपनी स्थिति का दुरुपयोग करते हैं।

(६) एक व्यक्ति वाली कम्पनियों के दोष—कम्पनी अधिनियम का कभी-कभी इस प्रकार उपयोग भी किया जाता है कि उनके अनुसार कोई एक व्यक्ति भी सीमित दायित्व से व्यापार कर सकता है। उदाहरण के लिए, इस प्रकार की इच्छा रखने वाला व्यक्ति अपने साथ छः अन्य व्यक्तियो को लेता है, जो उसके कहे अनुसार चलें। वे सात व्यक्ति सीमानियम तैयार करते है और कम्पनी के रूप मे अपनी रजिस्ट्री कराने के उपरान्त प्रथम व्यक्ति से उसका व्यापार अंशो के बदले खरीद लेती है। इसके अतिरिक्त कोई अंश जारी नही किये जाते है और न कोई नया सदस्य ही बनाया जाता है। इस प्रकार वह अकेला व्यक्ति व्यापार पर पूर्ण नियन्त्रण भी रखता है और सीमित दायित्व से व्यापार भी करता है। प्राइवेट कम्पनी तो और भी सरलता से स्थापित की जा सकती है। इन तरीको से सीमित दायित्व की स्थिति का दुरुपयोग हो सकता है और हुआ है।

भारत में संयुक्त स्कन्ध व्यवसाय की धीमी प्रगति के कारण—

अन्य पाश्चात्य देशो की अपेक्षा हमारे देश मे सयुक्त स्कन्ध की प्रगति अत्यन्त धीमी हुई है। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

(१) प्राचीन काल मे ही भारतवर्ष कृषि प्रधान देश रहा है, अतः औद्योगी-

करण की गति ही धीमी होने के कारण कम्पनियों की भी उन्नति कम हुई।

(२) पराधीनता के कारण हमारी कोई स्वतन्त्र आर्थिक नीति न रही। अंग्रेजो का मुख्य उद्देश्य अपने देश का ही विकास करना एव भारत से कच्चा माल प्राप्त करना था, अत यहाँ उद्योग धन्धे न पनप सके।

(३) विनियोगकों की भी यहाँ कमी है। औद्योगिक प्रतिभूतियो मे रुपया लगाने की अपेक्षा आभूषण लेना अथवा भूमि आदि खरीदना वे अधिक हितकर समझते हैं।

(४) अनेक कम्पनियो की असफलता के कारण भी विनियोगिको को निराशा हुई एव वे इस क्षेत्र मे नही आये।

(५) प्रवर्तकों की भी हमारे यहाँ कमी रही।

(६) औद्योगिक प्रतिभूतियो के अभिगोपन के लिए भी यहाँ विशिष्ट सस्थायें नही हैं।

(७) पूँजी भी यहाँ सकुचित रही है।

किन्तु हमारा देश अब स्वतन्त्र है। हमारी द्वितीय पच-वर्षीय योजना का उद्देश्य ही देश का औद्योगीकरण करना है, अत अब नियोजित ढङ्ग से देश का औद्योगिक विकास हो रहा है तथा परिणामस्वरूप कम्पनियो की सख्या भी बढ रही है।

STANDARD QUESTIONS

1 Give briefly the chief points of distinction between the main types of business houses under the following heads—(a) Formation (b) Liability of owners (c) methods of raising capital, and (d) direction and management.

2. Point out the characteristics of Joint Stock Company and carefully differentiate between
   (a) *Public and Private Company*,
   (b) Public Co and Partnership.

3. Attempt an essay on the merits and demerits of a Joint Stock company as a form of business organisation

4. Briefly point out the circumstances which have led to the formation of a joint stock company

5. "Joint Stock Company is a changed form of partnership,

which is changed for obtaining more capital Do you justify this statement ? Give reasons

6 A joint stock company is said to be an artificial person created by law having a separate entity with a perpetual succession and a common seal Discuss the above statement

7 A company being a cold abstract artificial creature of the law is distinct and separate from the flesh and blood of mortal man who from time to time comprise its member The life of a company is independent of the lives of its members ' In the light of this statement briefly point out the main essentials of joint stock companies

8 Differentiate between a private and a public company What special legal privileges and concessions are enjoyed by a private company

9 Discuss the comparative advantages of public limited companies over partnership

10 Why is the joint stock company so popular as a form of business organisation ? How do you account for the slow progress of this form of organisation in India ?

11 Discuss with special reference to the following statement the principal abuses to which the system of joint stock enterprise is open in this country — The distribution of shares among the various categories is so arranged as to ensure a contolling voice in the management of an individual or a small group

अध्याय १०

कम्पनियों का प्रवर्तन एवं समामेलन

"प्रवर्तक से तात्पर्य ऐसे व्यक्ति का है, जो व्यापार सम्बन्धी प्रारम्भिक अनुसन्धान करता है जो किसी निश्चित योजना के अनुसार कम्पनी का निर्माण करता है तथा निर्माण करके उसका सचालन भी करता है।"

प्रवर्तन से आशय—

'प्रवर्तन' का तात्पर्य है, किसी वस्तु का चालू करना। कम्पनी के प्रवर्तन से आशय है, व्यापार सम्बन्धी सुविधाओ तथा सुअवसरो की खोज करना और इसके उपरान्त लाभ के उद्देश्य से पूंजी, सामग्री तथा प्रबन्ध कला का एकत्र करना भी प्रवर्तन की ही परिभाषा के अन्तर्गत आता है। प्रवर्तन का अर्थ है कि किसी व्यवसाय का क्षेत्र आँककर एव उसके लिए आवश्यक सामग्री कहाँ उपलब्ध है, इसकी पूर्व जाँच करके तथा पूर्ण योजना बनाकर उसके निर्माण के लिए आवश्यक वैधानिक कार्यवाही करना, जो कि कम्पनी के व्यापार को सुचारु रूप से चलाने के लिए प्रारम्भ मे ही आवश्यक होता है। इन कार्यवाहियो के उपरान्त ही किसी कम्पनी का वैधानिक अस्तित्व समझा जाता है। 'प्रवर्तन' एव 'निर्माण' मे भी अन्तर है। निर्माण का आशय किसी वस्तु के उत्पादन से है। इसके द्वारा उत्पन्न होकर कोई वस्तु व्यापार क्षेत्र मे अपना अस्तित्व ग्रहण करती है। प्रवर्तन का अर्थ प्रारम्भ से है, इसके द्वारा कोई वस्तु जीवन ग्रहण करके अनन्त काल तक चलती रहती है। निर्माण किसी वस्तु को केवल जीवन ही दे सकता है, किन्तु उसको उपयोगी बनाना तथा आगे बढ़ाने का काम प्रवर्तन के ही हाथ मे होता है।

प्रवर्तक (Promoter) शब्द की उपयुक्त परिभाषा देना तो कठिन है, क्योंकि किसी भी सनियम मे इसकी परिभाषा नही मिलती, किन्तु वास्तव मे प्रवर्तक से तात्पर्य ऐसे व्यक्ति का है, जो व्यापार सम्बन्धी प्रारम्भिक अनुसन्धान करता है, जो किसी निश्चित योजना के अनुसार कम्पनी का निर्माण करता है तथा निर्माण करके उसका सचालन भी करता है। इसके अतिरिक्त सुचारु रूप मे कम्पनी को चलाने के लिए समस्त आवश्यक सामग्री भी एकत्र करता है। प्रवर्तक एक औद्योगिक विशेषज्ञ होता है, जो इस बात की खोज करता है कि किसी उद्योग विशेष मे एक नवीन इकाई

को कहाँ तक सफलता मिल सकती है। सचमुच वह अपने उपर बड़ी जोखिम लेता है, क्योंकि यदि कम्पनी असफल रहती है तो समस्त हानि का भार उसी को सहन करना पड़ता है। इस दृष्टि से भारतीय प्रवर्तकों में श्री जे० एन० टाटा का नाम उदाहरणार्थ दिया जा सकता है।

कम्पनियों के निर्माण एव उनके विकास मे प्रवर्तकों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन्ही के प्रयत्नो के फलस्वरूप देश का व्यापारिक एव औद्योगिक विकास होता है। प्रवर्तक ही जनता का सचित एव निष्क्रिय धन औद्योगिक विनियोग के लिए आकर्षित करते हैं। यद्यपि यह लिखते हुए दुख होता है, किन्तु ऐसा कहना अनावश्यक न होगा कि भारत म प्रवर्तकों का कोई भिन्न अस्तित्व नही है। कम्पनी का प्रबन्ध तथा उनका प्रवर्तन, दोनों ही कार्य यहाँ प्रबन्ध अभिकर्त्ता करते है। अन्य देशो मे ऐसा नही है।

प्रवर्तक के काम—

कम्पनी प्रवतक के मुख्य काय निम्नलिखित हैं :—

(१) किसी व्यापार के आरम्भ की कल्पना करना तथा उसके लिए समस्त आवश्यक सामग्री जुटाना।

(२) ऐसे व्यक्तियो की खोज करना जो पार्षद-सीमा नियम पर हस्ताक्षर करें तथा सर्व प्रथम सचालक बनने के लिए अपनी सम्मति दें।

(३) कम्पनी के नाम, पूंजी तथा उसके स्वरूप का निर्धारण करना और यदि आवश्यक हो तो अभिगोपन (Underwriting) के लिए भी प्रबन्ध करना।

(४) बैंका, अकेक्षको, दलालो तथा वैधानिक सलाहकारो को निर्धारित करना।

(५) पार्षद सीमानियम, पार्षद अन्तर्नियम तथा प्रविवरण तैयार करना।

(६) कम्पनी की रजिस्ट्री के समय उपस्थित रहना।

(७) विक्रेता, अभिगोपक, प्रबन्ध अभिकर्त्ता आदि के साथ अनुबन्ध की पूर्ति के लिय आवश्यक व्यवस्था करना।

(८) रजिस्ट्रार के यहाँ प्रविवरण प्रस्तुत करना तथा उसका अधिकाधिक विज्ञापन करना।

(९) प्रारम्भिक व्ययों का भुगतान करना।

(१०) अश, ऋण पत्रादि का आबटन करना।

(११) कम्पनी को व्यापार आरम्भ करने के लिए प्रमाण पत्र दिलाने की व्यवस्था करना।

(१२) कम्पनी के कार्यालय को सगठित करना एव कच्चा माल, मशीन आदि तथा आवश्यक श्रमजीवियो की व्यवस्था करना।

प्रारम्भिक अनुबन्ध (Preliminary Contracts)—

यह हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि किसी कम्पनी की स्थापना के पूर्व की समस्त प्रारम्भिक छानबीन प्रवर्तक ही करते हैं। जब कोई प्रवर्तक किसी विद्यमान व्यवसाय को खरीदकर अथवा उसे पट्टे पर लेकर किसी कम्पनी की स्थापना करता है तो ऐसी दशा में व्यवसाय के विक्रेता या पट्टे पर उठाने वाले व्यक्ति से उसे ही (प्रवर्तक को) अनुबन्ध नहीं करने पड़ते हैं। इन प्रारम्भिक अनुबन्धों से कम्पनी का कोई सम्बन्ध नहीं होता, वरन् इसके लिए प्रवर्तक ही व्यक्तिगत रूप से दायी होता है। इसी कारण कम्पनी के लिए आवश्यक है कि जब उसका निर्माण हो जाय, तो प्रवर्तक के दायित्व की रक्षा के हेतु पूर्व पक्षकारों से अनुबन्धों का नवकरण कर ले। इसी को प्रारम्भिक अनुबन्धों की पुष्टि कहते हैं।

प्रवर्तक का पारिश्रमिक—

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कम्पनी के प्रवर्तन में प्रवर्तक को घोर परिश्रम करना पड़ता है। वह सदैव आवश्यक सामग्री एकत्र करने में व्यस्त रहता है। प्रवर्तक की सेवाओं के लिए जो पारिश्रमिक दिया जाता है उसके तीन रूप हो सकते हैं :—

(१) प्रवर्तक को उसके द्वारा खरीदी हुई सम्पत्ति अथवा क्रय किये हुए व्यवसाय के लिये नकद रुपया दिया जा सकता है।

(२) व्यवसाय या सम्पत्ति के क्रय-मूल्य पर उसे कमीशन भी दिया जा सकता है। अथवा

(३) अंशों या ऋण-पत्रों के रूप में उसकी सेवाओं का बदला चुकाया जा सकता है। हाँ, यह अवश्य उल्लेखनीय है कि प्रवर्तक का पारिश्रमिक चाहे निश्चित धन-राशि के रूप में दिया जाय, चाहे अंश-रूप में दिया जाय या ऋण-पत्रों के रूप में, परन्तु उसका स्पष्ट उल्लेख प्रॉस्पेक्टस में होना चाहिये।

कम्पनियों का समामेलन या रजिस्ट्रेशन

'समामेलन' (Incorporation) किसी कम्पनी के निर्माण की दूसरी अनिवार्य सीढ़ी है। बिना समामेलन के कोई भी कम्पनी वैधानिक रूप धारण नहीं करती। प्रवर्तक कम्पनी को गर्भ का रूप देता है और समामेलन उसको गर्भ से बाहर निकाल कर एक कृत्रिम व्यक्ति का स्वरूप प्रदान करता है।

कम्पनी के समामेलन की विधि—

एक पब्लिक कम्पनी के समामेलन के लिए निम्न कार्यवाहियाँ करना आवश्यक है :—

(अ) जिस राज्य में कम्पनी का प्रमुख कार्यालय स्थित हो, उसी राज्य के कम्पनियों के रजिस्ट्रार के कार्यालय में निम्न प्रलेख फाइल करने चाहिए :—

(१) पार्षद सीमानियम—इस प्रलेख में कम्पनी के उद्देश्यों की चर्चा होती है। एक पब्लिक कम्पनी की दशा में कम से कम ७ व्यक्तियों द्वारा और एक प्राइवेट

कम्पनी की दशा मे कम से कम २ व्यक्तियो द्वारा यह प्रलेख हस्ताक्षरित होना चाहिये। अंश पूँजी वाली कम्पनी की दशा मे प्रत्येक हस्ताक्षरकर्ता को अपने नाम के आगे उन अंशो की सख्या भी देनी चाहिए, जो कि वह लेने के लिए प्रस्तुत है।

(२) पार्षद अन्तर्नियम—इस प्रलेख मे सीमानियम के अनुसार उद्देशित कार्यों की पूर्ति के लिए एव कम्पनी के सुचारु संचालन के हेतु बनाये गये नियमो का उल्लेख होता है। ये अन्तर्नियम छपे हुए होने चाहिये, पैराग्राफो मे क्रमानुसार विभाजित होने चाहिए और सीमा-नियम के हस्ताक्षर-कर्त्ताओ के उस पर हस्ताक्षर भी होने चाहिए। यदि अशो द्वारा सीमित कोई पब्लिक कम्पनी अपने अन्तर्नियम नही बनाती तो ऐसी दशा मे सारिणी 'अ' (Table A) लागू होगी। हाँ, ऐसी परिस्थिति मे सीमानियम के ऊपर 'बिना अन्तर्नियमो के रजिस्टर्ड' (Registered without Articles of Association) लिख देना चाहिए।

पार्षद सीमानियम तथा पार्षद अन्तर्नियम पर निर्धारित मुद्राक (Stamp) भी लगा रहना चाहिए, जिसकी राशि विभिन्न राज्यो मे भिन्न-भिन्न है। उत्तर-प्रदेश पार्षद सीमा-नियम पर ५०) का मुद्राक तथा अन्तर्नियमो पर १००) का मुद्राक लगाना आवश्यक है। यदि अन्तर्नियम रजिस्टर्ड नही कराये जाते तो पार्षद सीमा-नियम पर १५०) का मुद्राक लगाना चाहिए। एक सीमित कम्पनी के रूप मे रजिस्टर्ड होने वाले धर्मार्थ सघ (Charitable Association) मे पार्षद सीमानियम तथा पार्षद अन्तर्नियम पर मुद्राक लगाने की आवश्यकता नही है।

(३) प्रबन्ध-अभिकर्त्ता अथवा सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष के साथ किया हुआ अनुबन्ध—कम्पनी अधिनियम की धारा ३३ (सी) के अन्तर्गत प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ अथवा सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष के साथ किये हुए ठहराव की एक प्रति भी रजिस्ट्रार के कार्यालय मे अन्य प्रलेखो के साथ फाइल करनी चाहिए।

(४) सचालको की सूची—इस सूची मे उन व्यक्तियो के नाम, पते तथा निरूपण (Description) देने चाहिये, जो कम्पनी के सचालक बनने को तैयार हो तथा जिन्होने इस सम्बन्ध मे सहमति दे दी है।

(५) सचालको की सहमति तथा योग्यता अश सम्बन्धी ठहराव—यदि प्रथम सचालको की नियुक्ति अन्तर्नियमो द्वारा हुई है तो उनके हस्ताक्षर करवा कर रजिस्ट्रार के पास निम्नांकित प्रलेख फाइल करना चाहिए —

(अ) कि प्रत्येक सचालक इस रूप मे कार्य करने के लिए तैयार है।

(ब) कि प्रत्येक सचालक कम्पनी से 'योग्यता-अश' (Qualification Shares), यदि कोई हैं, लेने व उनका भुगतान करने के लिए तैयार है अथवा प्रत्येक सचालक द्वारा इस आशय की घोषणा कि न्यूनतम योग्यता अश उनके नाम रजिस्टर्ड कर दिए गये हैं।

निम्न दशाओं मे उक्त प्रलेखो को फाइल करना आवश्यक नही है :—

(अ) बिना अश पूँजी वाली कम्पनी।

प्ररूप—

विभिन्न प्रकार की कम्पनियो के लिए भारतीय कम्पनी अधिनियम में सीमा-नियम के विभिन्न प्ररूप निर्धारित कर दिये गये है, जैसे प्रथम अनुसूची के अनुसार :—

(१) तालिका बी (Table B)—इसमे अंशो द्वारा सीमित कम्पनियो के लिए सीमानियम का निर्धारित प्ररूप दिया गया है।

(२) तालिका सी (Table C)—इसमे उन कम्पनियो के लिए सीमा-नियम का प्ररूप दिया गया है जो कि प्रत्याभूति द्वारा सीमित हैं एव जिनकी अश पूँजी नही है।

(३) तालिका डी (Table D)—इसमे उन कम्पनियो के लिए सीमा-नियम का प्ररूप दिया गया है जो कि प्रत्याभूति द्वारा सीमित हैं, परन्तु जिनकी अश पूँजी नही है।

(४) तालिका ई (Table E)—इसमे असीमित दायित्व वाली कम्पनियो के लिए सीमानियम का प्ररूप दिया गया है।

पार्षद-सीमा-नियम में दी जाने वाली बातें—

कम्पनी अधिनियम की धारा १३ के अनुसार पार्षद सीमा-नियम मे निम्न बातों का समावेश किया जाता है :—

(१) कम्पनी का नाम—यदि कोई कम्पनी अंशो द्वारा सीमित है तो ऐसी दशा मे नाम के अन्त मे 'सीमित' (Limited) शब्द तथा एक प्राइवेट कम्पनी की दशा मे नाम के अन्त मे 'प्राइवेट लिमिटेड' (Private Limited) शब्द लगाना अनिवार्य है।

(२) राज्य का नाम, जहा कम्पनी का रजिस्टर्ड कार्यालय स्थित होगा।

(३) कम्पनी के उद्देश्य और (व्यापारिक कम्पनियो के अतिरिक्त) राज्य अथवा राज्यो के नाम, जिन तक ये उद्देश्य विस्तृत हैं।

(४) दायित्व—अशो अथवा गारन्टी द्वारा सीमित कम्पनी की दशा मे यह कथन कि 'सदस्यो का दायित्व सीमित' है।

(५) गारन्टी द्वारा सीमित कम्पनी की दशा मे वह धन-राशि जो कि प्रत्येक सदस्य को कम्पनी के समापन की परिस्थिति मे अशदान करने का आश्वासन देनी है।

(६) पूँजी—अंश पूँजी की धन-राशि तथा अशो की सख्या, जिनमे वह विभक्त की जावेगी।

एक पब्लिक कम्पनी मे कम से कम ७ तथा १ प्राइवेट कम्पनी मे कम से कम २ सदस्य होने चाहिये और व्यक्तियो की इस न्यूनतम सख्या को सीमा-नियम पर अभिदान के लिए अपने नाम देने चाहिए। प्रत्येक को कम से कम १ अश अवश्य लेना चाहिये और अपने नाम के आगे लिये हुए अशो की संख्या का भी उल्लेख

करना चाहिए। पार्षद-सीमा-नियम लिखित, पैराग्राफो मे विभाजित तथा क्रमांकित होना चाहिए। इस पर नाम देने वाले प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि एक साक्षी की उपस्थिति मे हस्ताक्षर करे।

अब हम प्रत्येक वाक्य की विस्तृत व्याख्या करेंगे।

(१) नाम वाक्य—

साधारणतः एक कम्पनी अपना कोई भी नाम रख सकती है, किन्तु फिर भी यह अच्छा होगा कि पहले ही इस सम्बन्ध मे रजिस्ट्रार की सलाह ले ली जाय, क्योंकि यदि रजिस्ट्रार की पूर्व सम्मति के बिना ही कम्पनी का नामकरण हो जाता है तो बहुधा कम्पनी को समामेलन के समय बड़ी आपत्ति का सामना करना पड़ता है, यदि किसी कारणवश रजिस्ट्रार उस नाम को स्वीकार नही करता। यही नही, नाम के बदलने मे व्यर्थ का व्यय भी करना पड़ता है। कोई भी कम्पनी किसी ऐसे नाम से रजिस्टर्ड नही हो सकती जो केन्द्रीय सरकार की दृष्टि मे अवाञ्छनीय हो। यद्यपि भारतीय कम्पनी अधिनियम मे कम्पनियो के नामकरण के सम्बन्ध मे स्पष्ट प्रतिबन्ध नहीं है, किन्तु फिर भी अधिनियम द्वारा केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार मिला हुआ है कि वह ऐसे किसी भी नाम को अस्वीकार कर सकती है जो उसकी सम्मति मे अवाञ्छनीय हो।

कम्पनी का नाम उसके व्यवसाय से सम्बन्धित होना चाहिए। 'कम्पनी' शब्द का प्रयोग करना अधिक महत्त्व नही रखता, यद्यपि अधिकाश कम्पनियाँ अपने नाम के आगे इस शब्द का प्रयोग करती है। किसी व्यक्ति के नाम पर भी कम्पनी का नाम रखा जा सकता है। हाँ, ऐसी दशा मे यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति प्रतिष्ठित तथा साख वाला होना चाहिए।

प्रत्येक कम्पनी का नाम उसके कार्यालय के बाहर की तरफ, जहाँ पर उसके व्यवसाय का संचालन होता है, किसी एक स्थानीय भाषा मे लिखा अथवा चिपका रहना चाहिए। इसके अलावा नाम किसी अन्य भाषा मे भी लिखा हो अथवा न लिखा हो, कम्पनी के नाम के साथ 'लिमिटेड' अथवा प्राइवेट लिमिटेड शब्द लिखे रहने चाहिए। प्रत्येक कम्पनी को अपना नाम अपनी सार्व मुद्रा (Common Seal) पर अवश्य खुदवाना चाहिए तथा कम्पनी का नाम उसके सभी व्यापारिक पत्रो, बिल पत्रो, सूचनाओ तथा अन्य प्रलेखो पर वर्णित होना चाहिए।

(२) स्थान-वाक्य—

कम्पनी के पार्षद सीमा नियम का दूसरा वाक्य कम्पनी के रजिस्टर्ड ऑफिस की स्थिति से सम्बन्ध रखता है। यहाँ कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय का पूरा पता नही दिया जाता है, वरन् उस राज्य का नाम दिया जाता है जिसमे कि कम्पनी का कार्यालय होता है। कम्पनी अधिनियम की धारा १४६ के अन्तर्गत कोई भी कम्पनी अपने रजिस्टर्ड कार्यालय की स्थिति के सम्बन्ध मे या तो उस दिन सूचना दे सकती है

जिस दिन से वह व्यापार प्रारम्भ करे या समामेलन से २८ दिन के भीतर (जो भी तिथि पहले हो) सूचना दे सकती है। रजिस्टर्ड कार्यालय किस प्रान्त मे होगा, इसकी सूचना सीमा नियम मे देना अनिवार्य है, क्योंकि जिस राज्य मे रजिस्टर्ड कार्यालय है, उसी राज्य मे उस कम्पनी का समामेलन होगा। इसके अतिरिक्त न्यायालय को भी अपने क्षेत्र का निर्णय करने मे इस 'स्थान वाक्य' से बडी सहायता मिलनी है।

(३) उद्देश्य वाक्य—

कम्पनी के पार्षद सीमा-नियम का यह अत्यन्त महत्वपूर्ण वाक्य है, क्योंकि इसमे कम्पनी के उद्देश्यो का सम्पूर्ण विवरण होता है तथा यह कम्पनी के कार्यक्षेत्र की सीमा निश्चित करता है, जिसके परे कम्पनी कोई भी कार्य नही कर सकती, अतएव इस उद्देश्य-वाक्य का निर्धारण करते समय अत्यन्त सावधानी एव चतुराई से काम लेना चाहिये। कम्पनी का उद्देश्य अवैधानिक न होना चाहिए और न वे कम्पनी अधिनियम अथवा किसी अन्य भारतीय अधिनियम की धाराओ के विरुद्ध हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, किसी भी कम्पनी का अपने निजी अशो को क्रय करने तथा पूँजी मे से लाभाश बाँटने का अधिकार नहीं होना, क्योंकि ऐसा करना भारतीय कम्पनी अधिनियम द्वारा वर्जित है। इसी प्रकार कोई भी कम्पनी लोक नीति के विरुद्ध भी कोई कार्य नही कर सकती। कम्पनी के उद्देश्य इस प्रकार विस्तृत रूप मे देने चाहिए कि जिससे उनके समझने मे किसी प्रकार की उलझन पैदा न हो। इसके अन्तर्गत उन सभी बातो का समावेश हो जाना चाहिए जिनका सम्बन्ध कम्पनी के व्यवसाय को चलाने तथा उसको उन्नत करने मे हो। कम्पनी ऐसा कोई काम वैध रूप से नही कर सकती जो उसके उद्देश्य-वाक्य द्वारा अधिकृत नहीं है।

ऐसे कुछ अधिकार जो कम्पनी अधिनियम के प्रतिकूल हैं, पार्षद सीमानियम मे नहीं दिये जा सकते। ऐसे अवैध अधिकारो के उदाहरण निम्न हैं :—

(अ) अपने ही अशो का क्रय करने का अधिकार,
(ब) कुछ तथ्यो को अशधारियो के सम्मुख प्रकट करने के बारे मे अकेक्षक पर प्रतिबन्ध लगाना,
(स) पूँजी से लाभाश देना,
(द) अशधारियो को कम्पनी के समापन के लिये प्रार्थना-पत्र देने मे रोकना।

बहुधा कम्पनियाँ अपने सीमानियमों के 'उद्देश्य-वाक्य' के अन्त मे यह वाक्य भी जोड दिया करती हैं कि 'ऐसे अन्य व्यवहार जो उपर्युक्त उद्देश्यो मे सम्बन्धित अथवा सहायक हो अथवा जिनको कम्पनी उपयुक्त समझे।" इस वाक्य के समावेश से कम्पनी के अधिकारो मे कोई वृद्धि नहीं होती। वास्तव मे कम्पनी केवल उन्ही वैधानिक कार्यों को कर सकती है जिनका करना उसके उद्देश्यो की पूर्ति के लिए आवश्यक हो।

इस सम्बन्ध मे यह लिखना भी अनावश्यक न होगा कि प्रत्येक व्यक्ति कम्पनी के सीमानियमो के आधार पर ही तथा उसके उद्देश्यो से परिचित होकर ही कम्पनी से व्यवहार करता है। यदि वह व्यक्ति कम्पनी के सीमानियम तथा अधिकारों का ध्यान न रखकर उनसे परे कोई व्यापार करता है तो उसके लाभ-हानि के लिए कम्पनी उत्तरदायी न होगी। वह व्यक्ति ही स्वय व्यक्तिगत रूप से उस जोखिम के लिये उत्तरदायी होगा।

साराश मे, 'उद्देश्य-वाक्य' सूक्ष्म, उपयुक्त तथा स्पष्ट होना चाहिए।

(४) दायित्व-वाक्य—

पार्षद सीमानियम के अन्तर्गत सदस्यो के दायित्वो की सीमा निर्धारित रहती है। 'सदस्यो का दायित्व सीमित है'—इस कथन का आशय यह है कि अशधारियो से किसी भी समय उनके द्वारा धारण किए हुए अशो पर केवल अदत्त धन की राशि ही कम्पनी को चुकाने के लिए कहा जा सकता है। उदाहरण के लिये, यदि डाक्टर सक्सेना ने एनफील्ड कम्पनी लिमिटेड का १०० रु० का एक शेयर खरीदा है, जिस पर उन्होंने ६० रु० चुका दिये हैं तो ऐसी परिस्थिति मे उनका शेष दायित्व ४० रु० के भुगतान तक ही सीमित है और इससे अधिक कम्पनी उनसे कुछ भी नही माँग सकती। यदि कोई सदस्य अपना अश हस्तान्तरित कर देता है तो हस्तान्तरण से एक वर्ष के भीतर कम्पनी के समाप्त होने की दशा मे हस्तान्तरक उत्तरदायी रहता है, यदि उस समय अशो के धारक अशो पर अदत्त धन राशि चुकाने मे असमर्थ हो और कम्पनी की कुछ ऐसी देनदारियाँ अदत्त हैं जो उस समय भी थी जबकि हस्तान्तरक कम्पनी का एक सदस्य था।

एक सीमित कम्पनी के सदस्यो का दायित्व निम्न दशाओ मे असीमित हो जाता है—

(अ) जबकि सदस्यो की सख्या वैधानिक न्यूनतम सख्या से भी कम रह जाती है और कम्पनी इस प्रकार कम हुई सदस्यता के साथ ६ माह से अधिक तक व्यापार करती रहती है। इन ६ महीनो के बाद वाली अवधि मे प्रत्येक सदस्य, जिसे इस घटना का ज्ञान हो, उस अवधि मे उत्पन्न हुए कम्पनी के समस्त ऋणो के लिए उत्तरदायी होता है।

(ब) जबकि किसी सीमित कम्पनी के किसी सचालक अथवा अन्य अधिकारी का दायित्व पार्षद सीमानियम द्वारा ही असीमित कर दिया गया हो तो वह अपने असीमित उत्तरदायित्व के सम्बन्ध मे अशदान करने के लिय उत्तरदायी हो जाता है, किन्तु यह असीमित उत्तरदायित्व उसके पद पर न रहने की तिथि से १ वर्ष बीत जाने पर समाप्त हो जाता है और साथ ही यह उसके पद पर न रहने के बाद उत्पन्न कम्पनी के दायित्वो के सम्बन्ध मे भी लागू नही होता है।

(स) जबकि कोई कम्पनी ऋणदाताओ के साथ कपट करने के अभिप्राय

से अथवा अन्य किसी कपटपूर्ण उद्देश्य के लिये व्यापार चलाती रही है तो न्यायालय कपट के लिये दोषी अधिकारियो अथवा अन्य व्यक्तियो मे से किसी को भी कम्पनी के ऋणो के लिये बिना किसी सीमा के व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होने के लिये आदेश दे सकता है।

(५) पूँजी वाक्य—

पार्षद सीमानियम के इस वाक्य मे कम्पनी की कुल अश पूँजी तथा उसका अशो मे विभाजन दिया जाता है। यह बात कि कम्पनी के अश विभिन्न श्रेणियो के हैं, पार्षद सीमानियम मे लिखना आवश्यक नही होना, क्योकि अन्तर्नियमो मे इसके लिए आयोजन किया जा सकता है। पूँजी वाक्य मे उन अधिकारो का वर्णन किया जा सकता है जो कि विभिन्न श्रेणियो के अशधारियो को प्रदान किये गये हैं।

(६) संघ तथा हस्ताक्षर वाक्य—

यह पार्षद सीमानियम का अन्तिम वाक्य है, जिसमे सीमानियम पर हस्ताक्षर करने वाले व्यक्ति कम्पनी बनाने की इच्छा प्रगट करते हैं। इस वाक्य का उदाहरण यह है :—

"हम निम्न व्यक्ति, जिनके नाम, पते नीचे दिए हैं, इस बात के इच्छुक हैं कि हमारा निर्माण कम्पनी के रूप मे इस अधिनियम के अन्तर्गत हो जाय तथा हम लोग अपने नाम के सम्मुख लिखे हुए अशो की सख्या कम्पनी की पूँजी से लेना स्वीकार करते हैं। इस वाक्य के अन्त मे हस्ताक्षरकर्त्ताओ के नाम, उनके द्वारा लिये जाने वाले विभिन्न प्रकार के अशो की सख्या तथा उनके हस्ताक्षर होते हैं। नाम के साथ हस्ताक्षरकर्त्ताओ का व्यवसाय भी दिया जाता है एव उनके हस्ताक्षर एक अन्य व्यक्ति द्वारा प्रमाणित भी होने चाहिए। प्रलेख के अन्त मे बायी ओर हस्ताक्षर करने की तिथि भी दी जाती है।

पार्षद सीमानियम पर हस्ताक्षर कौन कर सकता है—

अनुबन्ध करने की क्षमता रखने वाला कोई भी व्यक्ति पार्षद सीमानियम पर हस्ताक्षर कर सकता है। एक दिवालिया और एक विदेशी दोनो ही इसके हस्ताक्षर-कर्त्ता हो सकते हैं। इसी प्रकार किसी अन्य कम्पनी मे अश खरीदने के लिए अधिकृत समामेलित कम्पनी भी हस्ताक्षरकर्त्ता बन सकती है। कई व्यक्ति सम्मिलित रूप से भी इस पर हस्ताक्षर कर सकते हैं, किन्तु क्योकि फर्म एक व्यक्ति नही होती है, इसलिए हस्ताक्षरकर्त्ता नही बन सकती। हाँ, फर्म के साझीदार व्यक्तिगत रूप से हस्ताक्षरकर्त्ता नही बन सकता, क्योकि उसके द्वारा किया गया ठहराव व्यर्थ होता है।

अंशो द्वारा सीमित कम्पनी के पार्षद सीमानियम का उदाहरण—

पार्षद सीमानियम

(१) नाम वाक्य—कम्पनी का नाम 'राम एण्ड कम्पनी लिमिटेड' है।

(२) स्थान वाक्य—कम्पनी का रजिस्टर्ड कार्यालय बम्बई राज्य मे रहेगा।

(३) उद्देश्य वाक्य—कम्पनी का प्रमुख कार्य पुस्तकें बेचना तथा प्रकाशित करना रहेगा। इसके अतिरिक्त कम्पनी इस प्रधान उद्देश्य से सम्बन्धित कोई भी कार्य कर सकती है।

(४) दायित्व वाक्य—कम्पनी के सदस्यों का दायित्व सीमित है।

(५) पूँजी वाक्य—कम्पनी की अंश पूँजी..........रु० है, जो कि........ रु० के..........अंशों में विभाजित है।

(६) संघ तथा हस्ताक्षर वाक्य—हम निम्न व्यक्ति, जिनके नाम-पते नीचे दिये हैं, इस बात के इच्छुक हैं कि हमारा निर्माण कम्पनी के रूप में इस अधिनियम के अन्तर्गत हो जाय तथा हम लोग अपने नाम के सम्मुख लिखे हुए अंशों की संख्या कम्पनी की पूँजी में लेना स्वीकार करते हैं।

हस्ताक्षरकर्त्ताओं के नाम, पते तथा निरूपण	प्रत्येक के द्वारा लिए अंशों की संख्या	साक्षी के हस्ताक्षर
१..........	....	....
२..........	....	....
३..........	....	....
४..........	....	....
५..........	....	....
६..........	....	....
७..........	....	....
कुल अंश		

बम्बई,
दिनांक   १६६ .

पार्षद सीमानियम में परिवर्तन (Alteration of the Memorandum)—

परिवर्तन की दृष्टि से पार्षद सीमानियम की विषय सामग्री को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) आवश्यक बातें अर्थात् ऐसे विषय जिनका उल्लेख पार्षद सीमानियम में अनिवार्य रूप से करना पड़ता है, और (२) अन्य बातें। आवश्यक बातों का परिवर्तन केवल निर्धारित रीति से एवं नियत सीमा तक ही सम्भव है। हाँ, अन्य बातों में (जैसे मैनेजर, मैनेजिंग-डाइरेक्टर, मैनेजिंग एजेन्ट अथवा सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष की नियुक्ति आदि) परिवर्तन करने की विधि बड़ी सरल है, उन्हें तो केवल एक विशेष प्रस्ताव पास करके ही परिवर्तित किया जा सकता है, किन्तु यदि यह आयोजन किसी विषय से सम्बन्धित है, जिसके लिए कम्पनी अधिनियम ने परिवर्तन करने की एक विशेष रीति निर्धारित कर दी है तो उसी रीति के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है।

पार्षद सीमानियमों की 'आवश्यक बातों' का परिवर्तन अग्र लिखित रीति से सम्भव है।

(१) नाम वाक्य का परिवर्तन—नाम-वाक्य मे दो प्रकार ने परिवर्तन किया जा सकता है—

(i) यदि कोई कम्पनी असावधानता अथवा अन्य किसी कारण से पूर्व सहमति के बिना पहले समामेलित हुई किसी विद्यमान कम्पनी के नाम के समरूप नाम से या उससे इतना सादृश्य रखने वाले नाम से रजिस्टर हो जाय कि धोखा होने की सम्भावना हो तो ऐसी परिस्थिति म साधारण प्रस्ताव द्वारा एव केन्द्रीय सरकार की पूर्व लिखित सहमति से नाम बदला जा सकता है। यदि कम्पनी के रजिस्ट्रेशन से एक वर्ष के भीतर अथवा नये कम्पनी अधिनियम के प्रचलन से एक वर्ष के भीतर नाम-वाक्य मे परिवर्तन के सम्बन्ध मे केन्द्रीय सरकार किसी कम्पनी को आदेश देती है तो साधारण प्रस्ताव द्वारा एव केन्द्रीय सरकार की लिखित अनुमति से आदेश से तीन माह के भीतर नाम-वाक्य मे परिवर्तन कर देना चाहिए।

(ii) यदि कम्पनी का नाम बदलना व्यापार की सुविधा के लिए अथवा अन्य किसी दृष्टि से आवश्यक समझा जाय तो यह परिवर्तन विशेष प्रस्ताव (Special Resolution) की स्वीकृति तथा केन्द्रीय सरकार की लिखित अनुमति प्राप्त करने के बाद किया जा सकता है।

जब कोई कम्पनी अपना नाम परिवर्तन करती है तो रजिस्ट्रार कम्पनियो के रजिस्टर मे पूर्व नाम के स्थान पर नया नाम लिख देगा एव समामेलन का नया प्रमाण-पत्र भी जारी करेगा। ऐसे प्रमाण-पत्र के निर्गमन पर नाम का परिवर्तन पूर्ण हो जाता है। इस सम्बन्ध मे यह लिखना अनावश्यक न होगा कि नाम के परिवर्तन से कम्पनी के स्वत्वो पर कोई प्रभाव नही पडता।

(२) रजिस्टर्ड कार्यालय वाक्य का परिवर्तन—यदि कोई कम्पनी अपने रजिस्टर्ड कार्यालय को एक राज्य से दूसरे राज्य मे ले जाना चाहती है तो विशेष प्रस्ताव एव न्यायालय की लिखित आज्ञा द्वारा ऐसा सम्भव है। ऐसा परिवतन किन्हि विशेष परिस्थितियो मे ही सम्भव है, जिनका उल्लेख धारा १७ मे किया गया है। यदि एक ही राज्य मे स्थित किसी दूसरे नगर मे रजिस्टर्ड कार्यालय को बदलना हो तो ऐसी दशा मे विशेष प्रस्ताव की स्वीकृति और न्यायालय की लिखित आज्ञा की आवश्यकता नही पडती, वरन् रजिस्ट्रार को इस परिवर्तन की केवल सूचना देना ही पर्याप्त होगा। ऐसी परिस्थिति मे अधिकांशत. पते मे परिवर्तन की सूचना समाचार-पत्रो मे भी प्रकाशित कर दी जाती है। यदि कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय की स्थिति एक राज्य से दूसरे राज्य मे बदल दी जाये तो न्यायालय की आज्ञा की प्रतिलिपि विशेष प्रस्ताव की प्रतिलिपि के सहित नये राज्य के रजिस्ट्रार को भेज देनी चाहिये। ऐसी परिस्थिति मे पुराने राज्य का रजिस्ट्रार कम्पनी से सम्बन्धित नये राज्य के रजिस्ट्रार को उस कम्पनी से सम्बन्धित समस्त प्रलेखो को भेज देगा।

(३) उद्देश्य-वाक्य का परिवर्तन—यदि कोई कम्पनी अपने उद्देश्य-वाक्य मे परिवर्तन करना चाहती है (अथवा अपने रजिस्टर्ड कार्यालय को एक राज्य से दूसरे राज्य मे ले जाना चाती है) तो वह निम्न परिस्थिति मे विशेष प्रस्ताव स्वीकृत करने से तथा न्यायालय की लिखित आज्ञा प्राप्त करने पर किया जा सकता है।

(i) यदि परिवर्तन व्यापार की कार्यक्षमता अथवा मितव्ययिता की दृष्टि से आवश्यक हो।

(ii) यदि यह परिवर्तन कम्पनी के मूल उद्देश्यो की सिद्धि के लिए आवश्यक हो अथवा इससे नये या उत्तम साधन उपलब्ध होते हो।

(iii) यदि कम्पनी का व्यापारिक क्षेत्र विस्तृत करना हो अथवा परिवर्तित करना हो।

(iv) यदि यह परिवर्तन किसी ऐसे व्यवसाय को चलाने के लिए सहायक हो जो वर्तमान परिस्थितियो मे सुविधा अथवा लाभ की दृष्टि मे कम्पनी के व्यवसाय मे शामिल किया जा सकता हो।

(v) यदि यह परिवर्तन कम्पनी के कुछ उद्देश्यों को प्रतिबन्धित करने के लिए अथवा उनका परित्याग करने के लिए आवश्यक हो।

(vi) यदि यह परिवर्तन कम्पनी के व्यवसाय का समस्त या कोई भाग बेचने या अलग करने के लिए अथवा कुछ व्यक्तियो को हटाने के लिए आवश्यक हो, अथवा

(vii) यदि ऐसा परिवर्तन किसी अन्य कम्पनी से एकीकरण करने के लिए आवश्यक हो।

उक्त परिवर्तन तब तक प्रभावशाली न होगा जब तक कि न्यायालय इसकी पुष्टि न कर दे। न्यायालय केवल उसी दशा मे ऐसे परिवर्तन की सहमति देगा, यदि उसको यह सन्तोष हो जाय कि :—

(अ) कम्पनी के प्रत्येक ऋण-पत्र-धारी को और उन व्यक्तियो अथवा व्यक्तियो के समूहो को जिनके हितो पर न्यायालय के विचार से परिवर्तन का प्रभाव पडेगा, पर्याप्त सूचना दे दी गई है, और

(आ) प्रत्येक ऋणदाता के सम्बन्ध मे, जो न्यायालय की राय मे आपत्ति करने का अधिकारी है और जो अपनी शक्ति न्यायालय द्वारा बताई हुई रीति से प्रकट करता है, न्यायालय के सन्तोषजनक रूप मे या परिवर्तन के लिए उसकी सहमति प्राप्त कर ली गई है अथवा उसके ऋण या दावे का भुगतान कर दिया गया है या उसको प्रत्याभूति दे दी गई है। न्यायालय कम्पनी के सदस्यो के स्वत्वो तथा हितो का भी ध्यान रखेगा।

परिवर्तन की पुष्टि करने वाली आज्ञा की प्रमाणित प्रतिलिपि परिवर्तित सीमा-नियम की छपी हुई एक प्रतिलिपि के साथ आज्ञा के दिनाक से तीन माह के भीतर

कम्पनी द्वारा रजिस्ट्रार के कार्यालय मे प्रस्तुत करनी चाहिए। रजिस्ट्रार उसकी रजिस्ट्री करके अपने हस्ताक्षरो द्वारा प्रमाणित करेगा और उक्त प्रमाण-पत्र इस बात का अकाट्य प्रमाण-पत्र होगा कि परिवर्तन के सम्बन्ध मे अधिनियम की सभी आवश्यकताओ का पालन कर दिया गया है।

(४) दायित्त्व-वाक्य का परिवर्तन—कम्पनी के सदस्यो का दायित्त्व सीमित होता है, यह किसी प्रकार असीमित नहीं हो सकता। हां, धारा ३२३ के अनुसार विशेष प्रस्ताव द्वारा सचालको का दायित्त्व असीमित हो सकता है।

(५) पूंजी वाक्य का परिवर्तन—एक कम्पनी अपनी अश पूंजी मे निम्न तीन दशाओ मे परिवर्तन कर सकती है :—

(i) नवीन अशो के निर्गमन के द्वारा अश पूंजी मे वृद्धि कर सकती है,
(ii) अश पूंजी को कम कर सकती है, अथवा
(iii) अश-पूंजी का पुनर्सङ्गठन कर सकती है।

(I) अंश-पूंजी मे वृद्धि—

अपने अन्तर्नियमो द्वारा अधिकार प्राप्त करके कोई भी अशो द्वारा सीमित कम्पनी धारा ६४ के अनुसार अश पूंजी मे वृद्धि करने के लिए निम्न कार्य कर सकती है :—

(i) नवीन अशो के निर्गमन द्वारा वह अपनी अश-पूंजी बढा सकती है।
(ii) वह अपनी समस्त या कुछ अश पूंजी को एकत्रित (Consolidate) कर सकती है तथा अपने वर्तमान अशो की अपेक्षा अधिक धन के अशो मे विभाजित कर सकती है।
(iii) अपने चुकाये हुए समस्त या कुछ अशो को स्कन्ध (Stock) मे परिणित कर सकती है और इस स्कन्ध को किसी भी परिमाण के चुकाये हुए अशो मे बदल सकती है।
(iv) अपने अशो को अथवा उनमे से किसी को भी सीमानियम द्वारा नियत किये हुए धन से कम राशि के अशो मे उपविभाजित कर सकती है, अथवा
(v) ऐसे समस्त अशो को निरस्त (Cancel) भी कर सकती है जो न तो किसी व्यक्ति द्वारा लिये गये हो और न उनके लिये किसी ने प्रतिज्ञा ही की हो। इसके अतिरिक्त वह अपनी अश-पूंजी के परिमाण को निरस्त अशो के परिमाणानुसार कम कर सकती है।

पूंजी मे वृद्धि करने के लिए यदि अन्तर्नियमो द्वारा कम्पनी को अधिकार है तो साधारण सभा मे यह साधारण प्रस्ताव (Ordinary Resolution) द्वारा किया जा सकता है, अन्यथा विशेष प्रस्ताव पास होना चाहिए। इस परिवर्तन की सूचना रजिस्ट्रार को प्रस्ताव स्वीकृति की तिथि मे १५ दिन के अन्दर देनी चाहिए तथा अशो

का वितरण एवं जिन निर्बन्धों के अनुसार बढ़े हुए अंशों का निर्गमन किया जायेगा, इसका सम्पूर्ण विवरण भी इसी सूचना में देना चाहिए। [धारा ९७]

(II) अंश पूँजी में कमी करना—

अपने अन्तर्नियमों द्वारा अधिकार प्राप्त करके कोई भी कम्पनी एक विशेष प्रस्ताव पास करके तथा न्यायालय से उसकी पुष्टि करा कर धारा १०० में वर्णित निम्न ढंगों से अपनी अंश-पूँजी को कम कर सकती है :—

(i) जो अंश पूर्णदत्त नहीं हैं उनमें अदत्त भाग की देयता रद्द करके अथवा कम करने से अंश-पूँजी में कमी कर सकती है।

(ii) पूँजी का पूर्णदत्त अंश, जो नष्ट हो गया है, को रद्द करने से पूँजी में कमी की जा सकती है।

(iii) जो अंश पूँजी कम्पनी की आवश्यकता से अधिक है उसका अंशधारियों को भुगतान करने से भी अंश पूँजी में कमी की जा सकती है।

(iv) अन्य किसी ढंग से, जो कम्पनी उचित समझे।

यदि ऐसा परिवर्तन कम्पनी के अन्तर्नियमों के विरुद्ध हो तो सर्व प्रथम विशेष प्रस्ताव द्वारा कम्पनी के अन्तर्नियम बदलने होंगे और तत्पश्चात् ही उक्त लिखित परिवर्तन सम्भव है।

अंश पूँजी को कम करने का कोई भी प्रस्ताव न्यायालय द्वारा स्वीकृत होना चाहिए। कम्पनी द्वारा अंश पूँजी को कम करने का ठहराव न्यायालय द्वारा स्वीकृत हो जाने पर कम्पनी को न्यायालय की आज्ञा से अपने नाम में उस तिथि तक जिसे न्यायालय नियत करे, नाम के अन्तिम शब्दों के रूप में यह वाक्य—'और कम की गई' (And Reduced)—कम्पनी को जोड़ना होगा और उस तिथि तक ये शब्द कम्पनी के नाम का भाग समझे जायेंगे।

ऐसे प्रस्ताव की सूचना तथा उस पर न्यायालय की आज्ञा की सूचना कम्पनी के रजिस्ट्रार को अवश्य देनी चाहिए। इस सम्बन्ध में यह लिखना अनावश्यक न होगा कि निम्न दशाओं में बिना न्यायालय की पुष्टि के भी पूँजी में कमी की जा सकती है :—

(अ) अंशों के हरण की दशा में।

(आ) शोधित पूर्वाधिकार अंशों के शोधन पर।

(इ) अनिर्गमित अंशों के निरस्त होने पर।

यदि कोई कम्पनी अपने सीमानियम तथा अन्तर्नियम के अन्तर्गत अंशधारियों के अधिकारों में थोड़े से अंशधारियों की राय से कुछ परिवर्तन प्रस्तुत कर देती है तो धारा १०७ के अनुसार उस परिवर्तन से सहमत न होने वाले सभी अंशधारी उस परिवर्तन को निरस्त करने के लिए आवेदन-पत्र दे सकते हैं।

(III) पूँजी का पुनर्सङ्गठन—

जबकि विभिन्न प्रकार के अंशों के अधिकार सीमानियम द्वारा नियत हों,

किन्तु उनके परिवर्तन करने के लिये सीमानियम मे कोई आदेश न हो तो धारा १६१ के अनुसार अधिकारो मे परिवर्तन किया जा सकता है। ऐसे परिवर्तन के लिए न्यायालय को आवेदन-पत्र दिया जाता है, जिसमे कि प्रभावित सदस्यो की सभा के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। कम्पनी के पूंजी सम्बन्धी पुनर्संङ्गठन का प्रस्ताव अधिनियम द्वारा नियत बहुमत मे स्वीकार होना चाहिए तथा उसको न्यायालय द्वारा पुष्टि होना भी आवश्यक है।

कम्पनी अधिनियम की धारा ९९ के अनुसार कोई भी कम्पनी अपने विशेष प्रस्ताव द्वारा यह निर्धारित कर सकती है कि उसकी अश पूंजी का अयाचित धन कम्पनी के कार्य की समाप्ति के समय अथवा इसी आशय को छोड़कर अन्य किसी भी समय नही मांगा जायगा। अश पूंजी का न मांगा जाने वाला यह भाग संचित पूंजी (Reserve Capital) कहलाता है।

पार्षद अन्तर्नियम

(Articles of Association)

परिभाषा—

इस प्रलेख मे पार्षद सीमा नियम के अनुसार उद्देशित कार्यों की पूर्ति के लिये एव कम्पनी के सुचारु संचालन के हेतु बनाये गये नियमो तथा उपनियमो का उल्लेख होता है। कम्पनी के सीमानियम तो उसके कार्यक्षेत्र को निर्धारित करते हैं और अन्तर्नियम यह बताते हैं कि उस सीमा के भीतर अमुक कार्य कैसे किया जाय, आन्तरिक प्रबन्ध एव व्यवस्था किस प्रकार होनी चाहिये तथा कम्पनी के विभिन्न पक्षकारो (अशधारियो, ऋणपत्रधारियो, आदि के) अधिकार क्या हैं, आदि। अतएव पार्षद अन्तर्नियम, कम्पनी अधिनियम तथा सीमानियम किसी के भी आदेशो का उलघन नही कर सकते। भारतीय कम्पनी अधिनियम के अनुसार अन्तर्नियम की परिभाषा इस प्रकार दी गई है :—"कम्पनी के नियम जो पहले बनाये गये हो अथवा जिनको कम्पनी अधिनियम के अनुसार समय-समय पर परिवर्तित कर दिया गया है, वे पार्षद अन्तर्नियम कहलाते हैं।" ये अन्तर्नियम छपे होने चाहिये, पैराग्राफो मे क्रमानुसार विभाजित हो एव सीमा नियम के हस्ताक्षरकर्ताओ के इन पर भी हस्ताक्षर होने चाहिये। इन पर पर्याप्त मुद्रांक भी होना आवश्यक है।

अन्तर्नियम की मुख्य बातें—

सामान्यत. पार्षद अन्तर्नियमो मे निम्न बातो का समावेश होता है :—

(१) कम्पनी के अन्तर्नियमो मे सारिणी 'अ' (Table A) किस सीमा तक लागू होगी।

(२) प्रबन्ध अभिकर्त्ता तथा अन्य लोगो के साथ किए हुए अनुबन्धो का ब्योरा।

(३) अंश पूँजी की कुल राशि तथा विभिन्न प्रकार के अंशो मे उनका अधिकारानुसार विभाजन।
(४) अंश आवंटन विधि।
(५) याचना राशि एवं याचनाविधि तथा दो याचनाओ के मध्य समयावधि।
(६) अंश प्रमाण-पत्र निर्गम विधि।
(७) अंशो के हस्तान्तरण की विधि।
(८) अंशो के हरण तथा पुनर्निगम की विधि।
(९) अंश-पूँजी के पुनर्संङ्गठन की विधि।
(१०) सभाओ की विधि।
(११) सदस्यो के मताधिकार।
(१२) संचालको तथा प्रवन्ध अभिकर्त्ताओ की नियुक्ति-विधि एवं उनके पारस्परिक अधिकार।
(१३) कार्यालय-संगठन सम्बन्धी नियम।
(१४) लाभांश की घोषणा एवं भुगतान विधि।
(१५) लेखा पुस्तको को रखने एवं लिखने की विधि।
(१६) अंकेक्षको की नियुक्ति तथा वेतन।
(१७) सदस्यो को सूचना देने की विधि।
(१८) सार्वमुद्रा का उपयोग तथा इससे सम्बन्धित नियम।

सारिणी 'अ' (Table 'A')—

भारतीय कम्पनी अधिनियम सन् १९५६ की प्रथम अनुसूची (First Schedule to the Act) मे किसी कम्पनी की आन्तरिक व्यवस्था एवं प्रबन्ध के हेतु ९९ आदर्श अन्तर्नियमो की सूची दी हुई है, जो कि सारिणी 'अ' के नाम से विख्यात है। यदि कोई कम्पनी अपने अन्तर्नियम न बनाकर सारिणी 'अ' के नियमो को अपनाना चाहती है तो इसका स्पष्ट उल्लेख पार्षद अन्तर्नियम मे होना चाहिए। बहुधा कम्पनियाँ सारिणी 'अ' को उसी सीमा तक अपनाती हैं जहाँ तक कि उनको नियमो के बनाने मे तथा विशेष आवश्यकताओ की पूर्ति मे सहायता मिलती है। यदि इस प्रकार के विशेष अन्तर्नियम कम्पनी के समामेलन के समय प्रस्तुत नही किये जाते तो सीमानियम के ऊपर 'बिना अन्तर्नियमो के रजिस्टर्ड' (Registered Without Articles) लिखा रहना चाहिए। ऐसी परिस्थिति मे सारिणी 'अ' के समस्त नियम कम्पनी पर लागू होगे।

इस प्रकार यदि किसी कम्पनी के अन्तर्नियमो मे कुछ बातो का समावेश नही है तो उन बातो के लिए सारिणी 'अ' के नियम उसी प्रकार लागू होगे, जैसे कि उनका समावेश कम्पनी के अन्तर्नियमो मे हो (धारा २८)। जब तक कम्पनी के अन्तर्नियमो मे उनका त्याग अथवा सुधार का विशेष रूप से उल्लेख न हो।

प्राइवेट कम्पनियो, असीमित कम्पनियो तथा प्रत्याभूति द्वारा सीमित कम्पनियो को अपने निजी अन्तर्नियम बनाकर हीं प्रस्तुत करना चाहिए, क्योकि ये कम्पनियाँ सारिणी 'अ' को पूर्ण रूप से अपनाने मे असमर्थ रहती है। प्राइवेट कम्पनियो को अपने अन्तर्नियम मे धारा ३ (१) (iii) के अनुसार कुछ प्रतिबन्धो का समावेश अनिवाय रूप से करना पडता है। गारन्टी द्वारा सीमित कम्पनी तथा असीमित कम्पनी को धारा २७ के अनुसार अपने अन्तर्नियमो मे अश पूँजी की राशि का उल्लेख करना चाहिए। यदि उनके पास अश पूँजी नही होती तो उन्हे अपने सदस्यो की सख्या दे देना चाहिये।

अन्तर्नियमो का प्रभाव—

रजिस्टर्ड हो जाने पर कम्पनी के अन्तर्नियम कम्पनी तथा इसके सदस्यो को इस प्रकार बद्ध कर देते है कि वे अन्तर्नियम कम्पनी तथा इसके प्रत्येक सदस्य द्वारा हस्ताक्षरित किए गए हो और मानो उनमे कम्पनी तथा उसके सदस्यो की ओर से अन्तर्नियमो को पालन करने के लिए अनुबन्ध किया गया है। परिणाम यह होता है कि अन्तर्नियम कम्पनी को इसके सदस्यो के प्रति, सदस्या को कम्पनी के प्रति तथा सदस्यो को एक दूसरे के प्रति बद्ध कर देते हैं।

किन्तु अन्तर्नियमो मे निहित अनुबन्धो को कोई भी व्यक्ति, जो अशधारी नही है, कार्यान्वित नही करा सकता तथा अशधारी भी केवल उसी सीमा तक कार्यान्वित करा सकता है जिस तक वे कम्पनी के सदस्यो के रूप मे उसकी स्थिति को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार एक मुकद्दमे मे, जिसमे कम्पनी के अन्तर्नियमो मे इस बात का आयोजन करते हुए एक वाक्य था कि 'सतीश' को जीवन भर के लिए कम्पनी का कानूनी सलाहकार नियुक्त कर लिया जाय और जब इस प्रकार कार्य करते हुए सतीश कम्पनी का एक अशधारी बन गया तो यह निर्णय हुआ कि पद को समाप्त करने के सम्बन्ध मे सतीश द्वारा कम्पनी के विरुद्ध अनुबन्ध भङ्ग करने की कोई कार्यवाही नही की जा सकती, क्योकि अन्तर्नियमो मे निहित वाक्य सतीश को उसके एक कानूनी सलाहकार के रूप मे लाभ पहुँचाने के लिए है, न कि एक सदस्य के रूप मे।

फॉस बनाम हारबोटिल के वाद का निर्णय—

जहाँ तक कम्पनी के सदस्यो का व्यक्तिगत रूप मे सम्बन्ध है, सामान्य नियम यह है कि वे सचालको या किसी अन्य व्यक्ति को कम्पनी के अन्तर्नियमो का उल्लघन करने से नही रोक सकते। हाँ, वे कम्पनी की सभा बुलाकर रोक सकते हैं। फॉस बनाम हारबोटिल के मामले मे कम्पनी के दो सदस्यो ने सचालको और अन्य व्यक्तियो के विरुद्ध इस आशय का दावा किया था कि इन सचालको के कपटपूर्ण कार्यों से कम्पनी ने जो हानि उठाई है उसकी क्षतिपूर्ति उनसे कराई जाय, लेकिन यह निर्णय दिया गया कि चूँकि उक्त कार्य बहुमत द्वारा मान्य किये जा सकते थे, इसलिए बहुमत को ही शिकायत करने या सुधार करने का अधिकार है, अत: कम्पनी को ही (न कि

व्यक्तिगत सदस्यो को) यह अधिकार है कि वे कम्पनी के अन्तर्नियमो के खण्डन के लिए मुकद्दमा चलावें।

हां, उक्त नियम के निम्नलिखित अपवाद हैं.—

(१) व्यक्तिगत रूप से सदस्य कम्पनी को कोई अधिकार से बाहर या अवैध कार्य करने से रोकने के लिए, निषेधाज्ञा प्राप्त कर सकते हैं।

(२) जब बहुमत द्वारा अल्पमत के विरुद्ध कोई कपट किया गया हो तो व्यक्तिगत रूप से सदस्य मुकद्दमा चला सकते हैं।

(३) यदि किसी प्रस्ताव को चालाकी से पास करा लिया गया था तो सदस्य व्यक्तिगत रूप से कम्पनी को उसके अनुसार चलने से रोकने के लिए दावा कर सकते हैं।

(४) सदस्य व्यक्तिगत रूप से कम्पनी को एक ऐसे साधारण प्रस्ताव के अनुसार आचरण करने से रोकने के लिये दावा कर सकते है जो कि अन्तर्नियमो के अनुसार नही है।

(५) धारा ३९७ या ३९८ के अन्तर्गत अल्पमत पर अत्याचार या कुप्रबन्ध के आधार पर कोई भी सदस्य न्यायालय से उचित आज्ञा के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकता है।

(६) उक्त नियम सदस्यो को अन्तर्नियमो के अन्तर्गत अपने वैयक्तिक अधिकार (जैसे घोषित लाभाश को प्राप्त करने का अधिकार) प्रवर्त कराने से नही रोकता।

अन्य पक्षकार, जो कम्पनी के सदस्य नही है, कम्पनी को अपने अन्तर्नियमो का उलघन करने से नही रोक सकते, क्योकि यह विषय सदस्यो से सम्बन्धित है, जो किसी भी विशेष प्रस्ताव द्वारा अन्तर्नियमो को बदल सकते हैं।

रायल ब्रिटिश बैंक बनाम टारकन्ड—

एक रजिस्टर्ड कम्पनी के सीमा-नियम एव अन्तर्नियम सार्वजनिक प्रलेख होते है और प्रत्येक व्यक्ति, जो कम्पनी से व्यवहार करता है, उनकी विषय वस्तु से परिचित माना जाता है, अत. यदि कोई व्यक्ति कम्पनी के साथ ऐसा व्यवहार करता है जो कि उसके सीमा नियम या अन्तर्नियमो के विरुद्ध है तो उसे इसका परिणाम भुगतना पडेगा। उदाहरण के लिए, यदि अन्तर्नियमो मे यह आयोजन है कि एक बिल पर कम्पनी की ओर से दो सचालक हस्ताक्षर करें तो जो व्यक्ति केवल एक सचालक द्वारा हस्ताक्षरित बिल स्वीकार कर लेता है उसे बिल का भुगतान मागने का अधिकार न होगा।

इस प्रकार कम्पनी से व्यवहार करने वाले व्यक्तियो को उसके सीमानियम एव अन्तर्नियमो के नियमो से परिचित होना अनुमान कर लिया गया है, किन्तु इससे अधिक नही। यह देखना उनका कर्त्तव्य नही है कि कम्पनी स्वय अपने आन्तरिक नियमो का पालन करती है या नही। रायल ब्रिटिश बैंक बनाम टारकन्ड के मामले मे, सचालको ने

अ को एक बॉण्ड दिया और उन्हें ऐसा करने का अधिकार अन्तर्नियमो मे था, बशर्ते कम्पनी एक प्रस्ताव इस सम्बन्ध मे पास कर दे। वास्तव मे ऐसा प्रस्ताव पास नही किया गया था। यह निर्णय दिया गया कि अ बॉन्ड के सम्बन्ध मे दावा कर सकता है, क्योंकि उसे यह धारणा करने का अधिकार है कि उक्त प्रस्ताव पास हो गया है।

अतः आन्तरिक प्रबन्ध सम्बन्धी मामलो मे एक बाहरी व्यक्ति कम्पनी के विरुद्ध यह अनुमान कर सकता है कि उनका उचित रूप से पालन किया गया है, किन्तु इस नियम के निम्न अपवाद है :—

(१) कम्पनी बद्ध न होगी, यदि उसे अनियमितता का ज्ञान था।

(२) कम्पनी बद्ध न होगी, यदि वह ऐसे प्रलेख पर विश्वास करता है जो कि जाली है।

(३) कम्पनी बद्ध न होगी, यदि मामले की परिस्थितियाँ बडी साधारण है और वह कोई जाँच-पडताल नही करता।

सक्षेप मे, यदि सचालक के कार्य उनके अधिकारो की सीमा मे हो तो बाहरी व्यक्ति यह अनुमान करने के अधिकारी है कि ये कार्य वैध रूप से किये गये होगे। इसे 'आन्तरिक प्रबन्ध का सिद्धान्त' (Doctrine of Indoor Management) कहते है।

पार्षद अन्तर्नियमों में परिवर्तन—

कम्पनी के अधिनियम की धारा ३१ के अनुसार कोई भी कम्पनी अधिनियम के आदेशो का पालन करती हुई तथा अपने सीमा-नियम की सीमा का उलघन न करती हुई एक विशेष प्रस्ताव द्वारा अपने अन्तर्नियमो मे परिवर्तन कर सकती है। अन्तर्नियमो मे परिवर्तन करते समय निम्न सीमाओं का सदैव ध्यान रखना चाहिए :—

(१) परिवर्तन केवल विशेष प्रस्ताव (Special Resolution) द्वारा ही सम्भव है।

(२) ऐसा परिवर्तन भारतीय कम्पनी अधिनियमो के विरुद्ध नही होना चाहिए।

(३) ऐसा परिवर्तन पार्षद सीमानियम द्वारा निर्धारित सीमाओ का भी उलघन नही कर सकता।

(४) यह परिवर्तन ऐसा नही होना चाहिए जिससे कि किसी सदस्य पर दबाव पडे कि वह और अशो को खरीद तथा कम्पनी मे अधिक रुपया जमा करने के लिए अपना अधिक दायित्व बढावे। यह तो तभी सम्भव है जबकि कोई सदस्य इन बातो के लिए अपनी सहमति प्रगट करे।

(५) केन्द्रीय सरकार की पुष्टि के बिना निम्नलिखित बातो मे किया हुआ परिवर्तन पूर्णत. व्यर्थ ही माना जायगा :—

(अ) यदि कोई कम्पनी, जिसमे कि प्रबन्ध अभिकर्त्ता नही है, किसी ऐसे प्रबन्ध सचालक या सचालक की नियुक्ति कर लेती है जो क्रम से अपनी अवधि पर पद न छाडे तथा उसका पारिश्रमिक भी बढा देती है।

(आ) यदि कोई कम्पनी अपने सचालको की सख्या बढा लेती है।

(इ) यदि कोई कम्पनी अपने प्रबन्ध अभिकर्त्ता के कार्यालय से सम्बन्धित नियमो को विस्तीर्ण कर देती है।

(ई) यदि कोई कम्पनी प्रबन्ध अभिकर्त्ता नियुक्त कर लेती है तथा उसका पारिश्रमिक भी बढा देती है।

(६) धारा ४०४ के अनुसार न्यायालय की आज्ञा के बिना कोई भी कम्पनी अपने अन्तर्नियमो मे ऐसा किसी भी प्रकार का परिवर्तन या परिवर्द्धन नही कर सकती जो कि उस आज्ञा मे असम्बन्धित हो।

(७) परिवर्तन से अल्प सख्यक अशधारियो पर किसी प्रकार का कपट भी न हो।

(८) परिवर्तन से कम्पनी को किसी बाहर वाले के साथ अनुबन्ध तोडने का अधिकार नही मिल सकता।

(९) परिवर्तन सद्भावना से तथा कम्पनी के समस्त हित मे होना चाहिए।

नोट—उक्त लिखित अन्तिम तीन प्रतिबन्ध न्यायाधीशो के निर्णय (Judicial Decisions) के सार है।

शक्ति से परे का सिद्धान्त (Doctrine of Ultravires)—

इस सिद्धान्त से हमारा आशय यह है कि कोई भी कम्पनी अपने निर्दिष्ट उद्देश्य से परे कोई काय नही कर सकती और यदि करती भी है तो वह व्यर्थ (Void) माना जावेगा। शक्ति से परे ऐसे व्यर्थ कार्यो के निम्न उदाहरण है :—

(१) कम्पनी के सीमा नियम द्वारा निर्धारित उद्देश्य से परे किया गया कोई कार्य।

(२) वे कार्य जो कि अन्तर्नियमो की शक्ति से परे है, परन्तु सीमानियम के अन्तर्गत आ जाते है। उदाहरण के लिए, अन्तर्नियमा मे निर्दिष्ट दर से कही अधिक किसी पेशगी याचना पर ब्याज देना।

(३) वे कार्य जो सचालको की शक्ति के परे हैं, किंतु कम्पनी की शक्ति के अन्तर्गत आ जाते है, जैसे—किसी अनाधिकृत सचालक द्वारा कम्पनी के किसी कर्मचारी को उपहार प्रदान करना। हाँ, यदि कम्पनी चाहे तो साधारण सभा मे एक साधारण प्रस्ताव द्वारा ऐसे कार्य को वैध रूप दे सकती है।

STANDARD QUESTIONS

1. Define the term 'Company Promotion' What are the rights and duties of a Promoter ?
2. Discuss the legal formalities involved in the formation of a public company.
3. Write a note on the registration of charitable institutions
4. Define Memorandum of Association What are its contents ? Give a specimen of a memorandum of a public company limited by shares
5. Describe the legal procedure involved in the alteration of various clauses of the Memorandum of Association
6. Must every registered company have Articles of Association ? If no such articles are registered, what are the legal consequences ? What must and what may such articles contain ?
7. Can the Articles of Association be altered ? If so how ?
8. What are the salient points of difference between the Memorandum and Articles of Association ?
9. Write explanatory notes on the following —
   (a) Foss V Harbottle Rule,
   (b) Doctrine of Indoor Management and
   (c) Doctrine of Ultravires

अध्याय ११

पूँजी की प्राप्ति एवं व्यापार का प्रारम्भ

'प्रविवरण कम्पनी की आधारशिला है। उसमे उल्लेखित तथ्यो के आधार पर ही विनियोगिता कम्पनी मे धन लगाने के लिये आकर्षित होते हैं अत विनियोग करने के पूर्व विनियोजक को प्रविवरण का भली प्रकार अध्ययन कर लेना चाहिए, जिससे उसे हानि की सम्भावना न रहे।'

कम्पनी के समामेलन के उपरान्त जब उस समामेलन का प्रमाण पत्र मिल जाता है, तो पूँजी की समस्या सामने आती है जिसके अभाव में गाड़ी आगे नहीं बढ़ सकती।

पूँजी की प्राप्ति के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन प्रविवरण का निर्गमन है। वैधानिक निषेध होने के कारण प्राइवेट कम्पनियाँ प्रविवरण जारी नही कर सकती। वे अपने व्यापार के लिये आवश्यक पूँजी अपने सदस्यो से ही प्राप्त करती हैं, जनता से नही। परन्तु पब्लिक कम्पनियो के लिए पूँजी प्राप्त करने का एक आवश्यक साधन प्रविवरण निर्गमित करना ही है।

प्रविवरण की परिभाषा—

कम्पनी अधिनियम की धारा २ (३६) के अनुसार, 'प्रविवरण' से तात्पर्य ऐसे किसी भी प्रलेख से है जो कि प्रविवरण के रूप मे वर्णित या निर्गमित हो। प्रविवरण की परिभाषा के अन्तर्गत ऐसा कोई भी नोटिस, परिपत्र, विज्ञापन अथवा निमन्त्रण सम्मिलित है, जिसके द्वारा कम्पनी के अंशो अथवा ऋणपत्रो के क्रय के लिए जनता को आमन्त्रित किया जाता है।[1] प्रविवरण एक ऐसे प्रलेख को कहते है, जिनके द्वारा अंश अथवा ऋण पत्रो को जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। प्रविवरण वास्तव मे कम्पनी की आधार-शिला है, क्योकि इसमे दिये हुये विवरण के आधार पर ही जनता अंश अथवा ऋण-पत्रो के क्रय के लिए आकर्षित होती है। प्रविवरण के निर्गमन का प्रधान उद्देश्य सर्व साधारण से पूँजी के लिए प्रार्थना करना है। समाचार पत्रीय विज्ञापन भी प्रविवरण की परिभाषा म शामिल किए जाते हैं।[2]

---

1 **Prospectus**—In the definition of '*Prospectus*' the words "any document described or issued as a prospectus" were substituted for the words 'any prospectus' by the Amending Act of 1960 The amendment is clarificatory in nature and adopts the suggestion of the Report of the Sastri Committee in which it was observed that the definition of a 'prospectus' as "any prospectus, or notice etc", though borrowed from the English Act, was not a happy one, and that what was really meant was that any document described or issued as a prospectus was a prospectus.

2 **Newspaper Advertisement**—The definition of a prospectus includes a newspaper advertisement The Report of the Sastri Committee contains the following valuable observations on newspaper advertisements "Sections 56 to 65 of the Act contain stringent provisions regarding the contents of prospectus but section 66 provides that where any prospectus is published as a newspaper advertisement, it shall not be necessary in the advertisement to specify the contents of the *memorandum* or certain other particulars referred to in the section There is no reason to exclude newspaper advertisements from the definition of prospectus if there

(Contd. on next page)

प्रविवरण का रजिस्ट्रेशन एवं निर्गमन—

प्रत्येक प्रविवरण पर, जो कि कम्पनी द्वारा निर्गमित किया जाय, तिथि पड़ी होनी चाहिए और यह तिथि ही इसके निर्गमन की तिथि मानी जाती है। प्रत्येक प्रविवरण के मुख-पृष्ठ पर यह लिखा होना चाहिये कि उसकी एक प्रति रजिस्ट्री के लिए प्रस्तुत की जा चुकी है। प्रत्येक सचालक अथवा प्रस्तावित सचालकों द्वारा इस पर हस्ताक्षर भी होने चाहिए। रजिस्ट्रार के कार्यालय में फाइल की जाने वाली प्रविवरण की प्रति के साथ निम्न प्रलेख भी सलग्न होने चाहिए :—

(१) प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अनुबन्ध की एक प्रति।

(२) किसी विशेषज्ञ की निर्गमन के लिए सम्मति, जिसकी रिपोर्ट प्रविवरण में दी होनी चाहिये। और

(३) उसमें वर्णित वित्तीय रिपोर्टों में किए गये समायोजनों का एक हस्ताक्षरित विवरण।

प्रविवरण एक छोटी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित होनी चाहिये। यह विभिन्न रंगों एवं चित्रों या फोटो के साथ भी प्रकाशित की जा सकती है। इसका निर्गम विज्ञापन द्वारा, डाक द्वारा अथवा बैंकों एवं अन्य मध्यस्थों द्वारा कराया जाता है। प्रविवरण के अन्त में आवेदन पत्र भी दिया जाता है, जिसे भर कर विनियोगक अंश अथवा ऋण पत्रों के लिए कम्पनी से प्रार्थना करते हैं।

प्रविवरण में दी जाने वाली बातें—

साधारणतः प्रवर्तक विनियोगकों को आकर्षित करने के लिए प्रविवरण में कम्पनी के अच्छे पहलुओं पर ही जोर देते हैं। कभी-कभी तो यहाँ तक होता है कि

---

is an invitation to the public to subscribe for shares or debentures A mere announcement in a newspaper about the formation of a company or of the fact of the publication of a prospectus by the company in connection with the issue of shares or debentures without any invitation to the public to subscribe need not be included in the definition of prospectus provided the place where a copy of the prospectus may be obtained is stated in the announcement" The real test thus appears to be other the advertisement contains an invitation to the public to subscribe for shares or debentures. If it is announced in the advertisement that shares are available to the public and all particulars which the public may be difficult to say that the publication of such an advertisement does not contain an invitation to the public to subscribe. The mere description at the heading of an advertisement that it is not a prospectus is not conclusive.

प्रविवरण के रचियता नाना प्रकार के सुन्दर चित्रादि बनाकर सच्ची बातों की अतिश योक्ति करते हैं या उन्हें छिपाते हैं और असत्य बातों के प्रकाशन में भी नहीं हिचकते। प्रविवरण में यथार्थ बातों का यथाविधि चित्रण हो, इसी उद्देश्य से कम्पनी अधिनियम के अनुसार सभी ज्ञातव्य एवं महत्त्वपूर्ण बातों का इसमें उल्लेख होना अनिवार्य है, जिससे कि विनियोग करने वाली जनता की सुरक्षा हो सके।

एक कम्पनी द्वारा निर्गमित प्रत्येक प्रविवरण में निम्न सूचनायें देना अनिवार्य है :—

(१) कम्पनी के उद्देश्य।

(२) कम्पनी की अधिकृत अंश पूंजी, विभिन्न प्रकार के अंशों में इसका विभाजन, अंशों की संख्या तथा अंशधारियों के क्रमिक अधिकार।

(३) संचालकों, प्रबन्ध संचालक, अभिकर्त्ता, सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष तथा प्रबन्धक आदि के विषय में पूर्ण विवरण (जैसे उनका नाम, पते निरूपण, लिए हुये अंशों की संख्या, वेतन, अधिकारों पर प्रतिबन्ध आदि)।

(४) न्यूनतम प्रार्थित पूंजी (Minimum Subscription) की वह राशि जिसकी प्राप्ति के बाद संचालकगण अंशों का आवंटन कर सकते हैं। न्यूनतम प्रार्थित पूंजी से आशय उस धन से है जो निम्न बातों के लिए पर्याप्त है—(अ) खरीदी हुई सम्पत्ति का मूल्य चुकाने के लिये, (आ) प्रारम्भिक व्यय, (इ) कम्पनी द्वारा उधार ली हुई धन राशि को चुकाने के लिये, (ई) कार्यशील पूंजी तथा (उ) अन्य किसी व्यय के लिये।

(५) अभिदान सूचियों (Subscription) के खुलने का समय।

(६) आवेदन तथा आवंटन पर दी जाने वाली धन-राशियाँ।

(७) अंशों अथवा ऋण पत्रों के लिए अभिदान से सम्बन्धित वैकल्पिक अधिकारों का उल्लेख।

(८) पिछले दो वर्षों के भीतर रोकड के अतिरिक्त अन्य प्रतिफल के लिये निर्गमित अंशों अथवा ऋण-पत्रों की संख्या एवं धन राशि।

(९) पिछले दो वर्षों में निर्गमित अथवा निर्गमन किये जाने वाले प्रत्येक अंश पर चुकाये गये या चुकाये जाने वाले प्रीमियम की धन राशि।

(१०) अभिगोपकों (Underwriters) के नाम तथा संचालकों का मत कि अभिगोपकों के साधन अपने दायित्वों को निबाहने में कहाँ तक पर्याप्त हैं।

(११) निर्गमन से प्राप्त होने वाली धन राशि में कम्पनी द्वारा क्रय की जाने वाली सम्पत्ति का विवरण, क्रेताओं के नाम और पते प्रत्येक को चुकाई जाने वाली धन राशि तथा पिछले २ वर्षों में इनसे सम्बन्धित

ऐसे व्यवहारो का विवरण जिनमे कम्पनी के प्रवर्तक अथवा सचालक का कोई हित हो ।

(१२) अशो अथवा ऋण पत्रो के निर्गमन पर पिछले दो वर्षो मे किसी व्यक्ति को चुकाये गये या चुकाये जाने वाले कमीशन और इसके प्राप्तकर्ता का पूर्ण विवरण ।

(१३) प्रारम्भिक व्ययों तथा निर्गमन के व्ययो की धन राशि ।

(१४) पिछले दो वर्षों मे किसी प्रवर्तक अथवा सचालक को चुकाये गये लाभ और उसके प्रतिफल का उल्लेख ।

(१५) पिछले २ वर्षों मे कम्पनी के व्यवसाय की साधारण प्रगति के बाहर कम्पनी द्वारा किए गये महत्वपूर्ण अनुबन्धो की तिथियाँ, पक्षकार तथा उनकी मूल बातें ।

(१६) अकेक्षको के नाम व पते ।

(१७) पिछले २ वर्षों मे कम्पनी के प्रवर्त्तक अथवा कम्पनी द्वारा क्रय की गई या क्रय की जाने वाली सम्पत्ति मे सचालको तथा प्रवर्तको के हित का विवरण ।

(१८) सदस्यो पर कम्पनी की सभाओ मे उपस्थित होने, बोलने तथा मत देने से सम्बन्धित उनके अधिकार पर अथवा अशो को हस्तान्तरित करने के अधिकार पर अथवा सचालको पर उनके प्रबन्ध सम्बन्धी अधिकारो पर लगाये गये प्रतिबन्धो का उल्लेख ।

(१९) वह अवधि जितने दिनो से कम्पनी का व्यापार चलता आया है ।

(२०) पिछले २ वर्षों मे कम्पनी के किसी कोष अथवा लाभ को तथा सम्पत्ति के पुनर्मूल्याकन से उत्पन्न आधिक्य को पूंजी मे परिणित करने के विवरण ।

(२१) यथोचित समय तथा स्थान, जहाँ कम्पनी के समस्त चिट्ठो तथा लाभ-हानि खाते की प्रतियो का निरीक्षण किया जा सके ।

(२२) कम्पनी की सम्पत्ति तथा देनदारियो से सम्बन्धित तथा इसके लाभ अथवा हानि एव पिछले ५ वर्षो मे चुकाये गये लाभाशो के सम्बन्ध में कम्पनी के अकेक्षक की रिपोर्ट ।

(२३) प्रविवरण मे नामाकित एक चार्टर्ड लेखापाल द्वारा दी गई एक ऐसी ही रिपोर्ट, यदि निर्गमन से प्राप्त राशि को किसी व्यापार के क्रय मे अथवा उसके ५०% से अधिक हित के क्रय मे लगाया जाना हो ।

(२४) प्रविवरण मे नामाकित एक चार्टर्ड लेखापाल द्वारा एक ऐसी ही रिपोर्ट, यदि निर्गमन से प्राप्त राशि को किसी दूसरी कम्पनी के क्रय मे प्रयोग करना हो, जिससे कि दूसरी कम्पनी क्रय करने वाली कम्पनी को सहायक कम्पनी बन जाये ।

स्टॉक एक्सचेन्ज से आज्ञा लेना—

प्राय: प्रविवरण मे इस बात का उल्लेख कर दिया जाना है कि प्रस्तुत अंशो या ऋण-पत्रो मे व्यवहार करने के विषय मे आज्ञा प्रदान करने के लिए स्टॉक एक्सचेन्ज से प्रार्थना की जावेगी। ऐसी दशा मे कम्पनी को, प्रविवरण के प्रथम निर्गमन की तिथि के बाद १० दिन के अन्दर ही, किसी मान्यता प्राप्त स्टॉक एक्सचेन्ज से ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए। यदि निर्धारित समय के भीतर ऐसी प्रार्थना नही की जाती है या प्रार्थना अस्वीकार कर दी जाती है तो प्रविवरण के आधार पर प्राप्त प्रार्थना-पत्रो के सम्बन्ध मे किया गया आवन्टन व्यर्थ होता है और कम्पनी को समस्त प्रार्थना राशि (जो कि एक अनुसूचित बैंक मे एक पृथक खाते मे रखी जाती है) तुरन्त ही लौटा देनी पड़ेगी। यदि इस प्रकार लौटाने का दायित्व उदय होने के ८ दिन के भीतर धन राशि वापस नही की जाती तो सचालको को इसे ५% प्रति वर्ष की दर से ब्याज सहित लौटाना पड़ेगा और इस सम्बन्ध मे वे सामूहिक एव व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होगे। हाँ, वह सचालक इस प्रकार दायी नही होगा जो कि यह प्रमाणित कर सकता है कि धन को लौटाने से सम्बन्धित त्रुटि उसके किसी दुराचार अथवा उपेक्षा के कारण नही हुई।

एक प्राइवेट कम्पनी के पब्लिक कम्पनी में परिणित होने पर निर्गमित प्रविवरण—

जब कोई प्राइवेट कम्पनी पब्लिक कम्पनी मे परिवर्तित होना चाहती है तो उसे कम्पनी अधिनियम की धारा ४४ के अनुसार अपने पार्षद अन्तर्नियमो से निम्न प्रतिबन्धो को हटाना पड़ता है—

(अ) अंशो के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध,

(ब) सदस्यो की सख्या से प्रतिबन्ध,

(स) जनता को अंश तथा ऋण पत्रो के लिए आमन्त्रित करने का निषेध।

इन प्रतिबन्धो को हटा देने से उसका पब्लिक कम्पनी के रूप मे अस्तित्व समाप्त हो जाता है और जिस तिथि को ये परिवर्तन अन्तर्नियमो मे किये जायें उस तिथि के १४ दिन के भीतर उसे रजिस्ट्रार के पास अपना प्रविवरण अथवा स्थानापन्न प्रविवरण फाइल करना अनिवार्य है। ऐसी कम्पनी द्वारा प्रकाशित विवरण मे उन सब बातो का उल्लेख अनिवार्य है जो कि किसी नई कम्पनी के प्रविवरण मे देना आवश्यक समझा जाता है। हाँ, इतना अवश्य है कि ऐसी कम्पनियो का प्रारम्भिक व्ययो का अनुमानित या वास्तविक लेखा-जोखा नही देना पड़ता।

विदेशी कम्पनियाँ

परिभाषा एवं समामेलन—

'विदेशी कम्पनी' से आशय ऐसी कम्पनी का है जिसका समामेलन भारत के बाहर हुआ है। एक विदेशी कम्पनी को, जिसका भारत मे भी व्यापारिक स्थान है,

ऐसा करने के एक माह के भीतर नई दिल्ली मे रजिस्ट्रार के पास तथा उस राज्य के भी रजिस्ट्रार के पास जिसमे कम्पनी के व्यवसाय का मुख्य कार्यालय स्थित है, निम्न प्रलेख फाइल करने चाहिए—

(१) कम्पनी के पार्षद सीमानियम तथा अन्तर्नियमों की अथवा इसके सविधान की व्याख्या करने वाले किसी अन्य प्रलेख की एक प्रमाणित प्रतिलिपि तथा (यदि वह अंग्रेजी मे नहीं है) इसका प्रमाणित अनुवाद।

(२) कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय का पूरा पता।

(३) कम्पनी के सचालकों तथा सेक्रेटरी की एक सूची, जिसमे उनके विषय में पूरा विवरण हो।

(४) भारत मे स्थित एक या अधिक व्यक्तियों के नाम व पते, जो कम्पनी की ओर से समस्त सूचनाओ को स्वीकार करने के लिए अधिकृत हैं।

(५) भारत मे कम्पनी के उस कार्यालय का पूरा पता जो भारत मे कम्पनी के मुख्य व्यापारिक स्थान के रूप म माना जायगा।

उपर्युक्त प्रलेखो मे किये गए किसी परिवर्तन के विवरण भी निर्धारित अवधि के भीतर रजिस्ट्रार के कार्यालय मे फाइल कर देने चाहिये।

हिसाब की पुस्तकें—

हिसाब की पुस्तको के सम्बन्ध मे भारत स्थित विदेशी कम्पनी को अन्य भारतीय कम्पनियो की भाँति कम्पनी अधिनियम के आदेशो का पालन करना चाहिए। इसे अपने हिसाब की पुस्तके भारत म अपने व्यवसाय के मुख्य स्थान पर रखनी चाहिए। विदेशी कम्पनी के वार्षिक खातो म उसकी सहायक कम्पनिया के विवरण भी सम्मिलित होने चाहिये। इन प्रलेखो की ३ प्रतियाँ तथा भारत मे कम्पनी द्वारा स्थापित समस्त व्यापारिक स्थानो की सूची की भी ३ प्रतियाँ रजिस्ट्रार को भेजी जानी चाहिए। यदि उक्त प्रलेख अग्रेजी मे न हो तो उनका प्रमाणिक अनुवाद भेजना चाहिए।

विवरणो का प्रकाशन—

प्रत्येक विदेशी कम्पनी को निम्न विवरण प्रकाशित करना चाहिए :—

(१) भारत मे अशो अथवा ऋण पत्रो के विक्रय के हेतु निर्गमित प्रत्येक विवरण मे उस देश का नाम भी देना चाहिए जहाँ कि कम्पनी का समामेलन हुआ है।

(२) इसे भारत मे प्रत्येक स्थान पर जहाँ कि यह व्यवसाय सचालन करती है, अपना नाम तथा उस देश का नाम जहाँ कि वह समामेलित हुई है, (अग्रेजी मे तथा साथ ही साथ एक स्थानीय भाषा मे) स्पष्ट रूप मे प्रदर्शित करना चाहिए।

(३) इसे अपने समस्त प्रकाशनो मे, जैसे—पत्र, विज्ञापन, नोटिस आदि मे अपना नाम तथा उस देश का नाम जहाँ वह समामेलित हुई है, अग्रेजी मे देना चाहिये।

(४) यह तथ्य कि इसके सदस्यो का दायित्व सीमित है, इसके प्रत्येक

प्रविवरण और समस्त प्रकाशनों में वर्णित रहना चाहिए तथा भारत में प्रत्येक स्थान पर, जहाँ कि यह व्यवसाय करती है, प्रदर्शित किया जाना चाहिए।

विदेशी कम्पनी का प्रविवरण—

धारा ६०३ के अनुसार कोई भी व्यक्ति भारत में, भारत के बाहर समामेलित किसी कम्पनी के अंश अथवा ऋण-पत्र खरीदने के लिए प्रविवरण का निर्गमन, प्रसार एवं वितरण तभी कर सकता है जबकि उस पर तिथि पड़ी हो और उसमें निम्न विषयों के सम्बन्ध में पूर्ण ब्यौरा दिया हो—

(१) कम्पनी के संविधान की व्याख्या करने वाला प्रलेख है।

(२) वह सनियम जिसके अन्तर्गत कम्पनी का समामेलन हुआ है।

(३) भारत में उस स्थान का पता जहाँ पर उपर्युक्त सनियम, विलेख या उसकी प्रतिलिपियों का निरीक्षण किया जा सकता है।

(४) वह देश जहाँ पर कम्पनी का समामेलन हुआ है तथा समामेलन की तिथि।

(५) यदि कम्पनी ने भारत में अपना व्यावसायिक स्थान स्थापित किया है तो उसके भारत स्थित प्रमुख कार्यालय का पूरा पता।

भारत में विदेशी कम्पनी द्वारा किसी प्रविवरण का निर्गमन करने के पहले यह आवश्यक है कि इसकी एक प्रतिलिपि, जो कम्पनी के चेयरमैन व दो संचालकों द्वारा इस आशय से प्रमाणित हो कि प्रबन्ध-समिति ने इसे एक प्रस्ताव द्वारा स्वीकृत कर दिया था, रजिस्ट्रार के पास रजिस्ट्रेशन के लिये फाइल कर दी जाय।

प्रविवरण के स्थान में फाइल किया जाने वाला प्रविवरण—

कोई भी कम्पनी, जो अपने निर्माण होने पर प्रविवरण जारी न करे, अपने अंशों अथवा ऋण-पत्रों का आवण्टन उस समय तक नहीं कर सकती जब तक कि वह अपने संचालकों द्वारा हस्ताक्षरित एक स्थानापन्न विवरण (Statement in lieu of Prospectus) रजिस्ट्रार के पास फाइल नहीं कर देती। स्थानापन्न विवरण में निम्न बातों का सम्पूर्ण ब्यौरा आवश्यक है—

(अ) प्रारम्भिक व्यय की राशि।

(आ) संचालकों तथा प्रबन्धकों सम्बन्धी सूचना तथा उनका वेतन।

(इ) खरीदी हुई सम्पत्ति का प्रतिफल।

(ई) अंश पूँजी सम्बन्धी सूचना।

(उ) अभिगोपन सम्बन्धी विवरण।

(ऊ) कम्पनी के अंकेक्षकों के नाम व पते।

(ए) संचालक एवं प्रबन्धकों के प्रवर्तन में या खरीदी हुई सम्पत्ति में हितों का ब्यौरा।

विक्रय-प्रस्ताव—

'विक्रय प्रस्ताव' (Offer for sale) से हमारा आशय एक ऐसे प्रलेख से होता है जिसके द्वारा कोई कम्पनी अपने अंशो तथा ऋण पत्रो को सर्वसाधारण के सामने उपस्थित करती है। धारा ६४ के अनुसार ऐसा प्रस्ताव सब आशयो के लिए कम्पनी द्वारा जारी किया गया प्रविवरण समझा जायगा। ऐसे प्रलेख मे यह सब सूचना देना अनिवार्य है जो कि एक प्रविवरण मे देनी चाहिये। ऐसे प्रलेख की एक प्रति तिथि पड़ने के बाद तथा कम से कम दो सचालको के हस्ताक्षरो के उपरान्त रजिस्ट्रार के कार्यालय मे अवश्य भेजनी चाहिए।

विक्रय प्रस्ताव मे प्रविवरण की सूचना के अतिरिक्त निम्न बातो का समावेश होना आवश्यक है :—

(अ) प्रस्ताव से सम्बन्धित कम्पनी के समस्त अंशो और ऋण-पत्रो की शुद्ध धन राशि (Net amount)।

(ब) वह समय तथा स्थान जहाँ पर अंशो और ऋण पत्रो से सम्बन्धित अनुबन्धो का निरीक्षण किया जा सके।

प्रस्ताव करने वाले व्यक्तियो को भी विक्रय प्रस्ताव पर हस्ताक्षर करना चाहिए, मानो उनके नाम प्रविवरण मे सचालको के रूप मे लिखे गए हैं। यदि प्रस्तावकर्ता कोई कम्पनी या फर्म है तो यह पर्याप्त माना जावेगा कि विक्रय प्रस्ताव दो सचालको द्वारा अथवा कम से कम आधे साझेदारो द्वारा हस्ताक्षरित हो।

प्रविवरण मे अधिनियम द्वारा अनिवार्य सूचना न देने का प्रभाव—

यदि प्रविवरण मे अधिनियम के अनुसार आवश्यक बातें नही दी गई है अथवा उसमे अंशो के खरीदने के लिए जनता आकर्षित हो, इस उद्देश्य से कोई असत्य अथवा कपटपूर्ण कथन किया गया है तो ऐसी परिस्थिति मे निम्न दुष्परिणाम होगे :—

भूल के परिणाम—

यदि किसी प्रविवरण मे उन समस्त बातो का समावेश नही है जिनका होना वैधानिक दृष्टि से आवश्यक है तो ऐसी दशा मे कोई भी व्यक्ति, जो ऐसे प्रविवरण पर विश्वास करके अंश अथवा ऋण पत्र खरीद लेता है, कम्पनी की इस भूल के कारण अंशो अथवा ऋण पत्रो को लेने के हेतु किये गये अनुबन्ध को न तो तोड सकता है और न कोई अन्य उपचार प्राप्त करता है। हाँ, यदि उसे कुछ क्षति उठानी पडी है तो क्षतिपूर्ति के लिए प्रबन्धको, सचालको अथवा प्रविवरण के निर्गमन के लिये उत्तरदायी प्रवर्तको के विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है, किन्तु ये व्यक्ति निम्न बातो के आधार पर अपने दायित्व से मुक्त भी हो सकते हैं :—

(१) कि उन्हे इस भूल का ज्ञान ही नही था।

(२) कि वह भूल उनको किसी सद्भावनापूर्ण 'तथ्य सम्बन्धी त्रुटि' (Honest mistake of fact) के कारण हुई है।

(३) कि न्यायालय की सम्मति में वह भूल महत्त्वपूर्ण नहीं है अथवा ऐसी है जो मामले की सब परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए क्षमा की जा सकती है।

असत्य विवरण देने का प्रभाव—

यदि किसी विनियोगक ने कम्पनी के प्रविवरण में दिए असत्य विवरणों को सच समझते हुये अंश अथवा ऋण पत्र खरीदे हैं तो उनको निम्न अधिकार होंगे :—

(१) अनुबन्ध को तोडने का अधिकार—भारतीय अनुबन्ध अधिनियम की धारा १९ के अनुसार असत्य प्रदर्शन अथवा कपट की दशा में अनुबन्ध व्यर्थनीय (Voidable) हो जाता है, अतः प्रविवरण में असत्य कथनों की दशा में अंश अथवा ऋण पत्रों का क्रेता अनुबन्ध को तोडने का अधिकार (Right of Rescission) रखता है। अर्थात् वह न्यायालय में प्रार्थना पत्र देने पर अपने दिए हुए रुपयों को ब्याज सहित वापिस पा सकता है और उसका नाम कम्पनी के सदस्यों के रजिस्टर अथवा ऋण-पत्रधारियों के रजिस्टर से काट दिया जायगा। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि निम्न परिस्थितियों में कोई भी व्यक्ति अनुबन्ध तोड़ने का यह अधिकार खो देगा :—

(अ) यदि वह असत्य बात की जानकारी के बाद उचित समय के भीतर न्यायालय में वाद प्रस्तुत नहीं करता।

(आ) यदि वह असत्य बात की जानकारी के बाद भी व्यर्थनीय अनुबन्ध का अनुमोदन करता है तथा अंशों के बचने, लाभांश को स्वीकार करने, ऋण पत्रों को प्राप्त करने अथवा सभा में मत देने आदि का कार्य करता है। अथवा

(इ) यदि अनुबन्ध को तोडने के अधिकार का प्रयोग करने से पूर्व ही कम्पनी का समापन हो जावे।

(२) कपट के लिए क्षतिपूर्ति—यदि यह सिद्ध कर दिया जाय कि असत्य कथन सकपट दिये गये थे तो अंश अथवा ऋण पत्रों का क्रेता कपट के लिए क्षतिपूर्ति का दावा कर सकता है। ऐसी कार्यवाही स्वयं कम्पनी के विरुद्ध भी की जा सकती है, किन्तु अंशों अथवा ऋण पत्रों के लेन के लिये किये गये अनुबन्ध का निरस्त करने के बाद ही ऐसा किया जा सकता है। अर्थात् आबन्टकी (Allottee) ऐसा नहीं कर सकता कि अंशों को भी रखे रहे और क्षतिपूर्ति भी माँगे। ऐसी कार्यवाही सचालकों, प्रवर्तकों तथा अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध भी, जो प्रविवरण निर्गमन के लिए उत्तरदायी हैं, की जा सकती है, भले ही अंशों को लेने का अनुबन्ध निरस्त किया गया हो या नहीं। कपट के लिए अनुबन्ध अधिनियम के अन्तर्गत की गई कार्यवाही में सफल होने के लिए वादी को केवल यही प्रमाणित नहीं करना पडता कि प्रविवरण में एक महत्त्वपूर्ण मिथ्या वर्णन किया गया है, वरन् यह भी सिद्ध करना पड़ता है कि वह कथन कपट के उद्देश्य से किया गया था।

(३) कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत क्षतिपूर्ति—यदि किसी अशधारी या ऋण पत्रधारी ने कम्पनी के विरुद्ध अपना अनुबन्ध तोडने का अधिकार खो दिया है और जब कपट की शिकायत के आधार पर क्षतिपूर्ति के लिए दावा करना भी उसके लिए कठिन हो तो वह कम्पनी अधिनियम की धारा ६२ के अन्तर्गत क्षतिपूर्ति प्राप्त करने के लिय अपने वैधानिक अधिकार का प्रयास कर सकती है। इस धारा के अनुसार जब किसी प्रविवरण मे असत्य कथन रहते है और आवेदक ने अशो अथवा ऋण पत्रो के लिए आवेदन करते समय उन पर विश्वास किया हो तो वह असत्य वर्णन के कारण होने वाली अपनी हानि के लिए क्षतिपूर्ति का दावा कर सकता है। क्षतिपूर्ति प्रवर्तको, सचालको तथा अन्य व्यक्तियो से, जिन्होने प्रविवरण के निर्गमन को अधिकृत किया था, प्राप्त की जा सकती है।

किन्तु निम्न परिस्थितियो मे प्रविवरण जारी करने वाले व्यक्ति क्षतिपूर्ति के लिये उत्तरदायी न होगे, अर्थात् यदि वे यह सिद्ध कर दें कि—

(अ) उसको प्रविवरण मे दिए गये असत्य कथन मे सच होने मे विश्वास करने के समुचित कारण थे और यह विश्वास उसे आबन्टन तक बना रहा।

(ब) वह असत्य कथन किसी योग्य एव अनुभवी विशेषज्ञ द्वारा प्रमाणित किया गया था।

(स) वह असत्य विवरण किसी राजकीय प्रलेख से उदधृत किए हये भाग (Extract) की प्रमाणित प्रतिलिपि है।

(द) उसने प्रविवरण के निर्गमन या प्रकाशन के लिए अपनी अनुमति वापिस ले ली थी अथवा बिल्कुल ही न दी थी।

(य) उसके बिना जाने ही प्रविवरण प्रकाशित कर दिया गया अथवा जब वह प्रकाशित हो गया तो उसने यह सूचना सर्व साधारण को दे दी थी कि बिना मेरी सम्मति के प्रविवरण का प्रकाशन किया गया है। अथवा

(फ) प्रविवरण के प्रकाशन के बाद तथा अश आवन्टन के पूर्व ही उसने विवरण की त्रुटियो को समझकर अपनी अनुमति वापिस ले ली थी तथा इस विषय म सर्व साधारण को सूचित कर दिया था।

दण्ड सम्बन्धी दायित्व—

धारा ६३ के अन्तर्गत ऐसा व्यक्ति जो असत्य कथन वाले प्रविवरण के निर्गमन को अधिकृत करता है, दण्ड सम्बन्धी दायित्व (Criminal Liability) का भी भागी होता है। उसे २ वर्ष का कारागार अथवा ५,००० का जुर्माना अथवा दोनो ही दण्ड दिये जा सकते हैं। हाँ, यदि वह सिद्ध कर दे कि उक्त कथन महत्वहीन है अथवा उस कथन को सत्य मानने के लिए उसके पास उचित कारण थे तो वह दायित्व से मुक्त हो जायगा।

यदि कोई व्यक्ति जानबूझकर अथवा यों ही कोई ऐसा कथन करता है या वचन देता है या भविष्यवाणी करता है जो असत्य है, मिथ्या अथवा भ्रमपूर्ण है अथवा महत्त्वपूर्ण तथ्यों के छुपाव द्वारा किसी अन्य व्यक्ति को अंश या ऋण-पत्रों के क्रय के लिए या प्रतिभूतियों के अभिगोपन के लिए प्रेरित करता है अथवा ऐसा अनुबन्ध न करने के लिए उन्हें प्रेरित करता है जिसके द्वारा अंश या ऋण-पत्रों के मूल्यों में परिवर्तन के कारण उसे स्वयं लाभ हो तो ऐसे दोषी व्यक्ति को पाँच वर्ष का कारागार अथवा १,०००) का अर्थ दण्ड या दोनों ही हो सकते हैं।

प्रविवरण का अध्ययन करना
(Scanning of a Prospectus)

प्रस्तावना—

श्री डब्ल्यू० कॉलिन ब्रूक्स ने अपनी विख्यात पुस्तक "Theory and Practice of Finance" में लिखा है कि : "प्रविवरण किसी उदार, आशावादी तथा विश्वबन्धुत्व प्रेमी व्यक्ति द्वारा निर्माण किया हुआ ऐसा प्रलेख होता है जो कि दूसरे की जेब से धन निकलवाने की दृष्टि से ही बनाया जाता है। जब कोई सरकार अथवा अन्य प्रतिष्ठित सार्वजनिक संस्था ऋण लेती है, तो उसकी प्रार्थना अत्यन्त सीमित एवं महत्त्वपूर्ण शब्दों में होती है, परन्तु जब कोई साधारण कम्पनी धन उधार लेने के लिए जनता से निवेदन करती है तो वह केवल जनता में से सब प्रकार के व्यक्तियों को ही आमन्त्रित नहीं करती, वरन् उन व्यक्तियों को भी सदस्य बनाने की अभिलाषा रखती जिनका कि अभी संसार में विशेष अस्तित्व ही नहीं है।" अतः जन-साधारण को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए प्रवर्तक एवं संचालकगण प्रविवरण को अत्यन्त रोचक बनाने का प्रयत्न करते हैं और कभी-कभी असत्य बातों का भी प्रदर्शन करते हैं। यद्यपि कपट व धोखा रोकने के हेतु सरकार की ओर से पर्याप्त प्रबन्ध कर दिया गया है और वैधानिक नियम बना दिए गये हैं तथा पूँजी के निर्गमन पर सरकार द्वारा प्रतिबन्ध लगा दिया गया है, परन्तु फिर भी इसका कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा है, अतः विनियोक्ताओं का कर्त्तव्य है कि वे ठोक बजाकर प्रतिभूतियों का क्रय करें अर्थात् स्पष्ट शब्दों में हम कह सकते हैं कि विनियोग करने के पूर्व विनियोगक को प्रविवरण का भली प्रकार अध्ययन कर लेना चाहिए, जिससे उसे हानि की सम्भावना न रहे। अब प्रश्न यह है कि प्रविवरण का अध्ययन कैसे किया जाये। इस समस्या के हल में निम्न बातों से बड़ी सहायता मिलेगी—

(१) व्यापार का स्वरूप—किसी व्यापार का यश अथवा अपयश अधिकांशतः उसके स्वरूप पर निर्भर करता है, अतः व्यापार के स्वरूप का अध्ययन करते समय उन सभी घटकों पर विचार करना चाहिए जिनसे व्यापार प्रभावित होता है। इसके साथ ही श्रमिकों की व्यवस्था तथा उनकी पूर्ति, कच्चे माल की प्राप्ति, बाजार, पूँजी की प्राप्ति, प्रतिद्वन्दिता की स्थिति, वस्तु निर्माण तथा व्यवसाय सम्बन्धी अन्य

महत्त्वपूर्ण समस्याओं के विषय में भी पूरा-पूरा परिचय होना चाहिए। बहुधा इन बातों के सम्बन्ध में बढ़ा-चढ़ा कर लिखा जाता है, अतः विनियोग का मनन एवं अनुभव के द्वारा यह निर्णय करना चाहिए कि वास्तविक सत्यता क्या है। किसी नई कम्पनी की दशा में यह देखना चाहिए कि क्या प्रस्तावित प्रमण्डल विद्यमान प्रतियोगिता का सामना करने में समर्थ होगा ? इसके साथ ही कम्पनी के व्यापार सम्बन्धी सरकार की क्या नीति है एवं उस नीति से उसके आय-व्यय पर क्या प्रभाव पड़ेगा, यह देखना भी अनिवार्य है।

(२) **प्रबन्ध एवं व्यवस्था**—कम्पनी की व्यवस्था मुख्यतः सचालकों, प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं अथवा सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष द्वारा की जाती है, अतः इन लोगों के विषय में पूर्ण जानकारी होना आवश्यक है। किसी प्रविवरण का अध्ययन करते समय यह जानना आवश्यक है कि उसमें उल्लेखित सचालकों के नाम चाहे अत्यन्त प्रसिद्ध न हों, किन्तु वे लोग ऐसे अवश्य हों जिन्होंने कि उस व्यवसाय में दक्षता एवं निपुणता प्राप्त की हो। क्योंकि अनुभवी एवं योग्य व्यक्ति ही व्यापार का सचालन मितव्ययिता तथा कार्यक्षमता से कर सकते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनमें सचालकगण प्रबन्ध एवं व्यवस्था की दृष्टि से पूर्णतया अनुभवहीन हैं, किन्तु वे वकालत अथवा डाक्टरी की विशेष योग्यता रखते हैं। ऐसे व्यक्ति भले ही कुशल डाक्टर अथवा कुशल वकील हों, किन्तु व्यापार एवं उद्योग के सुचारु सचालन के लिए विशिष्ट योग्यता एवं अनुभव की आवश्यकता होती है। विनियोगकों को यह देखना चाहिये कि उल्लेखित व्यक्तियों में वह योग्यता है अथवा नहीं। इसके साथ ही कम्पनी के साथ उनके पारिश्रमिक, वेतन आदि के विषय में क्या एवं कैसे अनुबन्ध हुए तथा उनके क्या अधिकार हैं, यह भी देखना चाहिए, जिससे कम्पनी का सञ्चालन लाभकर एवं व्यवस्थित ढंग से होगा अथवा नहीं, इसका पता लग सके।

(३) **खरीदी हुई सम्पत्ति**—कम्पनी द्वारा खरीदी जाने वाली सम्पत्ति का स्वरूप क्या है, उसका मूल्य कितना दिया गया है, वह मूल्य उचित है अथवा अनुचित, साख का मूल्यांकन एवं भुगतान किस आधार पर हुआ है आदि बातों की जानकारी होना आवश्यक है। खरीदी हुई सम्पत्ति के लिए किस प्रकार भुगतान होना है तथा उसमें सचालकों का एवं प्रवर्तकों आदि का क्या हित है तथा उस हित की सीमा क्या है, इस सम्बन्ध में भी पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। यदि वह सम्पत्ति कोई व्यवसाय है तो उसकी समस्त प्राप्त सामग्रियों का मूल्य तथा स्वरूप, साख का मूल्यांकन विक्रेताओं की दशा, खरीदी जाने वाली वस्तुओं का मूल्यांकन तथा उसके खरीदने का ढंग आदि सभी महत्त्वपूर्ण बातों की जानकारी होना आवश्यक है। पाँच वर्ष के गत लाभों से सम्बन्धित अंकेक्षक की रिपोर्ट तथा लेखापाल की रिपोर्ट एवं वर्तमान वस्तुओं का मूल्य जानने के लिए किसी मूल्यांकन विशेषज्ञ का प्रमाण पत्र देखना भी आवश्यक होता है।

(४) **पूँजी का कलेवर**—किसी कम्पनी की सफलता सचमुच उसके पूँजी

के कलेवर पर ही निर्भर करती है, अतएव अध्ययनकर्त्ता को यह देखना चाहिए कि न तो पूँजी की न्यूनता हो और न आधिक्य ही, क्योंकि अति पूँजीकरण अथवा उसका अभाव दोनो ही व्यवसाय की सफलता मे बाधक होते हैं। इस विषय मे यह विशेष रूप से देखना चाहिए कि कम्पनी को स्थायी तथा कार्यशील आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए पर्याप्त स्थायी तथा कार्यशील पूँजी है अथवा नही। इसी प्रकार यह देखना चाहिए कि रजिस्टर्ड पूँजी कितनी है एव कितनी प्रार्थित की गई है तथा कितनी प्रदत्त है। विभिन्न प्रकार के अंशधारियो के क्या अधिकार हैं तथा कम्पनी के सामान्य व्यवस्थापन मे उनके कितने अधिकार हैं एव वे समुचित है अथवा नही। प्रतिभूतियों का अभिगोपन किसने किया है ? क्या वे इस कार्य का उत्तरदायित्व पूर्ण कर सकते हैं ? इन प्रश्नो के सम्बन्ध मे भी सावधानी से जाँच करनी चाहिये।

(५) महत्त्वपूर्ण अनुबन्ध—ये अनुबन्ध प्रायः क्रीत सम्पत्ति के स्वामियो, प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ, अभिगोपक आदि और कम्पनी के बीच होते हैं। किसी कम्पनी की वास्तविक स्थिति का ज्ञान करने के लिए रजिस्ट्रार के कार्यालय मे इन अनुबन्धो की प्रतिलिपियो का निरीक्षण कर लेना चाहिए। यही नही, सभी अनुबन्धो की पूरी-पूरी विवेचना भी की जाय। प्रविवरण मे केवल अनुबन्धकारो के नाम, तिथि तथा स्थान आदि का ही उल्लेख रहता है, अतः विस्तृत विवेचन के लिए अनुबन्धो का ही अध्ययन करना चाहिए।

(६) बैंकर्स, अकेक्षक, वैधानिक सलाहकार आदि के नाम—इनसे भी कम्पनी के भावी जीवन का अनुमान लगाया जा सकता है, क्योंकि सामान्यत: कोई भी व्यक्ति अथवा सस्था अपने नाम का उपयोग ऐसी सस्था को नही करने देना, जिसकी साख मे उसे विश्वास न हो, इसलिए यदि बैंकर्स, अकेक्षक आदि ऐसी सस्थाएँ है जो विख्यात हैं तो ऐसा समझना चाहिए कि कम्पनी का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है।

(७) गत इतिहास—किसी विद्यमान कम्पनी की दशा मे यह देखना चाहिये कि कम्पनी अधिनियम सन् १९५६ के अन्त मे दिये हुये Schedule II के भाग II मे उल्लेखित अकेक्षक तथा लेखापाल की रिपोर्ट हैं अथवा नही। उनका भली प्रकार अध्ययन करके उनकी विवेचना करनी चाहिए।

(८) प्रतिबन्धक अन्तर्नियम—यदि कम्पनी के अन्तर्नियमो अंशधारियो अथवा सचालकों अथवा अन्य पदाधिकारियो के अधिकार पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध लगाएँ तो उनकी जानकारी भी करना आवश्यक है, क्योंकि कभी कभी ये प्रतिबन्ध अंशधारियो एव सचालको दोनो के लिए ही बडे कठोर होते हैं।

(९) समाचार पत्रों की टिप्पणी—कभी-कभी नव-निर्मित कम्पनियो का प्रविवरण आदि जब समाचार पत्रों मे विज्ञापन के लिए प्रकाशित किया जाता है तो उस कम्पनी के सम्बन्ध मे समाचार पत्र अपनी सम्पादकीय टिप्पणी मे उस कम्पनी के

विषय में अपनी धारणायें देते हैं। ऐसी टिप्पणियाँ भी विनियोगकों का कम्पनी के भविष्य के विषय में मार्ग-सूचक हो सकती हैं।

अंशों का आवंटन

कम्पनी द्वारा निर्गमित प्रविवरण जनता के लिए कम्पनी के अंशों तथा ऋण पत्रों के हेतु प्रार्थना-पत्र देने का निमन्त्रण होता है। यह प्रार्थना-पत्र ही वास्तव में अंश या ऋण-पत्रों को क्रय करने का प्रस्ताव होता है। आवन्टन (Allotment) कम्पनी द्वारा उस प्रस्ताव की स्वीकृति है जो कि दोनों पक्षों के बीच एक अनुबन्ध पैदा करता है।

आवन्टन पर प्रतिबन्ध—

आवन्टन का विषय दो शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन करेंगे :—

(१) यदि कम्पनी ने प्रविवरण का निर्गमन किया है, और

(२) यदि कम्पनी ने प्रविवरण का निर्गमन नहीं किया है।

(I) यदि कम्पनी ने प्रविवरण का निर्गमन किया है, तो निम्न प्रतिबन्धों की पूर्ति के बिना वह आवटन नहीं कर सकती है :—

(१) जब तक न्यूनतम प्रार्थित पूँजी की राशि उसे प्राप्त नहीं हो जाती।

(२) जब तक अंश के अङ्कित मूल्य का कम से कम ५% भाग उसे नकद नहीं प्राप्त हो जाता।

(३) आवेदकों से प्राप्त समस्त धन किसी अनुसूचित बैंक में जमा रहना चाहिए, जब तक कि इस प्रकार प्राप्त धन आवेदकों को लौटा न दिया जाय अथवा जब तक व्यापार आरम्भ करने का प्रमाण पत्र प्राप्त न कर लें।

(४) यदि न्यूनतम प्रार्थित पूँजी प्रविवरण के प्रकाशन की तिथि से १२० दिनों के भीतर प्राप्त नहीं होती तो आगामी १० दिनों में आवेदन राशि का लौटाना अनिवार्य है, अन्यथा १३०वें दिन के समाप्त होते ही कम्पनी के सचालक वैयक्तिक एवं सामूहिक रूप में ६०% ब्याज सहित इस राशि को लौटाने के लिए उत्तरदायी होंगे।

(II) यदि कम्पनी ने प्रविवरण का निर्गमन नहीं किया है, अथवा जिसने प्रविवरण का प्रकाशन तो किया है, किन्तु आवटन नहीं किया तो वह तब तक अंशों का आवन्टन नहीं कर सकती जब तक कि ऐसे आवन्टन के ३ दिन पूर्व वह रजिस्ट्रार के कार्यालय में प्रविवरण का स्थानापन्न पलेख फाइल नहीं कर देती है।

अंशों के आवन्टन के सम्बन्ध में निम्न दो प्रतिबन्ध भी उल्लेखनीय हैं :—

(१) प्रविवरण के प्रथम निर्गमन की तिथि के पश्चात् पाँचवाँ दिन प्रारम्भ होने के पूर्व (अथवा अन्य कोई बाद की तिथि, जो इसके लिए निर्धारित की गई हो)

अशो या ऋण पत्रो का आवन्टन नही किया जा सकता। पाँचवाँ दिन (या अन्य बाद का निर्धारित दिन) 'अभिदान सूची के खुलने का समय' कहलाता है।

(२) यदि किसी प्रविवरण मे यह वर्णित रहता है कि अशो अथवा ऋण-पत्रो के किसी स्टॉक एक्सचेन्ज पर व्यवहार किये जाने के सम्बन्ध मे आज्ञा प्राप्त करने के लिए निवेदन कर दिया गया है, या किया जावेगा तो जब प्रविवरण के प्रथम प्रकाशन के पश्चात् १०वे दिन के पहिले ही उक्त निवेदन नही किया जाय अथवा अभिदान सूचियाँ बन्द होने की तिथि से ३ सप्ताह बीतने के पूर्व ही आज्ञा देने से इन्कार कर दिया गया हो तो ऐसी दशा मे किया गया आबटन व्यर्थ होगा।

आबन्टन प्रत्याय—

अशो के आबटन के उपरान्त प्रत्येक अश-पूँजी वाली कम्पनी के आबन्टन से १ माह की अवधि मे रजिस्ट्रार के पास 'आबन्टन प्रत्याय' (Return of Allotment) फाइल करना चाहिए, जिसमे निम्न बातो का उल्लेख हो :—

(१) आवन्टित अशो का अकित मूल्य तथा उनकी सख्या।

(२) जिन व्यक्तियो को अश आबन्टित किये गये हैं उनके नाम, पते, विवरण तथा अशो पर भुगतान की हुई राशि, भुगतान होने वाली राशि अथवा प्राप्य राशि (Amount Due)।

(३) यदि नकदी के अतिरिक्त पूर्णदत्त अथवा अपूर्णदत्त अशो का आबटन किया गया है तो रजिस्ट्रार के पास आबन्टन के लिए आबन्टन का स्वत्व तथा उनके साथ के विक्रय सम्बन्धी लिखित अनुबन्ध आदि रजिस्ट्रार के पास परीक्षण के लिए भेजना चाहिए एव रजिस्ट्रार के पास ऐसे सब अनुबन्धो की प्रमाणित प्रतिलिपि भेजना अनिवार्य है।

(४) अधिलाभाश अशो (Bonus Shares) की दशा मे रजिस्ट्रार के पास एक ऐसा प्रत्याय फाइल करना चाहिए जिसमे अधिलाभाश अशो का अङ्कित मूल्य तथा उनकी सख्या दी हो।

अनियमित आबन्टन के परिणाम—

यदि अशो का आबन्टन उपयुक्त वैधानिक रीति के अनुसार नही किया गया है तो उसे 'अनियमित आवन्टन' (Irregular Allotment) कहेगे। इसके निम्न परिणाम होगे :—

कम्पनी के विरुद्ध—

(१) यदि आबन्टकी (Allottee) चाहे तो वैधानिक सभा बुलाने के पश्चात् २ महीने तक या (यदि कम्पनी की वैधानिक सभा बुलाना आवश्यक नही है या सभा आवन्टन के पहले ही कर ली गई है) आवन्टन की तिथि से २ माह तक आबटन रद्द हो सकता है।

(२) यदि प्रविवरण के प्रथम निर्गमन की तिथि के पश्चात् १२० दिना तक अशो का आबन्टन नही किया जाता तो आवेदको से प्राप्त समस्त धन उन्हे तुरन्त ही लौटा दिया जाना चाहिये।

(३) यदि अशो अथवा ऋण-पत्रों का आबन्टन अभिदान सूची 'खुलने' के समय के पूर्व ही कर दिया जाता है तो आवन्टन वैध होता है, परन्तु कम्पनी पर ५,०००) तक जुर्माना किया जा सकता है।

(४) यदि स्टॉक एक्सचेन्ज पर अशो या ऋण-पत्रो का व्यवसाय करने की अनुमति नही ली जाती अथवा वह अस्वीकार दी गई है तो आवन्टन व्यर्थ होता है और कम्पनी को आवेदको से प्राप्त समस्त धन तुरन्त लौटा देना चाहिये।

संचालको के प्रति—

(१) यदि कोई सचालक जानबूझ कर अनियमित आबन्टन के लिए उत्तरदायी है तो वह दो वर्षों तक कम्पनी तथा आबन्टन की किसी हानि, क्षति अथवा व्ययो की पूर्ति के लिए दायी रहता है।

(२) यदि प्रविवरण के प्रथम निर्गमन से १२० दिन के भीतर अशो का आबन्टन नही होता और अगले १० दिनो के भीतर प्राप्त धन आवेदको को वापस नही लौटाया जाता तो सचालकगण सामूहिक एव व्यक्तिगत रूप से उस धन को ६% प्रति वर्ष की दर से ब्याज सहित चुकाने के लिए दायी हो जाते है।

(३) यदि अभिदान सूची खुलने के समय के पूर्व ही अशो या ऋण पत्रो का आबन्टन कर दिया जाता है तो प्रत्येक दोषी सचालक ५,०००) तक अर्थ-दण्ड का दायी होता है।

(४) यदि स्टॉक एक्सचेन्ज से वैधानिक अवधि के अन्दर अंशो या ऋण-पत्रो का व्यवहार करने की आज्ञा नही मिलती अथवा उसके लिये प्रयत्न ही नही किया गया है तो कम्पनी ८ दिन के भीतर आवेदको से प्राप्त धन लौटाने के लिए बाध्य है। यदि वह ऐसा नही करती तो सचालकगण उस धन को ५% सालाना ब्याज सहित चुकाने के लिये सामूहिक एव व्यक्तिगत रूप से दायी होगे।

अंश-पूँजी—

कम्पनी अधिनियम सन् १६५६ के अनुसार अब कम्पनी की अश पूँजी केवल दो प्रकार के अशो मे ही विभक्त हो सकती है—साधारण अश (Equity Shares) और पूर्वाधिकार अश (Preference Shares)। साधारण अश वे है जो कि पूर्वाधिकार अ श नही है और पूर्वाधिकार अ श वे है जिन्हे एक निश्चित दर पर लाभाश प्राप्त करने तथा कम्पनी के समापन के समय पूँजी की वापसी का प्राथमिक अधिकार होता है। पूर्वाधिकार अशो को आधिक्य लाभ मे से अथवा समापन पर आधिक्य सम्पत्ति (Surplus assets) मे से भाग पाने का अधिकार हो भी सकता है और नही भी। मतदान, लाभाश पूँजी अथवा अन्य किसी विषय के सम्बन्ध मे विभिन्न

अधिकार वाले साधारण अंश एक १ अप्रैल सन् १९५६ के बाद निर्गमित नहीं किए जा सकते। साधारण अंशों से संलग्न मतदान अधिकार उन पर शोधित धन के अनुपातिक ही होना चाहिए। केवल साधारण अंशधारियों को ही कम्पनी की साधारण सभा में प्रस्तुत प्रत्येक प्रस्ताव पर मत देने का अधिकार है। पूर्वाधिकार अंशधारियों को ऐसे प्रस्तावों के अतिरिक्त जो कि प्रत्यक्ष रूप में उनके पूर्वाधिकारों को प्रभावित करते हैं, मतदान का अधिकार नहीं है, किन्तु यदि पूर्वाधिकार अंशों पर कुछ निर्दिष्ट अवधि का लाभांश चुकाया न गया हो तो पूर्वाधिकार अंशधारियों को भी साधारण अंशधारियों के समान मत देने का अधिकार होता है। ये नियम किसी प्राइवेट कम्पनी को लागू नहीं होते।

शोध्य पूर्वाधिकार अंश—

अंश द्वारा सीमित एक कम्पनी, अपने अन्तर्नियमों द्वारा इस प्रकार अधिकृत होने पर, शोध्य पूर्वाधिकार अंश निर्गमित कर सकती है। ऐसे अंशों की धन राशि व उनके शोधन की सबसे पहली तिथि कम्पनी के प्रत्येक चिट्ठे में उल्लेख की जानी चाहिए। इनका शोधन तभी किया जा सकता है जबकि वे पूर्ण दत्त (Fully Paid) हों और शोधन केवल निम्न प्रकार ही किया जा सकता है—

(१) इस उद्देश्य के लिए अंशों के नवीन निर्गमन में प्राप्त हुए धन में से।

(२) लाभों में से, जो अन्यथा लाभांश के रूप में उपलब्ध थे।

यदि पूर्वाधिकार अंशों का शोधन लाभांश के लिए काम में आ सकने वाले लाभ में से किया जाना है, तो ऐसे लाभ में से शोधन अंशों के अंकित मूल्य के बराबर धन राशि एक 'पूंजी शोधन साधन निधि' में हस्तान्तरित की जानी चाहिए। इस निधि को अंश पूंजी कम करने या अधिलाभ अंश निर्गमित करने के लिए काम में लिया जा सकता है।

यदि पूर्वाधिकार अंशों का शोधन अंशों के नवीन निर्गमन में प्राप्त होने वाली धन राशि में से करना है, तो नवीन निर्गमन शोधित अंशों के अंकित मूल्य तक ही किया जा सकता है और पूंजी-कर के उद्देश्य के लिए इसे पूंजी में वृद्धि करना नहीं माना जावेगा, बशर्ते अंशों का शोधन एक महीने के भीतर ही कर दिया जाय। यदि शोधन पर कम्पनी कुछ प्रीमियम चुकाना चाहती है तो उसका आयोजन कम्पनी के लाभों में से या कम्पनी के 'अंश प्रीमियम खाते' में से शोधन के पूर्व ही कर लेना चाहिए।

शोधित पूर्वाधिकार अंश कम्पनी की अधिकृत पूंजी का ही भाग बने रहते हैं।

अंशों अथवा ऋण पत्रों पर कमीशन—

अंशों या ऋण पत्रों के अभिदान करने या अभिदान प्राप्त करने के लिए ठहराव करने के बदले में कम्पनी पूंजीगत धन राशियों का तभी प्रयोग कर सकती है जब उसके अन्तर्नियम ऐसा अधिकार देते हों, कमीशन की राशि अंशों के निर्गमन मूल्य

के ५% (ऋण पत्रों के निर्गमन मूल्य के २½%) से या अन्तर्नियमों द्वारा अधिकृत धन राशि, दोनों में से जो कम हो, से अधिक न हो तथा कमीशन की दर व अंशों या ऋण पत्रों की सख्या प्रविवरण में स्पष्ट कर दी गई हो। यदि कमीशन का भुगतान लाभ में से किया जा रहा है तो किसी भी प्रकार के बन्धन पालन करने की आवश्यकता नहीं है। साथ ही, ये नियम अंशों या ऋण-पत्रों पर ऐसी दलालों के भुगतान को भी जो कि दलालों और बंकों को देना व्यावहारिक रूप से वैध है, प्रभावित नहीं करते।

अंशों के निर्गमन पर प्रीमियम—

यदि कम्पनी अंशों को प्रीमियम पर (रोकड़ या अन्य प्रकार) निर्गमित करती है तो प्रीमियम की प्राप्त धन राशि को 'प्रीमियम खाते' में जमा करना चाहिए और अंश प्रीमियम का प्रयोग निम्न के लिए किया जा सकता है :—

(१) अधिलाभांश जारी करने में,
(२) प्रारम्भिक व्यय अपलिखित करने में,
(३) पूँजी जुटाने के खर्चों, कमीशन या अपहार को अपलिखित करने में, या
(४) पूर्वाधिकार अंशों या ऋण-पत्रों के शोधन पर प्रीमियम देने के लिए।

अंशों का अपहार पर निर्गमन—

निम्नलिखित शर्तें पूरी होने पर ही कोई कम्पनी अपने अंशों का अपहार (Discount) पर निर्गमन कर सकती है :—

(१) अपहार पर निर्गमित किये जाने वाले अंश पूर्व निर्गमित अंशों की श्रेणी में से हैं।

(२) अपहार पर अंश निर्गमित करने के लिए कम्पनी ने प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया है तथा न्यायालय ने भी अनुमति दे दी है।

(३) अपहार की दर १०% से अथवा उस दर से जो केन्द्रीय सरकार एक विशेष कम्पनी के लिए स्वीकृत करे, अधिक न हो।

(४) इस प्रकार का निर्गमन कम्पनी को व्यापार करने का अधिकार मिलने की तिथि से एक वर्ष बाद होता है।

(५) निर्गमन न्यायालय की आज्ञा की तिथि से दो माह के अन्दर या न्यायालय द्वारा बढ़ाई हुई किसी अवधि के भीतर ही किया जाना चाहिए।

व्यवसाय का प्रारम्भ—

कम्पनी अधिनियम की धारा १४६ के अनुसार प्रत्येक पब्लिक कम्पनी के लिए व्यवसाय प्रारम्भ करने से पूर्व निम्न बातों की पूर्ति करना आवश्यक होता है—

(१) रोकड़-प्राप्त अंशों (Shares payable in cash) का आबंटन न्यूनतम प्रार्थित पूँजी से कम न होना चाहिए। ऐसा न हो कि उस पूँजी से वे कम रहें।

(२) कम्पनी के प्रत्येक सचालक को अपने लिये हुए अशो तथा नकद रुपया जमा करने वाले अशो का धन कम्पनी म जमा कर देना चाहिए। वह धन उतना ही होना चाहिए जितना कि आवेदन या आबन्टन के समय सर्वसाधारण से लिया जाना है।

(३) यदि कम्पनी का प्रविवरण नही है तो उसके स्थान पर एक विवरण (Statement in Lieu of prospectus) रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करना चाहिए।

(४) यदि अश या ऋण पत्र के निर्गमन के लिए किसी मान्य स्कन्ध विपणि मे प्रार्थना पत्र नही दिया है तो ऐसी दशा मे अश अथवा ऋण-पत्रो के सम्बन्ध मे आवेदको को कुछ भी लौटाना शेष नही है।

(५) कम्पनी के सचालक या सेक्रेटरी को रजिस्ट्रार के पास यह वैधानिक घोषणा फाइल करनी चाहिए कि उपर्युक्त सभी बातो की पूर्ति कम्पनी द्वारा कर दी गई है।

उपर्युक्त घोषणा के उपरान्त रजिस्ट्रार एक प्रमाण पत्र प्रदान करेगा, जिसके बाद कम्पनी व्यापार प्रारम्भ कर सकती है। इसे 'व्यापार प्रारम्भ करने का प्रमाण-पत्र' कहते हैं।

STANDARD QUESTIONS

1. Define 'Prospectus' What is the law relating to the registration and circulation of Prospectus ?
2. Briefly summarize the contents of a company prospectus.
3. Define a Foreign Company and summarize the law relating to such companies
4. Write brief notes on (a) Statement in lieu of Prospectus ; (b) Offer for sale , and (c) Issue of Shares at a Discount.
5. How would you examine a company Prospectus from the point of view of an intending customer ?
6. Discuss fully the question of liability for statements made in a Company Prospectus
7. What restrictions have been imposed by the Indian Company Law on—
   (a) Allotment of Shares ; and
   (b) Commencement of Business.

8 What is an 'irregular allotment' ? What is the effect of an irregular allotment of shares (a) as against the company and (b) as against the directors ?

9 State the provisions of Indian Companies' Act 1956, as to the classes of shares and the voting rights attached to them

10 Subject to what conditions may a public company pay a commission in consideration of an agreement to subscribe to any shares or debentures of the company ?

अध्याय १२

कम्पनियों का संचालन एवं प्रबन्ध

सचालकगण ही कम्पनी की सामान्य नीति का निर्धारण एव नियन्त्रण करते हैं। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि जिन व्यक्तियो को हम चुनें, उनमे कम्पनी के व्यापार सम्बन्धी तात्रिक योग्यता भी हो। यदि उन्हे उस व्यापार का प्रत्यक्ष अनुभव भी प्राप्त है, फिर तो सोने मे सुहागा समझना चाहिए।'

कम्पनियों का संचालन

प्रारम्भिक विवेचना—

किसी भी कम्पनी की प्रगति की आधारशिला उसका सुचारु सचालन है। अब प्रश्न यह है कि कम्पनी का प्रबन्ध एव उसका सचालन कौन करे। कम्पनी का स्वत कोई अस्तित्व नही होता, यह तो वैधानिक मान्यता प्राप्त एक कृत्रिम व्यक्ति है। जिस प्रकार किसी साझेदारी की सस्था मे उसका सचालन एव व्यवस्था का भार उसके समस्त साझेदारो पर होता है उसी प्रकार कम्पनी मे भी सचालन एव प्रबन्ध का कार्य इसके अशधारियो पर होता है, किन्तु कम्पनी के सदस्य सख्या मे इतने अधिक होते हैं, कि वे परस्पर मिलकर कम्पनी का सचालन सुगमतापूर्वक नही कर सकते। यही नहीं, विकेन्द्रित होने के कारण भी अशधारी कम्पनी के दिन प्रतिदिन के कार्यों म सुगमता से भाग नही ल सकते। इसी असुविधा के कारण उन्ह कम्पनी का प्रबन्ध अपने प्रति

निधियों के हाथ में सौंपना पड़ता है, जिन्हें संचालक कहते हैं। ये संचालकगण, व्यवस्थापक समिति (Management Committee) के रूप में होते हैं तथा कम्पनी के संगठन एवं कार्य-संचालन के लिए अंशधारियों के प्रति उत्तरदायी होते हैं ये कम्पनी की ओर से कोई भी अनुबन्ध कर सकते हैं तथा उन पर हस्ताक्षर कर सकते हैं अथवा इनकी ओर से कोई भी अधिकृत व्यक्ति यह कार्य कर सकता है, परन्तु उनको यह कार्य करते समय अथवा अनुबन्ध करते समय वैयक्तिक (Personal) दायित्व हटाने के लिए 'कम्पनी के लिए' अथवा 'कम्पनी की ओर से' शब्द अवश्य लिखने चाहिए।

अब हम कम्पनी अधिनियम सन् १९५६ में उल्लेखित संचालकों से सम्बन्धित नियमों पर प्रकाश डालेंगे।

संचालक की परिभाषा—

यह सचमुच बड़े आश्चर्य की बात है कि कंपनी अधिनियम सन् १९५६ में भी संचालक की विस्तृत परिभाषा नहीं दी गई है। धारा २ (१३) में केवल इतना लिखा है कि संचालक की स्थिति में कार्य करने वाला कोई भी व्यक्ति 'संचालक' कहलाता है, चाहे उसका पद कुछ भी क्यों न हो। इस प्रकार किसी भी संचालक का महत्त्व उसके कार्य से है, केवल उसके नाम से नहीं, अर्थात् संचालक से आशय उस व्यक्ति का है जो समस्त उत्तरदायित्व को स्वीकार करके एक कम्पनी का संचालन एवं उसकी व्यवस्था अत्यन्त तत्परता के साथ करता है। कम्पनी के समस्त संचालकों को सामूहिक रूप से 'संचालक सभा' (Board of Directors) अथवा 'शासन समिति' (Governing Body) या 'व्यवस्थापक समिति' (Committee of Management) कहते हैं। इस प्रकार उसको कोई भी नाम क्यों न दिया जाय, किन्तु वैधानिक दृष्टि से उसी व्यक्ति को संचालक कहेंगे जो कम्पनी के समस्त उत्तरदायित्व को धारण करते हुए प्रबन्ध एवं व्यवस्था का कार्य करता है।

संचालकों की संख्या—

कम्पनी अधिनियम की धारा २५२ के अनुसार प्रत्येक पब्लिक कम्पनी और इसकी सहायक प्राइवेट कम्पनी में कम से कम तीन संचालक अवश्य होने चाहिए। उक्त धारा की उपधारा २ के अनुसार ऐसी प्राइवेट कम्पनी में जो कि किसी पब्लिक कम्पनी की सहायक नहीं है, कम से कम दो संचालक होना अनिवार्य है।

संचालकों का चुनाव—

कम्पनी की व्यवस्था का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व संचालकों पर ही होता है, क्योंकि इन लोगों के द्वारा ही कम्पनी की कार्य नीति निश्चित की जाती है। संचालकगण ही कम्पनी की उन्नति एवं इसके भावी विकास के लिए उत्तरदायी होते हैं तथा इनके द्वारा ही कम्पनी का व्यवसाय फलता-फूलता है, इसलिये यह नितान्त आवश्यक है कि संचालकों के पद पर केवल योग्य व्यक्तियों की ही नियुक्ति की जाय, जिससे कंपनी का

व्यवस्थापन भली प्रकार एव कम्पनी के अधिकतम हित के लिए हो सके, अतएव सचालको की नियुक्ति करते समय अशधारियो को बडी सावधानी रखनी चाहिए। कम्पनी अथवा यो कहे कि अशधारियो का भाग्य मुख्यतः इन सचालको पर ही निर्भर करता है, अत. इनका निर्वाचन करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिन व्यक्तियो को हम सचालन कार्य के लिए चुनें वे योग्य, अनुभवी तथा दूरदर्शी हो। संचालकगए ही कम्पनी की सामान्य नीति का निर्धारण एव नियन्त्रण करते हैं, इस- लिए यह नितान्त आवश्यक है कि जिन व्यक्तियो को हम चुनें उनमे कपनी के व्यापार सम्बन्धी तान्त्रिक योग्यता भी हो। यदि उन्हें इस व्यापार का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त है फिर तो सोने मे सुहागा समझना चाहिए। प्रत्येक कम्पनी अपने लाभ के लिए सचा- लको से कुछ न कुछ आशायें रखती है, इसलिये यह आवश्यक है कि सभी सचालको मे से किसी मे व्यापारिक कार्यक्षमता, किसी मे तान्त्रिक योग्यता, किसी मे व्यवहार कुशलता आदि गुण हो, जिससे सचालक सभा मे इन गुणो का समन्वय होकर कम्पनी का प्रबन्ध एव सचालन भी भली प्रकार तथा अशधारियो के अधिकतम हित के लिए हो सके। उनमे विगत अनुभवो के साथ ही प्रतिष्ठा एव ख्याति भी होनी चाहिए, क्योंकि एक अप्रतिष्ठित व्यक्ति द्वारा जनता पर कोई प्रभाव नही पडता और ऐसी दशा मे कोई भी व्यक्ति अपने धन का विनियोग करना पसन्द नही करेगा। केवल कर्त्तव्यपरायण एव कर्मठ व्यक्तियो को ही सचालक पद के लिए चुनना चाहिए। जो व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व का अनुभव नही करते वे कभी भी सफल सचालक नही हो सकते, अत ऐसे ही व्यक्ति सचालक पद के योग्य है जो कम्पनी एव अशधारियो के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भली प्रकार समझते हो। तभी सचालको को दिये जाने वाले पारि- श्रमिक का समुचित उपयोग समझा जायगा, अन्यथा वह व्यर्थ है।

अपने उत्तरदायित्व को भली प्रकार समझने के लिए सचालको को कम्पनी से सम्बन्धित सभी कामो की अच्छी जानकारी होनी चाहिये। व्यवसाय की सफल व्यवस्था के लिए कम्पनी अधिनियम की जानकारी नितान्त आवश्यक है। कम्पनी अधिनियम ही प्राय. प्रत्येक प्रमण्डल का जन्मदाता होता है। अत. इस आधारशिला की जानकारी बडी जरूरी है। इसके अतिरिक्त उसे मुद्रा, विनिमय तथा अधिकोषण (Money, Exchange and Banking) अर्थशास्त्र, बुककीपिंग एण्ड एकाउटेंसी, व्यापारिक सनियम तथा मनोविज्ञान (Human Psychology) का ज्ञान होना आवश्यक है, जिससे वह कम्पनी के दैनिक व्यवहार मे आने वाले इन विषयो के विभिन्न पहलुओ पर भली प्रकार विचार कर सके। इसके साथ ही कम्पनी के समस्त अधिकारो का ज्ञान रखना उसके लिये परम आवश्यक है। कम्पनी के अधिकारो की जानकारी के लिए कम्पनी के पार्षद सीमानियम तथा अन्तर्नियमो का अध्ययन करना होगा। इन प्रलेखो के अध्ययन से उसको निजी अधिकारो की सीमा तथा कम्पनी के अधिकारो की सीमा का परिचय मिल जायगा।

इस सम्बन्ध मे यह लिखना अनावश्यक न होगा कि उपरोक्त सभी गुण किसी एक व्यक्ति मे मिलना कठिन है, इसलिये प्राय. प्रत्येक कम्पनी मे दो प्रकार के सचालक होते है—(१) *सक्रिय सचालक* (Active Directors) और (२) निष्क्रिय सचालक (Passive Directors)। सक्रिय सचालको पर ही कम्पनी की व्यवस्था का सम्पूर्ण भार रहता है तथा वे ही कम्पनी की कार्य नीति का निर्धारण करते हैं तथा उसका नियन्त्रण करते हैं। ये ऐसे व्यक्ति होते है जिनका जीवन ही व्यापारिक कार्यों मे व्यतीत होता है एव इनको अनुभव की दृष्टि मे परिपक्व कह सकते है। साधारणतः इनकी कार्य प्रणाली मे अन्य सचालक हस्तक्षेप नही कर सकते। सक्रिय सचालक ही ऐसे लोग होते है जिनमे तान्त्रिक योग्यता एव व्यवसाय की पूर्ण पटुता होती है। इसके विपरीत निष्क्रिय सचालक वे है जो केवल अपनी विशेष ख्याति द्वारा कम्पनी की साख बढाने के लिए अथवा उसका व्यापार बढाने के लिए सचालक सभा मे नियुक्त किये जाते हैं। *ऐसे निष्क्रिय सचालको को कम्पनी की व्यवस्थापक समिति मे स्थान* देने के कुछ प्रधान कारण निम्नलिखित हैं—

(१) कभी-कभी किसी व्यक्ति की वैयक्तिक प्रतिष्ठा के कारण उसे सचालक सभा मे स्थान दिया जाता है। कारण स्पष्ट है कि उसकी ख्याति के बल पर जनता इस नई कम्पनी के अश, ऋण पत्र आदि का क्रय आँख मीचकर करती है। कम्पनी के प्रारम्भिक काल मे ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति उसकी सस्थापना तथा साख स्थापित करने मे अत्यधिक लाभकारी सिद्ध हुए हैं।

(२) उनके सचालक होने से कम्पनी की साख बढती है तथा कम्पनी को *व्यापारिक अथवा अन्य किसी प्रकार की सहायता सुगमता से प्राप्त* हो जाती है।

(३) कभी-कभी कम्पनियो के विशेष हितो का (जैसे ऋण पत्रधारियो आदि का) प्रतिनिधित्व करने के लिये भी निष्क्रिय सचालको की नियुक्ति की *जाती है।*

(४) कभी-कभी सचालको की न्यूनतम सख्या की पूर्ति के लिए भी एक दो निष्क्रिय सचालको का रखना पडता है।

(५) बैंकिंग तथा बीमा कम्पनियो मे तो ऐसे निष्क्रिय सचालक अत्यधिक *लाभकारी सिद्ध हुए है, क्योंकि इन कम्पनियो का व्यवसाय बहुधा सचा-*लको की प्रतिष्ठा, योग्यता एव प्रभाव पर निर्भर करता है। इन लोगो के प्रभाव से ही ऐसी कम्पनी पर्याप्त व्यवसाय (Business) प्राप्त कर लेती है। यही कारण है कि बैंकिंग तथा बीमा कम्पनियो मे सचालको की सख्या अधिक रहती है।

संचालको की नियुक्ति—

सचालको की नियुक्ति के सम्बन्ध मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि केवल

एक व्यक्ति ही सचालक पद के लिए नियुक्त किया जा सकता है, अर्थात् कोई भी समामेलित संस्था, सघ अथवा फर्म किसी पब्लिक अथवा प्राइवेट कम्पनी मे सचालक पद के लिए नियुक्त नही की जा सकती। [धारा २५३]

सचालको की नियुक्ति निम्न रीति से की जाती है—

(१) प्रथम सचालक—प्रथम सचालको की नियुक्ति प्रवर्तको द्वारा की जाती है तथा इनके नाम कम्पनी के पार्षद सीमानियम मे एव अन्तर्नियमो मे दिये जाते हैं। यदि किसी कम्पनी के अन्तर्नियम म किसी प्रकार का उल्लेख सचालको के लिए नही होता तो जब तक कि उनकी नियुक्ति धारा २५५ के आदेशानुसार कम्पनी द्वारा नही की जाती तब तक पार्षद सीमानियम पर हस्ताक्षर करने वाले व्यक्ति ही सचालक का कार्य करते रह सकते है। धारा २६६ के अनुसार कोई भी व्यक्ति उस समय तक सचालक नही हो सकता जब तक कि वह स्वय अथवा एजेन्ट द्वारा:—

(अ) सचालक के पद पर कार्य करने की सहमति लिखित रूप मे रजिस्ट्रार के पास हस्ताक्षर करके प्रस्तुत न करे, तथा

(ब) यदि सचालक मे अश योग्यता होना आवश्यक है तो योग्यता अशो को लेने तथा उनका भुगतान करने का एक लिखित अनुबन्ध न करे।*

(२) सामान्य व्यापक-सभा द्वारा नियुक्ति के बाद सचालक—प्रवर्तको द्वारा नियुक्त सचालक कम्पनी की सामान्य व्यापक-सभा तक ही कार्य करते है। इस प्रथम व्यापक सभा मे दो तिहाई सचालक रिटायर हो जाते हैं और उनके स्थान पर कम्पनी की सामान्य व्यापक-सभा द्वारा नई नियुक्तियाँ की जाती है। शेष सचालक भी अन्तर्नियमो के आदेशो का पालन करते हुए सामान्य व्यापक-सभा द्वारा नियुक्त किये जाते है। [धारा २५५]

प्रथम व्यापक सभा के बाद जो वार्षिक व्यापक सभायें होंगी उनमे सचालकों की कुल सख्या का ⅓ भाग क्रमश पारी से रिटायर होगा। यदि सचालको की सख्या ३ या ३ का गुणन (Multiple) नही है तो ⅓ से निकटतम सख्या सचालक पद से रिटायर होगी। [धारा २५६ (१)]

रिटायर होने से सम्बन्धित आदेश—

(क) प्रत्येक वार्षिक व्यापक-सभा म पारी से रिटायर होने वाले सचालक वे होंगे जो सचालक पद पर सबसे अधिक समय स कार्य कर रहे हैं। जिन सचालकों ने एक ही तिथि से कार्य आरम्भ किया हो, उनकी दशा मे परस्पर ठहराव द्वारा अथवा लॉट (Lot) द्वारा यह निर्धारित किया जायगा कि उनमे से कौन रिटायर होगा।

---

* उपरोक्त धारा २६६ निम्न दशाओ मे लागू नही होगी :—

(अ) बिना अश पूजी वाली कम्पनी।

(आ) प्राइवेट कम्पनी।

(इ) वह कम्पनी जो पब्लिक कम्पनी बनने के पहले प्राइवेट कम्पनी थी।

(ख) रिटायर होने वाले सचालक के स्थान पर कम्पनी रिटायर होने वाले व्यक्ति को ही अथवा किसी अन्य व्यक्ति को नियुक्त कर सकती है।

(ग) यदि वार्षिक व्यापक सभा मे रिटायर होने वाले सचालक की स्थान पूर्ति नही होती और सभा भी रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए कोई प्रस्ताव नहीं करती तो सभा अगले सप्ताह के लिये स्थगित समझी जायगी। यदि स्थगित सभा मे भी रिटायर होने वाले सचालक के स्थान की पूर्ति नही होती और स्थगित सभा भी इस सम्बन्ध मे कोई प्रस्ताव नहीं करती तो ऐसी परिस्थिति मे रिटायर होने वाला सचालक ही पुनः नियुक्त समझा जायगा। निम्न दशाओ मे यह लागू न होगा :—

(i) यदि स्थगित अथवा उसमे पूर्व की सभा मे सचालक की पुनर्नियुक्ति के लिए प्रस्ताव रखा गया और वह पास न हुआ हो।

(ii) यदि रिटायर होने वाले सचालक ने कम्पनी अथवा सचालक सभा के नाम एक लिखित पत्र मे पुन. नियुक्ति के सम्बन्ध मे अपनी अनिच्छा प्रगट की हो।

(iii) यदि वह योग्य नही है अथवा नियुक्ति के अयोग्य है।

(iv) यदि इस अधिनियम के अनुसार उसकी नियुक्ति अथवा पुनर्नियुक्ति के लिए साधारण या विशेष प्रस्ताव की आवश्यकता हो। [धारा २५६]

(घ) रिटायर होने वाले व्यक्ति के स्थान मे किसी अन्य व्यक्ति को भी सचालक पद पर नियुक्त किया जा सकता है, किन्तु शर्त यह है कि ऐसी दशा मे सचालक पद के लिए इच्छुक व्यक्ति की ओर से अथवा प्रस्ताव करने वाले किसी अन्य सदस्य की ओर से सभा के १४ दिन के पूर्व इस आशय की एक लिखित सूचना कम्पनी के कार्यालय मे आ जानी चाहिए कि वह सचालक बनना चाहता है या ऐसा अन्य सदस्य उसे प्रस्तावित करना चाहता है। यह आदेश प्राइवेट कम्पनी को लागू नही होता।

[धारा २५७]

(३) प्रबन्ध अभिकर्ताओं द्वारा नियुक्त सचालक—यदि कम्पनी के अन्तर्नियम अधिकार दें तो उसके प्रबन्ध अभिकर्ता २ से अधिक सचालकों की नियुक्ति नही कर सकते (यदि सचालको की कुल सख्या ५ से अधिक है), लेकिन अगर किसी कम्पनी मे ५ से कम सचालक हैं तो ऐसी दशा मे प्रबन्ध अभिकर्ता एक से अधिक सचालकों की नियुक्ति नही कर सकते। [धारा ३७७]

विशेष प्रस्ताव द्वारा नियुक्त किए जाने वाले कुछ संचालक—

प्रबन्ध अभिकर्ता निम्नलिखित व्यक्तियो मे से किसी को सचालक नियुक्त नही कर सकता, जब तक कि कम्पनी इस सम्बन्ध मे विशेष प्रस्ताव पास न करे :—

(i) कम्पनी अथवा सहायक कम्पनी का कोई अधिकारी अथवा कर्मचारी या ऐसा कोई व्यक्ति जो लाभ का पद ग्रहण किये हो।

(ii) यदि कम्पनी मे लाभ का पद किसी फर्म द्वारा अथवा फर्म के किसी

भागी या कर्मचारी द्वारा ग्रहण किया हुआ है तो ऐसा व्यक्ति भी नियुक्त नहीं किया जा सकता।

(iii) यदि लाभ का पद किसी प्राइवेट कम्पनी द्वारा ग्रहण किया गया है तो ऐसी कम्पनी का कोई सदस्य, पदाधिकारी या कर्मचारी भी सचालक नियुक्त नहीं किया जा सकता।

(iv) यदि लाभ का पद किसी समामेलित सस्था द्वारा ग्रहण किया गया हो तो उसका कोई कर्मचारी अथवा पदाधिकारी सचालक नहीं बन सकता।

(v) ऐसा कोई भी व्यक्ति सचालक नहीं बन सकता जो कि किसी अनुबन्ध के अनुसार प्रबन्ध अभिकर्त्ता के पारिश्रमिक मे भागी हो।

(vi) प्रबन्ध अभिकर्त्ता की सस्था का कोई भी कर्मचारी, पदाधिकारी या साथी (Associate) भी सचालक नहीं बनाया जा सकता।

(vii) यदि प्रबन्ध अभिकर्त्ता के अन्तर्गत कोई समामेलित सस्था है तो उसका कर्मचारी या पदाधिकारी अथवा उसमे लाभ का पद ग्रहण करने वाला कोई व्यक्ति भी सचालक नहीं बनाया जा सकता। [धारा २६१]

(४) अतिरिक्त सचालक—यदि अन्तर्नियम अधिकार दें तो सचालक सभा अतिरिक्त सचालको की नियुक्ति कर सकती है। हां, शर्त यह है कि सचालको और अतिरिक्त सचालको की कुल सख्या अन्तर्नियमो द्वारा निर्धारित अधिकतम सख्या से अधिक नहीं होनी चाहिए। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि इन अतिरिक्त सचालको का कार्यकाल केवल आगामी वार्षिक व्यापक सभा तक ही सीमित रहेगा। [धारा २६०]

(५) सचालको मे आकस्मिक रिक्त-स्थान की पूर्ति करना—यदि किसी सचालक का स्थान असमय मे ही रिक्त हो जाता है तो उसकी पूर्ति बिना अंशधारियो की अनुमति लिए ही सचालक सभा द्वारा की जा सकती है। हां, ऐसा सचालक उसी समय तक के लिए नियुक्त किया जाता है जितने समय के लिए उसका पूर्व सचालक कार्य करने का अधिकारी था और उस अवधि के व्यतीत होते ही वह अपना स्थान छोड देगा। [धारा २६२]

संचालको की नियुक्ति से सम्बन्धित अन्य आदेश—

(६) संचालकों की सख्या कम या अधिक करना—कम्पनियो के अन्तर्नियमो द्वारा निर्धारित सचालको की सख्या सम्बन्धी सीमाओ को कम्पनी सामान्य व्यापक सभा मे साधारण प्रस्ताव द्वारा घटा या बढा सकती है, [धारा २५८] सचालको की सख्या बढाने के पूर्व केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेना आवश्यक है। [धारा २५९]

(७) व्यापक सभा मे सचालको की नियुक्ति के लिए जो प्रस्ताव रखा जाय उसमे केवल एक ही व्यक्ति का उल्लेख होना चाहिए, दो या अधिक व्यक्तियो का एक साथ नहीं। [धारा २६३]

(८) उपर्युक्त आदेशो के होते हुए भी कम्पनी के अन्तर्नियमो मे यह आदेश हो सकता है कि कम से कम दो-तिहाई सचालक अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली (Proportional Representation) द्वारा नियुक्त किए जायें। नियुक्तियाँ हर तीन वर्ष मे एक ही बार हो और आकस्मिक रिक्त स्थानो की पूर्ति ऊपर बताई हुई रीति से हो। [धारा २६५]

संचालको की अंश योग्यता*—

कम्पनी अधिनियम के अनुसार सचालक का कार्य करने के लिये किसी भी योग्यता की आवश्यकता नही होती, किन्तु यह कम्पनी के पार्षद सीमानियम द्वारा निश्चित की जा सकती है। इसके निश्चय करने का उद्देश्य यह हो सकता है कि सचालक को भी कम्पनी के व्यवसाय मे विश्वास रहे और उसके द्वारा अश लेने से ही अन्य लोग भी अश लेने के लिए तैयार हो। यही कारण है कि प्रवर्तकगण विनियोगनाओ के हृदय मे विश्वास पैदा करने के लिए कम्पनी के अन्तर्नियमो मे सचालको की अश योग्यता सम्बधी बातो की विवेचना करते हैं।

कम्पनी अधिनियम की धारा २७० के अनुसार यदि अन्तर्नियमो मे सचालको के लिए योग्यता अश खरीदना अनिवार्य कर दिया जाता है और सख्या भी निश्चित कर दी जाती है तो उन समस्त सचालको के लिए यह आवश्यक होता है कि वे दो माह के अन्दर ही उन योग्यता अशो को खरीद ले। इस अवधि को अन्तर्नियमो द्वारा कम या अधिक भी किया जा सकता है। योग्यता अशो का अङ्कित मूल्य ५ हजार रुपए से अधिक नही होना चाहिए। यदि एक ही अश ५,०००) से अधिक है तो कम से कम एक अश लेना आवश्यक है। अश प्रमाण पत्र (Share Warrant) पर उल्लेखित अश या स्कन्ध (Stock) अन्तर्नियमो मे निर्दिष्ट अश योग्यता की पूर्ति नही करते।

कम्पनी के प्रविवरण म भी सचालको के योग्यता अशो का निर्देश कर देना चाहिए। यदि वे योग्यता अश नही रखते तो दूसरी बात है। धारा १४६ के अन्तर्गत कोई भी पब्लिक कम्पनी उस समय तक अपना व्यवसाय प्रारम्भ नही कर सकती जब तक कि उसके सचालक अपने योग्यता अशो को निर्दिष्ट समय मे ही लेकर उसका रुपया अन्य अशधारियो की भाँति कम्पनी मे जमा न करे। इस राशि के जमा होने के बाद ही वे अपना कार्य आरम्भ कर सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति बिना योग्यता अश लिए ही जबकि ऐसा आवश्यक हो, सचालक पद पर कार्य करता रहे तो दो महीने की समाप्ति पर ५०) प्रति दिन की दर से अर्थ दण्ड का भागी होगा। [धारा २७२]

तान्त्रिक सचालक (Technical Director) अथवा राज्य या केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त सचालक के अतिरिक्त अन्य प्रत्यक सचालक की नियुक्ति से २ माह के भीतर ही (जो सचालक नये अधिनियम के प्रचलन मे पूर्व ही चले आ रहे हैं

---

*योग्यता अश सम्बन्धी धारायें २७०-२७२ प्राइवेट कम्पनियों पर लागू नही होती।

उनकी दशा मे पहली अप्रैल सन् १६५६ से दो माह के भीतर ही) कम्पनी के कार्यालय मे योग्यता अश सम्बन्धी घोषणा फाइल कर देनी चाहिए। [धारा २७१]

संचालकों की अयोग्यतायें—

निम्न व्यक्ति सचालक पद ग्रहण करने के लिए अयोग्य हैं—

(अ) यदि न्यायालय ने उसे अस्वस्थ मस्तिष्क का पाया हो।

(आ) यदि वह अवर्जित दिवालिया (Undischarged Insolvent) हो।

(इ) यदि दिवालिया घोषित किए जाने के लिए उसने प्रार्थना-पत्र दिया हो।

(ई) यदि किसी नैतिक दोष के लिए न्यायालय ने उसे अपराधी ठहराते हुए ६ माह की सजा दी हो एवं इस घटना को अभी ५ वर्ष न बीते हों।

(उ) यदि कम्पनी मे अपने लिए हुए अशो के सम्बन्ध मे उसने किसी मांग (Call) का भुगतान न किया हो और भुगतान की अन्तिम तिथि को ६ माह बीत गये हो। अथवा

(ऊ) यदि उसे किसी कम्पनी के प्रवर्तन, निर्माण या प्रबन्ध मे अपराध या कपट का दोषी पाते हुए किसी न्यायालय ने सञ्चालक होने के अयोग्य घोषित कर दिया हो। हां, न्यायालय की आज्ञा लेकर वह सञ्चालक बन सकता है।

प्राइवेट कम्पनियां अपने अन्तर्नियमो द्वारा कुछ अधिक अयोग्यतायें निश्चित कर सकती हैं। [धारा २७४]

संचालक-पदो की संख्या पर प्रतिबन्ध—

१ अप्रैल सन् १६५६ के बाद कोई भी व्यक्ति २० से अधिक कम्पनियो का सञ्चालक पद ग्रहण नही कर सकता, (धारा २७५)। यदि कोई व्यक्ति १ अप्रैल सन् १६५६ से पहले ही २० से अधिक कम्पनियो का सञ्चालक है तो वह अधिनियम के प्रचलन से २ माह के भीतर ही इस बात का निर्णय कर लेगा कि किन २० कम्पनियों का वह सञ्चालक बना रहे। शेष कम्पनिया से उसे त्याग-पत्र देना होगा। यही नहीं, उसे इस सम्बन्ध मे कम्पनियों के रजिस्ट्रार तथा केन्द्रीय सरकार को भी उपयुक्त सूचना देनी होगी कि अब वह केवल २० कम्पनियों का ही सञ्चालक है और जितनी अधिक कम्पनियां उसके सञ्चालन मे थी उनमे उसने त्याग-पत्र दे दिया है। [धारा २७६]

यदि नये अधिनियम के प्रचलन के समय कोई व्यक्ति २० कम्पनियो का सञ्चालक हो और फिर भी उसे एक अतिरिक्त कम्पनी का सञ्चालक नियुक्त किया जाता है तो ऐसी नियुक्ति अवैध होगी। हां, यदि नियुक्ति मे १५ दिन के भीतर वह अपनी बीस कम्पनियो मे से किसी एक के सञ्चालक पद मे त्याग-पत्र देता है तो उसकी नियुक्ति

वैध समझी जायगी। सारांश में, नये व पुराने दोनों सञ्चालक पद कुल २० से अधिक नहीं होने चाहिये। [धारा २७७]

उक्त सीमा की गणना में निम्न कम्पनियों के सञ्चालक पद नहीं गिने जायेंगे। [धारा २७८] :—

(१) प्राइवेट कम्पनी, जो किसी पब्लिक कम्पनी की न तो सहायक कम्पनी है और न सूत्रधारी कम्पनी।

(२) असीमित कम्पनी।

(३) लाभ के लिए व्यापार न करने वाले संघ या वे संघ जिनमें लाभांश बाँटने पर प्रतिबन्ध है।

(४) वह कम्पनी जिसमें यह व्यक्ति केवल वैकल्पिक सञ्चालक (Alternate Director) है, अर्थात् जो किसी अन्य सञ्चालक की अनुपस्थिति में कार्य करता हो।

उपरोक्त आदेशों का उलंघन करने वाला व्यक्ति ५,०००) तक के अर्थ दण्ड का भागी होगा।

संचालक के रिटायर होने की अवस्था—

किसी पब्लिक कम्पनी अथवा उसकी सहायक प्राइवेट कम्पनी में भी कोई भी व्यक्ति ६५ वर्ष की आयु के होने के बाद सञ्चालक नहीं बन सकेगा एवं इसके पश्चात् वह रिटायर हो जायेगा, (धारा २८०), किन्तु यदि कोई कम्पनी अपनी सामान्य व्यापक सभा में किसी व्यक्ति विशेष के लिए इस आशय का प्रस्ताव पास कर देती है कि अवस्था सम्बन्धी उक्त नियम उस पर लागू न हो तो ऐसी दशा में उपर्युक्त प्रतिबन्ध प्रभावहीन रहेगा। इस प्रस्ताव के लिए विशेष सूचना की आवश्यकता होती है और जब तक ऐसी सूचना न दी जाय, प्रस्ताव अवैध रहेगा। इस सूचना में सम्बन्धित सञ्चालक की आयु का भी उल्लेख होना चाहिए। [धारा २८१]

यदि कोई व्यक्ति किसी कम्पनी का सञ्चालक ऐसे समय नियुक्त किया गया है या करने का प्रस्ताव है, जबकि उसकी आयु ६५ वर्ष हो गई है तो उसे कम्पनी को अपनी आयु की सूचना देना आवश्यक होगा। हाँ, पुनर्नियुक्ति के समय ऐसी सूचना देना आवश्यक न होगा, यदि उसने पिछली नियुक्ति के समय में ही सूचना दे दी हो। यदि वह ऐसी सूचना नहीं देता अथवा किसी ऐसी नियुक्ति के अन्तर्गत सञ्चालक का कार्य करता है जो कि आयु के कारण अवैध है तो उस पर ५०) प्रति दिन की दर से दण्ड लगेगा।

इस प्रतिबन्ध का प्रधान उद्देश्य यह है कि शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से सुयोग्य व्यक्ति ही कम्पनियों का सञ्चालन करें तथा दूसरा नवयुवकों को सञ्चालन के क्षेत्र में आने के लिए अधिक समय तक रुकना न पड़े। यदि किसी कारण अमुक कम्पनी के लिये एक ऐसे सञ्चालक को रखना अधिक हितकर होगा जिसकी अवस्था ६५ से ऊपर है तो अधिनियम में इसके लिए भी अपवाद है।

संचालकों की स्थिति—

किसी भी कम्पनी मे सञ्चालकों की क्या स्थिति है, इसकी समुचित परिभाषा देना कठिन है, क्योंकि कम्पनी के कार्य सञ्चालन मे वे विभिन्न रूप से कार्य करते है। कभी-कभी उनकी स्थिति ट्रस्टी की भाँति, कभी एजेण्ट की भाँति और कभी व्यवस्थापक की भाँति होती है। सञ्चालक किसी भी स्थिति मे कार्य करें, किन्तु वे अशधारियों के सामान्य हित मे कम्पनी की व्यवस्था करने वाले अनुभवी व्यक्ति होते हैं। सञ्चालक ट्रस्टी के रूप मे उस समय होते है, जबकि कम्पनी की सम्पत्ति उनके अधिकार मे होती है, जिसकी वे समुचित व्यवस्था करते है तथा कम्पनी की ओर से अशो का निर्गमन, याचना, आबन्टन आदि करते है, किन्तु वे किसी भी दशा मे तीसरे पक्ष के अथवा अश धारियो के ट्रस्टी नही होते, क्योंकि कम्पनी का अस्तित्व वैधानिक होता है, जिसके स्वामी उससे पृथक अस्तित्व रखते हैं। एजेण्ट की स्थिति मे सञ्चालक उस समय कार्य करते है जिस समय वे अपने अधिकारो के अ तर्गत कम्पनी की ओर से व्यवहार करते है। कम्पनी का वैयक्तिक अस्तित्व न होने के कारण उसकी ओर से अनुबन्ध करने का अधिकार सचालको को दिया जाता है। जब सचालकगण एजेन्ट के रूप मे कार्य करते है तो उन्हे कम्पनी अधिनियम तथा अन्तर्नियमो का पालन करना पडता है, इनके द्वारा निर्धारित सीमा से परे किया गया कोई भी काय 'शक्ति के परे' (Ultra Vire) कहलाता है।

सचालको द्वारा पद रिक्त करना—

कम्पनी अधिनियम के आधीन निम्न दशाओ मे सचालक अपना पद खाली कर देगा :—

(१) कम्पनी के अन्तर्नियमो के अन्तर्गत निर्दिष्ट योग्यता अश धारा २७० मे बताई गई अवधि के भीतर प्राप्त नही करता या तत्पश्चात् किसी भी समय योग्यता अश ग्रहण करना बन्द कर देता है।

(२) किसी न्यायालय द्वारा वह अस्वस्थ मस्तिष्क का घोषित कर दिया जाता है।

(३) वह दिवालिया घोषित होने के लिए प्रार्थना-पत्र देता है।

(४) वह दिवालिया घोषित कर दिया जाता है।

(५) वह किसी न्यायालय द्वारा किसी नैतिक दोष का अपराधी घोषित किया जाता है और कम से कम ६ माह की सजा पाता है।

(६) वह भुगतान के लिए निश्चित तिथि से ६ माह के भीतर कुछ याचनायें चुकाने मे असमर्थ रहता है। इस अयोग्यता को केन्द्रीय सरकार गजट मे सूचना निकाल कर रद्द भी कर सकती है।

(७) वह बोर्ड की ३ लगातार सभाओ मे अथवा ३ महीने तक निरन्तर

सभी सभाओं मे दोनो मे से जो भी अवधि लम्बी हो, बिना बोर्ड की आज्ञा के अनुपस्थित रहता हो।

(८) वह स्वयं या उसके लाभार्थ अथवा उसकी ओर से कोई अन्य व्यक्ति या फर्म जिसमे वह पार्टनर है अथवा प्राइवेट कम्पनी, जिसमे वह संचालक है, केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना कम्पनी से ऋण या किसी ऋण के लिए गारन्टी या प्रतिभूति प्राप्त कर लेता है।

(९) वह कम्पनी के किसी अनुबन्ध मे निहित अपने हित को संचालक सभा के सम्मुख प्रगट करने मे त्रुटि करता है।

(१०) वह किसी न्यायालय द्वारा कम्पनी के सम्बन्ध मे कपट या दुरुपयोग के आधार पर संचालक बनने से बहिष्कृत कर दिया जाता हो।

(११) वह कम्पनी के एक साधारण प्रस्ताव द्वारा पद से हटा दिया जाता हो।

(१२) यदि कम्पनी में किसी विशेष पद पर कार्य करने के कारण अथवा प्रबन्ध अभिकर्त्ता के नामाङ्की के रूप मे वह एक संचालक नियुक्त किया गया था, तो उस विशेष पद की समाप्ति होने पर या प्रबन्ध अभिकर्त्ता का ठहराव खतम होने पर वह अपना पद छोड देगा।

एक प्राइवेट कम्पनी जो किसी पब्लिक कम्पनी की सहायक नहीं है, अपने अन्तर्नियमो द्वारा संचालक के पद रिक्त करने के लिए अतिरिक्त आधारो (additional grounds) की भी व्यवस्था कर सकती है।

सचालकों को पदच्युत करना—

(१) कम्पनी किसी संचालक को (जो केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त नही है) उसके पद की अवधि के पूर्व भी साधारण प्रस्ताव द्वारा हटा सकती है, किन्तु एक प्राइवेट कम्पनी १ अप्रैल सन् १९५२ को आजीवन पद ग्रहण करने वाले किसी संचालक को नही हटा सकती।

(२) किसी सचालक को हटाने अथवा इस प्रकार हटाए गये संचालक के स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति को नियुक्त करने के प्रस्ताव के लिए विशेष सूचना आवश्यक होती है।

(३) संचालक को हटाने के प्रस्ताव की सूचना मिलने पर इसकी एक प्रति सम्बन्धित सचालक को भेजी जायगी और सभा मे विचार होते समय उसे भी बोलने का अवसर दिया जायगा।

(४) सम्बन्धित संचालक को कम्पनी के सम्मुख लिखित उत्तर (Written representation) प्रस्तुत करने का तथा उसको सभा मे पढ़वाने का भी अधिकार होता है।

(५) यदि कम्पनी की अथवा क्षति उठाने वाले किसी अन्य व्यक्ति की प्रार्थना पर न्यायालय इस बात से सन्तुष्ट हो जायगा कि सम्बन्धित संचालक प्रतिष्ठा हानि

करने वाले किसी विषय को अत्यधिक प्रकाशन देने के लिए अपने वैधानिक अधिकार का दुरुपयोग कर रहा है तो लिखित उत्तर भेजने अथवा उसके पढने की आवश्यकता नही होती। साथ ही, कम्पनी को उसके प्रार्थना-पत्र का खर्चा भी उस सचालक से दिलाया जायगा।

(६) इस प्रकार हटाए जाने वाले सचालक के रिक्त स्थान को विशेष सूचना देकर ही भरा जा सकता है। यह नया सचालक उस पद पर तब तक कार्य करता रहेगा जब तक कि पूर्व सचालक का कार्य-काल समाप्त न हो जाय। हटाए जाने वाले सचालक को सचालक सभा पुन. नियुक्त नही कर सकेगी।

(७) इस धारा के अन्तर्गत सचालक को हटाने का उसके हर्जाने या कमीशन पर, जो उसे नियुक्ति की समाप्ति पर मिलना है, कोई प्रभाव नही पडेगा। साथ ही, इस धारा का सचालक को हटाने के अन्य अधिकारो पर भी कोई प्रभाव नही पडता।

संचालकों के अधिकार—

कम्पनी के अन्तर्नियमो मे सञ्चालको के प्राय. सभी अधिकारो का निर्देश रहता है और ये अधिकार आवश्यकतानुसार घटाये अथवा बढाये भी जा सकते हैं। सचालको के अधिकार प्राय. निम्न होते हैं—अशो का आवन्टन करना, याचना राशि मॉगना, अशो का अपहरण करना, सदस्यो के रजिस्टर मे सुधार करना, अशो के हस्तान्तरण को स्वीकृति अथवा अस्वीकृति देना, अनुबन्ध करना, पूँजी व्यय करना, लाभाश वितरण के लिए सिफारिश करना आदि, किन्तु कोई भी सञ्चालक ऐसा काम नही कर सकता जिसके लिए कम्पनी के अन्तर्नियमो मे निर्देश न हो। इसका कारण यह है कि सचालक अशधारियो का प्रतिनिधि होता है और कोई भी प्रतिनिधि व्यक्तिगत कार्य करने के लिए स्वतन्त्र नही होता। वह तो पूर्णत उसके आधीन रहता है जिसका वह प्रतिनिधि है। सचालको के सम्बन्ध मे यही बात लागू होती है।

सचालक सभा के सामान्य अधिकार—

सचालक सभा को उन सब कार्यों के करने का अधिकार है जो कम्पनी सामान्य रूप मे कर सकती है। इस सम्बन्ध मे प्रतिबन्ध यह है कि —

(१) सचालक सभा को कम्पनी अधिनियम, किसी अन्य अधिनियम, कम्पनी के पार्षद सीमानियम एव पार्षद अन्तर्नियमो मे निर्देशित नियमो का पालन करना होगा।

(२) सचालक सभा उन कार्यों को न कर सकेगी जो कि कम्पनी सामान्य सभा द्वारा ही कर सकती है। [धारा २९१]

धारा २९२ के अनुसार निम्न कार्यों को सञ्चालकगण अपनी सभा के प्रस्ताव द्वारा कर सकते हैं:—

(१) अशो पर अदत्त धन के सम्बन्ध मे अशधारियो से याचना करना।

(२) ऋण-पत्र को निर्गमित करना।

(३) ऋण पत्रो के अतिरिक्त अन्य किसी रूप से ऋण लेना।

(४) कम्पनी के धन का विनियोग करना । और

(५) ऋण देना ।

इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि अन्तिम तीन अधिकारो को सञ्चालक सभा अपने प्रस्ताव द्वारा सञ्चालको की किसी समिति, प्रबन्ध सञ्चालक, प्रबन्ध अभिकर्ता, सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष, मैनेजर अथवा (बैंकिंग कम्पनी की दशा मे) किसी शाखा कार्यालय के मैनेजर या मुख्याधिकारी को सौंप सकती है। यदि सञ्चालक सभा के प्रस्ताव मे ऋण लेने देने या विनियोग करने के सम्बन्ध मे कुछ सीमाओ का उल्लेख है तो उनका पालन करना इन व्यक्तियो अथवा समितियो के लिए अनिवार्य है ।

सञ्चालक सभा के उपरोक्त अधिकारो पर कम्पनी की सामान्य सभा द्वारा प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं ।

संचालक-सभा के अधिकारो पर प्रतिबन्ध—

एक पब्लिक कम्पनी या प्राइवेट कम्पनी (जो कि किसी पब्लिक कम्पनी की सहायक है) की सञ्चालक-सभा निम्नलिखित कार्यों को नही कर सकेगी, जब तक कि कम्पनी की साधारण सभा से स्वीकृति न मिल जाये :—

(१) कम्पनी का कोई कारोबार पूर्णतः या अशतः बेचना, पट्टे पर देना अथवा किसी अन्य रूप मे अलग करना ।

(२) किसी सचालक से प्राप्य ऋण को समाप्त करना अथवा भुगतान के लिए अधिक समय देना ।

(३) इस अधिनियम का प्रचलन होने के बाद कम्पनी के किसी कारोबार को या इसके द्वारा प्रयोग होने वाले गृहादि को बेचने से प्राप्त धन का ट्रस्ट प्रतिभूतियो के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से विनियोग करना ।

(४) इस अधिनियम का प्रचलन होने के पश्चात् धन उधार लेना, जबकि उधार लिया गया यह धन और पहले से ही उधार लिया हुआ धन दोनों मिलाकर कम्पनी की पूँजी और सामान्य कोषो के कुल योग से अधिक हो जाये । यहा उधार लिये धन म अस्थायी ऋण शामिल नही है ।

(५) किसी दान पुन्य के कार्य मे, जिसका कम्पनी के व्यापार अथवा कर्मचारियो के कल्याण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, कुछ रकमें देना, जिनका जोड़ एक आर्थिक वर्ष मे २५ हजार रुपये अथवा शुद्ध लाभ के ५% से (जो भी अधिक हो) बढ़ जाये ।

संचालकों को ऋण—

कोई भी कम्पनी केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति लिए बिना निम्नलिखित

को न तो कोई ऋण दे सकती है और न किसी अन्य व्यक्ति द्वारा इनको दिये गये ऋण की प्रतिभूति या गारन्टी दे सकती है [धारा २६५]* :—

(१) अपने किसी सचालक को या अपनी सूत्रधारी कम्पनी के किसी सचालक को अथवा ऐसे सचालक के किसी साझेदार या सम्बन्धी को।

(२) वह फर्म जिसमे ऐसा सचालक या सम्बन्धी साझेदार हो।

(३) वह एक प्राइवेट कम्पनी जिसमे यह सचालक एक सदस्य अथवा सचालक हो।

(४) वह समामेलित सस्था जिसकी साधारण सभा मे कुल मत शक्ति के २५% पर ऐसे किसी सचालक का या ऐसे दो या अधिक सचालकों द्वारा मिलकर अधिकार। अथवा

(५) वह समामेलित सस्था जिसकी सचालक सभा प्रवन्ध सचालक, प्रबन्ध अभिकर्त्ता, सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष अथवा मैनेजर उक्त कम्पनी के बोर्ड या किसी सचालकों के निर्देशानुसार चलती हो।

सोल एजेण्ट की नियुक्ति करने पर प्रतिबन्ध—

सन् १९६० का कम्पनी संशोधन अधिनियम लागू होने के बाद कोई भी कम्पनी किसी भी भुगतान के लिय एक ही समय मे ५ वर्ष से अधिक अवधि के लिय सोल एजेण्ट नियुक्त नही कर सकती। वह किसी सोल एजेण्ट के कार्यकाल को एक समय मे ५ वर्ष से अधिक अवधि के लिय बढा भी नही सकती है। [धारा २९४ (१)]

कम्पनी सशोधन अधिनियम १९६० का प्रारम्भ होनेके बाद, किसी भी कम्पनी का सञ्चालक मण्डल (Board of Directors) किसी भी भू भाग के लिये सोल एजेण्ट की नियुक्ति केवल इस शर्त के साथ ही कर सकती है कि यदि अगली वार्षिक सभा मे कम्पनी द्वारा स्वीकृति नही मिली, तो वह वैध न रहगी। यदि अगली वार्षिक सभा मे कम्पनी उस नियुक्ति पर स्वीकृति नही देती है तो वह उस सभा की तिथि से वैध नही रहेगी। [धारा २९४ (२) एव (२ A)]

यदि इस अधिनियम का चलन होने से पूर्व ही किसी कम्पनी ने कोई सोल एजेण्ट नियुक्त किया हो, जो कि ५ वर्ष से कम अवधि के लिये नही है, तो उस नियुक्ति सम्बन्धी मामले को अधिनियम का चलन प्रारम्भ होने के ६ माह के भीतर साधारण सभा मे कम्पनी के सम्मुख रखा जायगा और तब (अ) यदि नियुक्ति १५ फरवरी सन् १९ ५ को या बाद मे की गई थी, तो वह तत्काल ही या कुछ समय पश्चात् नियुक्ति को समाप्त कर सकती है, और (ब) यदि नियुक्ति १५ फरवरी के पहले की गई थी, तो उक्त ५

---

* उक्त धारा निम्न को लागू नही होगी —

(१) एक प्राइवेट कम्पनी, जब तक वह किसी पब्लिक कम्पनी की सहायक न हो।

(२) एक बैंकिंग कम्पनी।

वर्षों की अवधि समाप्त होने पर या इस अधिनियम का चलन प्रारम्भ होने के १ वर्ष की समाप्ति पर, जो भी पहली हो, नियुक्ति को समाप्त कर सकती है।

[धारा २६४ (३)]

यदि १ अप्रैल सन् १६५६ तथा कम्पनी संशोधन अधिनियम (१६६०) का चलन होने के बीच किसी भी समय प्रबन्ध अभिकर्त्ता ने अपना पद छोड़ दिया है तथा वह इसी कम्पनी का सोल एजेण्ट बन गया है, तो सोल एजेन्सी का ठहराव (चाहे वह स्वयं उसके नाम में हो या किसी अन्य व्यक्ति के नाम में अथवा मिलकर अपने लाभ के लिए या अपनी ओर से किया गया हो) व्यर्थ व प्रभावहीन हो जायगा, यदि केन्द्रीय सरकार अधिनियम लागू होने के ६ माह के भीतर उसकी स्वीकृति नहीं देती। यदि वह समय बीतने से पहले समाप्त हो जाय तो बात दूसरी है। [धारा २६४ (४) (अ)] किसी भी प्रबन्ध अभिकर्त्ता को, जो कि संशोधन अधिनियम सन् १६६० के पश्चात् पद पर नहीं रहा है और न ही इसके पूर्व कम्पनी का सोल एजेण्ट नियुक्त किया गया था अथवा जिसने कम्पनी संशोधन अधिनियम का प्रारम्भ होने के बाद अपना पद छोड़ दिया हो, ३ वर्ष के भीतर *कम्पनी का सोल एजेण्ट नहीं बन सकता है। यदि बनना चाहे, तो केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेनी होगी।* [धारा २६४ (४) (ब)]

यदि कम्पनी का कोई सोल एजेण्ट है और केन्द्रीय सरकार को यह विश्वास करने का कारण है कि सोल एजेन्सी के ठहराव की शर्तें कम्पनी के हितों को नुकसान पहुँचाती हैं, तो वह कम्पनी से आवश्यक सूचनायें मँगा सकती है। यदि कम्पनी इसमें त्रुटि करे, तो केन्द्रीय सरकार सोल एजेन्ट की नियुक्ति के सम्बन्ध में जाँच पड़ताल करने के लिये किसी उपयुक्त व्यक्ति की नियुक्ति कर सकती है। यदि कम्पनी द्वारा दी गई सूचना अथवा उक्त निरीक्षक की रिपोर्ट के अध्ययन से केन्द्रीय सरकार इस निर्णय पर पहुँचती है कि सोल एजेण्ट की नियुक्ति सम्बन्धी शर्तें कम्पनी के हित में नहीं हैं, तो वह उन शर्तों में उचित परिवर्तन कर सकती है। [धारा २६४ (५)]

कुछ अनुबन्धों के लिये, जिनमें कोई संचालक हित रखता है, बोर्ड की स्वीकृति आवश्यक होना—

कम्पनी के सञ्चालक मण्डल की स्वीकृति के बिना कम्पनी का कोई भी सञ्चालक (या उसका सम्बन्धी, फर्म जिसमें कि सञ्चालक या उसका सम्बन्धी पार्टनर है अथवा प्राइवेट कम्पनी जिसमें वह सञ्चालक एक सदस्य या सञ्चालक है) कम्पनी के साथ किसी माल, सामग्री अथवा सेवा की सप्लाई या क्रय-विक्रय के लिए अथवा, इस अधिनियम का चलन होने के बाद, कम्पनी के शेयरों या डिबेन्चरों के अभिगोपन के लिये अनुबन्ध नहीं कर सकता। [धारा २६७ (१)]

हाँ, वह बाजार मूल्य पर माल, सामग्री अथवा सेवा का नगद क्रय करने के लिये, अथवा उस माल, सामग्री या सेवा का क्रय करने के लिए जिसमें कि कम्पनी या सञ्चालक नियमित व्यापार करता हो, कम्पनी के साथ अनुबन्ध कर सकता है और इसके लिये सञ्चालक मण्डल की स्वीकृति आवश्यक न होगी। यह उल्लेखनीय है कि

ऐसे माल, सामग्री या सेवा का मूल्य किसी वर्ष मे ५,००० रुपये से अधिक नही होना चाहिये। सञ्चालक मण्डल की स्वीकृति लेने का प्रतिबन्ध उस व्यवहार को भी लागू नही होता जो कि एक बैंकिंग अथवा बीमा कम्पनी के साथ उसके किसी सञ्चालक, सम्बन्धी, फर्म, पार्टनर या प्राइवेट कम्पनी द्वारा किया जाता है। [धारा २९७ (२)]

धारा २९७ (३) मे सञ्चालक (सम्बन्धी, फर्म, पार्टनर या प्राइवेट कम्पनी) को यह अधिकार दिया गया है कि वह बहुत ही तत्काल आवश्यकता (Urgent necessity) की दशा मे बोर्ड की सहमति प्राप्त किये बिना भी उक्त अनुबन्ध कर सकता है। भले ही उनका मूल्य ५,०००) से अधिक हो जाय। हाँ, अनुबन्ध होने की तिथि से ३ माह के अन्दर बोर्ड की मीटिंग करके उसकी सहमति अवश्य ले लेनी होगी।

बोर्ड की सहमति अनुबन्ध करने के पूर्व या अनुबन्ध होने से ३ माह के भीतर बोर्ड की मीटिंग मे एक प्रस्ताव पास कराके दी जायगी। यदि सहमति नही दी जाती है तो उस अनुबन्ध के अन्तर्गत किया गया कार्य बोर्ड की इच्छा पर व्यर्थनीय होगा। [धारा २९७ (४) एवं (५)]

संचालकों द्वारा हित प्रकट करना—

यदि कम्पनी का सञ्चालक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी अनुबन्ध मे, जो कि कम्पनी द्वारा या कम्पनी की ओर से किया जा रहा है या किया जाने का प्रस्ताव है, कोई हित रखता है, तो उसे चाहिये कि सञ्चालक मण्डल की सभा मे उसे प्रगट कर दे। इसके लिये वह इस आशय की एक सामान्य सूचना (General Notice) बोर्ड को दे सकता है कि वह अमुक-अमुक समामेलित सस्था या फर्म मे सञ्चालक या सदस्य है तथा उसे उस अनुबन्ध मे हित रखता हुआ माना जाय। उसे इस बात की भी सावधानी रखनी होगी कि यह नोटिस या तो बोर्ड की मीटिंग मे दिया जाय अथवा उसे बोर्ड की मीटिंग मे प्रस्तुत कर दिया या पढ लिया जाय। यदि किसी सञ्चालक का दूसरी कम्पनी मे २% दत्त अश पूँजी से अधिक भाग नही है, तो ऐसी दूसरी कम्पनी मे सञ्चालक का हित नही माना जायगा और उसके साथ अनुबन्ध किया जा सकता है। [धारा २९९]

संचालकों का कम्पनी के साथ व्यवहार करना—

सचालक सभा की अनुमति लिए बिना कम्पनी का कोई भी सचालक (या उसका कोई सम्बन्धी या फर्म, जिसमे वह संचालक या उसका सम्बन्धी साझेदार है या प्राइवेट कम्पनी, जिसका यह सचालक एक सदस्य अथवा सचालक है) कम्पनी से माल, सामान या सेवाये खरीदने, बेचने या सप्लाई करने अथवा कम्पनी के अंशो या ऋणपत्रो का अभिगोपन करने के लिए अनुबन्ध नही कर सकता, किन्तु किसी एक कलेन्डर वर्ष मे कुल मिलाकर ५,०००) तक के अनुबन्धो मे प्रवृष्टि होने की छूट है, बशर्ते कि वे ऐसे सचालक के निरन्तर व्यापार या व्यवसाय के ही एक भाग हो।

संचालकों द्वारा हित प्रगट करना—

कम्पनी के साथ किये गये किसी अनुबन्ध मे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे

हित रखने वाले संचालक का यह कर्त्तव्य होता है कि वह इसमे निहित अपने हित को संचालकों की सभा मे स्पष्ट कर दे। हित रखने वाले संचालक को किसी ऐसे अनुबन्ध के सम्बन्ध मे जिसमे उसका कोई हित है, होने वाली बहस मे भाग नही लेना चाहिये और न अपना मत ही देना चाहिये। सभा मे उसकी उपस्थिति नियत कोरम के लिये नही गिनी जायगी और यदि वह मत देता है तो उसका मत व्यर्थ होगा।

उपर्युक्त नियम किसी प्राइवेट कम्पनी पर, जो किसी पब्लिक कम्पनी की सहायक नही है, लागू नही होते।

यदि कोई कम्पनी अपने किसी मैनेजर, प्रबन्ध सचालक, मैनेजिंग एजेन्ट अथवा सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष की नियुक्ति के सम्बन्ध मे कोई अनुबन्ध करती है अथवा उसमे कोई परिवर्तन करती है तो उस दशा मे जब कि कम्पनी का कोई सचालक उसमे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हित रखता हो, ऐसे अनुबन्ध या परिवर्तन की तिथि के २१ दिन के भीतर उसे अपने प्रत्यक्ष सदस्य के पास उस अनुबन्ध या परिवर्तन की शर्तों का सारांश और संचालक के हित का पूर्ण विवरण भेजना चाहिए।

संचालकों के हित वाले अनुबन्धों, कम्पनियो एवं फर्मों का रजिस्टर—

धारा ३०१ के अन्तर्गत प्रत्येक कम्पनी को एक या अधिक रजिस्टर ऐसे रखने होंगे, जिनमे उन सभी अनुबन्धो अथवा व्यवस्थाओ के विवरण पृथक-पृथक लिखे जायेंगे जिनमे सचालको का कोई हित हो। ऐसे अनुबन्धो के बारे मे इन रजिस्टरो मे निम्न विवरण देना आवश्यक है :—

(अ) अनुबन्ध अथवा व्यवस्था की तिथि।
(आ) सम्बन्धित पक्षकारो के नाम।
(इ) उसकी प्रमुख शर्तें।
(ई) बोर्ड के सामने प्रस्तुत करने की तिथि।
(उ) उन सचालको के नाम जो कि तटस्थ रहे, जिन्होने पक्ष मे वोट दिया एव जिन्होने विपक्ष मे वोट दिया।

जिन अनुबन्धो के लिये बोर्ड की स्वीकृति आवश्यक होती है उन्हें बोर्ड की उस मीटिंग के, जिसमे स्वीकृति प्रदान की गई है, ७ दिनो के भीतर (छुट्टियाँ छोड कर) रजिस्टर मे दर्ज कर लेना चाहिये। अन्य अनुबन्धो की दशा मे उनका विवरण कम्पनी के रजिस्टर कार्यालय मे प्राप्त होने के ७ दिन अथवा ३० दिन (जो भी तिथि बाद की हो) के अन्दर लिख लेना चाहिये। तत्पश्चात् बोर्ड की अगली मीटिंग मे रजिस्टर प्रस्तुत किया जायेगा और सभी उपस्थित सचालक उस पर हस्ताक्षर करेंगे।

यदि इस धारा के आदेशो का उलघन किया गया तो कम्पनी और कम्पनी का प्रत्येक दोषी अधिकारी प्रत्येक दोष के सम्बन्ध मे ५०० रु० तक अर्थ दण्ड का भागी होगा।

उक्त रजिस्टर कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय में रखा जावेगा तथा कम्पनी का

कोई भी सदस्य उसी सीमा तक व उतनी ही फीस देकर, जो कि सदस्यो के रजिस्टर के सम्बन्ध मे है, रजिस्टर का निरीक्षण कर सकता व नकल प्राप्त कर सकता है।

वैकल्पिक संचालक—

'वैकल्पिक सचालक' (Alternate Director) से तात्पर्य ऐसे सचालक का है जो किसी अन्य सचालक की अनुपस्थिति के काल मे इस पद पर कार्य करने के लिए अधिकृत होता है।

किसी कम्पनी की सचालक-सभा कम्पनी के अन्तर्नियमो द्वारा अथवा साधारण सभा मे कम्पनी के एक प्रस्ताव द्वारा अधिकृत होने पर, किसी सचालक के लिए (जिसे मूल सचालक कहते हैं) उस राज्य से जहाँ सचालक-सभायें होती हैं, कम से कम तीन महीने की अनुपस्थिति के समय मे कार्य करने के लिये एक 'वैकल्पिक संचालक' नियुक्त कर सकती है। जैसे ही मूल सचालक वापिस आए वैसे ही वैकल्पिक सचालक पद खाली कर देगा।

सचालकों द्वारा लाभ का पद ग्रहण करना —

विशेष प्रस्ताव द्वारा कम्पनी की पूर्व सम्मति लिये बिना निम्न मे से कोई भी व्यक्ति कम्पनी मे अथवा उसकी किसी सहायक कम्पनी मे कोई लाभ का पद ग्रहण नही कर सकता :—

(१) कम्पनी का एक सचालक,

(२) ऐसे सचालक का कोई साझेदार या सम्बन्धी,

(३) एक फर्म, जिसमे ऐसा कोई सचालक या सम्बन्धी साझेदार है,

(४) एक प्राइवेट कम्पनी, जिसका ऐसा सचालक एक सचालक अथवा सदस्य है, अथवा

(५) ऐसी एक प्राइवेट कम्पनी का कोई सचालक, मैनेजिंग एजेंट, सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष अथवा प्रबन्धक।

प्रबन्ध सचालक, मैनेजिंग एजेन्ट, सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष, प्रबन्धक, कानूनी सलाहकार, तान्त्रिक सलाहकार अथवा ऋणपत्रधारियो का ट्रस्टी या बैंकर के पद 'लाभ के पद (Office of Profit) नही समझे जाते। लाभ के पद से आशय ऐसे पद का है जिसमे सचालक को नियत सचालकीय पारिश्रमिक के अतिरिक्त कुछ लाभ प्राप्त होता हो। यदि कोई सचालक उक्त नियम का उलघन करता है तो त्रुटि के प्रथम दिन से उसका पद रिक्त माना जाएगा तथा उसके लिए ऐसे पद का लाभ कम्पनी को लौटाना आवश्यक होगा। सचालको द्वारा लाभ का पद ग्रहण करने का प्रधान उद्देश्य यह है कि वे स्वामी तथा सेवक दोनो ही स्थितियो मे न हो जायें।

प्रबन्ध संचालक

(Managing Director)

परिभाषा—

प्रबन्ध सचालक से आशय ऐसे सचालक का है जिसको कि कम्पनी द्वारा

किये गये अनुबन्ध के अन्तर्गत अथवा कम्पनी की सामान्य सभा या संचालक सभा द्वारा पास किये गये प्रस्ताव के अन्तर्गत, अथवा कम्पनी के अन्तर्नियमों के अन्तर्गत कम्पनी की प्रबन्ध-व्यवस्था का अधिकार दिया गया हो। कोई भी संचालक, जो प्रबन्ध संचालक का कार्य करता हो, इस परिभाषा के अंतर्गत सम्मिलित किया जावेगा, अर्थात काम महत्त्वपूर्ण है, नाम नहीं।

प्रबन्ध संचालकों से सम्बन्धित आदेश—

कम्पनी अधिनियम सन् १९५६ के प्रचलन के बाद निम्न व्यक्ति प्रबन्ध संचालक अथवा पूर्णकालीन संचालक (Managing or Wholetime Director) के पद पर कार्य नहीं कर सकते :—

(अ) वह व्यक्ति जो किसी समय दिवालिया घोषित कर दिया गया हो अथवा अमुक्त दिवालिया (Undischarged Insolvent) है।

(आ) वह व्यक्ति जिसने अपने लेनदारों का भुगतान स्थगित कर दिया था या कर दिया है अथवा जिसने उनके साथ कोई समझौता कर लिया है या कर लिया था।

(इ) वह व्यक्ति जिसे किसी भारतीय न्यायालय द्वारा नैतिक अपराध के लिए दोषी ठहराया गया हो। [धारा २६७]

किसी भी पब्लिक कम्पनी अथवा उसकी सहायक प्राइवेट कम्पनी के मैनेजिंग या पूर्णकालीन संचालक अथवा बारी से रिटायर न होने वाले संचालक की नियुक्ति या पुनर्नियुक्ति से सम्बन्धित आदेशों में किया हुआ कोई भी संशोधन तब तक वैध न होगा जब तक कि केन्द्रीय सरकार की सम्मति न ले ली जाय। [धारा २६७]

इसी प्रकार किसी प्रबन्ध संचालक अथवा पूर्णकालीन संचालक की नियुक्ति तब तक वैध न समझी जायगी जब तक कि केन्द्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त न कर ली जाय। यदि सरकार किसी प्रबन्ध संचालक की नियुक्ति अस्वीकार कर देती है तो ऐसी नियुक्ति अवैध मानी जायेगी। [धारा २६८]

प्रबन्ध संचालक की नियुक्ति—

नये कम्पनी अधिनियम का प्रचलन होने के बाद कोई भी ऐसा व्यक्ति कम्पनी का प्रबन्ध संचालक नियुक्त नहीं किया जा सकता, जो किसी अन्य कम्पनी का प्रबन्ध संचालक या मैनेजर है। यदि कोई व्यक्ति केवल एक ही कम्पनी का प्रबन्ध संचालक या मैनेजर है तो उसे कम्पनी अपना प्रबन्ध संचालक नियुक्त कर सकती है, किन्तु ऐसी नियुक्ति के लिए अनिवार्य है कि वह संचालक सभा में उपस्थित सभी संचालकों द्वारा स्वीकृत हो। यदि कोई व्यक्ति पहले से दो से अधिक कम्पनियों का प्रबन्ध संचालक या मैनेजर चला आ रहा है तो उसे चाहिए कि अधिनियम लागू होने के एक वर्ष के अन्दर यह निश्चय कर ले कि वह किन दो कम्पनियों में प्रबन्ध संचालक रहना चाहता है। केन्द्रीय सरकार किसी व्यक्ति को, जो दो से अधिक कम्पनियों का प्रबन्ध संचालक या

मैनेजर है, दो से अधिक कम्पनियों का प्रबन्ध सचालक बने रहने की आज्ञा दे सकती है, यदि वह यह समझे कि ऐसा करना उन कम्पनियों के हित मे आवश्यक है। [धारा ३१६]*

नये अधिनियम के प्रचलन से कोई भी कम्पनी किसी भी व्यक्ति को एक समय मे पाँच वर्ष से अधिक की अवधि के लिये नियुक्त नही कर सकती। पुराने प्रबन्ध सचालको की दशा मे उनका कार्यकाल भी अधिनियम के प्रचलन से पाँच वर्ष बाद समाप्त हो जायगा, यदि वह स्वत. पहले समाप्त हो जाय तो बात दूसरी है। प्रबन्ध सचालक का कार्य-काल बढाया भी जा सकता है (समाप्त होने के दो वर्ष से अधिक पहले नही), किन्तु प्रत्येक अवसर की बढाई हुई अवधि ५ वर्ष से अधिक नही होगी। [धारा ३१७]*

मैनेजर
(Manager)

परिभाषा—

'मैनेजर' शब्द से आशय ऐसे व्यक्ति का है जो कि सचालको के नियन्त्रण एव निर्देशन के आधीन किसी कम्पनी के सम्पूर्ण या अधिकाश कार्यों का प्रबन्ध करता हो। इस परिभाषा के अन्तर्गत एक सचालक अथवा कोई अन्य व्यक्ति, जो कि एक मैनेजर की स्थिति मे कार्य कर रहा हो, सम्मिलित माना जायगा, भले ही उसका किसी भी नाम से सम्बोधित किया जाये और भले ही उसके साथ इस आशय का अनुबन्ध हुआ हो या नही। [धारा २ (२४)]

मैनेजर की नियुक्ति सम्बन्धी आदेश—

कोई पब्लिक कम्पनी या उसकी सहायक प्राइवेट कम्पनी मैनेजर के पद पर किसी फर्म अथवा समामेलित सस्था को नियुक्त नही कर सकती। [धारा ३८४]

निम्न व्यक्ति भी मैनेजर के पद पर नियुक्त नही किये जा सकेंगे —

(अ) अमुक्त दिवालिया या वह व्यक्ति जो पिछले पाच वर्षों मे दिवालिया घोषित किया जा चुका है।

(आ) ऐसा कोई व्यक्ति जिसने कि गत पाँच वर्षों मे अपने लेनदारो को भुगतान स्थगित कर दिया हो या कोई अन्य समझौता कर लिया हो।

(इ) ऐसा कोई व्यक्ति जो कि गत पाँच वर्षों मे किसी भारतीय न्यायालय द्वारा नैतिक अपराध के सम्बन्ध मे दोषी ठहराया गया हो।

यदि केन्द्रीय सरकार चाहे तो उपरोक्त प्रतिबन्धो को हटा सकती है। [धारा ३८५]

---

* धारा ३१६ तथा ३१७ प्राइवेट कम्पनियों पर लागू नही होगी।

साधारणत: कोई कम्पनी किसी व्यक्ति को, जो किसी दूसरी कम्पनी का मैनेजर या प्रबन्ध सचालक है, अपना मैनेजर नियुक्त नही कर सकती। यदि वह व्यक्ति केवल एक कम्पनी का मैनेजर है, अधिक का नही, तो अवश्य उसे मैनेजर नियुक्त कर सकती है। हाँ, शर्त यह है कि ऐसी नियुक्ति के लिये उपस्थित सभी संचालकों की सहमति से सचालक सभा की मीटिंग मे एक प्रस्ताव पास कर दिया जाये। यदि इस अधिनियम के आरम्भ होने पर कोई व्यक्ति दो से अधिक कम्पनियो का मैनेजर है तो उसे सचालको के सम्बन्ध मे दिये हुये आदेशो के अनुसार ही यह निर्णय कर लेना चाहिये कि वह किन दो कम्पनियों मे मैनेजर या प्रबन्ध सचालक बना रहना चाहता है। हाँ, यदि केन्द्रीय सरकार इस बात से सन्तुष्ट हो जाय कि कम्पनियो के समुचित रूप से कार्य करने के लिये एक इकाई के रूप मे कार्य करना और एक ही मैनेजर रखना चाहिए तो केन्द्रीय सरकार एक आज्ञा जारी करके उस व्यक्ति को दो से अधिक कम्पनियो का भी मैनेजर बन रहने की अनुमति दे सकती है। [धारा ३८६]

संचालकों का रजिस्टर—

प्रत्येक कम्पनी को एक रजिस्टर रखना आवश्यक है, जिसमे वह कम्पनी के संचालको, प्रबन्ध सचालक, प्रबन्ध अभिकर्त्ता, सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष, मैनेजर एवं सेक्रेटरी के नाम, पते, राष्ट्रीयता, व्यवसाय आदि लिखे। यदि इसमे कभी कोई परिवर्तन किया जाय या जब कोई नया सचालक नियुक्त हो तो ऐसे परिवर्तन या नियुक्ति के २८ दिनो के भीतर इस परिवर्तन या नियुक्ति का विवरण रजिस्ट्रार के पास फाइल कर देना चाहिये।

संचालकों द्वारा धारण किये हुए अंशो का रजिस्टर—

कभी-कभी सचालको को ऐसी सूचनायें भी अशो एव ऋण-पत्रो के बारे मे पता होती हैं जो कि सामान्य अशधारियो को ज्ञात नही होती, जैसे कम्पनी द्वारा किसी लाभदायक अनुबन्ध मे प्रवेश करने की सम्भावना या सचालक सभा द्वारा पहले से अधिक लाभाश की घोषणा करने की सिफारिश। ऐसी दशा मे स्पष्टतः एक सचालक के लिए यह अनुचित है कि वह अपनी विशेष सूचना का लाभ उठा कर अशो या ऋण-पत्रों का क्रय विक्रय करे। इस प्रकार अनुचित लाभ उठाने की आशका इसलिए अधिक हो जाती है कि अशो या ऋण-पत्रो को एक नामाकी (Nominee) के नाम से रजिस्टर्ड कराया जा सकता है। धारा ३०७ का उद्देश्य ऐसे अनुचित लाभो को रोकना है। इसके अनुसार, प्रत्येक कम्पनी को एक रजिस्टर रखना पड़ता है, जिसमें प्रत्येक सचालक के सम्बन्ध मे उसके द्वारा या उसके लिय ट्रस्ट मे धारण किये हुये कम्पनी के या कम्पनी की किसी सहायक या सूत्रधारी कम्पनी के या इस सूत्रधारी कम्पनी की किसी अन्य सहायक कम्पनी के अश या ऋण-पत्रो की सख्या, विवरण और रकम लिखी जाती है।

यह रजिस्टर कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय पर रखा जायगा और वार्षिक सभा के १४ दिन पहले से और ३ दिन बाद तक प्रत्येक दिन व्यापार के घण्टों में कम से कम २ घन्टों के लिए किसी भी सदस्य या ऋण-पत्रधारी के निरीक्षण के लिए खुला रहेगा।

इस रजिस्टर में लिखे जाने के लिये आवश्यक सूचना संचालकों को लिखित देनी चाहिये, अन्यथा उन्हें दो वर्ष की कैद या ५,०००) तक जुर्माना अथवा दोनों ही दण्ड लगाये जा सकते हैं।

संचालकों का दायित्व—

संचालकों के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं :—

(१) प्रत्येक सञ्चालक से यह आशा की जाती है कि वह कम्पनी के कारोबार को चतुराई एवं परिश्रम से करेगा। 'चतुराई तथा परिश्रम' की क्या परिभाषा है, यह अधिनियम का विषय नहीं। यह तो प्रत्येक समस्या की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। भारतीय कम्पनी अधिनियम यह नहीं कहता कि संचालकगण कम्पनी के व्यापार में विशेषज्ञ हों, किन्तु यदि वे विशेषज्ञ हैं तो फिर उनसे एक विशेषज्ञ के स्तर के कार्य की ही अपेक्षा की जायगी। साधारणत. सञ्चालक को उतनी चतुराई एवं परिश्रम से कार्य करना चाहिये जितनी चतुराई तथा परिश्रम से वह अपने निजी मामलों में समान परिस्थितियों के अन्तर्गत करता। जितनी योग्यता किसी सञ्चालक में है उतनी योग्यता उसे प्रयोग में लानी ही चाहिए, ऐसी उससे आशा की जाती है और यदि वह उस योग्यतानुसार कार्य नहीं करता तो वह उत्तरदायी होगा।

(२) प्रत्येक सञ्चालक का कर्त्तव्य है कि वह कम्पनी अधिनियम तथा कम्पनी के अन्तर्नियमों द्वारा प्रदान किये हुये अधिकारों के अन्तर्गत ही कार्य करे, अतएव यदि किसी समय कम्पनी का सञ्चालक अपने अधिकारों की सीमा के परे किसी प्रकार का व्यवहार अथवा अनुबन्ध करता है तो उसका समस्त दायित्व उसके ऊपर व्यक्तिगत रूप में होता है। अधिकारों की सीमा के भीतर भी जान-बूझकर की गई लापरवाही के लिए सञ्चालक उत्तरदायी होगा। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक सञ्चालक से केवल उसी स्तर की सावधानी रखने की अपेक्षा की जाती है जिसकी आशा उसके समान ज्ञान और अनुभव वाले व्यक्ति से, अपना निज का कार्य करने में, की जा सकती है।

(३) साधारणत. एक सञ्चालक उन्हीं कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है जो कि उस सभा या समिति में जिसमें वह सम्मिलित हुआ था, किये गये थे।

(४) सामान्यतः एक सञ्चालक अपनी कम्पनी के अधिकारियों की योग्यता एवं ईमानदारी पर निर्भर रह सकता है और उसके विश्वास पर निर्भर रह कर जो भी कार्य करेगा उसके लिए वह उत्तरदायी न होगा। हाँ, यदि किसी मामले में उसे सन्देह हो जाता है तो ऐसी परिस्थितियों में सावधानी से कार्य करना चाहिए, अन्यथा वह उत्तरदायी होगा।

(५) एक संचालक के लिये (प्रबन्ध सञ्चालक नहीं, क्योंकि उसके साथ तो एक विशेष अनुबन्ध होता है) यह आवश्यक नहीं है कि वह कम्पनी के मामले में लगातार ध्यान दे और न वह बोर्ड या समिति की सभी सभाओं में शामिल होने के लिये बाध्य होता है।

(६) सञ्चालकगण प्रविवरण में दी हुई सूचनाओं की सत्यता के लिए भी उत्तरदायी हैं। जो लोग कम्पनी के अंश अथवा ऋण-पत्रों को प्रविवरण के आधार पर, जिसमें कोई असत्य विवरण है, खरीदते हैं, तो उसकी क्षतिपूर्ति करने के लिये सञ्चालकगण उत्तरदायी होंगे।

(७) यदि किसी मामले में सञ्चालक की लापरवाही प्रमाणित हो जाती है तो वह कम्पनी को उनकी हानि के लिये हर्जाना भरने को बाध्य है। यदि कम्पनी अभी चालू है तो वह स्वयं ऐसे सचालक के विरुद्ध कार्यवाही कर सकती है और यदि उसका समापन हो गया है तो कम्पनी का लिक्वीडेटर इसकी कार्यवाही कर सकता है। हाँ, जिस सचालक को लापरवाही के लिये दायी ठहराया गया है वह अपने सहयोगी सचालकों से जोकि लापरवाही के लिये उतने ही दायी हैं, हर्जाने का भाग वसूल कर सकता है। यदि न्यायालय यह समझे कि सचालक ने ईमानदारी और समुचित रीति से कार्य किया है तथा उसे क्षमा कर दिया जाना चाहिए तो वह उसे दायित्व से आंशिक या पूर्णतः मुक्त कर सकता है।

(८) सचालकों ने जो अधिकार कम्पनी से प्राप्त किये हैं उनका प्रयोग कम्पनी की ही सेवा के लिये प्रयोग करना चाहिये, न कि अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये। अन्य एजेंटों की भाँति उनको भी अपने स्वार्थ और कर्त्तव्य के बीच संघर्ष उत्पन्न होने का अवसर नहीं देना चाहिए। उदाहरण के लिये, किसी भी सचालक को अपनी स्थिति के द्वारा कोई गुप्त लाभ नहीं उठाना चाहिए। यदि वह किसी अनुबन्ध में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष हित रखता है तो इसकी सूचना उसे बोर्ड की सभा में देनी चाहिये।

(९) सचालकों द्वारा अपने विषय में जानकारी देने का दायित्व—
एक सचालक को चाहिये कि कम्पनी को अपने बारे में निम्न सूचनाएं प्रदान करे :—

(अ) जब कम्पनी के प्रकाशित खाता में सचालक के बारे में कोई सूचना दी जानी है तो उसे चाहिये कि यथासम्भव स्पष्ट और पूर्ण विवरण दे।

(आ) जब कोई व्यक्ति ६५ वर्ष का (या इससे कम आयु का, जो कि अन्तर्नियमों में निर्दिष्ट की गई हो) होने पर सचालक नियुक्त किया जाय तो उसे अपनी आयु की सूचना कम्पनी को देनी चाहिये।

(इ) यदि किसी सचालक का किसी अनुबन्ध में कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हित है तो उसे शीघ्र से शीघ्र ऐसे हित की सूचना बोर्ड के सचालकों को देनी चाहिये।

(ई) यदि कम्पनी का कोई सचालक किसी अन्य कम्पनी में सचालक नियुक्त

किया जाय तो ऐसी नियुक्ति के २० दिन के भीतर इस नियुक्ति का पूर्ण विवरण कम्पनी को दे।

(उ) सचालक को चाहिये कि कम्पनी द्वारा 'सचालको का रजिस्टर' सही रखे जाने के लिये अपने बारे मे सब आवश्यक सूचनाये प्रदान करे।

(ऊ) जब कम्पनी का कोई व्यापार (या सम्पत्ति) किसी अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित कर दिया गया है तो किसी भी सचालक को उसके पद की हानि के लिये हर्जाना तभी दिया जा सकेगा जब वह इसका विवरण कम्पनी के सदस्यो पर प्रगट कर दे और कम्पनी साधारण सभा मे उसे स्वीकार कर ले।

(१०) सापराध दायित्व—नीचे दी हुई परिस्थितियो मे कम्पनी के सचालक सापराध दायी (Criminally liable) भी हो जाते है और मुकद्दमा चलाने पर उन्हे कैद या जुर्माना या दोनो ही दण्ड दिये जा सकते है :—

(अ) जबकि उन्होने कम्पनी के समापन के दौरान मे कोई अपराध किया है।

(आ) जबकि उन पर कम्पनी की पुस्तकें, कागज-पत्र या प्रतिभूतियाँ नष्ट करने या झूठी दिखाने का आरोप है।

(इ) जबकि उन्होने किसी व्यक्ति को धोखे से कम्पनी को साख देने के लिये प्रेरित किया हो या लनदारो को धोखा देने के हेतु कम्पनी की कुछ सम्पत्ति छुपा दी हो।

(ई) जबकि समापित की जाने वाली कम्पनी ने समापन की कार्यवाही आरम्भ होने के पूर्व के दो वर्षो के उचित हिसाब खाते नही रखे हैं।

(उ) जबकि कम्पनी का व्यापार कपट से चलाया जाता है।

(ऊ) जबकि समापित कम्पनी के सम्बन्ध मे वह किसी अपराध का दोषी हो।

संचालको की क्षति पूर्ति—

कम्पनी अधिनियम ने सचालको के लिये निम्न दो सुविधाये दी है :—

(१) कम्पनी अपने अन्तर्नियमो के आधीन या किसी ठहराव के अनुसार किसी मुकद्दमे मे सचालक द्वारा उठाये गए दायित्व के लिए, जिसमे कि वह मुक्त कर दिया गया था, क्षति पूर्ति कर सकती है। [धारा २०१]

(२) यदि कम्पनी किसी अधिकारी के विरुद्ध ('अधिकारी' शब्द मे सचालक भी शामिल है) कर्त्तव्य भङ्ग या लापरवाही के लिये कोई कार्यवाही करती है तो जब न्यायालय यह समझे कि सचालक ने ईमानदारी और यथोचित रीति से कार्य किया था तथा मामले की सभी परिस्थितियो मे उसे क्षमा कर देना चाहिये तो वह उसे कुछ

शर्तों पर, जो वह उचित समझे, आंशिक या पूर्णत. दायित्व से मुक्त कर सकती है। इस धारा के अन्तर्गत संचालक कार्यवाही आरम्भ होने के पहले भी छूट की प्रार्थना कर सकता है। [धारा ६३३]

STANDARD QUESTIONS

1. "The management of a Joint Stock Company is said to be democratic in character." How far do you agree with this view? Explain the nature of democratic management of Joint Stock Companies in India.
2. While selecting director of a big concern, what factors would you weigh in order to achieve the best results?
3. How are the directors of companies selected and appointed in India?
4. Under what circumstances a director becomes disqualified to hold his office?
5. In what circumstances is the office of a director deemed to be vacated?
6. Can a director be removed before the expiry of his term of office? If so, how?
7. What are the duties and powers of a company director under law? What restrictions, if any, have been placed on the exercise of the director's powers?
8. Enumerate those powers of the board of directors of a company, which can be exercised only at Board Meetings and not by circulation.
9. What do you mean by an 'Office of Profit'? Can a director hold an office of profit? If not, why?
10. Write explanatory notes on the following —
    (a) Share qualification of a director.
    (b) Retiring age of directors
    (c) Restriction on number of directorships
11. State concisely the degree of skill, care, diligence and integrity that the law requires of a director.
12. Discuss the position and liability of the directors of a company.
13. Define 'Manager' and 'Managing Director' of a company and briefly summarize the provisions of the Indian Companies' Act 1956 relating to each.

अध्याय १३

प्रबन्ध अभिकर्त्ता

"जिस समय भारतवर्ष के उद्योगों का विकास नहीं हो रहा था, विनियोक्ताओं मे नवीन व्यवसाय तथा उद्योगो की जोखिम लेने की शक्ति नहीं थी, देश में अच्छे संचालक एवं प्रबन्धकर्त्ता कठिनाई से मिलते थे, उस समय इन प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने भारत के औद्योगिक संगठन में एक सुदृढ़ स्तम्भ का कार्य किया, जिससे भारतीय उद्योग उत्तरोत्तर प्रगति की ओर अग्रसर होता रहा।"

भारतवर्ष के किसी भी महत्त्वपूर्ण उद्योग मे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ का बडा भाग रहा है। भारतीय प्रशुल्क मण्डल ने सूती वस्त्र उद्योग के बारे मे जो रिपोर्ट सन् १९३१ मे प्रकाशित की थी, उसमे यह स्वीकार किया गया था कि "केवल उन बड़े उद्योगो को छोड़ कर जिन्हे भारत मे राज्य ने संगठित किया अथवा जो उसकी देख-रेख मे स्थापित किये गये, लगभग प्रत्येक महत्त्वपूर्ण उद्योग इन्ही प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ के साहस के कारण जन्म पा सका है।" अब भी अधिकतर औद्योगिक सस्थायें, विशेषकर सीमित उत्तरदायित्व वाली पब्लिक कम्पनियाँ इन्ही के हाथ मे हैं। उदाहरण के लिए, जमशेदपुर का लोहे व इस्पात का उद्योग, बम्बई व अहमदाबाद का सूती वस्त्र उद्योग, बंगाल व बिहार का जूट उद्योग देश के सबसे अधिक संगठित उद्योगो मे से हैं, परन्तु इन उद्योगो मे ऐसा शायद ही कोई मिल हो जो किसी प्रबन्ध अभिकर्त्ता के परोक्ष नियन्त्रण में नही है। प्रबन्ध अभिकर्त्ता देश के औद्योगिक क्षेत्र मे यह स्थिति कैसे प्राप्त कर सके, इस प्रश्न का उत्तर हमे उन परिस्थितियो मे मिलेगा जो भारत की अपनी अनोखी विशेषता रही है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का उदय—

वास्तव मे प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति का उदय भारत के औद्योगिक विकास के साथ-साथ हुआ। यहाँ कुछ उद्योगो के प्रारम्भिक प्रमुख विकासकर्त्ता अंग्रेजी व्यवसायी थे, जो पहले यहाँ कुछ व्यापारिक सस्थाओ के प्रतिनिधियो की भाँति आये। पहले तो इन्होने सामान्य व्यापार का काम किया, परन्तु बाद मे अन्य कामो की ओर भी आकर्षित हुए। इन्होने देखा कि भारत एक विशाल कृषि देश है, भरपूर प्राकृतिक साधन हैं, जाकि विशाल आबादी, पर्याप्त श्रम की सुलभता होने हुए भी औद्योगिक दृष्टि मे

बिल्कुल पिछड़ा हुआ है, क्योकि जनता दूसरो को उद्योग मे लगाने के लिये द्रव्य देने मे संकोच करती है। पूँजी के अतिरिक्त और सब साधन यहाँ है, जिनका होना औद्योगिक उन्नति के लिये आवश्यक है।

अस्तु अपने लाभ के लिए उन्होने आवश्यक पूँजी स्वयं प्रदान करने का निश्चय किया एवं अपने मित्रो को भी इसके लिये तैयार किया। उद्योग स्थापित कर दिये गए साझेदारी बन गई और उद्योग चलाने के लिये आवश्यक पूँजी दे दी गई। हानि एवं अन्य आपत्तियो के समय मे भी उन्होने उद्योग को बचाने के लिये आर्थिक मदद दी, क्योकि बाहरी जनता से तब ही पूँजी प्राप्त करने की आशा की जा सकती थी जबकि यह उद्योग स्पष्टतः सफल होना प्रतीत हो। जब यह दशा पहुँच जाती थी तो वे उसे कम्पनी मे परिवर्तित कर देते और अपनी पूँजी का बड़ा भाग वापिस लेकर उसे फिर किन्ही अन्य प्रयत्नो मे लगा देते थे। कम्पनी के जन्मदाता तथा प्रमुख पूँजी प्रदान करने वाले एव अनुभवी प्रबन्धकर्त्ता होने के रूप मे उनका उस कम्पनी के नियन्त्रण मे काफी हाथ रहता था। एक ही प्रबन्ध अभिकर्त्ता गृह के आधीन कई प्रमण्डल नियन्त्रित रहते थे। प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति बगाल मे शुरू हुई और फिर अन्य भागों मे भी फैल गई। कुछ भारतीय पूँजीपतियो ने भी उनको देखा-देखी उनकी सफलता से प्रेरित हो इस प्रकार का कार्य करना प्रारम्भ किया और इसमे उन्हे विदेशियो से बड़ी सहायता मिली।

एक दूसरी बात जो इस पद्धति के जन्म का कारण बनी वह थी बैंको की यह हठ कि प्रमण्डलो को तब ही ऋण दिया जाय (वह भी लम्बे समय के लिए नही, थोड़ी ही अवधि के लिये) जबकि उनके प्रबन्ध अभिकर्त्ता इस ऋण की गारन्टी दे। उनका यह आग्रह इस कारण था कि वे प्रमण्डलो की आन्तरिक स्थिति मे तो परिचित होते नही थे, परन्तु प्रबन्ध अभिकर्त्ता सब कुछ जानते थे, अस्तु यह स्वाभाविक ही था कि बैंक उनकी गारन्टी की माँग करें। ऊँची आर्थिक स्थिति के प्रमण्डल भी बैंको से तब ही ऋण प्राप्त कर सकते थे जबकि उनके प्रबन्ध अभिकर्ता गारन्टी देने को तैयार हो।

तीसरे, उस समय के भारतीय कम्पनी अधिनियम को दुर्बलताओ ने भी प्रबन्ध अभिकर्त्तत्व पद्धति को प्रोत्साहित किया। सन् १९१३ तक कम्पनियो के लिये सञ्चालको की नियुक्ति करना अनिवार्य न था, अतः जो भी व्यक्ति किसी कम्पनी के निर्माण मे हित रखते थे वे स्वय उसके प्रबन्ध अभिकर्त्ता बन जाते थे। जब सन् १९१३ के अधिनियम ने पब्लिक कम्पनियो के लिए सञ्चालको की नियुक्ति अनिवार्य कर दी, फिर भी प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ के लिए कोई कठिनाई पैदा न हुई, क्योकि अपने व्यापारिक सहयोगियो एव मित्रो मे से ही व कुछ लोगो को चुन कर सञ्चालक नियुक्त कर देते थे और इस प्रकार नियन्त्रण की बागडोर वास्तव मे उन्ही के हाथ मे रहती थी।

अस्तु इन परिस्थितियो मे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ का औद्योगिक सगठन म प्रमुख स्थान पा लेना स्वाभाविक ही था।

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का संगठन—

प्रबन्ध अभिकर्त्ता गृहो का संगठन वैयत्तिक, साझेदारी अथवा कम्पनी के रूप मे हो सकता था, किन्तु मुख्यतः इनका सगठन साझेदारी की सस्थाओ अथवा प्राइवेट कम्पनियो के रूप मे ही हुआ है ; कुछ ऐसी भी संस्था हैं जो पब्लिक कम्पनी के रूप मे निर्माण की गई। अभिकर्त्ता गृहो मे से कुछ सस्थायें भारतीय हैं और कुछ योरोपीय हैं। योरोपीय सस्थाओ मे बर्ड एण्ड कम्पनी का नाम प्रमुख है। इनके सङ्गठन का स्वरूप कुछ भी हो, यह विशेषत. कौटुम्बिक व्यवसाय की भाँति होते हैं, जिनमे किसी कुटुम्ब विशेष का ही अधिक महत्त्व रहता है, जैसे—बिरला ब्रादर्स लिमिटेड। ये अपनी फर्म के सदस्यो मे अधिकतर अपने कुटुम्बियो और सम्बन्धियो को ही लेते हैं। बाहरी लोगो के लिये इसमे प्राय. कोई स्थान नहीं होता। यह प्रवृत्ति भारतीय अभिकर्त्ता गृहो मे विशेष रूप से देखी जाती है, किन्तु योरोपीय अभिकर्त्ता गृहो मे अनुभव, विशेष योग्यता अथवा अन्य किसी गुण को ध्यान मे रखते हुए बाहरी लोगो को भी सदस्यता दी जाती है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता के कार्य—

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं :—

(१) कम्पनी का प्रवर्तन व निर्माण करना।

(२) अर्थ पूर्ति करना।

(३) कम्पनी की व्यवस्था करना।

(१) कम्पनी का प्रवर्तन एव निर्माण—किसी भी नई कम्पनी की स्थापना के पूर्व कुछ प्रारम्भिक अनुसन्धान आवश्यक होता है। प्रबन्ध अभिकर्त्ता इन प्रारम्भिक कार्यो को करते है एव समस्त असुविधाओ और उत्तरदायित्व को सहन करते हुये उसकी व्यवस्था करते है। इस प्रकार जहाँ औद्योगिक विकास की कमी रहती है अथवा यो कहे कि जहाँ लोग अधिक जोखिम उठाने के लिए तैयार नही होते वहाँ प्रबन्ध अभिकर्त्ता अखाड़े मे कूद कर अपने अथक परिश्रम एव कर्त्तव्यपरायणता द्वारा व्यवसाय को उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचा देते हैं। भारतवर्ष मे प्रवर्त्तको का सर्वथा अभाव है। ये प्रबन्ध अभिकर्त्ता भिन्न भिन्न व्यवसायो के लिए आवश्यक अनुभव एव तान्त्रिक योग्यता प्राप्त करते हैं तथा अपने अभिकर्त्ता गृहो मे कुशल एव अनुभवी व्यक्तियो को नियुक्त करते हैं, जिसमे वे भिन्न-भिन्न व्यावसायिक कम्पनियो का स्थापन एव सगठन करने मे सफल होते हैं।

भारत मे टाटा एण्ड सन्स लिमिटेड, डालमिया जैन लिमिटेड, बर्ड एण्ड कम्पनी, मार्टिन एण्ड कम्पनी, जेम्स फिनले एण्ड कम्पनी लिमिटेड, जे० पी० श्रीवास्तव एण्ड सन्स, करमचन्द थापर एण्ड ब्रादर्स लिमिटेड आदि प्रसिद्ध प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ की सस्थायें हैं, जिन्होंने अनेक कम्पनियो का प्रवर्तन किया है।

(२) अर्थ पूर्ति करना—प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य

कम्पनी की आर्थिक व्यवस्था करना है। ये लोग धनाभाव की दशा में उसकी पूर्ति के लिये पूर्ण प्रयत्न करते हैं। यही कारण है कि कम्पनी की समस्त आर्थिक समस्याओं को सुलझाना उनका अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है। प्रबन्ध अभिकर्त्ता न केवल प्रारम्भिक स्थायी पूँजी का ही, किन्तु बाद में पुनर्संङ्गठन, विकास तथा आधुनिकीकरण व कार्यशील पूँजी के लिये भी अर्थ का प्रबन्ध करते हैं। यह सच है कि गत कुछ वर्षों में, जबकि जनता के पास काफी मात्रा में द्रव्य था, महत्त्री कम्पनियाँ केवल जनता के द्रव्य से स्थापित हुईं, परन्तु यह सम्पन्नता अधिक ठहरने वाली नहीं है और अब भी जब से 'कन्ट्रोल ऑफ कैपिटल इश्यूज' लागू हुआ है, इस बात की आवश्यकता होती है कि प्रवर्तक भी कुछ पूँजी प्रदान करें। वे अर्थ प्रबन्ध निम्न ढङ्ग से करते हैं :—

(अ) वे स्वयं कम्पनी के अंशों व ऋण-पत्रों को लेते हैं और अपने मित्रों तथा नातेदारों का भी खरीदवा देते हैं।

(आ) जिस समय बैंक से ऋण लेने की वार्ता चलती है तो कम्पनी द्वारा माँगे हुए ऋण के लिए प्रतिभूति प्रदान करते हैं।

(इ) उनकी ख्याति के बल पर प्रमण्डल अपनी स्थायी पूँजी का बहुत बड़ा भाग जनता से धरोहर के रूप में प्राप्त कर लेता है।

(ई) सङ्कटावस्था में, जबकि अन्य ढङ्ग से उसे सहायता मिलना सम्भव नहीं, उनका आड़े आना प्रशंसनीय है। कई उदाहरण ऐसे हैं जिनमें प्रमण्डल टूटने से केवल इस कारण बच गये कि उन्होंने उनको समय पर आर्थिक सहायता दे दी और उनके पुनर्सङ्गठन में मदद की।

(उ) नई कम्पनी जनता को अपने अंश व ऋण-पत्र खरीदने के लिए प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के नाम के बल पर ही आकर्षित कर पाती है। किसी अनुभवी एवं ख्याति प्राप्त प्रबन्ध अभिकर्त्ता का नाम जब कम्पनी के प्रविवरण में दिया होता है तो उनमें जनता का कम्पनी के प्रति विश्वास बन जाता है।

(ऊ) वे कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों का अभिगोपन करते हैं, इससे कम्पनी निडर होकर कार्य आरम्भ कर सकती है, क्योंकि निश्चित मात्रा में अंश न बिकें तो यह अभाव प्रबन्ध-अभिकर्त्ता स्वयं पूरा कर देंगे।

(३) कम्पनी की व्यवस्था—प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने तान्त्रिक ज्ञान एवं व्यावसायिक अनुभव द्वारा कम्पनी की लाभार्जन शक्ति बढ़ाते हैं। यह डंके की चोट पर कहा जा सकता है कि भारत में कम्पनियों की वनस्थिरता तथा व्यवस्थापन एवं प्रबन्ध कार्य की सफलता का सम्पूर्ण श्रेय इन्हीं प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रथा के लाभ—

भारत के औद्योगीकरण के इतिहास में प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का महत्वपूर्ण

स्थान रहा है, क्योंकि इनकी विभिन्न सेवाओं द्वारा ही देश की औद्योगिक प्रगति सम्भव हो सकी। इस प्रणाली के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

(१) प्रवर्तन एवं निर्माण—जैसा हम ऊपर सकेत कर चुके हैं, प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने प्रारम्भिक अनुसन्धान करके एवं असुविधाओं तथा असफलताओं का सामना करते हुए अनेक सफल उद्योगों की नींव डाली थी। इनकी सहायता के बिना चाय, जूट, कपास, कोयला आदि बड़े-बड़े व्यवसाय न तो स्थापित ही किये जाते और न उनकी शीघ्र उन्नति ही होती। प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का कम्पनियों से घनिष्ट सम्बन्ध होता है, अतः वे सुदृढ कम्पनियों की ही स्थापना करते हैं। यही नहीं, कम्पनी की स्थापना के लिए समस्त वैधानिक कार्यवाही करते हैं और योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों को सञ्चालक पद के लिए चुनते हैं।

(२) आर्थिक सहायता—प्रबन्ध अभिकर्त्ता विभिन्न रीतियों से, जिनका उल्लेख हम कर चुके हैं, कम्पनी को आर्थिक सहायता पहुँचाते हैं। इनके व्यावसायिक जीवन और वाणिज्य जगत में ख्याति के बल पर जनता को नव निर्मित कम्पनियों से सम्पर्क स्थापित करने में सुविधा रहती है।

(३) वैज्ञानीकरण एवं सूचीकरण—इन सेवाओं के अतिरिक्त प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने अन्तर्गत कम्पनियों की व्यवस्था में एकसूत्रता लाते हैं, जिसमें उनमें मितव्ययिता होती है और कार्यक्षमता बढ़ती है। प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की व्यावसायिक संस्थाएँ होती हैं, जिनके विशिष्टीकरण के लिए वे अपने कार्यालय में अलग-अलग विभाग रखते हैं, जिससे उनके अन्तर्गत जितनी कम्पनियाँ हैं उनकी विशेष योग्यता का लाभ हो सके। व्यक्तिगत रूप में कम्पनियों के लिए यह सम्भव नहीं होता कि विशिष्ट योग्यता वाले अनुभवी व्यक्तियों की नियुक्ति कर सकें, किन्तु प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के माध्यम से न्यूनतम व्यय पर उन्हें विशेषज्ञों की सेवा का लाभ प्राप्त हो जाता है। दूसरे, पूरक व्यवसायों की दशा में एक व्यवसाय का माल दूसरे व्यवसाय में सुविधा से खप जाता है। उदाहरण के लिए, सूती वस्त्र, यातायात तथा कोयला ये तीन उद्योग एक दूसरे के पूरक होने के कारण कोयले की खपत वस्त्र मिल उद्योगों में हो सकती है एवं वस्त्र व्यवसाय को यातायात की सुविधायें मिल जाती हैं तथा यातायात उद्योग को स्थाई ग्राहक मिल जाते हैं। यदि ये तीन उद्योग अलग-अलग प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के नियन्त्रण में हैं तो सम्भवतः यह लाभ न होगा। तीसरे, प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपना क्रय-विक्रय विभाग भी रखते हैं, जिससे उनके प्रबन्ध में जो व्यवसाय हैं उनकी आवश्यकताओं का क्रय तथा विक्रय इसी विभाग के द्वारा सुगमता से हो जाता है।

(४) विशेषज्ञों द्वारा सहायता—प्रत्येक प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने यहाँ कुशल एवं अनुभवी विशेषज्ञ रखता है। इस प्रकार थोड़े से व्यय में ही सरलतापूर्वक इन विशेषज्ञों का परामर्श प्राप्त हो जाता है, जिससे समय-समय पर व्यवसाय को अत्यन्त लाभ होता है।

(५) विनियोगों की सुरक्षा—प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपनी ख्याति का बड़ा ध्यान रखते हैं और जहाँ तक बन पड़ता है, इस पर कलङ्क नहीं लगने देते, इसलिए जनता तथा विनियोगिताओं को यह विश्वास हो जाता है कि प्रतिष्ठित प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के प्रबन्ध में जो कम्पनियाँ हैं उनमें उनका धन सुरक्षित रहेगा।

(६) प्रतिभूतियों का अभिगोपन—अन्य देशों की भाँति हमारे देश में औद्योगिक प्रतिभूतियों का अभिगोपन करने के लिए विशेष संस्थाओं का अभाव है, अतः परिस्थितिवश यह कार्य बिचारे प्रबन्ध अभिकर्त्ता को ही करना पड़ता है, इसलिए इनकी इन सेवाओं के परिणामस्वरूप कम्पनी के अंश, ऋणपत्रादि शीघ्र बिककर उन्हें पूँजी की प्राप्ति हो जाती है तथा जनता के निष्क्रिय धन का भी उद्योगों में सदुपयोग हो जाता है।

(७) प्रतिस्पर्धा का अन्त—एक ही प्रबन्ध अभिकर्त्ता के नियन्त्रण में रहने से कम्पनियों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन हो जाता है, अतः उनमें सहयोग की भावना बढ़ती है, जिससे प्रबन्ध एवं व्यवस्था में मितव्ययिता आती है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति के दोष—

उपरोक्त गुणों के होते हुए भी प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति को दोष रहित नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि इसके दोषों का उन्मूलन करने के लिए समय-समय पर कम्पनी अधिनियम में संशोधन किये गये एवं सन् १९५६ के कम्पनी अधिनियम में तो कायापलट ही कर दिया गया है। इस प्रणाली के प्रमुख दोष निम्नांकित हैं :—

(१) आर्थिक प्रभुत्व—प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति में प्रायः सभी उद्योगों के अन्तर्गत औद्योगिक प्रतिफल की अपेक्षा आर्थिक प्रभुत्व की ही महत्ता दिखाई देती है। इसका कारण यह है कि इन संस्थाओं में मुख्यतः पूँजीपति ही होते हैं, जो तान्त्रिक योग्यता उतनी नहीं रखते जितनी कि आर्थिक सहायता प्रदान कर सकते हैं। रोते हुए बच्चे को पुचकारने की भाँति ये लोग संकट की अवस्था में कम्पनी को केवल आर्थिक सहायता देकर उनमें पुनर्जीवन का संचार कर देते हैं, परन्तु उस कम्पनी की सच्ची प्रगति के लिए जिस तान्त्रिक एवं व्यापारिक योग्यता की आवश्यकता होती है, उसकी पूर्ति ये नहीं कर पाते। फलतः कम्पनी की व्यवस्था में अनेक दोष आ जाते हैं। इस आर्थिक प्रभुत्व का यह परिणाम होता है कि यदि किसी समय कम्पनी अर्थ-संकट के दलदल में फँस जाती है और इन लोगों के पास भी पर्याप्त धन नहीं होता तो ऐसी संकटापूर्ण परिस्थितियों में प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने अधिकार दूसरे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को, जिनके अच्छे आर्थिक साधन होते हैं, सौंपकर स्वयं अलग हो जाते हैं। ऐसा करते समय वे अंशधारियों के हितों की लेशमात्र भी चिन्ता नहीं करते।

(२) अंशों की अधिक परिकल्पना—इस प्रणाली के अनुसार अनेक स्कन्ध विपणियों में, विशेषकर बम्बई में कम्पनियों के अंशों में अत्यधिक परिकल्पना

(Speculation) पाई जाती है। ये लोग प्राय. कम्पनी या अंशधारियो के हितो की ओर ध्यान न देते हुए सट्टेबाजी मे व्यस्त हो जाते है। अपने हित के लिए कम्पनी के धन की बलि चढा देते है, जिससे कभी-कभी कम्पनी को महान् आर्थिक सङ्कट का सामना करना पडता है। आर्थिक स्थिति बिगडने पर अंशो का मूल्य दिन पर दिन गिरने लगता है। यही नही, ये लोग एक प्रकार के अंशो को दूसरे प्रकार के अंशो मे परिणित करके भी उनके मूल्यो को प्रभावित करते है। जिन अंशो को वे स्वय खरीदना चाहते है उन पर लाभांश की दर कम कर देते है, जिससे उनका मूल्य गिर जाए तथा गिरे हुए मूल्य पर वे उन्हे खरीद लें। इसके विपरीत जिन अंशो को ये बेचना चाहते है उन पर लाभांश की दर बढा देते है। इन दूषित कार्यवाहियो से विनियोक्ताओं को बडी हानि होती है।

(३) संचालकीय नियन्त्रण की शिथिलता— अभी तक संचालको की नियुक्ति मे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ का बहुत बडा हाथ रहता है, अत. यद्यपि कम्पनी की व्यवस्था का समस्त भार संचालको पर ही होता है और उन्ही को प्रबन्ध नीति का निर्धारण करना चाहिए, किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि संचालकगण कठपुतली की भाँति नाचते है और उनको नचाने वाले है परदे के पीछे कार्य करने वाले प्रबन्ध अभिकर्त्ता। नये अधिनियम मे इस सम्बन्ध मे काफी सुधार कर दिये गये है।

(४) अन्तर्विनियोग—प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ ने अपने नियन्त्रण के अन्तर्गत आधिक्य राशि को दूसरी कम्पनियो को ऋण देने मे भी लगाया। यदि दोनो ही कम्पनियो की आर्थिक स्थिति अच्छी होती तब तो इसमे कोई हानि नही थी, किन्तु विपरीत परिस्थिति मे यदि अच्छी स्थिति की कम्पनी का कोष एक दुर्बल कम्पनी को दे दिया जाय तो इससे अच्छी स्थिति वाली कम्पनी को हानि उठानी पडती है। नये अधिनियम के अन्तर्गत अन्तर्विनियोग पर रोक लगा दी गई है।

(५) अयोग्य व्यवस्था—प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति के अन्तर्गत कौटुम्बिक अनुशासन के कारण व्यावसायिक सङ्गठन मे स्थिरता आ जाती है। व्यवसाय मे कार्य-कुशल व्यक्तियो का प्रवेश रुक जाता है। पिता के बाद पुत्र को, पुत्र के बाद प्रपौत्र को तथा इसी प्रकार अनेक प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ को पैतृक अधिकार मिलते है। इससे यह आशङ्का रहती है कि पुत्र अथवा प्रपौत्र उतने कार्य-कुशल न हो जितने कि उनके पूर्वज थे।

(६) शोषण—प्रबन्ध अभिकर्त्ता विभिन्न ढङ्गो से कम्पनियो का शोषण करते रहते हैं। प्रथम तो, इन लोगो को कम्पनी की व्यवस्था सम्बन्धी समस्त आन्तरिक बातो का ज्ञान रहता है, जो कि अंशधारियो को नही होता, अत. वे आन्तरिक व्यवस्था मे ऐसा परिवर्तन करते हैं कि जिससे केवल इनको ही लाभ होता है, अन्य अंशधारियो को तो उसकी हवा भी नही लगती। अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए ही ये लाभांश की दर कम या अधिक करते रहते है। दूसरे, प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने पारिश्रमिक के लिये जो अनुबन्ध करते हैं वे अनुचित एवं न्यायविरुद्ध होते है। ये निम्न

प्रकार के विभिन्न रूपों में पारिश्रमिक लेते रहते हैं—व्यक्तिगत भत्ता, उत्पादन पर कमीशन, कच्चे माल के क्रय पर कमीशन, निर्मित माल के विक्रय पर कमीशन, लाभ पर कमीशन, अन्य विशेष कमीशन तथा कार्यालय भत्ता आदि। इस प्रकार कम्पनी के लाभ का एक बहुत बड़ा भाग, जिसे 'शेर का भाग' (Lion's Share) कह सकते हैं, प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की जेब में जाता है एवं भूखन-जाठन बिचारे अंशधारियों को जाती है। तीसरे, कभी-कभी ये लोग कम्पनी के धन को व्यक्तिगत कार्यों में प्रयोग कर लेते हैं। चल लेखे (Current A/c.) की चाल द्वारा ये लोग कम्पनी का धन पर्याप्त मात्रा में ऋण लेकर अपना काम चलाया करते हैं। चौथे, प्रबन्ध अभिकर्त्ता बहुधा कम्पनी के लाभ का लाभांशों के रूप में वितरण न करके कम्पनी के कार्यों में लगा लेते हैं और अन्य लोगों को दिखाने के लिए कम्पनी की कार्यशीलता बढ़ जाती है। कभी-कभी भवन निर्माण और मशीनरी के क्रय में रुपया लगा देते हैं। यह विस्तार चाहे अनुचित भले ही हो, किन्तु ये कार्यक्षमता का आडम्बर करने के लिए ऐसी रचना करते रहते हैं।

(७) ऋण का ऋण पत्रों में परिवर्तन—किन्हीं किन्हीं प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने अपने दिए हुए ऋण को ऋण पत्रों में परिवर्तित कर लिया और इस प्रकार हस्थायें उनके हाथ में पहुँच गई। बेचारे अंशधारियों की वह पूँजी जो उन्होंने कम्पनी में लगाई थी, उनके हाथ से चली गई।

(८) नए प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के साधनों व उनकी योग्यता में कमी—कम्पनियों की संख्या में लगातार वृद्धि से प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की संख्या में भी बरसाती नदी के पानी की भाँति वृद्धि होने लगी है। नये प्रबन्ध अभिकर्त्ता-गृह पुरानों की भाँति अनुभवी, योग्य और साधन सम्पन्न भी नहीं हैं, जो सुन्दर सेवायें कर सकें, जैसी कि इस पद्धति के अन्तर्गत अब तक होती रही हैं।

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं से सम्बन्धित कम्पनी अधिनियम १९५६ के आदेश

प्रबन्ध अभिकर्त्ता की परिभाषा—

कम्पनी अधिनियम की धारा २ (२९) के अनुसार, प्रबन्ध अभिकर्त्ता से आशय उस व्यक्ति, फर्म या समामेलित संस्था से है जो किसी कम्पनी के साथ हुये ठहराव या उसके पार्षद सीमानियम अथवा अन्तर्नियमों के अन्तर्गत कम्पनी के सम्पूर्ण या अधिकांश कार्यों के प्रबन्ध करने का इस अधिनियम के आदेशों के अधीन अधिकारी है। इस परिभाषा के अन्तर्गत प्रबन्ध अभिकर्त्ता की स्थिति में कार्य करने वाला कोई भी व्यक्ति या फर्म या समामेलित संस्था सम्मिलित है, चाहे उसको किसी भी नाम से सम्बोधित किया जाय।

प्रबन्धक तथा प्रबन्ध अभिकर्त्ता में अन्तर—

'प्रबन्धक' (Manager) तथा प्रबन्ध अभिकर्त्ता (Managing Agent) दोनों ही कम्पनी के सम्पूर्ण अथवा लगभग सम्पूर्ण कार्यों के लिए अधिकृत होते हैं

और ये दोनो ही सचालक सभा के प्रशासनिक नियन्त्रण एव नियत्रक के आधीन कार्य करते है, फिर भी एक प्रबन्धक निम्नलिखित बातो मे प्रबन्ध अभिकर्त्ता से भिन्न होता है :—

क्रमांक	अन्तर का आधार	प्रबन्धक	प्रबन्ध अभिकर्त्ता
१	रूप	प्रबन्धक,एक व्यक्ति होता है।	प्रबन्ध अभिकर्त्ता एक व्यक्ति फर्म या कम्पनी भी हो सकती है।
२	नियुक्ति	प्रबन्धक के लिए यह अनिवार्य नही है कि उसकी नियुक्ति किसी सेवा सम्बन्धी अनुबन्ध के अन्तर्गत ही हो।	प्रबन्ध अभिकर्त्ता सदैव ही कम्पनी के साथ एक औपचारिक अनुबन्ध के आधीन सेवा करता है।
३	पारिश्रमिक	प्रबन्धक को दिया जाने वाला अधिकतम पारिश्रमिक शुद्ध लाभ के ५% तक सीमित है।	प्रबध अभिकर्त्ता को कम्पनी के शुद्ध लाभ के १०% तक पारिश्रमिक दिया जा सकता है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता की नियुक्ति—

प्रबन्ध अभिकर्त्ता की नियुक्ति के सम्बन्ध मे निम्न बातें उल्लेखनीय हैं :—

(१) केन्द्रीय सरकार को यह घोषित करने का अधिकार है कि अमुक तिथि से अमुक वर्ग के उद्योग या व्यापार मे पूर्णतः या अशतः सलग्न कम्पनियो के प्रबन्ध अभिकर्त्ता न हो सकेंगे तथा उस विशेष श्रेणी के उद्योग अथवा व्यापार मे सलग्न किसी कम्पनी के प्रबन्ध अभिकर्त्ता का कार्य-काल उस निर्दिष्ट तिथि से ३ वर्ष के अन्त होने पर या १५ अगस्त सन् १९६०, दोनों मे से जो भी तिथि बाद मे पड़े, समाप्त हो जावेगी और घोषित उद्योग अथवा व्यवसाय मे सलग्न कम्पनी द्वारा बाद मे किसी प्रबन्ध अभिकर्त्ता की नियुक्ति अथवा पुनर्नियुक्ति नही की जा सकेगी।

(२) कोई भी प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की कम्पनी स्वय अपने लिए कोई प्रबन्ध अभिकर्त्ता नियुक्त नही कर सकती। इसी प्रकार एक ऐसी कम्पनी जिसका कोई प्रबन्ध अभिकर्त्ता है, किसी अन्य कम्पनी की प्रबन्ध अभिकर्त्ता नही बन सकती।

(३) अन्य कम्पनियो के सम्बन्ध मे, जिनको उपरोक्त प्रतिबन्ध लागू नही होते, प्रबन्ध अभिकर्त्ता तभी नियुक्त या पुनर्नियुक्त किए जा सकते हैं जबकि कम्पनी साधारण सभा मे प्रस्ताव पास करे और केन्द्रीय सरकार ऐसी नियुक्ति या पुनर्नियुक्ति

के लिए सहमति प्रदान करे। केन्द्रीय सरकार तभी अपनी सम्मति प्रदान करेगी जबकि वह निम्न विषयो के सम्बन्ध मे सन्तुष्ट हो जाए :—

(अ) कि कम्पनी को प्रबन्ध अभिकर्त्ता रखने की आज्ञा देना सार्वजनिक हितो के विरुद्ध न होगा।

(आ) कि प्रस्तावित प्रबन्ध अभिकर्त्ता एक उपयुक्त व्यक्ति है और प्रबन्ध अभिकर्त्तृत्व की शर्ते भी उचित तथा न्यायपूर्ण है।

(इ) कि प्रस्तावित प्रबन्ध अभिकर्त्ता उन शर्तों को पूरा करता है जो कि केन्द्रीय सरकार आवश्यक समझती है।

(४) प्रबन्ध-अभिकर्त्ता का कार्यक्रम—इस अधिनियम का आरम्भ होने के पश्चात् कोई कम्पनी (यदि वह पहली बार अपना मैनेजिंग एजेन्ट नियुक्त कर रही है) १५ वर्ष से अधिक के लिए नियुक्त न कर सकेगी।* अन्य किसी दशा मे मैनेजिंग एजेन्ट को एक समय पर १० वर्ष से अधिक के लिये नियुक्त नही किया जा सकता। नई अवधि के लिए पुनर्नियुक्ति तभी की जा सकती है जब चालू कार्य काल २ वर्ष से कम रह गया हो। हाँ, यदि केन्द्रीय सरकार कम्पनी के हित मे आवश्यक समझे तो इससे पहले भी वह पुनर्नियुक्ति की आज्ञा दे सकती है। यदि इन आदेशो का पालन नही किया जाता तो सम्पूर्ण अवधि के लिए ही वह नियुक्ति या पुनर्नियुक्ति अवैध होगी।

(५) केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति लेकर मैनेजिंग एजेन्सी के अनुबन्ध की शर्तों को साधारण सभा मे कम्पनी द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है।

(६) विद्यमान मैनेजिंग एजेन्सीज के बारे मे कम्पनी अधिनियम के निम्न आदेश हैं :—

(अ) इस अधिनियम का प्रचलन होने पर यदि किसी कम्पनी के कोई मैनेजिंग एजेन्ट है तो उनका कार्य काल (यदि वह पहले ही समाप्त न हो जाय) १५ अगस्त सन् १९६० तक समाप्त हो जायगा। हाँ, इस अधिनियम के ऊपर बनाये गये नियमो के अनुसार उनको नई अवधि के लिए पुनर्नियुक्त किया जा सकता है।

(आ) मैनेजिंग एजेन्ट के कार्य-काल सम्बन्धी आदेशो को छोड़कर इस अधिनियम के अन्य सभी आदेश उनको तत्कालिक रूप से लागू होंगे।

मैनेजिंग एजेन्सी की संख्या पर प्रतिबन्ध –

१५ अगस्त सन् १९६० के पश्चात् कोई व्यक्ति एक समय मे १० से अधिक कम्पनियो का मैनेजिंग एजेन्ट नही रह सकता। यदि कोई व्यक्ति इस तिथि के पहले उक्त आदेश की पूर्ति नही करता तो केन्द्रीय सरकार उसको केवल उन १० कम्पनियो

* कम्पनी कानून सलाहकार आयोग की सलाह पर सरकार ने यह तय किया है कि मैनेजिंग एजेन्ट, सेक्रेटरी या खजाची की पहली नियुक्ति १० साल की और पुनर्नियुक्ति ५ साल की होनी चाहिये। (नवभारत टाइम्स, अक्टूबर सन् १९५९)

का मैनेजिंग एजेन्ट रहने दे सकती है जिन्हे वह (केन्द्रीय सरकार) निर्धारित करे। कोई व्यक्ति कितनी कम्पनियों का मैनेजिंग एजेन्ट रह सकता है, इसकी गणना करते समय निम्न को छोड दिया जायगा :—

(१) एक प्राइवेट कम्पनी, जो किसी पब्लिक कम्पनी की सहायक या सूत्रधारी कम्पनी नही है।

(२) एक असीमित दायित्व वाली कम्पनी।

(३) वह सघ जो लाभ के लिए व्यापार नही करता या लाभाश के भुगतान का निषेध करता है।

उपरोक्त आशय के लिए निम्न प्रत्येक व्यक्ति कम्पनी का मैनेजिंग एजेन्ट गिना जायगा :—

(१) जबकि कम्पनी को मैनेजिंग एजेन्ट कोई फर्म है तो फर्म का प्रत्येक साझीदार।

(२) जबकि कम्पनी की मैनेजिंग एजेन्ट कोई कम्पनी है तो उसका प्रत्येक सचालक, सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष या मैनेजर तथा प्रत्येक सदस्य, जिसको २०% मताधिकार या नियन्त्रण प्राप्त हो।

यदि कोई व्यक्ति इस धारा के आदेशो की अवहेलना करता है, अर्थात् १० से अधिक कम्पनियो का मैनेजिंग एजेन्ट बना रहता है तो वह प्रत्येक अधिक कम्पनी के लिए प्रति दिन १०००) तक के अर्थ दण्ड का भागी होगा।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता के पद का रिक्त होना—

निम्नलिखित दशाओ मे प्रबन्ध अभिकर्त्ता का पद खाली (Vacated) समझा जायगा :—

(१) यदि प्रबन्ध अभिकर्त्ता कोई व्यक्ति है तो उसके दिवालिया होने पर अथवा दिवालिया घोषित होने का प्रार्थना पत्र देने पर।

(२) यदि प्रबन्ध अभिकर्त्ता कोई फर्म है तो उसके किसी भी कारण से भग होने पर।

(३) यदि प्रबन्ध अभिकर्त्ता कोई कम्पनी है तो उसके समापन की कार्यवाही आरम्भ होने पर।

(४) प्रबन्ध अभिकर्त्ता द्वारा प्रबन्धित कम्पनी के समापन की कार्यवाही आरम्भ होने पर।

(५) यदि प्रबन्ध अभिकर्त्ता की सम्पत्ति का किसी न्यायालय द्वारा या उसके लेनदारो द्वारा या उनकी ओर से कोई रिसीवर नियुक्त कर दिया जाय तो वह कम्पनी के प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद से मुअत्तिल (Suspend) समझा जायेगा। हाँ, यदि न्यायालय उसे कार्य करते रहने की आज्ञा दे दे तो बात दूसरी है, किन्तु न्यायालय किसी भी समय अपनी आज्ञा को बदल सकता है या रद्द कर सकता है।

(६) यदि प्रबन्ध अभिकर्त्ता (अथवा मैनेजिंग एजेन्सी फर्म का कोई साझेदार या मैनेजिंग एजेन्सी कम्पनी का कोई सञ्चालक या पदाधिकारी) किसी अपराध के लिए दोषी ठहराया जाता है तथा कम से कम ६ माह की अवधि के लिये कारावास का दण्ड दे दिया जाता है तो प्रबन्ध अभिकर्त्ता का पद खाली समझा जायगा। यदि प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने दोषी साझेदार, सञ्चालक या अधिकारी को सजा की तिथि से ३० दिन के भीतर निकाल दे, तो उसकी अयोग्यता दूर हो जायगी।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता को पदच्युत करना—

किसी कम्पनी की साधारण सभा एक साधारण प्रस्ताव द्वारा अपने प्रबन्ध अभिकर्त्ता को निम्न कारणों पर पदच्युत (Remcve) कर सकती है :—

(१) कम्पनी अथवा इसकी सहायक या सूत्रधारी कम्पनी के मामलों के सम्बन्ध में कपट या प्रन्यास-भङ्ग (Fraud or Breach of Trust) के लिए।

(२) किसी दूसरी कम्पनी के मामलों के सम्बन्ध में कपट अथवा प्रन्यास भंग करने के लिये, जबकि ऐसा आरोप किसी न्यायालय में प्रमाणित कर दिया गया हो।

(३) यदि प्रबन्ध अभिकर्त्ता कोई फर्म या कम्पनी है तो फर्म के किसी साझेदार, सञ्चालक या मुख्तार-आम का अधिकार रखने वाले किसी अन्य अधिकारी द्वारा अपने या अपनी सहायक अथवा सूत्रधारी कम्पनी के कार्यों में कपट या प्रन्यास भंग के लिए।

(४) साधारण सभा में विशेष प्रस्ताव द्वारा एक कम्पनी अपने प्रबन्ध अभिकर्त्ता को अपने या अपनी सहायक कम्पनियों के कार्यों में उसकी किसी बड़ी लापरवाही (Gross Neg.igence) के लिये हटा सकती है। कपट, प्रन्यास भङ्ग अथवा अत्यधिक लापरवाही के लिये किसी मैनेजिंग एजेण्ट को पद से हटाने के हेतु कम्पनी की साधारण सभा (यदि इस अधिनियम अथवा अन्तर्नियमों में कोई विपरीत आदेश नहीं है) कम्पनी के किन्हीं दो सञ्चालकों द्वारा बुलाई जा सकती है। प्रस्ताव की सूचना मिलने पर कम्पनी उसकी एक प्रति मैनेजिंग एजेन्ट को भेजेगी। सञ्चालकों की भाँति मैनेजिंग एजेण्ट को भी यह अधिकार होगा कि वह कम्पनी को उसका लिखित उत्तर दे, उत्तर को मीटिंग में पढ़वाये तथा अपनी बात समझाये।

मैनेजिंग एजेन्ट का पद से त्याग-पत्र देना—

यदि मैनेजिंग एजेन्सी के ठहराव में विपरीत आशय का कोई नियम न हो तो मैनेजिंग एजेन्ट सञ्चालक-सभा को सूचना देकर उसमें दी गई तिथि से त्याग-पत्र दे सकता है। ऐसी दशा में मैनेजिंग एजेन्ट इस प्रकार निर्दिष्ट की गई तिथि से या किसी अन्य बाद की तिथि से (जो परस्पर ठहर जाये) कार्य करना बन्द कर देगा, किन्तु उसका त्याग पत्र तभी प्रभावपूर्ण होगा जब सञ्चालक सभा कम्पनी के अन्तिम खाते बनवा ले, उन पर अंकेक्षक की रिपोर्ट प्राप्त कर ले, अंकेक्षित अन्तिम खाते साधारण

सभा में कम्पनी के सामने रख दे और कम्पनी उन्हें स्वीकार कर ले अथवा उनके सम्बन्ध में किसी अन्य कार्यवाही को करने का निश्चय करे।

मैनेजिंग एजेन्ट द्वारा पद का हस्तांतरण—

कोई मैनेजिंग एजेन्ट अपने पद का तभी हस्तांतरण कर सकता है जबकि कम्पनी की साधारण सभा और केन्द्रीय सरकार दोनों ही की अनुमति प्राप्त हो जाये।

मैनेजिंग एजेन्ट का पद पैतृक (Heritable) नहीं है—

इस अधिनियम का प्रचलन होने के बाद किसी कम्पनी द्वारा अपने मैनेजिंग एजेन्ट से किया गया कोई ठहराव, जिसमें पद का विरासत द्वारा हस्तान्तरित करने की बात हो, व्यर्थ होगा। यदि अधिनियम का प्रचलन होने पर कोई व्यक्ति किसी कम्पनी के मैनेजिंग एजेन्ट पद पर आसीन है और मैनेजिंग एजेन्सी ठहराव पद के विरासत द्वारा हस्तान्तरित होने का आयोजन करता हो तो इस व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् कोई अन्य व्यक्ति विरासत से पद तभी ग्रहण कर सकता है जब इसके लिये केन्द्रीय सरकार यह आज्ञा दे और केन्द्रीय सरकार आज्ञा तभी देगी जब उसकी सम्मति में वह व्यक्ति कम्पनी के मैनेजिंग एजेन्ट का पद सम्भालने के उपयुक्त है। ये बातें एक प्राइवेट कम्पनी को, जो किसी पब्लिक कम्पनी की सहायक नहीं है, लागू नहीं होंगी।

मैनेजिंग एजेन्सी फर्म या कॉरपोरेशन के सङ्गठन में परिवर्तन—

इस अधिनियम में किसी विपरीत आशय वाले नियम के अभाव में जब किसी पब्लिक कम्पनी या इसकी सहायक प्राइवेट कम्पनी का मैनेजिंग एजेन्ट एक फर्म या कम्पनी है और इसके सङ्गठन में कोई परिवर्तन हो जाता है तो मैनेजिंग एजेन्ट अपने पद पर इस परिवर्तन की तिथि से ६ महीने अथवा इस आशय के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा बढ़ाई गई अवधि की समाप्ति से कार्य करना बन्द कर देगा, यदि केन्द्रीय सरकार ऐसे परिवर्तन के लिए स्वीकृति प्रदान नहीं करती।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता के अधिकार—

अधिनियम ने पारिश्रमिक पर प्रतिबन्धों तथा आचरण सम्बन्धी कड़े नियमों के अतिरिक्त प्रबन्ध अभिकर्त्ता के अधिकारों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। भले ही वर्तमान अधिनियम के प्रभावशील होने के पहले प्रबन्धित कम्पनियों के सम्बन्ध में प्रबन्ध अभिकर्त्ता के अधिकारों की कुछ भी स्थिति रही हो, १ अप्रैल सन् १९५६ के पश्चात् तो वे अपने अधिकारों का प्रयोग केवल संचालक-सभा के नियन्त्रण तथा निर्देशन में और कम्पनी के सीमानियम तथा अन्तर्नियमों के आधीन और कम्पनी अधिनियम में वर्णित प्रतिबन्धों के आधीन ही कर सकेंगे।

कम्पनी अधिनियम के अनुसार एक प्रबन्ध-अभिकर्त्ता संचालन-सभा की पूर्व स्वीकृति के बिना निम्नलिखित अधिकारों का प्रयोग नहीं कर सकता :—

(१) किसी व्यक्ति को कम्पनी का प्रबन्धक नियुक्त करना।

(२) अपने किसी सम्बन्धी को कर्मचारी नियुक्त करना।

(३) किसी कर्मचारी को सभा द्वारा निर्धारित सीमाओं से अधिक पारिश्रमिक पर नियुक्त करना।

(४) ऐसी परिस्थितियों के अतिरिक्त जो कि सचालक-सभा द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर है, पूँजीगत सम्पत्ति का क्रय या विक्रय करना।

(५) अपने विरुद्ध कम्पनी के किसी दावे की रकम को कम करना या इसके भुगतान के लिये अवधि बढाना।

(६) अपने या अपने सहयोगियो द्वारा कम्पनी के विरुद्ध किये गये किसी दावे में समझौता करना।

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की क्रियाओं पर प्रतिबन्ध—

निम्नलिखित कुछ ऐसे अन्य कार्य हैं जिनके दोषो के कारण प्रबन्ध-अभिकर्त्ता पद्धति की बडी आलोचना की गई है। अब इन कार्यों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं, जिससे उनमे विद्यमान दुर्बलतायें दूर हो जाये और दोष उत्पन्न होने की सम्भावनायें कम से कम रह जाये।

(१) प्रबन्ध अभिकर्त्ता को ऋण—कोई पब्लिक कम्पनी एव इसकी सहायक प्राइवेट कम्पनी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निम्न को या निम्न के द्वारा दिये गये ऋण, या ऋण की गारन्टी अथवा प्रतिभूति नही दे सकती :—

(अ) *प्रबन्ध अभिकर्त्ता या इसका सहयोगी, अथवा।*

(ब) कोई भी समामेलित सस्था, जिसके सम्बन्ध मे केन्द्रीय सरकार ने एक आदेश द्वारा यह घोषित कर दिया है कि उसका सचालक मडल, प्रबन्ध अभिकर्त्ता, प्रबन्ध सचालक, सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष अथवा मैनेजर, प्रबन्ध अभिकर्त्ता या इसके सहयोगी के निर्देशो के अनुसार कार्य करता है, भले ही उक्त समामेलित सस्था स्वय प्रबन्ध अभिकर्त्ता की सहयोगी न हो। [धारा ३६९ (१)]

यह उल्लेखनीय है कि उक्त धारा उस साख पर लागू नही होती जो कि कम्पनी द्वारा अपने प्रबन्ध अभिकर्त्ता को कम्पनी का व्यापार चलाने की सुविधा के लिये दी जाती है तथा ऐसे अभिकर्त्ता द्वारा अपने ही नाम मे खुले हुए एक या कई चालू खातो मे रखी जाती है। हाँ, इस प्रकार की साख सचालको द्वारा पूर्व स्वीकृत सीमाओं से अधिक नही होनी चाहिये तथा कभी भी वह कुल मिलाकर २०,००० से अधिक नही हो सकती। इसी प्रकार यह धारा एक सूत्रधारी कम्पनी द्वारा अपनी सहायक को दिये जाने वाले ऋण पर भी लागू नही होती। [धारा ३६९ (२)]

(२) एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत कम्पनियो को ऋण—कोई भी कम्पनी (जिसे इस धारा मे ऋणदाता कम्पनी (Leading Company कहा गया है) किसी समामेलित सस्था (जो कि उसी प्रबन्ध के अन्तर्गत चलाई जा रही है जिसमे कि

ऋणदाता कम्पनी चल रही है) को न तो कोई ऋण देगी और न किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उसे दिये गये ऋणो के सम्बन्ध मे कोई गारन्टी या प्रतिभूति प्रदान करेगी, जब तक कि ऋणदाता कम्पनी के एक विशेष प्रस्ताव द्वारा इसकी पूर्व अनुमति न हो। यदि उक्त समामेलित सस्था किसी अन्य व्यक्ति को कुछ ऋण दे, तो ऋणदाता कम्पनी उसकी प्रतिभूति की गारन्टी भी न दे सकेगी। [धारा ३७० (१)]

जब कोई ऋणदाता कम्पनी किसी फर्म को, जिसमे समान प्रबन्ध वाली कोई समामेलित सस्था पार्टनर है, कुछ ऋण देती है या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उस फर्म को अथवा उक्त फर्म द्वारा उस अन्य व्यक्ति को दिये गये ऋण की गारन्टी या प्रतिभूति देती है तो यह ऋण (गारन्टी अथवा प्रतिभूति) समान प्रबन्ध वाली समामेलित सस्था को ही दिया गया माना जावेगा। [धारा ३७० I A]

दो समामेलित सस्थाओ को एक ही अथवा समान प्रबन्ध के अन्तर्गत तब समझा जायगा जबकि (१) उनमे से एक सस्था का प्रबन्ध अभिकर्त्ता, प्रबन्ध सचालक या मैनेजर अथवा जबकि प्रबन्ध अभिकर्त्ता एक फर्म हो तो उस फर्म का कोई पार्टनर अथवा जबकि प्रबन्ध अभिकर्त्ता एक प्राइवेट कम्पनी हो तो उस कम्पनी का कोई सचालक दूसरी सस्था मे (i) प्रबन्ध अभिकर्त्ता, प्रबन्ध सचालक या मैनेजर है, अथवा (ii) दूसरी सस्था की प्रबन्ध अभिकर्त्ता का कार्य करने वाली फर्म मे एक पार्टनर है, अथवा (ii) दूसरी सस्था की प्रबन्ध अभिकर्त्ता का कार्य करने वाली प्राइवेट कम्पनी मे एक सचालक है, अथवा (२) एक सस्था के बहुमत सचालक अब या अब से तत्काल ६ माह पूर्व दूसरी सस्था के भी बहुमत सचालक है, अथवा (३) दोनो सस्थाओ मे किसी भी मामले के सम्बन्ध मे कुल मतदान शक्ति का कम से कम $\frac{1}{3}$ भाग एक ही व्यक्ति या समामेलित सस्था के पास या उसके नियन्त्रण मे है, अथवा (४) यदि एक समामेलित सस्था की सूत्रधारी कम्पनी उस प्रबन्ध मे है जिसमे कि दूसरी समामेलित सस्था है। [धारा ३७०, स्पष्टीकरण I B]

धारा ३७० उस ऋण, प्रतिभूति या गारन्टी को लागू नही होती जो कि किसी सूत्रधारी कम्पनी द्वारा अपनी सहायक को अथवा, प्रबन्ध अभिकर्त्ता या सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष द्वारा अपने ही प्रबन्ध के अन्तर्गत किसी कम्पनी को या एक बैकिंग कम्पनी द्वारा अपने कारोबार की समान प्रगति मे दिया जाय।

यदि कोई ग्रहण (गारन्टी या प्रतिभूति) इस अधिनियम का चलन प्रारम्भ होने के पूर्व ही दिया हुआ था तो उसे इस अधिनियम के लागू होने के ६ माह के अन्दर वापस ले लेना चाहिये, भले ही विपरीत आशय का ठहराव हुआ था। इस अवधि को केन्द्रीय सरकार द्वारा एव कम्पनी के विशेष प्रस्ताव द्वारा बढाया जा सकता है।

यदि कोई ऋण, प्रतिभूति या गारन्टी धारा ३६९ अथवा धारा ३७० के आदेशो के विरुद्ध दी गई हो तो दोषी व्यक्ति को (उस व्यक्ति को भी जिसके हित मे यह ऋण, गारन्टी या प्रतिभूति दी गई है, ५,०००) तक अर्थ दण्ड दिया जा सकता है अथवा ६ माह तक की सजा भी हो सकती है। यदि उक्त ऋण, गारन्टी या प्रतिभूति

का निष्पादन हो गया है, तो उस धारा के अन्तर्गत सजा नही दी जा सकती और यदि आंशिक निष्पादन हुआ है तो सजा भी अनुपातत: कम हो ज वेगी । सभी व्यक्ति जिन्होने देय मे भाग लिया है, सयुक्त एवं पृथक रूप से ऋण की वापिसी के लिये अथवा गारन्टी या प्रतिभूति देने से हुई हानि की पूर्ति के लिय कम्पनी के प्रति दायी होगे ।

[धारा ३७१]

(३) अन्य कम्पनियों के शेयर आदि खरीदना—एक कम्पनी (जिसे इस धारा मे और अगली धारा ३७३ मे विनियोग करने वाली कम्पनी Investing Company कहा गया है) किसी अन्य समामेलित सस्था मे शेयरो को केवल उसी सीमा तक तथा उन प्रतिबन्धों व शर्तों के आधीन जो कि नीचे बताई गई हैं, खरीद सकती है, [धारा ३७१] :—

(१) विनियोग करने वाली कम्पनी का सचालक मडल किसी अन्य समामेलित सस्था के शेयरो मे उस अन्य समामेलित सस्था की प्रार्थित पूंजी (subscribed capital) के १०% तक विनियोग कर सकता है । लेकिन सभी अन्य समामेलित सस्थाओ मे इस प्रकार किया गया कुल विनियोग, विनियोग करने वाली कम्पनी के ३०% से अधिक नही होना चाहिए ।

(२) यदि उक्त सीमा से अधिक विनियोग करना हो, तो इसके लिए विनियोग करने वाली कम्पनी को साधारण सभा मे एक प्रस्ताव पास करना होगा तथा केन्द्रीय सरकार से भी सहमति लेनी होगी ।

(३) विनियोक्ता कम्पनी किसी भी समय किसी भी रकम तक शेयर खरीद सकती है, जो कि उसे धारा ८१ (१) (a) के अन्तगत सौपे जायें । इन शेयरो को Rights Shares कहा जाता है ।

(४) जब विनियोक्ता कम्पनी किसी समय Rights Shares के अतिरिक्त अन्य शेयरो मे कोई विनियोग करना चाहे तो उपरोक्त प्रतिशतो की गणना करने मे उस समय तक Rights Shares मे यदि कोई हो, किये गये सभी विद्यमान विनियोग सम्मिलित किये जायेगे ।

(५) सचालक मडल सभी विनियोग कर सकता है जबकि सभी सचालको की सहमति से (जो कि सभा मे उपस्थित हो और वोट देने के अधिकारी हो) एक प्रस्ताव पास हो जाय और इस प्रकार का प्रस्ताव रखे जाने की सूचना प्रत्येक सचालक को धारा २८६ मे वर्णित विधि से दे दी गई है ।

प्रत्येक विनियोक्ता कम्पनी समामेलित सस्थाओ के शेयरो मे अपने द्वारा किये गये सभी विनियोगो का रजिस्टर रखेगी और उसमे समामेलित सस्था का नाम, विनियोग करने की तिथि, जहा उक्त समामेलित सस्था विनियोक्ता कम्पनी के ही ग्रूप मे है, वह तिथि भी जब कि वह ग्रूप मे सम्मिलित हुई तथा अन्य नव समामेलन सस्थाओ

के नाम जो कि उसी ग्रुप मे दिखाने चाहिये। विनियोग का विवरण उनकी तिथि के ७ दिन के अन्दर ही नोट हो जाना चाहिए। यदि विनियोग कम्पनी संशोधन अधिनियम सन् १९६० के पूर्व किये गये थे, तो इस अधिनियम के लागू होने के ६ माह के अन्दर (जिसकी अवधि केन्द्रीय सरकार द्वारा कम्पनी की प्रार्थना पर बढाई जा सकती है) ही उनका विवरण रजिस्टर मे दर्ज कर लेना चाहिए।

इस धारा के आदेशो का उल्लघन करने पर कम्पनी तथा कम्पनी के प्रत्येक दोषी अधिकारी को ५०० रु० तक का अर्थ दण्ड दिया जा सकता है। दोष का सर्व प्रथम पता लगने पर भी यदि वह जारी रहे, तो ५० रु० प्रति दिन तक जुर्माना किया जा सकता है।

यह धारा एक बैकिंग अथवा बीमा कम्पनी को, एक प्राइवेट कम्पनी को, जो कि पब्लिक कम्पनी की सहायक नही है, फाइनेन्सिग कम्पनी व सूत्रधारी कम्पनी को (उसकी सहायक कम्पनी के सम्बन्ध मे) लागू न होगी।

(४) प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ द्वारा प्रतिस्पर्धी व्यापार करने पर रोक—कोई प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने लाभार्थ ऐसे किसी व्यापार मे सलग्न नही हो सकता जिसकी प्रकृति उसकी कम्पनी के (जिसका वह प्रबन्ध अभिकर्त्ता है) अथवा ऐसी कम्पनी की किसी सहायक कम्पनी के व्यापार के समान है और उससे प्रतिस्पर्धा करने वाला है। यदि वह ऐसा करता है तो इससे अर्जित समस्त लाभ वह उस कम्पनी के लिए ट्रस्ट मे रखेगा।

उक्त आशय के लिए निम्नलिखित दशाओ मे मैनेजिग एजेन्ट को अपने लाभार्थ व्यापार मे सलग्न समझा जायगा :—

(१) यदि ऐसा व्यापार किसी फर्म द्वारा, जिसमे वह साझेदार है, चलाया जाता है।

(२) यदि ऐसा व्यापार एक प्राइवेट कम्पनी द्वारा चलाया जाता है, जिसकी किसी साधारण सभा मे निम्नलिखित एक या अधिक व्यक्तियो द्वारा (मिल कर) कुल मताधिकार के कम से कम २०% पर नियन्त्रण हो :—

(अ) उक्त प्रबन्ध अभिकर्त्ता।

(आ) यदि प्रबन्ध अभिकर्त्ता एक फर्म है तो उस फर्म का कोई साझेदार।

(इ) यदि प्रबन्ध अभिकर्त्ता एक समामेलित संस्था है तो उसका कोई अधिकारी।

(३) यदि व्यापार एक समामेलित सस्था द्वारा (जो एक प्राइवेट कम्पनी नही है) चलाया जाता है, जिसकी किसी साधारण सभा मे निम्नलिखित किसी एक (व्यक्ति या कई व्यक्तियो द्वारा मिल कर) का कुल मताधिकारो के कम से कम २०% पर नियन्त्रण हो :—

(अ) उक्त प्रबन्ध अभिकर्त्ता।

(आ) यदि प्रबन्ध अभिकर्त्ता एक फर्म है तो उसका कोई साझेदार।

(ङ) यदि प्रबन्ध अभिकर्त्ता एक समामेलित संस्था है तो उसका कोई अधिकारी ।

(५) कम्पनी के पुनर्संङ्गठन या सयुक्तीकरण का निषेध—यदि कम्पनी के पार्षद सीमानियम अथवा अन्तर्नियमो मे या कम्पनी द्वारा साधारण अथवा सचालक सभा द्वारा पास किये किसी प्रस्ताव मे अथवा कम्पनी और उसके प्रबन्ध अभिकर्त्ता या किसी अन्य व्यक्ति के मध्य हुए किसी ठहराव मे कोई ऐसा आयोजन हो कि कम्पनी का पुनर्संङ्गठन या सयुक्तीकरण तभी हो सकता है जबकि वह प्रबन्ध अभिकर्त्ता ही पुनर्संङ्गठित कम्पनी या सयुक्तीकरण के परिणामस्वरूप बनी नई कम्पनी का प्रबन्ध अभिकर्त्ता नियुक्त किया जाये तो ऐसा आयोजन इस अधिनियम का चलन होने के बाद से व्यर्थ होगा ।

(६) सचालकों की नियुक्ति करने के अधिकार पर प्रतिबन्ध—यदि कम्पनी के अन्तर्नियम आज्ञा दे तो प्रबन्ध अभिकर्त्ता अधिक से अधिक दो (यदि सञ्चालको की कुल सख्या ५ से अधिक है) नियुक्त कर सकता है। यदि सचालको की सख्या ५ से कम है तो वह केवल एक ही सचालक नियुक्त कर सकेगा । अपने नियुक्त किये सचालक को प्रबन्ध अभिकर्ता चाहे जब हटा सकता है या उसका पद खाली होने पर किसी अन्य व्यक्ति को नियुक्त कर सकता है ।

(७) प्रबन्ध अभिकर्त्ता की एक विक्रय-प्रतिनिधि के रूप मे नियुक्ति—प्रबन्ध अभिकर्त्तत्व प्रणाली का एक दोष यह भी रहा है कि प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपनी कम्पनी के लिए माल के क्रय अथवा विक्रय के एजेंट बन जाया करते थे और इन पर कमीशन वसूल करते थे । अब इस दिशा मे भी प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं । अब किसी प्रबन्ध अभिकर्त्ता या उसके किसी सहयोगी को कम्पनी के माल को बेचने के सम्बन्ध मे कोई कमीशन या पुरस्कार पाने का अधिकार नहीं होगा । हाँ, भारत के बाहर किसी स्थान से की गई बिक्री के सम्बन्ध मे प्रबन्ध अभिकर्त्ता या उसके सहयोगी को निम्न दो शर्तों के आधीन विक्रय प्रतिनिधि नियुक्त किया जा सकता है :—(१) उनका ऐसे स्थान पर निजी व्यापार के लिए कोई कार्यालय हो । (२) उनका बिक्री कमीशन इस सम्बन्ध मे कम्पनी द्वारा पास किये गये विशेष प्रस्ताव के अनुसार हो । यह नियुक्ति पाँच वर्ष मे अधिक के लिए नही की जा सकती । हाँ, बाद मे उसका नवकरण किया जा सकता है ।

(८) कम्पनी के क्रय प्रतिनिधि के रूप मे मैनेजिंग एजेन्ट की नियुक्ति—किसी मैनेजिंग एजेन्ट या उसके किसी सहयोगी को कम्पनी से उसकी ओर से भारत मे खरीदे गये माल के सम्बन्ध मे कोई कमीशन प्राप्त करने का अधिकार नही होगा । हाँ, कार्यालय भत्तो के बदले मे मिलने वाले खर्च तो उनको मिलेगे ही, किंतु भारत के बाहर किसी स्थान से मैनेजिंग एजेंट या उसके सहयोगी द्वारा कम्पनी की ओर से खरीदे गये माल के सम्बन्ध मे कम्पनी की इच्छा पर मैनेजिंग एजेंट या सहयोगी को

या तो उसके कार्यालय का खरीद सम्बन्धी खर्च या कमीशन दिया जा सकता है। हाँ, शर्त यह है कि उक्त कार्यालय मैनेजिंग एजेन्ट के व्यक्तिगत व्यापार के लिए होना चाहिए। कम्पनी अपने विशेष प्रस्ताव मे इस भुगतान की सीमा निश्चय कर देगी। नियुक्ति का यह विशेष प्रस्ताव तीन वर्ष से अधिक के लिए न होगा। बाद मे उसका नवकरण कराया जा सकता है।

(६) अन्य संस्थाओं के क्रय अथवा विक्री प्रतिनिधि के रूप मे कमीशन—कभी कभी यह होता है कि एक ही प्रबन्ध अभिकर्ता के आधीन दो कम्पनियाँ परस्पर सेवा या माल का क्रय-विक्रय करती हैं। ऐसी दशा मे एक कम्पनी अपने प्रबन्ध अभिकर्ता को दूसरी कम्पनी से उस क्रय-विक्रय के लिए प्राप्त कमीशन को रखने की अनुमति दे सकती है। इसके लिए कम्पनी को अपनी साधारण सभा मे एक प्रस्ताव पास करना पड़ेगा। यह आवश्यक है कि उक्त क्रय-विक्रय की दरें कम्पनी के लिए बाजार दरो से या उचित दरो से कम अनुकूल न हो।

(१०) प्रबन्ध अभिकर्त्ता और कम्पनी के मध्य क्रय-विक्रय का अनुबन्ध—एक कम्पनी विशेष प्रस्ताव द्वारा अपने प्रबन्ध अभिकर्ता या उसके सहयोगी के साथ किसी अचल या सचल जायदाद के खरीदने, बेचने या सप्लाई करने अथवा मैनेजिंग एजेन्सी के अतिरिक्त किसी अन्य सेवा की सप्लाई के लिए अथवा कम्पनी द्वारा निर्गमित या बेचे गये अशो या ऋण-पत्रो के अभिगोपन के लिए किये जाने वाले अनुबन्ध की अनुमति प्रदान कर सकती है। यह आवश्यक है कि किसी कम्पनी द्वारा माल की बिक्री या सप्लाई की गई सेवा का भुगतान कम्पनी को प्रबन्ध अभिकर्त्ता १ महीने के अन्दर कर दे। यह नियम उस माल या सेवा के सम्बन्ध मे लागू नही होता जिसमे कम्पनी या प्रबन्ध अभिकर्त्ता नियमित रूप से व्यापार करते हैं। शर्त यह है कि ऐसी जायदाद का मूल्य और सेवा की लागत अनुबन्ध की अवधि मे शामिल किसी भी कलेण्डर वर्ष के लिए कुल ५,०००) से अधिक न हो।

यदि उक्त आदेशो के विरुद्ध प्रबन्ध अभिकर्त्ता कोई पुरस्कार प्राप्त करता है तो वह आधिक्य कम्पनी में जमा करना पड़ेगा।

पद की हानि के लिए हर्जाना—

निम्नलिखित दशाओ मे पद की हानि (Loss of office) के लिए कोई कम्पनी अपने मैनेजिंग एजेन्ट को हर्जाना नही देगी :—

(१) जबकि प्रबन्ध अभिकर्ता कम्पनी के पुनर्संङ्गठन या किसी अन्य समामेलित सस्था के साथ सयुक्तीकरण (Amalgamation) के लिए अपने पद से त्याग पत्र देता है और फिर वही पुनसगठित कम्पनी या संयुक्तीकरण के फलस्वरूप बनी नई समामेलित सस्था का प्रबन्ध अभिकर्त्ता, सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष, मैनेजर या अन्य अधिकारी नियुक्त हो जाय।

(२) जब प्रबन्ध अभिकर्त्ता कम्पनी के उक्त पुनर्संङ्गठन या सयुक्तीकरण के अतिरिक्त किसी अन्य कारण से त्याग-पत्र दे।

(३) जब प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने पद को इस कारण छोड़ने के लिए विवश होता है कि केन्द्रीय सरकार ने इस प्रकार की कम्पनियों मे मैनेजिंग एजेण्ट रखने का निषेध कर दिया है, अथवा अधिनियम के आदेशानुसार उसका कार्य काल १५ अगस्त सन् १९६० तक अवश्य समाप्त हो जाना है, अथवा १० कम्पनियों से अधिक मैनेजिंग एजेन्सी न रखने के नियम का पालन करना पड़ा है।

(४) जब प्रबन्ध अभिकर्त्ता का पद उसके दिवालिया होने (यदि वह एक व्यक्ति है) या फर्म के भग होने (यदि वह एक फर्म है) अथवा समापन की कार्यवाही आरम्भ होने (यदि वह एक समामेलित सस्था है) के कारण या प्रबन्ध अभिकर्त्ता को किसी अपराध का दोषी पाये जाने पर उसका पद खाली मान लिया जाता है।

(५) जबकि प्रबन्ध अभिकर्त्ता का पद इस कारण खाली समझ लिया जाता है कि उसके द्वारा प्रबन्धित कम्पनी के समापन की कार्यवाही आरम्भ हो गई है और कम्पनी का समापन प्रबन्ध अभिकर्त्ता की लापरवाही या त्रुटि के कारण हो।

(६) जबकि प्रबन्ध अभिकर्त्ता का उसके पद से रिसीवर की नियुक्ति हो जाने से मुअत्तिल मान लिया गया है।

(७) जबकि प्रबन्ध अभिकर्त्ता को कपट या प्रन्यास भग के लिए अथवा अत्यधिक लापरवाही एव कुप्रबन्ध के लिए विशेष प्रस्ताव द्वारा पद से हटा दिया गया हो।

(८) जबकि प्रबन्ध अभिकर्त्ता ने स्वय अपने पद की समाप्ति के लिये प्रेरणा दी है या समाप्ति के लिए प्रयत्न किया है।

कम्पनी अपने प्रबन्ध अभिकर्त्ता को पद की हानि के लिये जो हर्जाना दे सकती है वह उतने धन से अधिक नहीं हो सकता जितना उसने अपने शेष कार्य-काल मे अथवा तीन वर्ष मे (जो कम हो) अर्जित कर लिया होता। हर्जाने की गणना प्रबन्ध अभिकर्त्ता द्वारा पद की समाप्ति के तत्काल पहले तीन वर्ष की अवधि मे अर्जित औसत पुरस्कार के आधार पर की जायगी। प्रबन्ध अभिकर्त्ता का पद समाप्त होने के पहले या बाद मे किसी भी समय १२ महीने के अन्दर यदि कम्पनी का समापन आरम्भ हो गया है और कम्पनी की सम्पत्ति, अश पूँजी (प्रीमियम सहित) चुकाने के लिये अपर्याप्त है तो प्रबन्ध अभिकर्त्ता कोई हर्जाना पाने का अधिकारी नही होगा।

पद की समाप्ति होने पर प्रबन्ध अभिकर्त्ता के अधिकार—

जब किसी मैनेजिंग एजेन्ट का पद समाप्त हो जाय, तो प्रबन्ध अभिकर्त्ता एव कम्पनी एक दूसरे से पद की समाप्ति के पहले किये गये या न किये गये कार्य के सम्बन्ध में अपनी माग या दावे को पूरा कर सकेंगे। किसी अन्य रूप मे प्रबन्ध अभिकर्त्ता के जो अधिकार या कर्तव्य हो, उन पर पद की समाप्ति का कोई प्रभाव नही पड़ता।

प्रबंध अभिकर्त्ता पद्धति का समापन—

कम्पनी अधिनियम सन् १९५६ का उद्देश्य प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति को निम्नलिखित ढंग से समाप्त करना है—

(१) १५ अगस्त सन् १९६० तक तो इस पद्धति मे कोई परिवर्तन नही होगा, किन्तु तत्पश्चात् इसका महत्त्व कम होने लगेगा। कोई भी प्रबन्ध अभिकर्त्ता १० से अधिक कम्पनियो का प्रबन्ध नही कर सकेगा। १ अप्रैल सन् १९५६ के बाद किसी भी समय केन्द्रीय सरकार यह सूचित करने का अधिकार रखती है कि एक विशेष उद्योग या व्यापार मे सलग्न सभी कम्पनियाँ कोई प्रबन्ध अभिकर्त्ता नही रख सकेंगी। इस सूचना का प्रभाव यह होगा कि जिन कम्पनियो मे सूचना की तिथि पर प्रबन्ध अभिकर्त्ता नही थे वे भविष्य मे प्रबन्ध अभिकर्त्ता नही रख सकेंगे और जिन कम्पनियो में प्रबन्ध अभिकर्त्ता है उनका कार्यकाल निर्दिष्ट तिथि से तीन वर्ष की अवधि समाप्त होने पर या १५ अगस्त सन् १९६० से जो भी तिथि बाद मे पड़े, समाप्त हो जायगा।

(२) वे कम्पनियाँ जो उपरोक्त नियम मे नही आती तब तक प्रबन्ध अभिकर्त्ता नियुक्त नही कर सकेंगी जब तक केन्द्रीय सरकार से विशेष स्वीकृति प्राप्त न हो जाय और केन्द्रीय सरकार ऐसी स्वीकृति निम्न बातो का सन्तोष प्राप्त होने पर ही देगी—

(अ) कि कम्पनी को प्रबन्ध अभिकर्त्ता नियुक्त करने की अनुमति देने से जनहित को नुकसान नही पहुँचेगा।

(आ) कि प्रस्तावित प्रबन्ध अभिकर्त्ता एक उपयुक्त एव योग्य व्यक्ति है।

(इ) कि उसके ठहराव की शर्तें उचित हैं। और

(ई) कि प्रबन्ध अभिकर्त्ता ने उन तीन शर्तों को पूरा कर दिया है जो केन्द्रीय सरकार ने उसके लिए निश्चित की हो।

इस प्रकार सन् १९६० के पश्चात् प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति का भविष्य बड़ा अनिश्चित है और बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि इन पाँच वर्षों की अवधि के भीतर प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ का आचरण कैसा रहता है। यदि उनका आचरण समाजवादी ढाँचे के अनुकूल रहता है, यदि उन पर लगाये गए प्रतिबन्धो के फलस्वरूप इस पद्धति के सब मुख्य दोष दूर हो जाते है और आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण नही होता तो उनके बने रहने की सम्भावनाये बढ जायगी। यद्यपि सिद्धान्तत प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ का उन्मूलन उचित है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से उनके उन्मूलन की समय सीमा निश्चित कर देना बुद्धिमानी नही होगी।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति का भविष्य

(Future of the Managing Agency System)

१५ अगस्त सन् १९६० की निर्धारित तिथि अब व्यतीत हो चुकी है, अत. अब हमे इस विषय पर गम्भीरता से विचार करना है कि प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली का

\

पूर्ण समापन होना चाहिये अथवा देश की वर्तमान आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों के अन्तर्गत आज भी इसकी आवश्यकता है। यह सत्य है कि गत वर्षों में अनेक दोषों व दुर्बलताओं के कारण प्रबन्ध अभिकर्ता पद्धति का बड़ा घोर विरोध हुआ है। प्रो० के० टी० शाह (Prof. K. T. Shah) ने तो यहां तक कहा है कि प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति जड़ से चोटी तक सड़ चुकी है और शीघ्रता-शीघ्र इस प्रणाली का समापन होना चाहिए।[1] सम्भवत. प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के दोषों ने ही भारत सरकार को कम्पनी अधिनियम में संशोधन करने के लिए अनेक बार विवश किया। सन् १९१३ के भारतीय कम्पनी अधिनियम में, सन् १९३६, १९४६, १९४८ तथा सन् १९५१ में महत्वपूर्ण संशोधन किये गये और प्रत्येक बार संशोधन करने का मुख्य उद्देश्य प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के दोषों पर विजय पाना ही था। अनेक बार संशोधन किये जाने पर भी भारतीय जनता (विशेषतः विनियोगी वर्ग) सन्तुष्ट न हुआ, अतः सन् १९५६ में पुराने कम्पनी अधिनियम का पूर्णतः मंथन करके नया अधिनियम बनाया गया, जिसका नाम है 'भारतीय कम्पनी अधिनियम, १९५६।' यहाँ पर एक उल्लेखनीय बात यह है कि गत ३०-३५ वर्ष की अवधि में प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के सम्बन्ध में अनेक नये-नये नियम बनाये गये एवं इस प्रणाली के दोषों को दूर करने के उद्देश्य से उन पर प्रतिबन्ध लगाये गये, परन्तु किसी भी बार लोगों का यह साहस नहीं हुआ कि प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली को जड़ से उखाड़ दिया जाय। इस प्रणाली में सुधार किये गये, इसका समापन नहीं। भारतीय प्रशुल्क आयोग सन् १९४९-५०, योजना आयोग सन् १९५० तथा कम्पनी लॉ कमेटी सन् १९५२ (जो कि भाभा कमेटी के नाम से प्रचलित है) आदि सभी ने इस संस्था में सुधारों की ही सिफारिशें की है। भाभा कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि "अनेक दोषों व दुर्बलताओं के होते हुए भी, भारत के वर्तमान औद्योगिक संगठन में इस प्रणाली पर निर्भर रहना ही अधिक हितकर होगा, क्योंकि निजी उपक्रम का विकास व विस्तार बहुत कुछ इस प्रणाली पर ही अवलम्बित है।"[2]

---

1 "Managing Agency System is rotten root and branch, leaves and bark and blossom and must be abolished at the earliest oppprtunity, so that no ground remains for retaining them, either on the score of providing finance or managerian talent to the industries." —K. T. Shah

2 "Bhabha Committee in its report observes, "It feels that notwithstanding the many abuses and malpractices which have disfigured the working of this system, in the present state of industrial organisation of the country, it may still be on balance an advantage to continue and rely on it. Short of these abuses and mal practices, the committee feels that the system may yet prove to be a potent instrvment for taking the sprangs of private enterprise."

अगस्त सन् १९५५ मे लोक सभा मे कम्पनी लॉ बिल पर बडी बहस हुई और अधिकाश वक्ताओ ने प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति की कडी आलोचना की थी। स्वय कांग्रेस दल के आलोचको ने इस पद्धति के उन्मूलन की मांग की और इस सम्बन्ध मे एक निश्चित समय निर्धारित कराने का प्रयास किया। वे 'सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष' की नई व्यवस्था से भी सन्तुष्ट नही थे, क्योकि उनके विचार मे इसमे आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण नही रुक सकता। दूसरे शब्दो मे, वे कम्पनियो मे प्रबन्ध पर अधिक नियन्त्रण रखना चाहते थे, किन्तु सरकार ऐसा नही करना चाहती थी, क्योंकि इससे व्यक्तिगत उपक्रम को धक्का पहुँचना और पच-वर्षीय योजना की सफलता खटाई मे पड जाती। तत्कालीन वित्त मन्त्री श्री देशमुख ने प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ के पक्ष मे निम्न दलीलें प्रस्तुत की :—

(१) द्वितीय पच-वर्षीय योजना मे औद्योगिक विकास के लिये व्यक्तिगत उपक्रमो पर बहुत सीमा तक निर्भरता रखी गई है। अब बीच मे ही प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति को किसी उद्योग विशेष मे न रखने की घोषणा से व्यक्तिगत उपक्रम को बड़ा धक्का लगेगा और वह अपने दायित्व ठीक तरह से नही निभा सकेगा।

(२) स्वतन्त्रता के पूर्व जब प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति के विरोध मे आवाज उठाई गई थी तो अधिकाश व्यापार विदेशियो के हाथ मे था, किन्तु अब परिस्थिति बदल गई और व्यापार देशवासियो के हाथ मे आ गया है। फिर अनेक दोष प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति के ऐसे हैं जो कि, उन्ही परिस्थितियो मे, सचालक-सभा या सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष अथवा अन्य प्रबन्ध व्यवस्था के अन्तर्गत भी उत्पन्न हो सकते हैं। यही नही, आज अनेक ऐसे प्रबन्ध अभिकर्त्ता भी हैं जो अपने ज्ञान और अनुभव से देश को लाभ पहुँचाना चाहते है।

(३) हमे प्रबन्ध अभिकर्त्ता के कार्यों का लेखा-जोखा केवल समापित कम्पनियो की सख्या से नही लगाना चाहिये, वरन् नई रजिस्टर्ड कम्पनियो को भी विचार मे लेना चाहिये। युद्धोत्तर काल मे कम्पनियो की सख्या दुगुनी से अधिक हो गई है और प्राप्त पूँजी भी पहले से तिगुनी हो गई है, जो कि देश के हित मे है।

(४) यह कहना असत्य है कि कम्पनियो के प्रवर्तन और अर्थ-प्रबन्धन मे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ का अधिक भाग नही। १,७२० कम्पनियो की परीक्षा से यह पता लगा है कि लगभग १३·६% अश पूँजी एव २९·६५% ऋण एव अग्रिम प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ द्वारा प्राप्त हुआ था। यदि प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओ को हटा दिया जाय तो इतने वित्त की व्यवस्था सरकार कहां से करेगी ?

(५) जहां तक आर्थिक सत्ता के कतिपय हाथो मे केन्द्रीयकरण का प्रश्न है, यह दोष केवल प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति का ही हो, ऐसी बात नही। उदाहरण के लिये, अमेरिका मे भी, जहां कि ऐसी पद्धति प्रचलित नही है, आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण की समस्या पाई जाती है। फिर थोडे ही (लगभग ३३) प्रबन्ध अभिकर्त्ता देश मे ऐसे हैं जिनके पास १० या अधिक कम्पनियो का प्रबन्ध है।

(६) प्रबन्ध अभिकर्त्ता देश की व्यावसायिक वृद्धि के प्रतीक हैं। यदि केवल नियन्त्रण द्वारा इनका सदुपयोग देश के अधिक आर्थिक विकास में प्राप्त हो सकता है तो फिर इनके उन्मूलन की विनाशात्मक नीति अपनाने से क्या लाभ ?

(७) प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का पुरस्कार शुद्ध लाभ का १०% निर्धारित किया गया है, जो कि अधिक नहीं है। प्रबन्ध सञ्चालकों को वतन के अतिरिक्त शुद्ध लाभ का ५% मिलता है और सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष को ७½% निश्चित किया गया है। इनकी तुलना में प्रबन्ध अभिकर्त्ता का १०% पुरस्कार अधिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रबन्ध अभिकर्त्ता विभिन्न प्रकार का अनुभव रखते हैं और वित्त की व्यवस्था भी करते हैं, जबकि सञ्चालक और सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष इतनी चहुँमुखी योग्यता नहीं रखते और न ही उनको वित्त व्यवस्था का भार उठाना पड़ता है। अभी तक प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को मिलने वाला पुरस्कार औसतन शुद्ध लाभ का २७% था, अतः पुरस्कार में इतनी बड़ी कमी करना वास्तव में भारी असफलता है, जो कि समाज के समाजवादी ढाँचे के अनुकूल है।

(८) यदि किसी विशेष उद्योग या व्यापार में प्रबन्ध-अभिकर्त्ता रखना उचित न समझा जाय तो भी अन्य क्षेत्रों में, जहाँ प्रवर्तन एवं अर्थ प्रबन्धन की आवश्यकता है, उस पद्धति का लाभ क्यों न उठाया जाय, जो कि भूतकाल में उपयोगी थी और भविष्य में उपयोगी होगी।

उपर्युक्त दलीलों के आधार पर तत्कालीन वित्त मन्त्री श्री चिन्तामणि देशमुख ने कहा था कि, "अभी प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के समापन के लिये उपयुक्त समय नहीं आया है, क्योंकि यदि इसको समाप्त किया गया तो देश के औद्योगीकरण को गहरा आघात पहुँचेगा। अतएव बुद्धिमता का मार्ग तो यह होगा कि जब तक हम अपने देश का पुनर्निर्माण करें, तब तक के लिये इस प्रणाली में केवल उचित संशोधन कर दिये जायें।"*

यही कारण है कि भारत सरकार ने शास्त्री कमेटी सन् १९५७ की सिफारिशों के आधार पर कम्पनी अधिनियम संशोधन आलेख सन् १९५९ में भी प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली पर कठोर नियन्त्रण करने की ही चेष्टा की है। भारतीय उद्योग एवं वाणिज्य मण्डल के आग्रह पर राष्ट्रीय आर्थिक अनुसन्धान परिषद (National Council of Applied Economic Research) ने प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति के विभिन्न पहलुओं एवं उसकी उपयोगिता का अध्ययन करके सम्मति प्रगट की है कि देश के आर्थिक विकास में यह प्रणाली महत्त्वपूर्ण भाग अदा कर रही है, अतः इस पद्धति को

---

* "The time has not come for eliminating Managing Agency System because it would deal a very severe blow to industrialisation in the country. The way of prudence dictates reforming the existing institutions while this process of building up new one proceeds a pace." —C D Deshmukh.

समाप्त करने के लिये कोई महत्त्वपूर्ण कारण नहीं दिखलाई देता। परिषद् का कहना है कि देश की बदलती हुई परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए इस पद्धति में समय-समय पर आवश्यक परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं सुधार किये जा सकते हैं। कुछ बेईमान व्यक्तियों द्वारा इस पद्धति का दुरुपयोग करके अनुचित लाभ उठाना इस बात का प्रमाण नहीं है कि यह पद्धति ठोस नहीं है, इसलिए इसे समाप्त कर दिया जाये। परिषद् के महा सचालक डा० पी० एस० लोकनाथन (Dr. P. S. Loknathan) ने कहा है कि यह पद्धति निजी क्षेत्र को विशेषत दो दिशाओं में सक्रिय योग दान दे रही है—(१) यह अपने आय स्रोतों व बचत से प्रबन्धकृत कम्पनियों की पूँजी की व्यवस्था करती है, और (२) अपने प्रबन्ध के उद्योगों का बहुमुखी विस्तार कर रही है।

प्रबंध अभिकर्त्ता प्रणाली का समापन वांछनीय क्यों नहीं है?—

भारत की वर्तमान आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक परिस्थितियों के अन्तर्गत यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली का पूर्ण समापन हितकर न होगा। इस सम्बन्ध में निम्न दलीलें दी जा सकती हैं —

(१) प्रवर्तन की भावी आवश्यकताएं—भारतवर्ष में उद्योग धन्धों के प्रवर्तन के लिए अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र है। हमारा देश प्राकृतिक प्रसाधनों की दृष्टि से बहुत धनी है, परन्तु अपनी प्राकृतिक सम्पदा का विदोहन करने के लिए उपक्रम (Enterprise) की आवश्यकता है। हमारी सरकार अनेक राजनैतिक व अन्य घरेलू समस्याओं में व्यस्त है एवं वह आर्थिक क्षेत्र में अधिक ध्यान नहीं दे सकती। अतएव निजी उपक्रम को ही आगे बढ़कर औद्योगीकरण की दिशा में देश को अग्रसर करना होगा। गत ५-७ वर्षों के आर्थिक व औद्योगिक विकास के आङ्कड़ों से यह स्पष्ट लगता है कि हमारे देश में प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने प्रारम्भिक अनुसन्धान करके अनेक नये उद्योग धन्धों की स्थापना की है। औटोमोबाइल्स, लोकोमोटिव्स औद्योगिक यन्त्र व उपकरण, रसायनिक पदार्थ, रेयन व प्लास्टिक पदार्थों से सम्बन्धित उद्योगों के प्रवर्त्तन व स्थापना का श्रेय प्रबन्ध अभिकर्ताओं को ही है। भविष्य में भी अपनी पच-वर्षीय योजनाओं की सन्तुष्टि के लिए हमें अनेक उद्योग धन्धों की स्थापना करनी होगी, जिसके लिए प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली को चालू रखना नितान्त आवश्यक है।

(२) बचत तथा उनका एकत्रीकरण—तृतीय पच वर्षीय योजना की सफलता काफी सीमा तक घरेलू बचत पर निर्भर करती है।* इस घरेलू बचत को

---

* According to the Report (1959) of the NCAER, 'The Marginal propensity to save, which is a crucial determinant of economic development in under-developed countries depends upon.—(a) Increase in National Income (b) Restraints on consump-

(Contd- on next page.)

प्रोत्साहित करने एवं औद्योगीकरण हेतु उसको एकत्र करने में प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली ने बहुत बड़ा योगदान किया है तथा भविष्य में भी इससे बहुत आशा है।

(३) तृतीय पंच-वर्षीय योजना के उद्देश्यों की सफलता के लिए—जून सन् १९५९ में ऊटकमण्ड में होने वाले अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के योजना सम्बन्धी सैमिनार में यह निश्चय हुआ था कि तृतीय पंच-वर्षीय योजना मुख्यतः 'उत्पादन वृद्धि की योजना' होनी चाहिए। वास्तव में निम्नलिखित कारणों से आज हमारा नारा 'उत्पादन करो अथवा नष्ट हो जाओ' (Produce or perish) ही होना चाहिये :—(i) उपभोग के स्तर को बढ़ाने के लिए, (ii) बढ़ती हुई जन-संख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये, (iii) रहन-सहन के स्तर की वृद्धि के लिए; (iv) अतिरिक्त श्रम-शक्ति व प्राकृतिक प्रसाधनों के सदुपयोग के लिए; (v) मुद्रा प्रसार के दानव पर विजय पाने के लिए, एवं (vi) अन्य प्रगतिशील औद्योगिक राष्ट्रों के साथ कदम-ब-कदम मिलाकर चलने के लिए। यही कारण है कि अभी हाल में प्रकाशित हमारी तृतीय पंच-वर्षीय योजना में भी औद्योगीकरण के विकास व विस्तार पर बहुत बल दिया गया है। हमारे देश में आज पूंजीकृत उद्योगों की बहुत कमी है, जो कि ऐसे यन्त्रों का उत्पादन करते हों जिनका उपयोग उपभोक्ता उद्योगों में किया जाता है। परन्तु औद्योगिक विकास व विस्तार की कल्पना कोरी मृग-तृष्णा होगी, यदि प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का अन्त कर दिया गया है। हमारे प्रबन्ध अभिकर्त्ता आधुनिक उद्योगों के नायक या कैप्टन है। जिस प्रकार बिना कैप्टन के कोई खेल सफलतापूर्वक संचालित नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना अभिकर्त्ताओं के औद्योगीकरण का विस्तार करना कठिन है। अतएव तृतीय पंच-वर्षीय योजना की सफलता के लिए प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली को चालू रखना ही हितकर होगा।

(४) पूंजी के बाजार का संकुचित होना—यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् हमारे देश में औद्योगिक संस्थाओं की अर्थ-सम्बन्धी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए अनेक विशिष्ट संस्थाओं का निर्माण किया गया (जैसे औद्योगिक अर्थ निगम, राज्य अर्थ-निगम, राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम, पुनर्वित्त निगम, इत्यादि। परन्तु आज भी पूंजी का बाजार अत्यन्त संकुचित है। हमारी पूंजी बड़ी लजीली है। औद्योगिक अंशों व ऋण-पत्रों में विनियोग करने की प्रवृत्ति अभी अधिक लोकप्रिय नहीं हुई है। अतएव ऐसी परिस्थिति में प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली को समाप्त करना पेड़ की उस डाल को काटने के समान है, जिस पर स्वयं बैठे हैं।

(५) साधारण अंश पूंजी व अभिगोपन सम्बन्धी संस्थाओं की कमी—हमारे देश में साधारण अंश पूंजी (Equity Capital) को प्राप्त करने में प्रबन्ध

---

tion and (c) Incentives for savings............The Managing Agency System not only attracts savings of others, but also provide personal savings and savings of their companies or firms for the use of the companies under their management.'

अभिकर्ताओ की 'साख' बहुत सहायता पहुँचाती है। अभिगोपन संस्थाओ (Underwriting Institutions) की भी देश मे बडी कमी है। प्रबध अभिकर्त्ता ही इस कार्य को करते आ रहे है। अतएव उनके समापन से पूँजी के बहुत बडे श्रोत पर कुठाराघात हो जायगा।

(६) प्रवन्ध सम्वन्धी योग्यता की आवश्यकता—भारत के औद्योगीकरण को सफल बनाने के लिए योग्य प्रबधको की बडी आवश्यकता है। 'कल' का भारत इन्ही पर निर्भर करता है। प्रबध अभिकर्त्ताओ का जड से समाप्त करना बडी भारी मूर्खता हो सकती है। अतएव इस प्रणाली को चालू रखना ही राष्ट्रीय हित मे होगा।

सक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि (१) प्रवर्तन, (२) अर्थ और (३) व्यावसायिक प्रबध व्यवस्था सम्बधी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए प्रबध अभिकर्त्ता प्रणाली चालू रखना ही श्रेष्ठ होगा।

सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष

(Secretaries and Treasurers)

परिभाषा—

'सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष' से तात्पर्य किसी फर्म या कम्पनी से है, जो कि सचालक सभा के नियत्रण एव निर्देशन के अतर्गत कम्पनी के सम्पूर्ण या अधिकाश कार्यों का प्रबन्ध करती है। इस परिभाषा के अतगत कोई भी ऐसी फर्म या कम्पनी आती है जोकि सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष की स्थिति मे कार्य करती हो, भले ही उसको किसी भी नाम से सम्बोधित किया जाय और भले ही उससे सेवा का अनुबन्ध हो अथवा नहीं। सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष की सस्था को भारत मे सर्व प्रथम मान्यता सन् १९५६ के कम्पनी अधिनियम द्वारा प्रदान की गई।

एक कम्पनी मे एक ही समय प्रबध अभिकर्त्ता तथा सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष दोनो ही काय नही कर सकते, अर्थात् या तो केवल प्रबन्ध अभिकर्त्ता ही होगे अथवा केवल सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष।

प्रबंध अभिकर्त्ता एव सेक्रेटरी तथा कोषाध्यक्ष मे तुलना—

निम्न सशोधनो के अतिरिक्त मैनेजिंग एजेन्ट तथा उनके सहयोगियो से सम्बधित सभी आदेश आवश्यक परिवर्तन सहित सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष पर भी लागू होगे :—

(१) केन्द्रीय सरकार किसी निर्दिष्ट श्रेणी के उद्योग अथवा व्यवसाय मे मैनेजिंग एजेन्सी के लिए मनाही कर सकती है, किन्तु केन्द्रीय सरकार का यही अधिकार सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष के सम्बन्ध मे लागू नही होता।

(२) सभी विद्यमान मैनेजिंग एजेन्सी के समझौते अधिक से अधिक १५ अगस्त सन् १९६० को समाप्त हो जायेंगे, किन्तु यह नियम भी सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष पर लागू नही होता।

(३) १५ अगस्त सन् १९६० के बाद कोई भी मैनेजिंग एजेण्ट १० कम्पनियों से अधिक का मैनेजिंग एजेण्ट नहीं हो सकता, किन्तु यह नियम भी सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष पर लागू नहीं होता है।

(४) सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष को केवल शुद्ध लाभ पर एक नियत प्रतिशत के आधार पर ही पुरस्कृत किया जाता है और यह प्रतिशत ७½ से अधिक नहीं हो सकता। लाभ के अभाव या अपर्याप्त लाभ की दशा में उन्हें एक न्यूनतम पारिश्रमिक दिया जा सकता है।

(५) सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष को प्रबंधित कम्पनी के किसी भी संचालक की नियुक्ति करने का अधिकार नहीं होता है।

(६) सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष को, उन सीमाओं के अतिरिक्त जहाँ तक कि वे संचालक सभा द्वारा ऐसा करने के लिए अधिकृत कर दिए गये हैं, प्रबंधित कम्पनी द्वारा उत्पादित माल को बेचने अथवा प्रबंधित कम्पनी के हेतु मशीनरी, स्टोर्स आदि क्रय करने का अधिकार नहीं होता।

संक्षेप में, सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष की संस्था व्यावहारिक दृष्टि से मैनेजिंग एजेंसी प्रथा के ही समान है, किंतु अन्तर इतना ही है कि इसके विशेषाधिकार इतने अधिक व्यापक नहीं हैं जितने कि मैनेजिंग एजेण्ट्स् के। इस संस्था को वैधानिक दृष्टि से मान्यता प्रदान करने का उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि सन् १९६० तक मैनेजिंग एजेंसी प्रथा के सम्भाव्य कम हो जाने अथवा लुप्त हो जाने से व्यापार तथा उद्योग के संगठन में अचानक ही कोई शून्यता उत्पन्न हो जाय। सच बात तो यह है कि नवीन संस्था से भी आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण बढ़ेगा, घटेगा नहीं।

प्रबन्ध सम्बन्धी पारिश्रमिक

(Managerial Remuneration)

प्रबन्ध सम्बन्धी पारिश्रमिक से आशय—

कम्पनी के प्रबन्ध के अन्तर्गत प्रायः सञ्चालकगण, प्रबन्ध सञ्चालक, प्रबन्धक, मैनेजिंग एजेण्ट, सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष आदि आते हैं। अतः इन लोगों की सेवाओं के लिये दिया गया पारिश्रमिक ही 'प्रबन्ध सम्बन्धी पारिश्रमिक' कहलाता है। प्रबन्ध सम्बन्धी पारिश्रमिक के विषय में कम्पनी अधिनियम सन् १९५६ के निम्न आदेश हैं:—

प्रबन्ध सम्बन्धी पारिश्रमिक की सर्वोच्च सीमा—

एक पब्लिक कम्पनी (अथवा इसकी सहायक प्राइवेट कम्पनी) अपने संचालकों और प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं, सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष अथवा मैनेजर को किसी भी वित्तीय वर्ष में जो पारिश्रमिक कुल मिलाकर दे सकती है वह उस वित्तीय वर्ष के लिये कम्पनी के शुद्ध लाभ के ११% से अधिक नहीं हो सकता। शुद्ध लाभ की गणना किस प्रकार

की जायेगी, इसका उल्लेख धारा ३४६, ३५० एव ३५१ मे किया गया है, लेकिन सञ्चालको का पुरष्कार कुल लाभ (Gross Profits) मे से नही घटाया जायगा।

[धारा १९८ (१)]

इस धारा का प्रभाव निम्न पर नही पडेगा :—

(१) यदि कम्पनी एक विशेष प्रस्ताव स्वीकृत करे और केन्द्रीय सरकार से भी लोक हित मे होने के आधार पर अनुमति मिल जाय, तो प्रबंध अभिकर्त्ताओ को उक्त सीमाओ से (धारा ३४८ मे शुद्ध लाभ की १०% सीमा और धारा १९८ में शुद्ध लाभ की ११% सीमा से) अधिक भी पुरुष्कार दिया जा सकता है।

(२) प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ को कम्पनी के क्रय एव विक्रय प्रतिनिधियो के रूप मे दिये जाने वाले कमीशन तथा माल या सेवा की पूर्ति के लिये भुगतानो पर सर्वोच्च सीमा का प्रभाव नही पडेगा।

(३) बोर्ड की सभाओ मे सम्मिलित होने के लिये जो पुरुष्कार सञ्चालको को धारा ३०९ (२) के अन्तर्गत दिया जाता है वह ११% की सर्वोच्च सीमा मे नही गिना जायगा। [धारा १९८ (३)]

यदि किसी वित्तीय वर्ष मे लाभ बिल्कुल न हो या अपर्याप्त हो, तो कम्पनी अपने प्रबन्धको को कुल मिलाकर ५०,०००) की राशि न्यूनतम पारिश्रमिक के रूप मे दे सकती है। लेकिन इसके लिये केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेना आवश्यक है। यदि केन्द्रीय सरकार यह समझती है कि कम्पनी के व्यापार को सुचारु रूप से चलाने के ५०,००० रु० वार्षिक का न्यूनतम पारिश्रमिक कम है तो वह आदेश देकर, उपयुक्त शर्तों के आधीन, उसमे वृद्धि कर सकती है। [धारा १९८ (४)]

इस धारा के आशय के लिये पुरुष्कार मे निम्न को सम्मिलित किया जायगा:—

(अ) प्रबन्धको को निशुल्क मकान आदि की सुविधा देने का व्यय।

(ब) प्रबन्धको को कोई अन्य सुविधा निशुल्क या घटी हुई दर से देने का व्यय।

(स) ऐसी किसी सेवा का व्यय जो कि कम्पनी द्वारा प्रदान न किये जाने पर स्वय प्रबन्ध सम्बन्धी व्यक्तियो को अपनी जेब से करना पड़ता।

(द) प्रबन्धको का बीमा कराने मे किया गया व्यय।

कोई भी कम्पनी अपने किसी पदाधिकारी या कर्मचारी को कर मुक्त पारिश्रमिक नही दे सकती।

ऐसे सचालक को (या सचालको को जब कि ऐसे कई सचालक हैं) जो कम्पनी का पूर्णकालीन या प्रबन्ध सचालक नही है और जिसके पारिश्रमिक मे कोई भी मासिक भुगतान शामिल नही है, कम्पनी विशेष प्रस्ताव द्वारा (जो कि ५ वर्ष तक प्रभावपूर्ण रहेगा, तत्पश्चात् इसके नवकरण की आवश्यकता होगी) निम्न का भुगतान करने की अनुमति दे सकती है :—

(अ) यदि कम्पनी का कोई प्रबन्ध या पूर्णकालीन सञ्चालक प्रबंध अभिकर्त्ता और ट्रेजरार या मैनेजर है, तो कमीशन की कुल रकम, जो कम्पनी के शुद्ध लाभ के १% से अधिक नहीं हो।

(ब) अन्य दशा मे, कमीशन की रकम, जो कम्पनी के शुद्ध लाभ के ३% से अधिक न हो।

केन्द्रीय सरकार की सहमति से कम्पनी एक साधारण सभा मे उक्त १% या ३% (जैसी भी परिस्थिति हो उसके अनुसार) कमीशन से भी अधिक पुरस्कार देना स्वीकृत कर सकती है। यदि कोई सञ्चालक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अधिक पुरस्कार प्राप्त कर लेता है, तो उसे वह आधिक्य राशि कम्पनी के प्रति लौटानी होगी। इस सम्बन्ध मे केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना कम्पनी कोई रियायत नही कर सकती।

उपरोक्त आशय के लिये, शुद्ध लाभ (Net Profits) की गणना धारा १६८ के आदेशानुसार की जायगी।

वह सचालक जो कम्पनी से कमीशन प्राप्त करता है और जो कम्पनी का पूर्णकालीन या प्रबन्ध सचालक है ऐसी कम्पनी की किसी सहायक कम्पनी से कोई कमीशन या अन्य पुरस्कार पाने का अधिकारी नही होगा।

शुद्ध लाभ की गणना के लिए निर्धारित विधि—

प्रबन्ध सम्बन्धी पारिश्रमिक की गणना करने के लिए कम्पनी के वार्षिक शुद्ध लाभ निम्न रीति से निकाले जाते हैं :—

(१) सकल लाभ (Gross Profit) में सम्मिलित किए जायेंगे—

किसी सरकार अथवा राजकीय अधिकारी से प्राप्त आर्थिक सहायता (ऐसी दशाओ के अतिरिक्त जबकि केन्द्रीय सरकार विपरीत के लिए आदेश दे)।

(२) सकल लाभ मे सम्मिलित नही किये जायेगे—

(१) अशो तथा ऋण पत्रो पर प्राप्त प्रीमियम,
(२) अपहृत अशो (Forfeited shares) के विक्रय के प्राप्त लाभ,
(३) कम्पनी के सम्पूर्ण उपक्रम अथवा उसके किसी एक भाग के विक्रय से प्राप्त लाभ,
(४) कम्पनी किसी अचल सम्पत्ति (Immovable Property) अथवा स्थिर सम्पत्तियो (Fixed assets) के विक्रय से प्राप्त लाभ।

(३) सकल लाभो मे से घटाए जायेगे—

(१) समस्त कार्यशील व्यय (Working charges),
(२) सचालकों का पारिश्रमिक,
(३) स्टाफ को दिया गया बोनस कमीशन,
(४) अतिरिक्त लाभ कर (Excess Profits Tax) तथा व्यवसाय लाभ कर (Business Profits Tax),

(५) ऋण-पत्रो, प्राधियो (Mortgages) प्रभारो, ऋण तथा एडवांसो पर ब्याज,

(६) मरम्मत व्यय, जो पूँजीगत न हो,

(७) सामान्य ह्रास (Normal Depreciation),

(८) १ अप्रैल सन् १९५६ के बाद हाने वाली कोई लाभगत हानि (Revenue Loss),

(९) किसी वैध दायित्व के कारण दी जाने वाली कोई क्षतिपूर्ति अथवा हर्जाना तथा ऐसे दायित्व का जोखिम के विरुद्ध बीमा करने के लिए चुकाया गया कोई प्रीमियम।

(४) सकल लाभो मे से नहीं घटाये जायेगे—

(१) प्रबन्ध अभिकर्त्ता को देय कमीशन,

(२) आय-कर,

(३) स्वेच्छा से चुकाई गई क्षतिपूर्ति अथवा हर्जाना।

(५) *लाभ अश भागिता योजना*—

यदि एक ही प्रबन्ध अभिकर्त्ता के आधीन अनेक कम्पनियों के बीच लाभ मे अश बाटने की एक योजना है तो इस योजना के आधीन दिये गये किसी लाभ को भुगतान करने वाली कम्पनी के लाभो मे से घटाना चाहिए तथा भुगतान पाने वाली कम्पनी के शुद्ध लाभो मे सम्मिलित करना चाहिये। [धारा ३४९-३५१]

संचालको का पारिश्रमिक—*

किसी कम्पनी के सचालको का (प्रबन्ध तथा पूर्णकालीन सचालको को सम्मिलित करते हुए) दिया जाने वाला पारिश्रमिक या तो कम्पनी के अन्तर्नियमो द्वारा अथवा कम्पनी द्वारा सामान्य सभा मे पास किये गये प्रस्ताव द्वारा निर्धारित होता है। सचालक अपना पारिश्रमिक मासिक भुगतान के रूप मे अथवा प्रति सभा (जिसमे भाग लिया) फीस के रूप मे या अशत. दोनो ही रूप से प्राप्त कर सकता है। इसके स्थान मे या इनके अतिरिक्त किसी सचालक को, जो कम्पनी का प्रबन्ध या पूर्णकालीन सचालक है, कम्पनी के शुद्ध लाभ का एक निर्दिष्ट प्रतिशत पुरस्कारस्वरूप दिया जा सकता है। यह प्रतिशत एक सचालक के लिए ५% से और जब एक से अधिक सचालक हो तो सभी के लिए कुल १०% से अधिक नही होना चाहिये।

ऐसे सचालक को (या सचालकों को जबकि ऐसे कई सचालक हैं) जो कम्पनी का पूर्णकालीन या प्रबन्ध सचालक नही है और जिसके पारिश्रमिक मे कोई भी मासिक भुगतान शामिल नही है, कम्पनी विशेष प्रस्ताव द्वारा निम्न का भुगतान करने की अनुमति दे सकती है:—

---

* ये आदेश प्राइवट कम्पनी पर लागू नही होते।

(अ) यदि कम्पनी का कोई प्रबन्ध या पूर्णकालीन संचालक प्रबन्ध अभिकर्त्ता और ट्रेजरार अथवा मैनेजर है तो कमीशन की कुल रकम, जो कम्पनी के शुद्ध लाभ के एक प्रतिशत से अधिक न हो।

(आ) अन्य दशा में कमीशन की रकम, जो कम्पनी के शुद्ध लाभ के ३% से अधिक न हो।

उपरोक्त आशय के लिए शुद्ध लाभ की गणना धारा १९८ के आदेशानुसार की जायगी।

वह संचालक जो कम्पनी से कमीशन प्राप्त करता है और जो कम्पनी का पूर्णकालीन या प्रबन्ध संचालक है, ऐसी कम्पनी की किसी सहायक कम्पनी से कोई कमीशन या अन्य पुरस्कार पाने का अधिकारी नहीं होगा।

यदि उक्त आदेशों का इस प्रकार संशोधन किया जाय कि उसके परिणाम-स्वरूप किसी संचालक के पारिश्रमिक की रकम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बढ़ जाती है तो वह तब तक प्रभावपूर्ण नहीं होगा जब तक कि केन्द्रीय सरकार की आज्ञा न मिल जाय और यदि आज्ञा नहीं मिलती है तो वह व्यर्थ हो जायगा। [धारा ३१०]

सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष का पारिश्रमिक—

किसी पब्लिक कम्पनी अथवा ऐसी प्राइवेट कम्पनी, जो किसी पब्लिक कम्पनी की सहायक है, के सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष को दिये जाने वाले पारिश्रमिक की गणना उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार से कि मैनेजिंग एजेन्ट के पारिश्रमिक के लिए की जाती है। हाँ, एक उल्लेखनीय बात यह है कि सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष का पारिश्रमिक कम्पनी के शुद्ध लाभ के ७½% से अधिक नहीं होना चाहिए।

मैनेजर का पारिश्रमिक—

कम्पनी का प्रबन्धक शुद्ध लाभ की ११% सर्वोच्च सीमा के आधीन मासिक वेतन के रूप में अथवा कम्पनी के वार्षिक शुद्ध लाभ के एक निर्दिष्ट प्रतिशत (जो कि ५% से अधिक न हो) के रूप में पारिश्रमिक प्राप्त कर सकता है। इस हेतु शुद्ध लाभ की गणना उसी रीति से की जाएगी जिस प्रकार मैनेजिंग एजेन्ट के पारिश्रमिक के लिए की जाती है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता का पारिश्रमिक—

एक पब्लिक कम्पनी द्वारा या इसकी सहायक प्राइवेट कम्पनी द्वारा अपने प्रबन्ध अभिकर्त्ता को पारिश्रमिक देने के सम्बन्ध में कम्पनी सनियम के निम्न आदेश हैं :—

(१) एक कम्पनी इस अधिनियम का प्रारम्भ होने के बाद किसी वित्तीय वर्ष के सम्बन्ध में अपने प्रबन्ध अभिकर्त्ता को उसकी सेवाओं के लिये (जो मैनेजिंग एजेन्ट के रूप में हो या किसी अन्य रूप में) कम्पनी के उस वर्ष के शुद्ध लाभ के

१०% से अधिक पुरुष्कार नही दे सकती। यहाँ निम्न व्यक्तियों को दिया गया पुरुष्कार भी प्रबन्ध अभिकर्त्ता के पुरुष्कार के अन्तर्गत गिना जाता है :—

(अ) जब कम्पनी की मैनेजिंग एजेन्ट कोई फर्म है तो उसका प्रत्येक पार्टनर।

(ब) जब मैनेजिंग एजेन्ट कोई पब्लिक कम्पनी है, तो उसका प्रत्येक सचालक।

(स) जब मैनेजिंग एजेन्ट कोई प्राइवेट कम्पनी है, तो उसका प्रत्येक सचालक एव प्रत्येक सदस्य। [धारा ३४८]

(२) मैनेजिग एजेन्ट को १०% अधिकतम सीमा का पुरुष्कार निकालने के लिये शुद्ध लाभो की गणना करने की विधि धारा ३४९, ३५० एव ३५१ मे दी हुई हैं। इसका उल्लेख सचालकों के पुरुष्कार के सम्बन्ध मे पहले ही किया जा चुका है।

(३) १०% की सीमा से अधिक पुरुष्कार तभी दिया जा सक्ता है जबकि कम्पनी विशेष प्रस्ताव द्वारा इसकी स्वीकृति प्रदान करे और लोक हित होने के आधार पर केन्द्रीय सरकार भी उसके लिये अनुमति दे दे। [धारा ३५२]

(४) मैनेजिग एजेन्ट को उसका पारिश्रमिक तभी दिया जायगा जबकि सम्बन्धित वर्ष के खातो का अकेक्षण हो जाय और वे कम्पनी की सामान्य सभा मे प्रस्तुत कर दिये जाय। हाँ, न्यूनतम पारिश्रमिक, जो ५० हजार रु० से अधिक न होगा, मैनेजिग एजेन्ट को ऐसी उचित किश्तो मे चुकाया जा सकता है, जिसकी आज्ञा अन्तर्नियम दें अथवा जैसा कि ठहराव हुआ हो। [धारा ३५३]

(५) मैनेजिग एजेन्ट का अब किसी कम्पनी द्वारा कार्यालय भत्ता (Office Allowance) नही दिया जायेगा, परन्तु कम्पनी के लिये उसने जो खर्च किये हैं और जिनके लिये कम्पनी ने साधारण सभा मे अथवा सचालक सभा मे अनुमति प्रदान कर दी हो, उनका भुगतान किया जा सकता है। [धारा ३५४]

यह उल्लेखनीय है कि मैनेजिंग एजेन्ट का पारिश्रमिक आदि मिलाकर ११% से अधिक नही होना चाहिये।

मैनेजिग एजेन्टो को निम्नलिखित दर से कमीशन दिया जायेगा :—

पहले १० लाख रु० अथवा इसके प्रभाग पर	१० प्रतिशत
अगले १० लाख रु० अथवा इसके प्रभाग पर	९ प्रतिशत
अगले १० लाख रु० अथवा इसके प्रभाग पर	८ प्रतिशत
अगले १० लाख रु० अथवा इसके प्रभाग पर	७ प्रतिशत
अगले १० लाख रु० अथवा इसके प्रभाग पर	६ प्रतिशत
अगले २५ लाख रु० अथवा इसके प्रभाग पर	५$\frac{१}{२}$ प्रतिशत
अगले २५ लाख रु० अथवा इसके प्रभाग पर	५ प्रतिशत
और १ करोड रु० से ऊपर कितनी भी रकम पर	४ प्रतिशत

रेक्रटरियो और खजा चया के कमीशन की दर निम्नलिखित होगी —

पहले १० लख रु० अथवा इसके प्रभाग पर	७$\frac{1}{2}$ प्रतिशत
अगले १० लाख रु० अथवा इसके प्रभाग पर	६$\frac{3}{4}$ प्रतिशत
अगले १० लाख रु० अथवा इसके प्रभाग पर	६ प्रतिशत
अगले १० लाख रु० अथवा इसके प्रभाग पर	५$\frac{1}{4}$ प्रतिशत
अगले १० लाख रु० अथवा इसके प्रभाग पर	४$\frac{1}{2}$ प्रतिशत
अगले २५ लाख रु० अथवा इसके प्रभाग पर	४$\frac{1}{2}$ प्रतिशत
अगले २५ लाख रु० अथवा इसके प्रभाग पर	३$\frac{3}{4}$ प्रतिशत
और एक करोड रु० से ऊपर कितनी भी रकम पर	३ प्रतिशत

STANDARD QUESTIONS

1 Define the term 'Managing Agent and differentiate between 'Manager and 'Managing Agent Briefly describe the functions of a managing agent in the running of joint stock company

2. Write a lucid note on the origin of Maneging Agency system in India pointing out the circumstances which have given a fillip to this institution in this country

3 Discuss the merits and defects of the managing agency system of organisation and control of a joint stock company

4 Briefly summarize the principal provisions of the Indian Companies Act 1956 with regard to the appointment of a managing agent.

5. In what circumstances is the office of a managing agent deemed to have been vacated ?

6 Can the managing agents of a company be removed from office before the expiry of his term ? If so, how ?

7 Can the managing agents of a company resign his office ? If so subject to what conditions ?

8 (a) Can the managing agents of a company be appointed its selling or buying agents ? If so how ?

(b) Can a company give loans to (i) its managing agents and (ii) any other company under the same managing agents.

9 What restrictions have been impo ed by the Indian Compa nies Act 1956 on the powers of Managing Agents ?

10 *In theory managing agercies should go* i i practice it may not be prudent to set a time limit for their exist Do you agree with this statement ? Please give arguments for your an wer

11 Define the term managerial remuneration ' How are the net profits of a company computed for the purpose of calcula tirg the *managerial remuneration*

12 State the provisions of Indian Companies Act 1956 with regard to the remuneration of (a) d rectors (b) manag ng agents (c) *manager* and (d) *Secretaries and Treasurers*

13 Who are Secretaries and Treasurers ? Write your indepen dent c mments on the creation of this new in titution What are the provi ions of L w with regard to them ?

अध्याय १४

अंशधारियों का कम्पनी के मामलों पर नियन्त्रण

भारतीय कम्पनी अधिनियम सन् १६५६ के दो प्रधान उद्देश्य है—अंश धारियो के हितों का सरक्षण एवं आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोकना।

यह कहा जाता है कि कम्पनी के मामलो की बागडोर अशधारियो के हाथो मे है क्योंकि सचालक उनकी आज्ञा के अनुसार कम्पनी का कारोबार चलाते हैं। यह बात सिद्धान्तत तो सत्य है परन्तु व्यवहार मे यह देखा जाता है कि सचालक नितान्त स्वेच्छा से काय करते है और अशधारियो का उन पर बहुत कम नियन्त्रण होता है। इस स्थिति को जटिल बनाने वाले अनेक कारण है जसे—पूँजी का विनियोग अनेक छोटे छोटे अशधारियो पर विस्तृत होना जो कि (जब तक सतोषजनक लाभाश मिलते रहे) अपने विनियोग के बारे मे तनिक भी ध्यान नही देते उनके पास समय धन और अनुभव का अभाव जिसके कारण अवसर आने पर वे अपने अधिकारो का पूरा उपयोग नही

कर पाते, दूर-दूर बिखरे होने के कारण उनमे सगठन का न होना, आदि। प्रारम्भ मे तो व्यापक अनुभव और विशाल आर्थिक साधनो वाले व्यक्ति पूँजी लगाया करते थे। अतः उनके हित सुरक्षित थे, किन्तु आजकल धन का पुनर्वितरण हो रहा है और छोटे-छोटे विनियोगको की सख्या तेजी से बढ रही है। ये विनियोगक शायद ही कभी कम्पनी की सभाओ मे सम्मिलित होते है और न वे कम्पनी के कार्य-कलापो मे रुचि लेते हैं। परिणामत. सचालको ने अपने अधिकारो का दुरुपयोग किया और अशधारियो के हितो को गहरी चोट पहुँची, अत. नये अधिनियम मे ऐसे आयोजन किये गये है कि सचालक एव प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने अधिकारो का दुरुपयोग न कर पायें और साथ ही अशधारियो को अपने अधिकारो के लिये प्रोत्साहन मिले। प्रमुख आयोजन निम्न-लिखित है :—

(१) कम्पनी की सभायें—कम्पनी की सभाये बुलाने एव उनकी कार्यवाहियो के संचालन की व्यवस्था इस प्रकार रखी गई है कि सक्रिय एव योग्य अशधारी उनमे अधिक प्रभावपूर्ण ढग से भाग ले सके। कम्पनी की सभाओ मे अपने अधिकार प्रयोग करके ही अशधारी सचालको पर नियन्त्रण रख सकते है। उक्त व्यवस्था इस प्रकार है :—

एक पब्लिक कम्पनी के लिये यह अनिवार्य है कि व्यापार का प्रारम्भ करने का अधिकार मिलने की तिथि से छः माह के अन्दर अपनी वैधानिक सभा बुलाये। वार्षिक साधारण सभा मे अशधारी सचालको के निर्वाचन, अकेक्षको की नियुक्ति और कम्पनी के वार्षिक खातों को पास करने के अधिकार का उपयोग कर सकते हैं। यदि आवश्यक हो तो वे एक असाधारण सभा बुला सकते हैं।

कम्पनी के प्रत्येक सदस्य को एक साधारण सभा की सूचना पाने का अधिकार है। सूचना देने के सम्बन्ध मे ऐसे नियम बनाये गये है कि एक निर्दिष्ट समय और स्थान पर सभा करना आवश्यक है और विशेष कार्यवाही के लिये स्पष्टीकरण भी देना पडता है। सभा मे अशधारियो को अपने मतदान सम्बन्धी अधिकार के प्रयोग का समुचित अवसर मिलता है। यदि हाथ उठा कर मत देना स्वीकार न हो तो कोई भी अशधारी स्वय उपस्थित होकर या प्राक्सी के द्वारा पॉल की माँग कर सकता है। कार्यवाही का उचित विवरण रखे जाने की अधिनियम ने पर्याप्त व्यवस्था की है। कोई भी सदस्य इनका निरीक्षण कर सकता है। यही नही, अशधारियो के मतदान अधिकार जनतन्त्रात्मक विधि से नियन्त्रित किये गये हैं।

(२) सूचनायें प्रगट करना—अधिनियम ने कम्पनी के प्रवर्तन, निर्माण और कार्यकरण के सम्बन्ध मे तथ्यो का पूर्णतम सम्भव स्पष्टीकरण उपलब्ध कराने के लिए पर्याप्त व्यवस्था की है। कम्पनी के वार्षिक खाते निर्धारित रूप मे तैयार किये जाते है और ऐसी सब आवश्यक सूचनाये उनमे प्रगट करनी पडती है जिनके आधार पर कम्पनी की आर्थिक स्थिति का सच्चा चित्र देखा जा सके। इसी प्रकार उन सभी व्यवहारो का उचित लेखा रखा जाता है जिनमे सचालक, प्रबन्ध अभिकर्ता या सेक्रेटरी

एव कोषाध्यक्ष और उनके सहयोगियो का कुछ स्वार्थ है। ये लेखे अंशधारियो के निरीक्षण के लिए उपलब्ध होते है। कम्पनियो के प्रशासन मे इस प्रकार की स्पष्टता से कपट एव धोखे के लिये अवसर घट जाते है।

विशेष प्रस्ताव और विशेष सूचना की व्यवस्थाये भी इसीलिये रखी गई हैं कि सदस्यगण अपने मस्तिष्क का उचित उपयोग कर सकें। विशेष सूचना के लिए २८ दिन आवश्यक होते हैं। इस प्रकार सदस्यो को सोचने-समझने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है। सभी महत्त्वपूर्ण कार्यो के लिये विशेष प्रस्ताव का पास कराना आवश्यक है, जैसे कि निम्न के लिये—प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ के सहयोगी या प्रभाव वाले व्यक्तियो को सचालक के रूप मे नियुक्त करने के लिये, कम्पनी मे किसी सचालक को लाभ का पद लेने की अनुमति देने के लिये, गम्भीर लापरवाही या गम्भीर कुप्रबन्ध के आधार पर प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ को पद से हटाने के लिये, प्रबन्ध अभिकर्त्ता को क्रय या विक्रय प्रतिनिधि नियुक्त करने के लिये, प्रबन्ध अभिकर्त्ता के पुरस्कार मे वृद्धि करने के लिये उसी प्रबन्ध के आधीन कम्पनियो को ऋण देने के लिये, आदि। इस प्रकार अंशधारियो को अपने हित के सभी मामले जानने मे सुविधा होती है और वे अपने मतदान अधिकार का उपयोग कर सकते हैं।

(३) जांच-पडताल—यद्यपि कोई भी सन्नियम, भले ही वह कितनी ही सावधानी और चतुरता से बनाया गया हो, ऐसा नही है जिसमे दुर्बलताये न हो और न वह किसी बेवकूफ व्यक्ति को अपनी नादानी के परिणाम से बचा सकता है, तथापि सनियम का यह एक आवश्यक कर्त्तव्य है कि वह बेईमान व्यक्तियो को ऐसी दशाये उत्पन्न करने से रोके जो उन्हे दूसरो को बेवकूफ बनाने मे सहायक हो। सरकार को प्रदान किये गये जांच-पडताल सम्बन्धी अधिकारो का उद्देश्य ऐसे ही व्यक्तियो की कार्यवाहियो पर अकुश रखना है। यदि कम्पनी एक विशेष प्रस्ताव द्वारा प्रार्थना करे तो केन्द्रीय सरकार को कम्पनी के मामलो की जांच के लिए निरीक्षक नियुक्त करने पडेगे। इसी प्रकार इसके सदस्यो के प्रार्थना-पत्र पर, यदि केन्द्रीय सरकार को यह प्रतीत हो कि कम्पनी के व्यापार का सचालन कपटपूर्ण या अन्याययुक्त ढङ्ग मे हो रहा है या सदस्यो को पर्याप्त सूचनाये नही दी जाती है तो वह कम्पनी के मामलो की जांच के लिए, निरीक्षक नियुक्त कर सकती है। केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त सचालको को बडे व्यापक अधिकार प्राप्त होते हैं। यदि इनकी रिपोर्ट से यह पता लगे कि कोई व्यक्ति किसी साधारण कार्य का दोषी है तो वह उस पर अभियोग चला सकती है और कम्पनी के समापन तक की भी आज्ञा दे सकती है।

केन्द्रीय सरकार को यह भी अधिकार है कि वह किसी कम्पनी के अशो के वास्तविक स्वामित्व की जाँच करावे। प्राय. कई कारणो से लोग दूसरे नामो से अश खरीद लेते है। इससे अनेक असामाजिक उद्देश्यो को बढावा मिलता है, क्योकि सम्बन्धित व्यक्ति अपने नामार्थियो की ओट मे अपना व्यक्तित्व छुपा लेते है।

(४) कठोरता की रोकथाम—कम्पनी का प्रबन्ध सचालन बहुमत से होता

है, परन्तु यहाँ इस बात का भय है कि कहीं बहुमत अल्पमत के प्रति अधिक कठोरता का व्यवहार न करे। निसन्देह बहुमत के लाभ अल्पमत को नहीं मिल सकते, किन्तु उचित व्यवहार की वे अपेक्षा कर सकते है, अतः न्यायालय व केन्द्रीय सरकार को विशेष अधिकार दिये गये हैं। कम्पनी के कुछ सदस्यो के आवेदन पर न्यायालय प्रबन्ध एव कठोरता की रोकथाम के लिए कोई भी उपयुक्त आज्ञा दे सकता है। यही नहीं, निर्धारित सख्या मे सदस्यों के प्रार्थना करने पर केन्द्रीय सरकार किन्ही भी दो सदस्यों को सचालक नियुक्त कर सकती है और यदि कम्पनी का कोई अधिकारी केन्द्रीय सरकार से यह शिकायत करे कि कम्पनी अशो के स्वामित्व परिवर्तनो के फलस्वरूप सचालक मण्डल मे अवाछित परिवर्तन की सम्भावना है तो केन्द्रीय सरकार इस परिवर्तन को रोकने के लिए आदेश दे सकती है।

न्यायालय एवं केन्द्रीय सरकार को अंशधारियों के हित संरक्षण के लिए दिया गया अधिकार

न्यायालय के अधिकार—

(१) अन्याय की दशा मे उपाय—जिस सदस्य को यह शिकायत है कि कम्पनी के कार्यों का सचालन इस प्रकार किया जा रहा है जो किसी सदस्य या सदस्यो के प्रति अन्यायपूर्ण (Oppressive) है, वह न्यायालय से प्रार्थना कर सकता है। ऐसी प्रार्थना पर यदि न्यायालय इस सम्मति का है कि कम्पनी के कार्यों का सचालन वास्तव मे किसी सदस्य या सदस्या के प्रति अन्यायपूर्ण है और कम्पनी को समापित करने से ऐसे सदस्या के हितो को ठेस पहुँचेगी, किन्तु अन्यथा तथ्य इस प्रकार हैं कि कम्पनी को समापित करने की आज्ञा देना न्यायपूर्ण होगा, तो वह शिकायत से सम्बन्धित मामलो को सुधारने के लिए ऐसी आज्ञा जारी कर सकता है जो भी वह इस सम्बन्ध मे ठीक समझे। [धारा ३६७]

(२) कुप्रबन्ध की दशा मे उपाय—यदि कोई सदस्य यह देखे कि (i) कम्पनी के कार्यों का सचालन कम्पनी के हितो को नुकसान पहुँचाने वाले ढङ्ग से किया जा रहा है या (ii) कम्पनी के नियंत्रण अथवा प्रबन्ध मे कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन (वह परिवर्तन नहीं, जो कि लेनदारो या अशधारियो के एक विशेष वर्ग के द्वारा या उनके लाभार्थ किया गया हो), उसकी सचालक सभा मे या प्रबन्ध अभिकर्ता, सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष म या प्रबन्ध अभिकर्त्ता की फर्म, समामेलित संस्था या कम्पनी के सगठन एव नियंत्रण मे किसी परिवर्तन के हो जाने से आ गया है और यह आशका है कि कम्पनी के कार्यों का सचालन अब इस प्रकार किया जायगा जो कम्पनी के हित मे नही है तो वह न्यायालय से आज्ञा के लिए प्रार्थना कर सकता है। यदि न्यायालय इस पर सन्तुष्ट हो जाये तो वह ऐसी दशा को रोकने या समाप्त करने के लिए उपयुक्त आदेश जारी कर सकता है। [धारा ३६८]

कौन प्रार्थना पत्र दे सकते है—कम्पनी के निम्नलिखित सदस्यो को उपरक्त धाराओ के अन्तर्गत प्रार्थना पत्र देने का अधिकार है —।

(१) अंश पूँजी वाली कम्पनी की दशा मे कम्पनी के कम से कम १०० सदस्यो को या उसके सदस्यो की कुल सख्या के १/१० भाग को (दोनो मे जो कम हो) या वे सदस्य जो कम्पनी की निर्गमित पूँजी के कम से कम १/१० भाग पर नियन्त्रण रखते है। बशर्ते उन्होने उन पर देय सब धन चुका दिया है।*

(२) बिना अंश पूँजी वाली कम्पनी की दशा मे उसके सदस्यो की कुल सख्या के कम से कम १/५ सदस्य।

भले ही उपर्युक्त आवश्यकताय पूरी न हो यदि केन्द्रीय सरकार की राय में आवश्यक परिस्थितियाँ विद्यमान है तो वह किसी सदस्य या सदस्यो को न्यायालय मे प्रार्थना पत्र देने की आज्ञा दे सकती है, किन्तु ऐसी आज्ञा देने के पहले वह उन सदस्यो को खर्च के लिए उपयुक्त रकम जमानत के रूप मे जमा करा लेगी। [धारा ३९९]

न्यायालय धारा ३९७ एव ३९८ के अन्तर्गत प्रार्थना पत्र आने पर उसकी सूचना केन्द्रीय सरकार को देगा और उस सरकार के द्वारा किये गये उत्तर को भी अन्तिम आज्ञा देने के पहले विचार मे लेगा। [धारा ४००]

केन्द्रीय सरकार के अधिकार—

(१) कम्पनी अन्याय या कुप्रबन्ध रोकने के उपाय—कम्पनी के कम से कम २०० सदस्यो या कम्पनी मे कुल मताधिकार के कम से कम १/१० का अधिकार रखने वाले सदस्यो द्वारा प्रार्थना-पत्र देने पर उचित जाँच करने के बाद, यदि न्यायालय इस बात से सन्तुष्ट हो जाये कि कम्पनी का कार्य सचालन अन्यायपूर्ण रीति से अथवा कम्पनी के हितो को ठेस पहुँचाने वाली रीति मे होने से रोकने के लिए कम्पनी की सचालक सभा मे अपनी ओर से कुछ सचालक नियुक्त करना आवश्यक है तो वह कम्पनी के सदस्यो मे से अधिक से अधिक २ व्यक्तियो को ऐसी अवधि के लिए सचालक नियुक्त कर सकता है, जो एक समय मे ३ वर्ष से अधिक न हो।

ऐसी आज्ञा देने के बजाय केन्द्रीय सरकार कम्पनी को अपने सचालक फिर से नियुक्त करने की आज्ञा दे सकती है।

(२) सचालक सभा मे कम्पनी के हितो को हानि पहुँचाने वाले परिवर्तनो को रोकने का अधिकार—जब केन्द्रीय सरकार से किसी प्रबन्ध सचालक

---

* यदि कोई अंश दो या अधिक व्यक्तियो द्वारा सम्मिलित रूप से ग्रहण किया हुआ है तो उनको एक सदस्य ही गिना जायगा। एक या अधिक सदस्य शेष सदस्यो की लिखित सहमति प्राप्त करके सबकी ओर से एव सबके लाभार्थ प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत कर सकते हैं। धारा ३९९ [२ एव ३]

या किसी अन्य सचालक, प्रबन्ध अभिकर्त्ता, सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष द्वारा यह शिकायत की जाती है कि कम्पनी के अशो के स्वामित्व मे परिवर्तन होने या सम्भावित परिवर्तन से सचालक सभा म ऐसा परिवर्तन होने का डर है जो कम्पनी के हितो को ठेस पहुँचावेगा तो केन्द्रीय सरकार उचित जाँच से सन्तुष्ट होने के बाद यह आदेश जारी कर सकती है कि सचालक सभा म शिकायत की तिथि के बाद परिवर्तन करने वाला कोई प्रस्ताव या कार्य तब तक प्रभावपूर्ण नही होगा जब तक केन्द्रीय सरकार उसकी पुष्टि न कर दे। यह नियम इस अधिनियम के अन्य आदेशो, पार्षद सीमानियम, अन्तर्नियम, ठहराव या प्रस्ताव के आदेशो को निष्प्रभाव करता है। अपनी जाँच के पूर्ण होने के पहले भी केन्द्रीय सरकार कोई मध्यकालीन आदेश जारी कर सकती है। [धारा ४०६]

केन्द्रीय सरकार खुद उपरोक्त धाराओ (२६७ या २६८) के अन्तर्गत न्यायालय को प्रार्थना-पत्र दे सकती है।

न्यायालय के अन्य सामान्य अधिकार—

सामान्य अधिकारो के अतिरिक्त न्यायालय निम्न के लिए भी आज्ञा दे सकता है। [धारा ४०२] :—

(१) कम्पनी के कार्य सचालन को भविष्य मे नियमित (Regulate) करने के लिए।

(२) कम्पनी के किन्ही सदस्यो के हितो या अशो को अन्य सदस्यो या कम्पनी द्वारा खरीदे जाने के लिए।

(३) कम्पनी द्वारा उक्त अशो की खरीद की दशा मे कम्पनी की अश पूँजी घटाने के लिए।

(४) कम्पनी और निम्नलिखित किसी व्यक्ति के बीच किसी भी प्रकार हुए ठहराव को समाप्त या सशोधित करने के लिए :—

(अ) प्रबन्ध सचालक,
(आ) कोई अन्य सचालक,
(इ) प्रबन्ध अभिकर्त्ता,
(ई) सेक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष, और
(उ) प्रबन्धक।

(५) प्रार्थना-पत्र के पहले ३ माह के अन्दर कम्पनी द्वारा या कम्पनी के विरुद्ध किसी सम्पत्ति के सम्बन्ध मे किसी हस्तान्तर, सुपुर्दगी या भुगतान आदि को रद्द करना।

(६) अन्य कोई बात, जो न्यायालय न्यायसगत समझे।

अन्तिम आज्ञा देने के पहले भी न्यायालय कम्पनी के कार्य सचालन का अन्ति-

यमन करने के लिए उचित प्रतिबन्धो के आधीन अन्तरिम आदेश जारी कर सकता है। [धारा ४०३]

आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोकने के उपाय—

देश मे आर्थिक सत्ता के कतिपय हाथो मे केन्द्रीयकरण को रोकने के लिए सन् १९५६ के कम्पनी अधिनियम मे निम्न नियम बनाये गये हैं :—

(१) कोई भी व्यक्ति २० से अधिक कम्पनियो का सचालक नही बन सकता।

(२) कोई भी कम्पनी किसी व्यक्ति को, जो एक से अधिक अन्य कम्पनी का प्रबन्ध सचालक या मैनेजर है, अपना प्रबन्ध सचालक या मैनेजर नियुक्त नही कर सकती। इसी प्रकार कोई भी कम्पनी किसी व्यक्ति को ५ वर्ष से अधिक अवधि के लिए प्रबन्ध सचालक या मैनेजर नही रख सकेगी।

(३) १५ अगस्त सन् १९६० के पश्चात् कोई भी व्यक्ति १० से अधिक कम्पनियो का प्रबन्ध अभिकर्त्ता नही रह सकता और यह पद विरासत या अन्य किसी ढङ्ग (Inheritance or Devise) से हस्तान्तरित नही किया जा सकेगा।

(४) सचालको के लिए ६५ वर्ष की आयु होने पर पद से रिटायर होना अनिवार्य है। हां, विशेष परिस्थितियो मे यह आयु-सीमा बढाई जा सकती है।

(५) कोई भी कम्पनी, जो अपने प्रबन्ध अभिकर्त्ता पहली बार नियुक्त कर रही है, एक बार मे १५ वर्ष से अधिक के लिए ऐसी नियुक्ति नही कर सकेगी। बाद की नियुक्तियां एक बार मे १० वर्ष से अधिक के लिये न हो सकेंगी और पुनर्नियुक्ति तो अवधि समाप्त होने के पहले दो वर्षो के भीतर ही की जा सकती है। इससे अधिक पहले नही।

(६) केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह यह सूचित कर दे कि एक प्रमुख निर्दिष्ट तिथि से एक विशेष उद्योग या व्यापार मे लगी हुई कम्पनियां प्रबन्ध अभिकर्त्ता नही रख सकेंगी। हां, इस अधिकार का प्रयोग करने के पहले केन्द्रीय सरकार को प्रश्न की जांच करने व परामर्श देने के लिए एक कमेटी नियुक्त करनी पडेगी।

कम्पनी अधिनियम परामर्शदाता कमीशन—

कम्पनी अधिनियम, सन् १९५६ से सरकार को कम्पनियो का नियन्त्रण करने के बारे मे जो व्यापक अधिकार मिले हैं, उनका अर्थ यह नही है कि सरकार उन अधिकारों का मनमाना उपयोग करे। धारा ४२२ के आधीन केन्द्रीय सरकार के पास जो मामले आयेंगे, उनके सम्बध मे यह व्यवस्था की गई है कि धारा ४१० के अनुसार बने एक कमीशन की सलाह पर सरकार कार्यवाही करेगी।

नये अधिनियम के अनुसार जो कमीशन बनाया जायगा, उसके ज्यादा से ज्यादा पांच सदस्य होगे और उन्ही मे से एक उसका प्रधान होगा। इस मामले मे इस

अधिनियम मे वैसी ही व्यवस्था की गई है, जैसी सन् १९१३ के भारतीय कम्पनी अधिनियम की धारा २८९ बी मे की गई थी।

पहला कमीशन—

सन् १९५१ मे जब ससद ने सन् १९५१ के भारतीय कम्पनी (सशोधन) अधिनियम के अनुसार केन्द्रीय सरकार को कम्पनियो की प्रबध व्यवस्था की बुराइयो को दूर करने के लिए व्यापक अधिकार दिए थे, तभी पहला कमीशन भी बना था। इस अधिनियम मे यह महत्त्वपूर्ण व्यवस्था भी कर दी गई थी कि अगर कम्पनियाँ निर्देशक-मण्डल और या प्रबध-व्यवस्था में कोई परिवर्तन करे तो सरकार से पहले मजूरी ले लें। इससे सरकार को कम्पनियो मे होने वाले भ्रष्टाचार को रोकने मे सहायता मिली।

यह अनुभव किया गया कि सरकारी अफसरो के लिए यह सम्भव नही होगा कि अपने सीमित साधनो के आधार पर वे सरकारी निर्णयो के लिये आने वाले जटिल मामलो पर ठीक निर्णय ले सकें, इसलिए इन मामलो पर उन्हे सलाह देने के लिए सलाहकार कमीशन कानूनी रूप से गठन करने की व्यवस्था की गई।

पहले कमीशन के प्रधान श्री सी० एच० भाभा थे। अन्य दो सदस्य ये थे— श्री डी० एल० मजूमदार, जो आजकल वित्त मत्रालय के कम्पनी कानून प्रशासन विभाग के सचिव हैं और श्री एम० सुन्दरसेन, जो रिजर्व बैंक के डिप्टी गवर्नर हैं।

नया अधिनियम और कमीशन—

२१ फरवरी सन् १९५६ को पुराने कमीशन ने त्याग-पत्र दे दिया। उसके स्थान पर सरकार ने श्री तेनाटी विश्वनाथम् की अध्यक्षता मे एक नया कमीशन बनाया है। श्री जे० डी० चोकसी और श्री जी० डी० अम्बेडकर इसके सदस्य हैं और श्री० वी० एन० चतुर्वेदी तथा श्री सी० ए० शास्त्री सलाहकार है। पहली अप्रैल से नया अधिनियम लागू हो गया है और तभी से श्री विश्वनाथम् की प्रधानता मे इस नये कमीशन ने काम शुरू कर दिया है।

कमीशन का कर्त्तव्य विभिन्न मामलो मे सरकार को सलाह देना है। केन्द्रीय सरकार जब धारा ३२४ के अन्तर्गत इस आशय की अधिसूचना जारी करेगी कि निर्दिष्ट श्रेणी के उद्योग या व्यापार चलाने वाली कम्पनियाँ मैनेजिंग एजेण्ट नही रख सकेंगी तो उससे पहले वह कमीशन से सलाह ले लेगी। यह सलाह भी ली जायेगी कि इस तरह की अधिसूचना जारी करना ठीक होगा या नही। किसी सार्वजनिक कम्पनी या उसकी सहायक निजी कम्पनी की जब केन्द्रीय सरकार के पास निम्नलिखित मामलो मे अर्जियां आयेंगी तो सरकार को इस कमीशन से सलाह लेनी होगी।

(१) सचालकों की सख्या पूर्व-निश्चित अधिकतम् सख्या से अधिक बढाना,

(२) प्रबध सचालक या पूरे समय के सचालक या बारी से रिटायर न होने वाले सचालक की नियुक्ति या पुनर्नियुक्ति की व्यवस्थाओ में सशोधन,

(३) प्रबंध सचालक या पूरे समय के सचालक की नियुक्ति,
(४) सचालक (प्रबंध सचालक या पूरे समय के सचालक) या मैनेजर के पारिश्रमिक मे वृद्धि,

सभी कम्पनियो को निम्न मामलो पर सलाह लेना जरूरी होगा ।

(५) प्रबंध सचालक या पूरे समय के सचालक के पारिश्रमिक मे वृद्धि या उसकी पुर्नानियुक्ति या पहली नियुक्ति (प्राइवेट कम्पनियो पर लागू नही),
(६) मैनेजिग एजेण्टो या सेक्रेटरियो या कोपाध्यक्षो की नियुक्ति,
(७) जब वर्तमान अवधि के दो साल या इससे अधिक समय बाकी हो तो मैनेजिग एजेण्टो या सेक्रेटरियो और कोपाध्यक्षो की पुर्नानियुक्ति,
(८) मैनेजिग एजेण्टो या सेक्रेटरियो और कोपाध्यक्षो के साथ किए गये करारो मे परिवर्तन,
(९) एक व्यक्ति ज्यादा से ज्यादा जितनी कम्पनियो का मैनेजिग एजेण्ट हो सकता है, उसी सीमा को यदि कोई लाघ जायगा तो यह निर्धारित करना कि वह किन कम्पनियो का मैनेजिग एजेण्ट रहे और किनका नही,
(१०) मैनेजिग एजेण्टो या सेक्रेटरियो और कोपाध्यक्षो द्वारा अपना कार्यभार दूसरा को सौंपना,
(११) पैतृक अधिकार के रूप मे या अन्य प्रकार से मैनेजिग एजेन्सी या सेक्रेटरी और कोपाध्यक्ष का काम लेना,
(१२) मैनेजिग एजेन्सी फर्म या कॉरपोरेशन के विधान या सेक्रेटरियो और कोपाध्यक्षा मे परिवर्तन,
(१३) मैनेजिग एजेण्टो या सेक्रेटरियो और कोपाध्यक्षों को धारा १९८, ३४८ और ३८१ के साथ ३४८ मे निर्दिष्ट पारिश्रमिक से अधिक देना,
(१४) कम्पनी के किसी सदस्य के विपक्ष मे किये जाने वाले कार्यों या कम्पनी के हितो के विपक्ष मे किये जाने वाले कार्यो को रोकने के लिए सरकार द्वारा सचालको की नियुक्ति,
(१५) केन्द्रीय सरकार द्वारा यह आदेश दिया जाना कि उसकी अनुमति लिये बिना किसी खास सार्वजनिक कम्पनी या उसकी सहायक किसी निजी कम्पनी के सचालक-सभा को बदला नही जा सकता ।

इनके अतिरिक्त अगर केन्द्रीय सरकार किन्ही और मामलो पर कमीशन की सलाह लेना उचित समझेगी तो वैसा कर सकेगी ।

उपर्युक्त मामलो के बारे मे केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेने के लिए अर्जियाँ निर्धारित फार्मों पर देनी होगी । कम्पनियो के लिये यह जरूरी होगा कि सरकार को अर्जी देने से पहले वे अपने सदस्यो को उसकी सूचना दे दें । इस आशय का नोटिस

अंग्रेजी के अखबार और जिले की मुख्य भाषा के अखबार मे भी छपवाना होगा। इस नोटिस की एक प्रति अर्जी के साथ सरकार को भी भेजनी होगी।

अधिनियम के अंतर्गत सलाहकार कमीशन को व्यापक अधिकार दिये गये हैं। किसी मामले पर विचार करने के लिये वह कम्पनी से कोई भी कागज-पत्र या सूचना माँग सकेगा। वह कम्पनियो की किताबो और कागज-पत्रो की जाँच कर सकता है और कम्पनी के किसी भी अधिकारी को पूछ-ताछ के लिए बुला भी सकता है। कमीशन के आदेश न मानने पर दो साल तक की कैद की सजा हो सकेगी।

पिछले कमीशन ने अपने पाँच साल के कार्य-काल मे ४२ बैठके की और लगभग २,५०० अर्जियो पर कार्यवाही की। ज्यादा मामले प्रबंध सचालको आदि की नियुक्ति और कम्पनियो के अधिनियम बदलने के बारे मे थे। अपने काम मे इस कमीशन ने कुछ सिद्धात बना लिये थे, जिनकी सूचना कम्पनियो को भी दे दी गई थी। इनमे से बहुत से सिद्धात नये अधिनियम मे भी शामिल कर लिये गये हैं।

पुराने कमीशन ने जो परम्परा कायम कर दी है उसके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विभिन्न मामलो मे कम्पनियो की अर्जियो पर शीघ्र और न्यायोचित ढंग से विचार किया जायेगा।

STANDARD QUESTIONS

1. In what ways may the shareholders of a limited company exercise control over its affairs, to what extent is their control real in this country ?
2. Write a lucid note on Company Law Advisory Commission
3. What provisions have been made by the Indian Companies' Act, 1956 to prevent the concentration of economic power in few hands ?

अध्याय १५

कम्पनियों का समापन

"कम्पनियो का निर्माण अधिनियम के आधार पर होता है और इसलिये अधिनियम द्वारा ही उसका अन्त भी हो जाता है।"

कम्पनियो की समाप्ति या समापन से आशय—

कम्पनी की समाप्ति से आशय यह है कि कम्पनी का अन्त हो गया है, अर्थात् उसका कार्य-सचालन बन्द हो गया हो। एक सयुक्त पूँजी वाली कम्पनी कृत्रिम वैधानिक व्यक्ति होने के कारण स्वाभाविक रूप से समाप्त नही होती। वास्तव मे उसका निर्माण अधिनियम के आधार पर होता है और इसलिए अधिनियम द्वारा ही उसका अन्त होता है।

कम्पनी की समाप्ति निम्न दशाओ मे होती है :—

(अ) न्यायालय के आदेशानुसार अनिवार्य रूप से सीमित,

(ब) ऐच्छिक समापन, और

(स) न्यायालय के निरीक्षण के आधीन समाप्ति। [धारा ४२५]

(अ) *न्यायालय की आज्ञा द्वारा अनिवार्य समाप्ति* (Compulsory winding up by an order of Court)—

निम्नलिखित परिस्थितियो मे कम्पनी का समापन न्यायालय द्वारा किया जा सकता है :—

(१) यदि कम्पनी ने विशेष प्रस्ताव द्वारा यह प्रस्ताव कर लिया हो कि कम्पनी का समापन न्यायालय द्वारा किया जाय।

(२) यदि वैधानिक रिपोर्ट फाइल करने मे अथवा वैधानिक सभा करने मे त्रुटि की गई हो।

(३) यदि कम्पनी अपने समामेलन के १ वर्ष के भीतर अपना कारोबार प्रारम्भ न करे या अपना कारोबार पूरे १ वर्ष तक स्थगित रखे।

(४) यदि सदस्यो की सख्या प्राइवेट कम्पनियो की दशा मे दो और अन्य किसी कम्पनी की दशा मे ७ से कम कर दी जाय।

(५) यदि कम्पनी अपना ऋण चुकाने मे असमर्थ हो। इस सम्बन्ध मे यह

लिखना अनावश्यक न होगा कि निम्न दशाओं में कम्पनी ऋण चुकाने में असमर्थ समझी जायगी :—

(अ) यदि किसी ऋणदाता ने, जिसकी कम्पनी ५००) से अधिक धन के लिये ऋणी हो और जो उस समय प्राप्य (Due) हो, कम्पनी से भुगतान की माँग की है, जिसे कम्पनी पूरा न कर सकी हो या उसके लिये उचित प्रत्याभूति देने में अथवा कोई समझौता करने में उपेक्षा की हो।

(आ) यदि किसी ऋणदाता के पक्ष में किसी न्यायालय द्वारा जारी की गई कोई डिग्री या अन्य आदेश पूर्णतः या अंशतः असन्तुष्ट रहा हो।

(इ) यदि न्यायालय के विश्वास के लिए यह सिद्ध हो गया हो कि कम्पनी अपने ऋण चुकाने में असमर्थ है।

(६) यदि न्यायालय का यह मत हो कि यह न्याय-संगत और सुनीतिपूर्ण है कि कम्पनी का समापन होना चाहिये। [धारा ४३३ एवं ४३४]

(ब) ऐच्छिक समापन (Voluntary winding up)—

निम्नलिखित तीन परिस्थितियों में ऐच्छिक समापन हो सकता है और प्रत्येक के लिए एक भिन्न प्रकार के प्रस्ताव की आवश्यकता होगी :—

(१) साधारण प्रस्ताव द्वारा कम्पनी के नियमों के अनुसार उसका समापन हो सकता है, जैसे—निश्चित अवधि की समाप्ति पर अथवा उस घटना के होने पर जबकि कम्पनी की समाप्ति हो जानी चाहिए।

(२) विशेष प्रस्ताव द्वारा किसी विशेष कारण से कम्पनी का समापन हो सकता है।

(३) असाधारण प्रस्ताव द्वारा भी कम्पनी का समापन हो सकता है, यदि वह अत्यधिक दायित्वों के कारण कारोबार चलाने में असमर्थ है।

उपरोक्त परिस्थितियों में प्रस्ताव के अनुमोदन की तिथि से ऐच्छिक समापन प्रारम्भ समझा जायगा। ऐच्छिक समापन भी दो प्रकार का हो सकता है :—

(अ) सदस्यों द्वारा ऐच्छिक समापन (Memebers voluntary winding up) और

(आ) लेनदारों द्वारा समापन (*Creditor's voluntary winding up*)।

प्रथम परिस्थिति में कम्पनी के सचालकों द्वारा (अंकेक्षकों द्वारा प्रमाणित) इस आशय की एक घोषणा की जाती है कि कम्पनी के कारोबार की पूर्णत: जाँच कर ली गई है और ऐसा करने के पश्चात् उन्होंने यह निर्णय किया है कि कम्पनी अपना ऋण पूर्णतः चुकाने में एक अवधि के भीतर (जो समापन के प्रारम्भ से ३ वर्ष से अधिक नहीं होगी) समर्थ है।

दूसरी दशा मे अर्थात् ऋणदाताओं द्वारा ऐच्छिक समापन की परिस्थिति मे सचालको द्वारा ऐसी घोषणा फाइल करने की आवश्यकता नही पड़ती।

(स) न्यायालय के निरीक्षण मे समाप्ति (Winding up subject to supervision of court)—

जब कम्पनी ने विशेष या असाधारण प्रस्ताव द्वारा ऐच्छिक समापन का निश्चय कर लिया हो तो न्यायालय समापन के लिये अपने निरीक्षण के आधीन और ऋणदाताओ, अंशदाताओ या अन्य व्यक्तियों को न्यायालय मे आवेदन करने की ऐसी स्वतंत्रता के साथ और साधारणत. ऐसे प्रतिबंधो के आधीन जिन्हे न्यायालय उचित समझे, आज्ञा दे सकता है, न्यायालय की ऐसी आज्ञा के लिये कम्पनी, ऋणदाता, अंश-दाता या लिक्वीडेटर (Liquidator) आवेदन कर सकता है। ऐच्छिक समापन मे नियमो मे उलघन या कपट की दशा मे ही आवेदन किया जाता है। निरीक्षण के आधीन समापन की आज्ञा हो जाने के बाद न्यायालय किसी अतिरिक्त लिक्वीडेटर की नियुक्ति कर सकता है। [धारा ५२२–५२७]

नोट—कम्पनी अधिनियम की धारा ५६० के अनुसार भी कम्पनी का अन्त हो सकता है। इस धारा के अनुसार जब रजिस्ट्रार को यह विश्वास हो जाता है कि कम्पनी ने कारोबार बन्द कर दिया है तो उचित जाँच करके वह राजकीय गजट मे यह प्रकाशित करा देता है कि प्रकाशन के ३ माह बाद कम्पनी का नाम रजिस्टर से काट दिया जायगा और कम्पनी का अन्त हो जायगा। ऐसा प्रायः निश्चेष्ट (Defunct) कम्पनियो की दशा मे ही होता है।

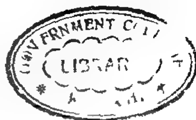
कम्पनी की समाप्ति के लिए एक लिक्वीडेटर नियुक्त किया जाता है, जिसका मुख्य कार्य कम्पनी की सम्पत्ति बेचना, ऋणो का भुगतान करना व शेष धन को अंशधारियो मे विभाजित करना होता है। *उसको अंशधारियो की सूची बनाकर शेष पूँजी प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार होता है। अंशधारियो की (अ) तथा (ब) दो सूचियाँ तैयार की जाती हैं। पहली सूची मे वे अंशधारी होते है जो समाप्ति के समय अंशधारी हैं और दूसरी सूची मे वे अंशधारी होते हैं जो समाप्ति के एक वर्ष पूर्व अपने अंश बेच चुके हैं।*

कम्पनी की सम्पत्ति बेचने से जो धन राशि प्राप्त होती है वह निम्न क्रम से लेनदारों तथा अंशधारियो मे विभाजित कर दी जाती है :—

(१) *सुरक्षित लेनदारो मे।*
(२) समाप्ति का व्यय तथा लिक्वीडेटर का वेतन।
(३) प्राथमिकता प्राप्त लेनदारो मे।
(४) प्राधि ऋण-पत्रो (Floating Debentures) का भुगतान करने मे।
(५) अरक्षित लेनदारो मे।
(६) अधिकारानुसार अंशधारियो मे।

STANDARD QUESTION

1. What do you understand by the term 'winding up of a company' Discuss the various circumstarces under which a company may be wound up



अध्याय १६

थोक व्यापार का संगठन

(Organisation of Wholesale Trade)

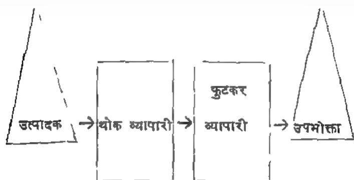
"मध्यस्थों को न्यूनतम करने का नारा भले ही व्यावसगत हो, किन्तु उनको जड से नहीं उखाडा जा सकता, क्योकि व्यापारिक जगत के वे आवश्यक यन्त्र हैं एव उत्पादको तथा उपभोक्ताओ सभी के लिए बहुमूल्य सेवायें प्रदान करते रहते हैं।"

प्रारम्भिक—

व्यापार की प्रारम्भिक अवस्था मे सीमित मानवीय आवश्यकताएँ होने के कारण केवल कुछ ही वस्तुओ मे व्यापार होता था और उसका स्वरूप भी अत्यन्त सकुचित था। उन दिनो उत्पादकगण सीधे उपभोक्ता को अपना माल बेचते थे, अर्थात् वस्तुओ को उत्पन्न करना तथा बेचना एक ही व्यक्ति के नाम थे, किन्तु जैसे जैसे ज्ञान एव विज्ञान मे प्रगति के साथ-साथ मुद्रा का प्रादुर्भाव हुआ, श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण मे वृद्धि हुई, यातायात एव सन्देशवाहन के साधनो का विस्तार हुआ, आर्थिक सगठन मे सुधार हुआ तथा अन्य व्यावसायिक सुविधाओ की प्राप्ति हुई, वैसे-वैसे ही व्यापार क्षेत्र भी बढ़ता गया और अन्त म अन्तर्राष्ट्रीय हो गया। व्यापार का आकार और क्षेत्र बढ जाने से उत्पादक और उपभोक्ताओ का सीधा क्रय विक्रय सम्भव न रहा और ऐसे मध्यस्थो की आवश्यकता हुई जो दूर स्थित उत्पादक से माल खरीदकर उपभोक्ता तक पहुँचा सकें। परिणाम यह हुआ कि माल अन्य मध्यस्थो द्वारा उपभोक्ता तक पहुँचने लगा। ये मध्यस्थ विभिन्न प्रकार के नामो से सम्बोधित किये जाते हैं।

मध्यस्थों का महत्त्व—

साधारण मध्यस्थ घृणा की दृष्टि से देखे जाते है और अधिकांश लोगो का यही मत है कि जहाँ तक हो सके, मध्यस्थो की शृंखला को न्यूनतम किया जाय। मध्यस्थो को घृणा की दृष्टि से देखने का प्रधान कारण यह है कि उन पर उत्पादन के हानि-लाभ का कोई प्रभाव नही पडता। उत्पादक को भले ही हानि हो, किन्तु मध्यस्थ तो अपना कमीशन प्राप्त कर ही लेता है। ऐसी घृणित जन-भावना होते हुए भी मध्यस्थो को व्यापार की आधारशिला कहते है। मध्यस्थो को न्यूनतम करने का नारा भले ही न्यायसगत हो, किन्तु उनको जड से नही उखाडा जा सकता, क्योंकि व्यापारिक जगत के वे आवश्यक यन्त्र है एव उत्पादकों तथा उपभोक्ताओ सभी के लिए बहुमूल्य सेवायें प्रदान करते रहते है। जैसा कि निम्न चार्ट से स्पष्ट है, मध्यस्थो उत्पादकों तथा उपभोक्ताओ के बीच एक अनिवार्य कडी हैं :—



वर्तमान युग मे उत्पादन प्रायः बडे पैमाने पर किया जाता है और निर्माणी सस्थाओ से उपभोक्ताओ तक वस्तुएँ पहुँचने के लिए काफी समय लगता है। मध्यस्थगण अपनी सेवाओ द्वारा इस अवधि को कम से कम करके अर्थात् शीघ्रातिशीघ्र उपभोक्ताओ के दरवाजे तक निर्मित वस्तुओ को उपभोग के हेतु पहुँचाने का प्रयत्न करते है। उदाहरण के लिए, थोक व्यापारी निर्माणकर्त्ताओ से माल खरीद कर उसे फुटकर व्यापारियो को बेचते है, जिनसे उपभोक्ता माल खरीद कर अपनी आवश्यकताओ की सन्तुष्टि करते है। कुछ निर्माता प्रत्यक्ष रूप से अपने विक्रय अभिकर्त्ताओ (Sale Agents) के माध्यम द्वारा फुटकर व्यापारियो को माल बेचते है, जिनसे उपभोक्ता माल खरीदते हैं। आजकल कुछ निर्माणी सस्थाये अपनी निजी फुटकर दूकानें खोलकर उपभोक्ताओ से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करती है, जैसे—जीवाजीराव कॉटन मिल्स बिरलानगर, ग्वालियर की फुटकर विक्रयशाला अथवा विनोद मिल्स उज्जैन की फुटकर विक्रयशाला या दिल्ली क्लॉथ मिल्स की फुटकर विक्रय-शालाएँ (Retail Shops)। इस प्रकार मध्यस्थो द्वारा ही उत्पादन एव उपभोग मे परस्पर सामञ्जस्य स्थापित होता है।

मध्यस्थों के कार्य—

आधुनिक व्यापारिक जगत मे मध्यस्थ निम्न सेवायें प्रदान करते है :—

(१) मध्यस्थ उत्पादको द्वारा निर्मित वस्तु की माँग बढाते है—यह निर्विवाद सत्य है कि उत्पादकगण, जिनके लिए निर्माण सम्बन्धी समस्यायें ही अधिक होती हैं, उपभोक्ताओ से अपना अधिक प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित नही कर सकते, अतएव समाज-सेवक के रूप मे मध्यस्थ उत्पादक से समस्त माल स्वय ले लेते हैं तथा फिर सुविधानुसार उसे थोक अथवा फुटकर व्यापारियो तक पहुँचाते रहते हैं।

(२) मध्यस्थ उत्पादको के लिए आवश्यक कच्चा माल जुटाने में भी सहायक होते है—वे विभिन्न स्थानो से उत्पादन के लिए कच्चा माल व अन्य आवश्यक सामग्री (जैसे कुशल श्रम, पूंजी, मशीनें आदि) एकत्रित करते रहते हैं और समय-समय पर उनके द्वारा उत्पादको की सेवा करते हैं। मध्यस्थ यह जानते हैं कि किसी वस्तु की माँग व उत्पत्ति कितनी मात्रा मे है तथा इस प्रकार वे उत्पादक को माल के क्रय तथा विक्रय दोनो मे ही सहायता पहुँचाते हैं।

(३) मध्यस्थ विज्ञापन द्वारा निर्मित वस्तुओ की माँग मे वृद्धि करते हैं—इस प्रकार वस्तुओ के विक्रय के लिए उत्पादको को विशेष चिन्ता नही करनी पडती और वे निश्चित होकर केवल निर्माण की ओर अपनी समस्त शक्तियो का सदुपयोग कर सकते हैं।

(४) मध्यस्थ उत्पादको को वस्तुओ की माँग मे परिवर्तन से परिचित रखते है—यही नही, वस्तुओ के बीमा आदि मे भी वे उन्हे सहायता पहुँचाते है।

(५) मध्यस्थ उत्पादको को (मुख्यतः कृषको को) उनके उत्पाद का उचित मूल्य दिलाने मे सहायक होते है।

(६) अन्त मे उपभोक्ताओ को भी अपनी आवश्यकताओ की सन्तुष्टि मे इनसे बडी सहायता मिलती है—फुटकर व्यापारी उपभोक्ताओं की आवश्यकतानुसार ही थोक व्यापारियो से माल खरीदते हैं और अपने ग्राहको के स्थान तक माल पहुँचाने आदि मे भी सहायक होते हैं।

अतः स्पष्ट है कि वर्तमान प्रगतिशील जगत मे मध्यस्थगण एक सराहनीय सेवा करते हैं, यद्यपि विभागीय भण्डार तथा बहुशाखा प्रणाली की उत्पत्ति द्वारा मध्यस्थो को हटाने के प्रयत्न किए गये हैं, किन्तु इस कार्य मे इन संस्थाओ को पूर्ण सफलता नही मिली है। यह डंके की चोट पर कहा जा सकता है कि जब तक समस्त उत्पादक थोक व फुटकर व्यापारी के सारे कार्य अपने ऊपर न ले लें, जो प्राय असम्भव है, तब तक मध्यस्थो का स्थान अति आवश्यक है, अतएव मध्यस्थो को जड मे नहीं उखाडा जा सकता, क्योकि इससे उत्पादको, कृषको तथा उपभोक्ताओ, तीन पक्षकारो को हानि होने की आशङ्का है। मध्यस्थो के सम्बन्ध मे कृषि के शाही कमीशन

(Royal Commission on Agriculture) के निम्न शब्द नोट करने योग्य हैं :—

"उन्नति की दृष्टि से वर्तमान क्रय-विक्रय की व्यवस्था मे किसी इकाई के नष्ट करने की आवश्यकता नही है, परन्तु हमको तो समस्त इकाइयों को अधिक लाभपूर्ण कार्य मे लगाना है, अतएव हमारी कोई ऐसी सम्मति नही है जिससे मध्यस्थों को पूर्णतया नष्ट किया जा सके। वर्तमान व्यापार मे मध्यस्थ अनेक सेवायें प्रदान करते हैं तथा भारत अथवा किसी भी अन्य देश मे यह सम्भव नही है कि मध्यस्थो को जड़ से उखाड़ा जा सके। वस्तुओं का एकत्रित करना व विभिन्न स्थानो के अनुसार उनका वर्गीकरण करना तथा माँग व उत्पादन का परस्पर सम्बन्ध रखने आदि के कार्य अत्यन्त कठिन हैं, जिनका निष्पादन बिना मध्यस्थो के सहयोग के असम्भव है। भारत जैसे देश मे, जहाँ यातायात के साधन अधिक उन्नत दशा मे नही हैं, जहाँ उत्पादन प्रायः छोटे-छोटे उत्पादको द्वारा किया जाता है तथा जहाँ के व्यापारियो मे आर्थिक क्षमता बहुत कम है, ये कठिनाइयाँ सबसे अधिक हैं।

मद्रास बैंकिंग जाँच कमेटी का दृष्टिकोण उपर्युक्त विचारधारा के विपरीत है। इसके मतानुसार :—"मध्यस्थों की सख्या बहुत अधिक है तथा उनका कुछ भी महत्व नही है। यद्यपि मध्यस्थो द्वारा लिया जाने वाला कमीशन अनुचित नही कहा जा सकता, किन्तु उनका कार्य सन्तोषजनक नही है, अतएव यदि वर्तमान कार्य प्रणाली को बदल कर मध्यस्थो की सख्या कम कर दी जाय तो हानि की कोई सम्भावना नही। उनकी सख्या कम की जा सकती है एव उनके कार्य भी सीमित किये जा सकते हैं।" अत. स्पष्ट है कि मध्यस्थो का पूर्णरूपेण विनाश करना असम्भव है। उनका महत्वपूर्ण स्थान आधुनिक व्यापारिक जगत मे स्थिर है तथा भविष्य में भी रहेगा।

देशी व्यापार मे सलग्न मध्यस्थो को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है :—

(१) थोक व्यापारी। (२) फुटकर व्यापारी।

प्रस्तुत पुस्तिका मे हम इन्ही के व्यापार-गृहो के आन्तरिक सगठन पर प्रकाश डालेंगे।

थोक व्यापार

(Wholesale Trade)

थोक व्यापारी कौन है ?—

थोक-व्यापारी से आशय ऐसे व्यापारी का है, जो पहले उत्पादको से अधिक मात्रा मे वस्तुएँ खरीद लेता है और फिर उन्हे फुटकर विक्रेताओं को थोडी-थोडी मात्रा मे बेचा करता है। वास्तव मे थोक व्यापारी न तो निर्माता ही है और न फुटकर विक्रेता ही, वरन् वह दोनो के मध्य की कडी है। अन्य शब्दो मे, इस प्रकार भी कह सकते है कि वह उपभोक्ता एव निर्माता के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मध्यस्थ

के रूप मे कार्य करता है। एक थोक व्यापारी मुख्यत. किसी विशेष वस्तु का ही व्यापार करता है। इसके विपरीत एक फुटकर व्यापारी अपनी दूकान मे नाना प्रकार की वस्तुएँ रखता है। उपर्युक्त परिभाषा ने एक थोक-व्यापारी के निम्न लक्षरण स्पष्ट हैं :—

थोक व्यापारी के लक्षरण—

(१) थोक व्यापारी बडी मात्रा मे वस्तुयें खरीदता या वेचता है।

(२) वह कुछ वस्तुओ मे ही व्यापार करता है।

(३) वह छोटे-छोटे दुकानदारो, को जिन्हे फुटकर व्यापारी कहते हैं, माल बेचता है।

एक थोक व्यापारी के कार्यों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

(अ) कृषि व औद्योगिक पदार्थों को देश के विभिन्न भागो से एकत्रित करके उन्हे फुटकर व्यापारियो तक पहुँचाना—इसे देशीय थोक व्यापार कहते हैं।

(ब) देश मे आवश्यकता से अधिक उत्पन्न किये हुए माल को खरीदना तथा विदेशो मे उसके विक्रय की व्यवस्था करना—इसे विदेशी व्यापार कहते हैं।

(स) अन्य देशो से उन वस्तुओ को खरीदकर देश मे भेजना, जिनकी उस देश मे कमी होने के कारण अति आवश्यकता है।

(द) उत्पादक व फुटकर व्यापारी तथा देश व विदेशो के बीच मध्यस्थ के रूप मे काम करना।

थोक व्यापारियों के गुरा—

उपर्युक्त कार्यों का विधिपूर्वक सम्पादन करने के लिए एक थोक व्यापारी मे निम्न गुणो का होना आवश्यक है :

(१) उनको उन वस्तुओ के विषय मे पूर्ण परिचय प्राप्त होना चाहिए, जिनमे वह स्वयं व्यापार करता है।

(२) उसे समय समय पर फुटकर व्यापारियो तथा उपभोक्ताओ के सम्पर्क द्वारा उनकी आवश्यकताओ का ज्ञान करके उत्पादको को विभिन्न आवश्यकताओ से सचेत करते रहना चाहिए।

(३) उसे नई-नई व्यापार पद्धतियो का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, जिसके द्वारा वह अपने कार्य का निष्पादन कुशलता एव शीघ्रता से कर सके।

(४) उसको नई वस्तुओ के उत्पादन व उनकी मांग के क्षेत्र का ध्यान रखना चाहिए।

(५) उसके पास अधिक पूँजी भी होना अति आवश्यक है, अन्यथा वह बडी मात्रा मे क्रय न कर सकेगा।

थोक व्यापारी की सेवायें—

जैसा हम ऊपर सकेत कर चुके है, थोक-व्यापारी उत्पादको तथा फुटकर

विक्रेताओ के मध्य की एक शृंखला है। अब हमे यह देखना है कि थोक व्यापारी इनको किस प्रकार सहायता पहुँचाता है ?

उत्पादक के प्रति सेवायें—

(१) **कच्चे माल का संग्रह करना**—उत्पादको को कच्चा माल संग्रह नही करना पडता, क्योकि यह कार्य थोक-व्यापारी करते हैं, अत. उत्पादक को कच्चे माल के संग्रह मे अपनी पूँजी नही फँसानी पडती और उतनी पूँजी अधिक उत्पादन मे लगाई जा सकती है अथवा उतनी कम पूँजी से ही निर्माताओ का काम चल सकता है।

थोक व्यापारियों की सेवायें

(I) उत्पादको के प्रति—

(१) कच्चे माल का संग्रह करना।
(२) निर्माताओ को आर्थिक सहायता देना।
(३) वस्तु का बहुत विज्ञापन करना।
(४) बडे पैमाने पर आदेशो का संग्रह करना।
(५) माँग के विषय मे सूचना देना।
(६) विक्रय संगठन की सुविधा देना।
(७) फुटकर व्यापारियो व उत्पादको के बीच कडी का काम करना।

(II) फुटकर व्यापारियो के प्रति—

(१) आवश्यकतानुसार मात्रा मे माल का विक्रय।
(२) ग्राहको की रुचि के अनुसार माल लेने मे सुविधा।
(३) निर्मित वस्तुओ सम्बन्धी सूचना।
(४) पैकिंग आदि की सुविधायें।
(५) विज्ञापन की सुविधा।
(६) मूल्य मे स्थिरता को बढावा।

(III) समाज के प्रति—

(१) उपभोक्ताओ की रुचि के अनुकूल वस्तुये मिलना।
(२) विशिष्टीकरण को बढावा, जिससे मूल्यो मे कमी होती है।
(३) माग एव पूर्ति के समायोजन द्वारा मूल्यो का स्थायित्व।

(२) **निर्माताओ की आर्थिक सहायता**—बहुधा थोक व्यापारी निर्माताओ की आर्थिक सहायता भी करता है। सामान को खरीद कर संग्रह करने मे थोक व्यापारी विपणन की जोखिम भी उठाते हैं। मूल्य घटने-बढने, फैशन बदलने, सामान खराब होने आदि का जोखिम इन्ही पर होता है। निर्माताओ को यह जोखिम नही उठानी पडती।

(३) **वस्तु का बहुत विज्ञापन**—थोक-व्यापारी व्यापार को बढाने के लिए वस्तु का खूब विज्ञापन करते है। इस हेतु वे विक्रेताओ की एक श्रेणी रखते हैं, जो चारो ओर घूम-घूम कर आदेश इक्ट्ठा करते है। इस प्रकार उत्पादको का विज्ञापन स्वत. हो जाता है। इसके अतिरिक्त थोक-व्यापारी उन आदेशो को एकत्रित करके निर्माताओ के पास भेज देते हैं। बहुत बडी मात्रा मे आदेश पाने पर वे लोग बडे पैमाने पर वस्तुयें बना कर व्यय मे मितव्ययिता करा सकते है।

(४) **बडे परिमाण मे आदेशो का संग्रह**—थोक-व्यापारी अपने फुटकर विक्रेताओ से बडे परिमाण मे विभिन्न वस्तुओ के आदेश प्राप्त करता है, जिनका समुचित वर्गीकरण करके वह उन आदेशो

को विभिन्न निर्माताओं के पास—जो जिस कार्य में अधिक कार्यक्षम है—भेजता है, जिससे प्रत्येक निर्माता किसी न किसी विशेष प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन में विशेषीकरण (Specialisation) करता है तथा उसी वस्तु का उत्पादन करने को प्रवृत्त होता है, जिसमें वह अधिक कार्यक्षम है।

(५) माग के विषय में सूचना—सदैव उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि फुटकर व्यापारियों के सम्पर्क में रहने के कारण थोक-व्यापारी उपभोक्ताओं की परिवर्तित माँगों से परिचित रहता है और उत्पादक को उपभोक्ताओं की माग के विषय में समय-समय पर सूचना पहुँचाता रहता है। यही नहीं कौनसी विशेषताओं का माल किन विपणियों में बिकेगा, इसका परिचय भी वह निर्माताओं को देता है, जिससे वे विशिष्ट प्रकार का माल निर्माण करने में सफल होते हैं। विपणियों का विस्तार होने के कारण यह कार्य उत्पादकों के लिए असम्भव है।

(६) विक्रय सगठन की सुविधा—समस्त माल के निर्माण के बाद थोक-व्यापारी उसको खरीद लेते है, अतएव उत्पादकों को अपना विक्रय-सगठन नहीं रखना पड़ता, जिससे विज्ञापन आदि में उन्हें अधिक व्यय नहीं करना पड़ता और न उन्हें विक्रय कला की प्रवीणता ही आवश्यक होती है। उत्पादक को साख आदि के लिए अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि विशेषतः थोक-व्यापारी रोक-क्रय (Cash Purchase) ही करते हैं।

(७) फुटकर व्यापारियों व उत्पादकों के बीच कड़ी का काम—थोक-व्यापारी उत्पादक तथा फुटकर व्यापारी के बीच मध्यस्थ का कार्य करके परस्पर सम्पर्क स्थापित करता है।

फुटकर व्यापारी के प्रति सेवायें—

(१) आवश्यकतानुसार फुटकर व्यापारियों को विक्रय—फुटकर व्यापारियों के पास प्रायः धन का अभाव रहता है, अत. सीमित पूंजी होने के कारण वे बड़ी मात्रा में माल का सग्रह नहीं कर सकते। वे तो आवश्यकतानुसार समय-समय पर माल खरीदते रहते है और जो माल बिक जाता है, उसकी जगह पुनः माल खरीदते हैं। ऐसी परिस्थिति में थोक व्यापारी इनकी सहायता करते हैं। थोक व्यापारियों के पास माल का सग्रह रहता है, जिसे वे आवश्यकतानुसार फुटकर व्यापारियों को देते रहते है। यही नहीं, साख सुविधायें भी य अपने स्थाई ग्राहकों को देते रहते है, जिससे फुटकर व्यापारियों को अतिरिक्त पूँजी की आवश्यक्ता नहीं रहती।

(२) ग्राहकों की रुचि के अनुसार वस्तुयें खरीदने में सुविधा—यदि फुटकर व्यापारी प्रत्यक्ष रूप से उत्पादकों से ही माल खरीद तो उन्हें विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न उत्पादकों के पास जाना पड़ेगा। उत्पादकों की वस्तुओं का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद वे यह निश्चय कर सकेंगे कि अमुक वस्तु कहाँ से

खरीदनी चाहिए, परन्तु थोक विक्रेता के पास विभिन्न निर्माताओं की वस्तुओं का संग्रह होता है, जहाँ वह अपने ग्राहकों की रुचि की वस्तुयें सुविधापूर्वक खरीद सकता है।

(३) निर्मित वस्तुओं सम्बन्धी सूचना—थोक व्यापारियों को विभिन्न उत्पादकों का अनुभव होता है एवं निर्मित वस्तुओं के विषय में पूर्ण सूचना रहती है। इस अनुभव का उपयोग फुटकर विक्रेताओं को अनायास ही मिलता रहता है।

(४) पैकिङ्ग आदि की सुविधायें—विक्रय के अयोग्य अनेक वस्तुओं को विक्रय योग्य बनाने में थोक-व्यापारी फुटकर व्यापारी की बड़ी सहायता करते हैं। प्रायः माल को छाँटने, एकत्रित करने व डिब्बों में भरने अथवा बाँधने आदि का कार्य थोक-व्यापारी को स्वयं करना पड़ता है, अनतव फुटकर व्यापारी इन आपत्तियों से बच जाता है। उसके लिये केवल माल बेचने का कार्य ही शेष रह जाता है।

(५) विज्ञापन की सुविधा—यही नहीं, थोक-व्यापारियों द्वारा किये हुए विज्ञापन से भी फुटकर व्यापारियों को लाभ होता है और उनको विज्ञापन व्यय अधिक नहीं करना पड़ता।

(६) मूल्य में स्थिरता को बढ़ावा—थोक-व्यापारी अपने निर्माण क्षेत्र में माँग एवं पूर्ति का समायोजन कर मूल्यों में स्थायित्व रखता है, जिससे फुटकर व्यापारी की मूल्यों के उच्चावचन (Rise and Fall) से होने वाली सम्भाव्य हानियों से रक्षा होती है।

समाज के प्रति सेवायें—

इसके अतिरिक्त थोक व्यापारियों से सामान्य जनता को भी लाभ पहुँचता है। (i) बहुधा थोक विक्रेताओं के अभाव में फुटकर व्यापारियों को वस्तुओं की पूर्ति उपभोक्ताओं की रुचि के अनुसार करना कठिन हो जाता है। (ii) थोक व्यापारी वस्तुओं के विपणन में सहयोग देता है तथा विशिष्टीकरण की ओर उत्पादक को प्रवृत्त करता है, जिससे बड़ी मात्रा में उत्पादन सम्भव होकर मूल्य भी कम होते हैं। परिणामस्वरूप जनता को यथासमय एवं यथास्थान आवश्यकता की वस्तु कम मूल्य पर मिल जाती हैं। (iii) अन्त में वह माँग एवं पूर्ति के समायोजन द्वारा मूल्यों को स्थायित्व प्रदान करता है, जिससे एक निश्चित वेग से औद्योगीकरण होता है एवं समाज भी लाभान्वित होता है।

क्या थोक विक्रेता आवश्यक है ?

थोक विक्रेता आवश्यक नहीं है—

वर्तमान युग में कुछ व्यक्तियों की सम्मति यह है कि थोक-व्यापारी विपणन की शृङ्खला में एक अनावश्यक कड़ी है। इस विचारधारा को बल देने वाले अनेक कारण हैं :—

(१) वस्तुओं के मूल्य में बहुत वृद्धि के कारण सबके संशय का पात्र—इन मध्यस्थों के कारण प्रायः वस्तुओं के मूल्य में अत्यन्त वृद्धि होती जा रही है। आजकल हम सर्वत्र देखते हैं कि जिस मूल्य पर उत्पादक के यहाँ से वस्तुयें चलती हैं और जिस मूल्य पर वे उपभोक्ताओं को मिलती हैं, उसमें काफी अन्तर होता है। विभिन्न थोक-व्यापारियों के हाथ से वस्तु निकलने के कारण उनके कमीशन के कारण वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है, जिसका भार अन्त में बिचारे उपभोक्ताओं का ही उठाना पड़ता है। यही कारण है कि थोक व्यापारी को उत्पादक, फुटकर व्यापारी तथा ग्राहक सभी संशय की दृष्टि से देखते हैं।

(२) उपभोक्ताओं एवं फुटकर विक्रेताओं से निर्माताओं के सीधे सम्बन्ध की स्थापना—थोक व्यापारी की अवहेलना का प्रधान कारण फुटकर व्यापारी व उत्पादक का परस्पर विद्रोह है। फुटकर व्यापारी तो यह सोचता है कि उत्पादक तथा उपभोक्ता के बीच मूल्य का जो अन्तर है उसका बहुत थोड़ा भाग उसे मिलता है और अधिकांश भाग प्रायः थोक विक्रेताओं की जेब में जाता है। यही कारण है कि फुटकर व्यापारी स्वयं अधिक लाभ कमाने की आकांक्षा में उत्पादक से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इसके अतिरिक्त यातायात एवं सन्देशवाहन की सुविधाओं के कारण निर्माताओं का सम्बन्ध सीधे उपभोक्ताओं से स्थापित होता जा रहा है।

क्या थोक विक्रेता आवश्यक है ?

आवश्यक नहीं है, क्योंकि—

(१) वस्तुओं के मूल्यों में उसके कारण वृद्धि होती है।
(२) फुटकर व्यापारी उत्पादकों से सम्पर्क बढ़ा रहे हैं।
(३) निर्मातागण स्वयं अपने डिपार्टमेंटल भण्डार खोलते जा रहे हैं।
(४) सहकारिता आन्दोलन उन्नति कर रहा है।
(५) प्रमापीकरण के कारण वस्तुओं को देखना आवश्यक नहीं रहा है।

आवश्यकता है क्योंकि—

उपभोक्ता वस्तु को प्रत्यक्ष देखे बिना हिचकिचाते हैं।
(२) उनकी मानसिक प्रवृत्ति का अध्ययन थोक व्यापारियों द्वारा सम्भव है।
(३) भावी माँग का अनुमान लगाने में थोक व्यापारी सहायक होते हैं।
(४) वे निर्माता को विशिष्टीकरण के लिये प्रेरित करते हैं।
(५) निर्माताओं को स्वयं साख सुविधा नहीं देनी पड़ती है।
(६) फुटकर व्यापारियों को थोक व्यापारियों से अनेक सुविधायें मिलती हैं।

(३) निर्माताओं द्वारा अपनी डिपार्टमेंटल दुकानें खोलना—निर्मातागण स्वयं भी अपनी वस्तुओं को बेचने के लिए दुकान खोलने लगे हैं। उदाहरणार्थ, जे०

सी० मिल्स की ग्वालियर, लश्कर मे फुटकर दूकान, दिल्ली क्लॉथ मिल की कानपुर, दिल्ली, लखनऊ, इन्दौर आदि नगरो मे अथवा एलगिन मिल्स की फुटकर दुकानें।

(४) **सहकारिता आन्दोलन की उन्नति**—सहकारिता आन्दोलन थोक विक्रेताओ से पूर्णत. स्वतन्त्र होकर कार्य कर रहा है। इसी प्रकार डाक द्वारा व्यापार भी आज-कल बडी मात्रा मे हो रहा है।

(५) **वस्तुओ को प्रत्यक्ष रूप से देखने की आवश्यकता न रहना**—फिर वस्तुओ के प्रमापीकरण एव श्रेणीयन के कारण उपभोक्ताओ को वस्तुओ को प्रत्यक्ष रूप से देखने की आवश्यकता भी नही रही है। केवल विज्ञापन द्वारा ही वस्तु की पूर्ण कल्पना की जा सकती है।

थोक विक्रेता आवश्यक है—

इन सभी कारणो मे थोक विक्रेताओ को हटाने की प्रवृत्ति जाग्रत हो रही है, परन्तु विरोध मे आन्दोलन होने पर भी थोक व्यापारी जीवित हैं। जीवित इसलिए हैं कि इनको किसी प्रकार भी नष्ट करना असम्भव है, क्योकि इनके कार्यों का विस्तार एक फुटकर व्यापारी या निर्माता से कही अधिक है।

(१) **वस्तु बिना देखे क्रय करने मे उपभोक्ता को हिचकिचाहट**—वास्तव मे आज कोई भी देश इस स्थिति तक नही पहुँच सका है कि थोक व्यापारियों के अभाव मे वह निर्मित वस्तुओ को प्रत्यक्ष उपभोक्ताओ के घर तक सुगमता से पहुँचा सके। प्रमापीकरण का इतना बोल-बाला होते हुये भी उपभोक्ता बिना वस्तु को देखे हुए उसे खरीदने मे हिचकिचाता है।

(२) **निर्माता द्वारा ग्राहको की मानसिक प्रवृत्ति का अध्ययन सम्भव नही**—जैसा हम ऊपर सकेत कर चुके हैं कि वस्तुओ के क्रय के सम्बन्ध मे उपभोक्ताओ की एक विशेष मानसिक प्रवृत्ति होती है, जो भिन्न भिन्न विपणि मे भिन्न-भिन्न होती है। इसका अध्ययन प्रत्येक निर्माणकर्त्ता के लिए करना सम्भव नही।

(३) **भावी माग का अनुमान थोक व्यापारियो द्वारा ही सभव**—निर्माता भविष्य के लिए उत्पादन करता है, जिसका निश्चित अनुमान उसे थोक व्यापारियो द्वारा ही होता है, क्योकि इनका विक्रय सगठन अत्यन्त निपुण एव विस्तृत होता है।

(४) **विशिष्टीकरण की प्रेरणा थोक व्यापारी से**—वह विभिन्न विपणियो के सम्पर्क मे होने से विशिष्टीकरण करने के लिये उत्पादको को प्रवृत्त करता है तथा इन्हे विभिन्न बाजारो की सूचनाओ तथा भावी माँग की परिस्थिति से परिचित कराता है। उत्पादको के लिए यह कार्य सम्भव नही।

(५) **थोक व्यापारियो द्वारा साख आदि की सुविधायें मिलना**—थोक व्यापारी के अभाव मे उत्पादक को स्वय माल का सग्रह करना पडेगा तथा फुटकर व्यापारियो को साख सुविधायें भी देनी पडेगी, जिसके लिए उसे अधिक पूँजी की आवश्यकता रहेगी। यह धन अधिक उपयोगी कार्यों मे लगाया जा सकता है।

(६) फुटकर व्यापारियों को असुविधा—फुटकर व्यापारी भी अपनी सीमित पूँजी के कारण माल का संग्रह न कर सकेंगे। बिना साख सुविधा के वे अपना व्यापार भी सुचारु रूप से संचालित नहीं कर सकते।

निष्कर्ष—

अतः चाहे थोक विक्रेताओं के उन्मूलन से लाभ ही क्यों न दिखाई देता हो, किन्तु इनको जड़ से उखाड़ना किसी भी दृष्टि से वाँछनीय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विनाशशील वस्तुओं के निमित्त निर्माता तथा फुटकर विक्रेता दोनों के लिये थोक व्यापारी का होना आवश्यक है। हाँ, इनकी अधिकता को अवश्य कम किया जा सकता है, जिसके लिये निर्माताओं तथा फुटकर व्यापारियों दोनों को संगठित प्रयत्न करना चाहिए।

थोक व्यापार का संगठन

थोक व्यापार का संगठन उसकी आकृति, उसके व्यापार एवं कारोबार पर निर्भर करता है। इस सम्बन्ध में निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

(I) व्यापार करने का स्थान—

थोक व्यापारी के लिए व्यापार करने का स्थान अधिक महत्व नहीं रखता, क्योंकि उसे उपभोक्ताओं से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रखना पड़ता। उसका सम्बन्ध तो केवल फुटकर व्यापारियों से होता है अथवा उत्पादकों से। (i) अतः व्यापार के स्थान का चुनाव करते समय उसे इस बात का ध्यान करना चाहिये कि वह स्थान ऐसा हो जहाँ फुटकर व्यापारी सुगमता से पहुँच सकें एवं वह (थोक व्यापारी) उत्पादकों से सुगमता से माल का संग्रह कर सके। इस दृष्टि से थोक व्यापार के लिये शहर के व्यापारिक केन्द्र में स्थान होना चाहिये। (ii) एक फुटकर व्यापारी के लिये पूर्ण सुसज्जित भवन की आवश्यकता होती है एवं वस्तुओं की सज-धज पर विशेष ध्यान देना पड़ता है, क्योंकि उसे सभी प्रकार के लोगों को आकर्षित करना पड़ता है। इस दृष्टि से फुटकर व्यापारी का व्यापार का स्थान ऐसी जगह पर होना चाहिये जहाँ से उसका स्थान जनता की दृष्टि में रहे, और यही नहीं, उसे दुकान की सज-धज पर भी अधिक ध्यान देना पड़ता है, अतः फुटकर व्यापारी का स्थान यदि चौराहे पर अथवा दो मार्गों के संयोग पर हो तो अच्छा है, किन्तु इसके विपरीत एक थोक व्यापारी के लिए इतनी सज-धज एवं आकर्षण की आवश्यकता नहीं रहती। (iii) उसे अपनी विक्रय-वस्तुओं का एक छोटा सा दर्शनीय कमरा (Show Room) रखना चाहिए, जिसमें उन वस्तुओं का प्रदर्शन होना चाहिए, जिनमें वह व्यापार करता है।

(II) व्यापार का आन्तरिक संगठन—

व्यापार आरम्भ करने के लिये पूँजी की भी आवश्यकता होती है, जिसका

नियोजन व्यापारी को अपनी आवश्यकतानुसार करना चाहिए। व्यापार का स्थान एव पूँजी प्राप्त कर लेने के पश्चात् थोक व्यापारी को अपने व्यापार का आन्तरिक सगठन करना चाहिये, क्योकि आन्तरिक सगठन पर ही उसके व्यापार की कार्यक्षमता एव यशस्विता निर्भर करती है। इस सम्बन्ध मे उसको क्रय एव विक्रय व्यवहार, प्राप्ति एव सग्रह तथा साख आदि की समुचित व्यवस्था करनी पड़ती है। इन समस्त *क्रियाओ का विभाजन हम दो बड़े भागो मे कर सकते हैं, क्रय विभाग एव विक्रय* विभाग। इन दोनो विभागो के व्यवस्थित सगठन एव सचालन पर ही व्यापार की कार्यक्षमता निर्भर करती है, अतएव अब हम इन्ही विभागो की कार्य प्रणाली पर गम्भीरता से प्रकाश डालेगे।

(१) क्रय-विभाग—

(i) क्रय एव विक्रय विभाग मे परस्पर सम्बन्ध होना अति आवश्यक है, क्योकि विक्रय विभाग से ही इस बात का निश्चय ज्ञान हो सकता है कि किन-किन वस्तुओ की माँग अधिक है और वे कैसी हो। (ii) क्रय विभाग को अपनी अर्थव्यवस्था का भी पूर्ण ध्यान रखना चाहिये, जिससे कि वस्तुओ का अनुचित सग्रह न हो। (iii) क्रय *विभाग का व्यवस्थापक एक योग्य एव अनुभवी व्यक्ति होना चाहिए। क्रय नीति की* सफलता इसी पर निर्भर करती है। अतएव क्रय विभाग का प्रमुख एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसे विभिन्न बाजारो का समुचित ज्ञान हो एव जो यह निर्णय कर सके कि श्रेष्ठतम वस्तुयें न्यूनतम मूल्य पर कहाँ उपलब्ध होगी। इसके साथ ही, उसे व्यापारिक अवस्था का अच्छा ज्ञान होना चाहिए, जिससे वस्तु की माँग के अनुसार उनका क्रय एव सग्रह किया जा सके। (iv) वस्तु की माँग मे ऋतु के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं *तथा फैशन का भी माँग पर गहरा प्रभाव पड़ता है,* इसलिये ग्राहको की रुचि के अनुसार तथा ऋतु को देखते हुए आवश्यकतानुसार वस्तुओ का क्रय तथा संचय करना ही व्यापारिक क्रय नीति की सफलता का द्योतक है। (v) वस्तुओ का क्रय भी इतने परिमाण में किया जाय कि जिससे वे अधिक काल तक भण्डार गृह मे न पड़ी रहे। किसी ऋतु विशेष के लिए किस परिमाण मे वस्तुओ का सग्रह किया जाय, इसका निश्चय गत वर्ष के विक्रय से सम्बन्धित आँकडो द्वारा करना चाहिए तथा इस सम्बन्ध मे विक्रय विभाग के व्यवस्थापक के सहयोग से कार्य करना चाहिए।

क्रय-पद्धति—

वस्तुओ को क्रय करने के सम्बन्ध मे भी अधिक सावधानी की आवश्यकता है। (i) कौन सी वस्तुयें कहाँ से एव कितनी मात्रा मे क्रय की जायें, इसका अनुमान लगाने के बाद विभिन्न निर्माताओ को आदेश भेजने पड़ते हैं। यह कार्य विभाग के प्रमुख के परामर्श एव सूचना के अनुसार क्रय विभाग के कर्मचारियो द्वारा किया जाता है। (ii) क्रय विभाग का यह मूल सिद्धान्त होना चाहिये कि भण्डार मे पर्याप्त मात्रा मे वस्तुओ का संग्रह रहे। हाँ, माँग से अधिक वस्तुएँ खरीदना ठीक नही होता।

अधिक वस्तुएँ न खरीदी जाये, इसके लिये अपने भडार की सदैव निगरानी रखनी चाहिये। वस्तुओ का क्रय सतत बनाये रखने के लिए अधिक संग्रह करने से बचना चाहिए। (iii) एक निश्चित अवधि के पश्चात् समय-समय पर भण्डार की वस्तुओ की गणना भी करते रहना चाहिए। ऐसा करने से यह ज्ञात हो जाता है कि कौनसी वस्तु समाप्त हो गई है। (iv) बहुधा व्यापार मे वस्तु की समाप्ति पर यह कहना 'शीघ्र आ रही है' अथवा 'कल तक आ जायगी' या अन्य किसी प्रकार क्षमा याचना करना अधिक हानिकारक होता है, इसलिए वस्तु की समाप्ति के पूर्व ही उसे भण्डार मे मँगा लेना चाहिए। (v) बड़े-बड़े थोक विक्रेता माल मँगाने से पूर्व विभिन्न निर्माताओ से माल की कीमतें, भेजने की शर्तें आदि के विषय मे पहले पत्र व्यवहार द्वारा सूचनायें प्राप्त करते हैं, जिनका विश्लेषण क्रय विभाग के कर्मचारी करते हैं। जिस निर्माता से माल सस्ता एव सुविधाजनक शर्तों पर मिलता है, प्राय: उसी को आदेश दिया जाता है। (vi) आदेश भेजने के लिये मुद्रित आदेश पुस्तकें रहती हैं। जब कभी आदेश भेजा जाना है तो उसकी तीन प्रतिलिपियाँ की जाती है, जिनमें से मूल प्रतिलिपि निर्माता के पास भेज दी जाती है तथा शेष दो प्रतिलिपियो मे से एक प्रति भण्डार विभाग को भेज दी जाती है, जिससे वह विभाग माल आने पर उसका मिलान बीजक के साथ कर ले तथा उसका भुगतान करने के लिये उसे लेखा-कर्म विभाग को भेज दे और तीसरी प्रतिलिपि क्रय विभाग मे ही भविष्य के सन्दर्भ के लिये रखी जाती है। आदेश देते समय वस्तुओ की सख्या, गुण, भेजने की शर्तें आदि का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए, जिससे भविष्य मे अनावश्यक पत्र-व्यवहार न हो।

वस्तुओ की प्राप्ति—

वस्तुओ को प्राप्त करने के लिए अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता होती है, क्योकि उन्हें लाने मे भी पर्याप्त व्यय होता है। (i) वस्तुओ के आ जाने पर बीजक मे उनका भली प्रकार मिलान करना चाहिए और किसी त्रुटि की दशा मे तुरन्त सूचना भेज कर स्पष्टीकरण तथा सशोधन करा लेना चाहिए। बीजको को लेखा विभाग (Account Department) मे भेजने से पूर्व उनमे लिखी हुई वस्तुओ की सख्या, गुण, मूल्य आदि का पूर्णतः परीक्षण करना चाहिये। (ii) तत्पश्चात् प्राप्ति लिपिक (Receipt Clerk) वस्तुओ को कोठारी अथवा भण्डारी (Store keeper) के पास सग्रह के लिए भेज देगा, जो उसका मिलान करके यथाविधि सग्रह कर लेगा। (iii) इसके बाद भण्डारी बीजक एव आदेश को अपने हस्ताक्षर सहित लेखापाल के पास भेजेगा, जो उसका भुगतान करेगा। (iv) भुगतान करने के पूर्व प्रत्येक बीजक को लेखापाल क्रय विभाग से प्रमाणित करा लेगा कि वह नियमित है अथवा नही। (v) अन्त मे बीजक उपयुक्त फाइल मे भविष्य के सन्दर्भ के लिये नत्थी कर दिया जायगा।

वस्तुओं का संग्रह—

भण्डार मे वस्तुएँ एक निश्चित क्रम मे रखना चाहिए। (i) आये हुए माल को

भण्डार मे इस प्रकार रखना चाहिए कि वह खराब न हो तथा पहले आया हुआ माल पहले ग्राहकों के पास भेजना चाहिए अर्थात् नये स्टाक के पहले पुराने स्टॉक को खाली करते रहना चाहिए। (ii) कोठरी से आये हुए माल के सम्बन्ध मे एक Stores Register रखना चाहिए, जिसमे माल की प्राप्ति की संख्या एवं मूल्य, बिका हुआ माल तथा शेष माल के लिए अलग अलग कॉलम होने चाहिये। इस रजिस्टर की सहायता से उसे कोई भी सूचना किसी भी समय सुगमता से मिल सकती है। (iii) जिन थोक-व्यापारियो के पास विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का संग्रह अधिक परिमाण मे होता है वे प्रायः Card Index Cabinet का प्रयोग करते है, जिसमे विभिन्न वस्तुओ के लिये अलग-अलग कार्ड होते हैं तथा उनको देखने से यह सुगमता से ज्ञात किया जा सकता है कि अमुक वस्तु के स्टॉक की क्या दशा है।

(२) विक्रय विभाग—

एक थोक व्यापारी के प्रधान ग्राहक फुटकर-व्यापारी होते हैं, अत. उन्हे आकर्षित करने के लिये वह दो पद्धतियो को अपनाता है:—(i) अपने विक्रय प्रतिनिधियों (Sales Agent) द्वारा उनसे सम्बन्ध स्थापित करना और (ii) प्रत्यक्ष रूप से उनसे व्यवहार करना। अप्रत्यक्ष ढङ्ग से ग्राहको को आकर्षित करने के लिए जिन विक्रय प्रतिनिधियो की नियुक्ति की जाय वे योग्य, कार्यक्षम एवं विक्रय कला (Salesmanship) मे दक्ष होने चाहिये। पाश्चात्य देशो मे विक्रय प्रतिनिधियों को क्रियात्मक शिक्षा भी दी जाती है, जिससे वे योग्य, कुशल विक्रय प्रतिनिधि बन सके। हमारे देश मे बाटा शू कम्पनी तथा टाटा ऑइल मिल्स की ओर से इस प्रकार का आयोजन किया गया है। यहाँ विक्रय प्रतिनिधियो की नियुक्ति के पूर्व विभिन्न पद्धतियो से उनकी मानसिक प्रवृत्ति की परीक्षा ली जाती है तथा बाद मे उन्हे क्रियात्मक शिक्षा भी दी जाती है। ऐसे व्यक्तियो के लिए वाणिज्य शिक्षा (Commercial Education) का ज्ञान भी आवश्यक है। विक्रय प्रतिनिधियो का वेतन आदि भी केवल विक्रय पर ही निर्भर नही करता, वरन् कुल लाभ मे से दिया जाता है। इसका कारण यह है कि यदि वेतन केवल विक्रय पर ही अवलम्बित हो तो ये लोग लाभ की ओर ध्यान न देकर कम मूल्य पर भी बिक्री कर सकते है। इन पर पूर्ण नियन्त्रण रखने के लिए इनसे निश्चित अवधि पर बिक्री का हिसाब लेते रहना चाहिए।

दुकान की सजावट—

यद्यपि फुटकर व्यापारी की भांति थोक-व्यापारी का ग्राहको से वैयक्तिक सम्बन्ध नही होता (जिन्हे अपनी ओर आकर्षित करने के लिए बडे प्रयत्न करने पडते हों), किन्तु फिर भी फुटकर विक्रेताओ की सुगमता के लिये उसे एक दर्शनीय कमरा (Show Room) रखना चाहिये, जिसमे विभिन्न वस्तुओ को आकर्षक ढङ्ग से सुशोभित करना चाहिए। फुटकर व्यापारी बहुधा समय समय पर थोक विक्रेता के यहाँ आते रहते हैं तथा उसके दर्शनीय कमरे की वस्तुओं का निरीक्षण करके आदेश भी दे जाते

है। इस दृष्टि से फुटकर व्यापारियो के बैठने तथा ठहरने आदि की भी सुविधा रखना चाहिये।

विपणियो का आवन्टन—

बाहरी व्यापार के लिये विक्रेता प्राय. अपने भ्रमणकर्ताओ तथा विक्रय प्रतिनिधियो पर निभर करता है। प्रत्येक विक्रय प्रतिनिधि अथवा भ्रमणकर्त्ता को एक एक जिला अथवा राज्य का कुछ भाग प्रचार करने के लिए निश्चित कर दिया जाता है। भ्रमणकर्त्ता अपने अपने क्षेत्रो मे जाकर फुटकर व्यापारियो से आदेश प्राप्त करते हैं। भ्रमणकर्त्ता का प्रमुख कार्य अपने क्षेत्र के फुटकर विक्रेताओ के हृदय मे वस्तुओ के प्रति आकर्षण पैदा करना एव सन्तुष्ट ग्राहको का निर्माण करना होता है। वह वस्तुओ को भली प्रकार दिखाकर, नमूना या फैशन के बदलने का आश्वासन देकर तथा अच्छी तरह वस्तुओ का विज्ञापन करके उनकी माँग मे वृद्धि करते हुए ग्राहको की सेवा करता है। वह स्थाई ग्राहको से अपना सम्बन्ध स्थापित करता हुआ पुराने एवं छूटे हुए ग्राहको से भी अपना व्यवहार पुन. स्थापित करके का प्रयत्न करता है। व्यापार मे कभी-कभी ग्राहको की ओर से शिकायतें भी आती रहती हैं, जिनको सदैव नम्र व्यवहार से एव कुशलता से सन्तुष्ट करना चाहिये। प्रत्येक शिकायत की पूर्ण छान-बीन करके ग्राहको को शीघ्रातिशीघ्र एव सतोषप्रद उत्तर भेजना चाहिए, क्योंकि सन्तुष्ट ग्राहक विज्ञापन का सर्वश्रेष्ठ साधन है।

थोक-व्यापार का विज्ञापन—

विक्रय वृद्धि का प्रधान साधन विज्ञापन है। विज्ञापन प्राय समाचार-पत्रो, गश्ती-पत्रो, सूची-पत्रो तथा पोस्टरो या मूल्य पुस्तको आदि के द्वारा किये जाते हैं। इन विज्ञापनो से भ्रमणकर्ताओ को भी ग्राहको के समीप जाने मे सहायता मिल जाती है। बड़-बड़े थोक व्यापारियो के यहाँ प्रचार एव विज्ञापन विभाग पृथक होता है, जो कि सूची-पत्र, विज्ञापन पत्र आदि तैयार करता है।

चिह्नित वस्तुएं (Brand Goods)—

वर्तमान प्रतियोगिता के युग मे ट्रेड मार्क का होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, अतः व्यापारीगण विज्ञापन के पूर्व अपनी वस्तुओ के लिये किसी चित्र या चिन्ह को रजिस्टर्ड करा लेते हैं, जिसे ट्रेड मार्क कहते हैं। इसके द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक वस्तु अमुक व्यापारी की है। उदाहरण के लिए, स्वास्तिका ब्राण्ड साबुन, हथौड़ा एव चक्र ब्रांड, जे० के० गुड्स, गुरुदेव मार्का कापियां आदि। इन चिन्हो से विशेष लाभ यह होता है कि यदि कोई वस्तु जनता को अधिक प्रिय लगती है तो उस चिन्ह द्वारा अत्यधिक माँग बढ जाती है। ट्रेड मार्क का निर्धारण करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वे आकर्षक हो एव जिन्हे आसानी से याद रखा जा सके तथा जो अन्य चिन्हो से पृथक पहिचाने जा सकें। इन चिन्हो से थोक तथा फुटकर व्यापारी

दोनो को ही लाभ होता है। प्रमापिक (Standard) होने के कारण किसी भी पक्षकार को वस्तु के गुण के सम्बन्ध मे अधिक छानबीन नही करनी पडती। ट्रेड मार्क के उपयोग से निर्माता को विश्वास हो जाता है कि उसकी वस्तुओ का विक्रय होगा तथा वह उपभोक्ताओ का विश्वासपात्र हो जाता है। वस्तुओ का प्रमापीकरण होने से सभी विपणियो मे उसका समान मूल्य रखा जा सकता है, जिसका निर्धारण निर्माता स्वय करता है।

विक्रय नीति—

विक्रय-नीति भी सुदृढ एव निश्चित होनी चाहिये। वस्तुओ का मूल्य निर्धारित करते समय बडी सावधानी रखनी चाहिये। (i) मूल्य ऐसा हो जिसमे थोडा स्थायित्व हो। ग्राहको को आकर्षित करने के लिये समय-समय पर उनको उपहार देते रहना चाहिए तथा उत्सवो पर कम मूल्य मे विक्रय (Sale at Reduced Rates) का आयोजन होना चाहिये। (iii) साख नीति भी ऐसी होनी चाहिये जिससे न्यूनतम अशोध्य ऋण (Bad Debts) हो। (iv) वस्तुओ का पैकिंग भी देशी तथा अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति के अनुसार (जैसा आवश्यक हो) होना चाहिये। पैकिंग ऐसा किया जाय जिससे कि वस्तु सुगमता से दूसरे स्थान तक भेजी जा सके तथा मार्ग मे किसी प्रकार की खराबी न हो।

(३) साख विभाग एव साख नियन्त्रण—

वर्तमान व्यापारिक व्यवहारो मे बिना साख के अथवा बिना उधार दिये काम नही चल सकता, अतएव इस सम्बन्ध मे एक निश्चित नीति अपनानी चाहिये। ऐसी दशा मे किस राशि तक प्रत्येक ग्राहक को साख दी जाय, उसकी अधिकतम अवधि कितनी हो आदि बातो का निर्धारण यथाविधि कर लेना चाहिये। अधिक मात्रा तक साख न बढे तथा रोकड शीघ्र प्राप्त होती रहे, इसलिए व्यापारीगण प्राय रोक अपहार (Cash discount) देते है।

उधार माल बेचने मे कई बातो का ध्यान रखना चाहिये। जैसे, जिस ग्राहक को उधार माल दिया जाता है, उसके विषय मे यह पता लगाना चाहिए कि वह साख का दुरुपयोग तो नही कर रहा है तथा जो अवधि उसने निश्चित की है उसके भीतर ही वह भुगतान करता है ? इन प्रश्नो के हल के लिए प्रत्येक माह के अन्त मे ऐसे साख वाले व्यक्तियो का हिसाब छाटकर तैयार कर लेना चाहिए।

नये ग्राहक को साख सुविधा देने के पूर्व उसकी आर्थिक स्थिति के विषय मे खूब छान-बीन कर लेनी चाहिये। ऐसी दशा मे आर्थिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने की अनेक रीतियां हैं : (i) सर्व प्रथम तो अपने व्यापारी मित्र को, जो उसी नगर मे रहता हो, उस ग्राहक के विषय मे जानकारी प्राप्त करने के लिये लिखना चाहिये। यह बडा सरल एव श्रेष्ठ उपाय है। (ii) अपने सम्भाव्य ग्राहक से ऐसे दो व्यक्तियो के नाम पूछ लेना चाहिये जो उसी नगर मे रहते हो तथा जिनके द्वारा पूर्ण जानकारी मिल

सके। फिर उन व्यक्तियों (Referees) को गोपनीय पत्र लिखकर आर्थिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। (iii) सम्भाव्य ग्राहक के बैंकर्स के द्वारा भी उसकी आर्थिक स्थिति का पता लगाया जा सकता है। (iv) यदि वह ग्राहक किसी व्यापारिक संघ (Trade Association) का सदस्य है तो उस संघ द्वारा भी उसके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। (v) उन्नतिशील नगरों में कुछ ऐसी संस्थायें होती हैं (Information Bureaus) जो कुछ पारिश्रमिक लेकर किसी व्यापारी के विषय में जानकारी प्रदान करती हैं, अतः उनसे भी ऐसे ग्राहकों की साख के विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

प्रत्येक थोक व्यापारी के यहाँ एक साख विभाग होना है, जिसकी अनुमति से ही किसी ग्राहक का साख-लेखा खोला जाना है। प्रत्येक साख वाले ग्राहक के लेखे के ऊपर रुपये तथा समय की सीमा का स्पष्ट उल्लेख कर देना चाहिये। साख की निश्चित अवधि व्यतीत हो जाने पर ग्राहक को सूचना भेजनी चाहिये, फिर सुनवाई न होने पर रिमाइन्डर डालना चाहिये और फिर यदि भुगतान न हो तो वैधानिक कार्यवाही के लिये सचेत कर देना चाहिये।

(४) रोकड़ विभाग—

(i) रोकड़ विभाग एक उत्तरदायी एवं विश्वासपात्र व्यक्ति के आधीन होना चाहिए। (ii) इस विभाग का निरीक्षण थोक-व्यापारी को स्वयं समय-समय पर करते रहना चाहिये। बड़े पैमाने पर व्यापार होने की दशा में लेखा-कर्म एवं रोकड़ विभाग के निरीक्षण तथा आन्तरिक जाँच के लिये अंकेक्षक भी नियुक्त किये जा सकते हैं। (iii) इस विभाग पर समुचित नियन्त्रण रखने के लिए रोकड़िया अथवा कोषाध्यक्ष पर कुछ प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए। उदाहरणार्थ, कोषाध्यक्ष को लेखा पुस्तकों या हिसाब की प्रमुख पुस्तकों को रखने पर प्रतिबन्ध रखना चाहिये। समस्त पत्र किसी उत्तरदायी व्यक्ति द्वारा खोले जाने चाहिये। जितने भी भुगतान चैक अथवा ड्राफ्ट द्वारा हों उन सब प्रलेखों का रेखांकित होना अनिवार्य है। (iv) फर्म में आने वाले ऐसे प्रलेखों को भी प्राप्त होते ही रेखांकित कर देना चाहिये तथा उन पर 'Not Negotiable' शब्द लिख देना चाहिए। (v) जितनी भी राशि समय-समय पर रोकड़िया प्राप्त करे, उसके लिए रसीद दी जानी चाहिए, जिसकी तीन प्रतिलिपियाँ हों, जिसमें से मूल प्रतिलिपि भुगतान देने वाले को, दूसरी लेखा कर्म विभाग को भेजनी चाहिए तथा तीसरी भावी सदर्भ के लिए रोकड़िया के पास रहनी चाहिए। (vi) रसीद पर रोकड़िया के अतिरिक्त लेखापाल अथवा किसी अन्य उत्तरदायी अधिकारी के भी हस्ताक्षर होने चाहिए। (vii) इसी प्रकार फर्म की ओर से जितने भी भुगतान किए जायें उनके लिए लेखापाल तथा व्यापार प्रमुख की स्वीकृति होनी चाहिए। (viii) समय-समय पर हस्त रोकड़ (Cash in hand) का रोकड़ पुस्तक के साथ मिलान भी कर लेना चाहिए। (ix) प्रायः सभी भुगतान बैंक द्वारा करने चाहिये, जिसमें

भुगतान का एक मान्य लिखित प्रमाण रहे। (x) प्रतिदिन प्राप्त हुई रोकड भी उसी दिन बैंक मे भेज देनी चाहिए।

व्यय पर नियन्त्रण (Control of Expenditure)—

व्यापार की सफलता के लिए व्यय पर नियन्त्रण रखना नितान्त आवश्यक है। (i) इसके लिए क्रय, विक्रय, स्टोर, व्यय आदि बातो से सम्बन्धित तालिकायें, सारिणियाँ तथा रेखा-चित्र (Graphs) बनाये जा सकते हैं। (ii) चित्र द्वारा आंकडो को प्रदर्शित करना सारिणी बनाने से अधिक आकर्षक होता है। (iii) बडे-बडे व्यापार-गृहो मे प्रत्याय तथा रिपोर्टों (Returns and Reports) की पद्धति द्वारा बजट-नियन्त्रण या वैज्ञानिक आर्थिक प्रबन्ध (Budgetary Control or Scientific Financial Management) नियोजित किया जाता है। इनके द्वारा व्यापार के प्रत्येक विभाग की झाँकी भली प्रकार हो जाती है। (iv) बजट सम्बन्धी नियन्त्रण स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि आगामी वर्ष के विक्रय का अनुमान लगाया जाय। ऐसी भविष्यवाणी के लिए बाजार की परिस्थिति का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। विक्रय के अनुमान पर ही प्रत्येक विभाग का व्यय एव कार्यक्रम निश्चित किया जा सकता है, उसमे विज्ञापन का व्यय भी जोडा जा सकता है तथा क्रय एव उत्पादन के व्यय का भी उल्लेख किया जा सकता है। इसके साथ ही किराया, दर तथा कर एव कार्यालय आदि म होने वाले व्यय को भी शामिल कर लेना चाहिए। इस प्रकार कुल व्यय का अनुमान लगाकर यह निश्चित किया जा सकता है कि व्यापार मे कहाँ तक व्यय पूरा हो सकता है एव वस्तु का मूल्य किस सीमा तक कम किया जा सकता है।

STANDARD QJESTIONS

1. What services are rendered by wholesalers to retailers? Should the wholesalers be eliminated ?
2. Describe briefly the internal organisation of an Indian wholesale firm engaged in any distributive trade
3. As the general manager of a large wholesale firm, what system of internal organisation would you introduce with a view to preventing the misappropriation of cash ?
4. How far it is desirable and practicable to eliminate the middle man who is described as a costly and wasteful intermediary between the producer and the actual consumer ? Show what attempts have been made in this direction in recent times

5 "Middlemen and agents are nothing but social parasites and the sooner they are eliminated the better for society" How far do you agree with this statement ? Should this class of people be totally eliminated from present day economy ? Give reasons for your views

6 Outline briefly the organisation of the purchase department of a wholesale firm What are the advantages and disadvantages of large scale buying ?

7. Describe briefly the organisation and functions of the credit department of a commercial firm What methods are available for coordinating the activities of the credit department with the work of sales department ?

अध्याय १७

फुटकर व्यापार का संगठन

(Organisation of Retail Trade)

परिभाषा—

फुटकर व्यापारी वह कहलाता है जो थोक व्यापारियों से वस्तुएँ लेकर छोटी छोटी मात्रा में उपभोक्ताओं को बेचता रहता है। यह बाजार में क्रय विक्रय करने की अन्तिम कड़ी है। उसके निम्न लक्षण हैं —

(१) वह छोटी मात्रा में वस्तुएँ खरीदता तथा बेचता है,

(२) वह बहुधा अनेक प्रकार की वस्तुओं में व्यापार करता है।

(३) वह उपभोक्ताओं को माल बेचता है।

थोक व्यापारी और फुटकर व्यापारी में अन्तर—

थोक व्यापारी और फुटकर व्यापारी में अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है —

थोक व्यापारी	फुटकर व्यापारी
(१) यह उत्पादको से खरीदकर फुटकर व्यापारियो को बेचता है, अर्थात् इसका बेचा हुआ माल पुनः बिकता है।	(१) यह थोक व्यापारी से खरीदकर उपभोक्ताओ को बेचता है, अर्थात् इसका बेचा हुआ माल पुनः नही बिकता है।
(२) यह बडी मात्रा मे माल खरीदता और बेचता है।	(२) यह छोटी मात्रा मे माल खरीदता है।
(३) यह बहुधा कुछ विशेष वस्तुओ मे व्यापार करता है।	(३) यह बहुधा बहुत प्रकार की वस्तुओ मे व्यापार करता है।
(४) यह व्यापार उधार अधिक और नगद कम करता है।	(४) यह बहुधा नगद व्यापार करता है।
(५) इसका काम बहुत से स्थानो और शहरो मे फैला होता है।	(५) यह साधारणत एक ही स्थान मे काम करता है।
(६) थोक व्यापारी का विक्रय कला मे अधिक चतुर होना आवश्यक नही।	(६) फुटकर व्यापारी को प्रभावपूर्ण विक्रय मे चतुर होना चाहिए।
(७) इसम अधिक पूँजी चाहिए।	(७) इसमे अधिक पूँजी की आवश्यकता नही है।

फुटकर व्यापारी की सेवाएँ और कार्य

थोक व्यापारी के प्रति—

पुटकर व्यापारी थोक व्यापारियो और उत्पादको को ग्राहक की आवश्यकता, रुचि, रीति-रिवाज और फैशन का ज्ञान कराया करते है और उन्हे बतलाते हैं कि किस मूल्य और किस किस्म की वस्तुएँ ग्राहको मे अधिक बिकने की आशा की जा सकती है। इनके सम्मति के आधार पर ही उत्पादक एव थोक व्यापारी अपना कार्य बढाते है।

उपभोक्ताओं के प्रति—

(१) उपभोक्ता अपनी आवश्यकता की वस्तु अधिक मात्रा मे नही खरीदते। उनके पास न तो सग्रह करने के साधन ही होते है और न वह सग्रह करना ही चाहते है, अतः फुटकर व्यापारियो के न होने पर उन्हे बडी कठिनाई का सामना करना पडता है। उन्हे थोडी वस्तु के लिए बार बार थोक व्यापारियो के पास जाना पडता है। फुटकर व्यापारी स्थान-स्थान पर दुकान खोल कर उपभोक्ताओ को बहुत सहायता पहुँचाते है। वे लोग तरह तरह की वस्तुएँ अपने यहाँ सग्रह करके रखते हैं। (११)

अपनी वस्तुओ को दुकानो के भीतर तथा बाहर सजा कर रखते है, ताकि ग्राहको की निगाह उन पर पड जाय और वस्तुओ की सजावट उनको दुकान तक खीच लाये। (iii) ताजी तरकारी तथा फल आदि उपभोक्ताओ को इनके द्वारा मिल जाते है। (iv) कभी कभी तो उपभोक्ताओ को घर से निकलने की आवश्यकता ही नही पडती, उनके घर पर ही सामान की बिक्री फेरी वाले कर जाते हैं। (v) फुटकर व्यापारी ग्राहको की माँगो को, जो अधिक मात्रा मे नही होती, पूरा करते हैं। (vi) फुटकर व्यापारी अलग अलग बस्तियो मे अलग अलग व्यक्तियो की माँगो का अध्ययन करके उसी प्रकार का सामान मँगा कर विक्रय करते है। प्रायः गाँवो मे हम देखते हैं कि एक ही दुकान होती है, जिससे वहाँ के रहने वालो की आवश्यकता की लगभग सभी वस्तुएँ प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार नगरो मे धनी वर्ग के रहने के स्थान पर व्यापारी ऐसा सामान बेचते है, जिसकी उन्हे आवश्यकता होती है। वे हर मौसम का सामान अपने यहाँ रखते है और इस बात का ध्यान रखते है कि हर मौसम पर उनके यहाँ उस अवसर की माँग का सामान भरा रहे। (vii) अक्सर फुटकर व्यापारी अपने ग्राहको को उधार सामान देते हैं। थोक व्यापारी से इन व्यापारियो के ग्राहक अधिक स्थाई होते है, फिर भी व्यापार करते रहने के कारण अपने कुछ ग्राहको को वे खूब जान जाते हैं और उनको उधार सामान देने में नही हिचकिचाते। वे अनेक उत्पादको का सामान अपने यहाँ रखते हैं, जिससे उनके ग्राहको को इच्छानुसार माल छाँटने मे सुविधा होती है।

फुटकर व्यापारी की सफलता के लिये आवश्यक तत्त्व—

एक फुटकर व्यापारी की सफलता के लिए उसमे निम्न गुणो का होना परम आवश्यक है :—

(१) पूँजी—पूँजी व्यापार की आधारशिला है, अतएव व्यापार प्रारम्भ करने के पूर्व पर्याप्त पूँजी का होना नितान्त आवश्यक है। पूँजी के अभाव मे वह कभी भी सफल नही हो सकता। प्रारम्भ मे जिस व्यापारी की कोई साख नही होती, उसके लिये तो पर्याप्त पूँजी का होना अनिवार्य है, अन्यथा सफलता उससे कोसो दूर रहेगी। जिस व्यापारी की साख अच्छी होती है वह लोगो अथवा संस्थाओ से ऋण भी ले सकता है, किन्तु जहाँ तक सम्भव हो, निजी पूँजी का ही प्रयोग करना चाहिए, क्योकि ऋण लेने की दशा म ब्याज भी देना पडता है। यदि ऋण लेना आवश्यक ही हो तो सोच-विचार कर लेना चाहिए। निज की पूँजी से अधिक ऋण कभी न लेना चाहिए।

(२) उपयुक्त स्थान—फुटकर व्यापारी की सफलता बहुत कुछ संस्था की स्थिति पर निर्भर करती है। दूकान की ऐसी स्थिति हो, जिसके निकट उपभोक्ताओ का समूह रहता हो एवं अधिक से अधिक संख्या मे ग्राहक आने जाते हो। किसी चौराहे अथवा नगर के मध्य म संस्था का स्थापित करना अति उत्तम है, क्योकि ऐसे

स्थान पर अधिक ग्राहकों के आने की सम्भावना रहती है। स्थिति के लाभ की अपेक्षा दुकान का किराया किसी भी दशा मे अधिक नही होना चाहिए।

(३) व्यापारिक ज्ञान—व्यापार मे सफलता पाने के लिए यह भी नितान्त आवश्यक है कि उस प्रमुख व्यापारी को वाणिज्य-शिक्षा का अच्छा ज्ञान हो। आर्थिक एव वाणिज्य भूगोल के ज्ञान से उसको बडी सहायता मिलेगी। उनके अध्ययन से उसको यह ज्ञात हो जायगा कि अमुक वस्तु प्राप्त करने के लिए स्रोत कहाँ-कहाँ है? अर्थशास्त्र के ज्ञान से माग के निर्धारण मे उसे अधिक कठिनाई न होगी। शिक्षित होने के साथ-साथ उसे व्यवहार कुशल भी होना चाहिए। उसको एक ऐसे सुगन्धित पुष्प की भाँति होना चाहिये कि भ्रमर-रूपी ग्राहक स्वतः खिंचे चले आयें। ग्राहकों को सन्तुष्ट करने की कला (विक्रय-कला) मे उसे पूर्ण दक्ष होना चाहिये।

(४) विज्ञापन—अधिक से अधिक मात्रा मे ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए उसे विज्ञापन का प्रयोग करना चाहिए। विज्ञापन के प्रकार सस्था के आकार-प्रकार पर निर्भर करते है। इस सम्बन्ध मे हम अगले अध्याय मे विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

फुटकर व्यापार का वर्गीकरण—

फुटकर व्यापारियों को हम निम्न वर्गों मे बाँट सकते है—

(I) फेरी वाले व्यापारी।

(II) साधारण दुकानें—सामान्य और विशेष।

(III) बड़े पैमाने पर काम करने वाली आधुनिक ढ. की सस्थायें, जैसे—

(अ) विभाजित स्टोर,

(आ) बहुसख्यक दुकाने,

(इ) डाक द्वारा व्यापार करने वाले,

(ई) एक मूल्य की दुकाने,

(उ) 'सुपर मार्केट' या 'कम्बिनेशन स्टोर',

(ऊ) विक्रय मशीन।

(ए) क्रय विक्रय पद्धति।

(ऐ) प्रभाग भुगतान पद्धति।

इनका विस्तृत विवरण नीचे दिया जाता है—

(I) फेरी वाले व्यापारी

(Peddlers and Hawkers)

ये व्यापारी अपनी वस्तुये बेहंगियो पर ठेलो मे, पल्लडो मे, सिरो पर, कन्धो पर अथवा झोले लटकाये हुए गाँव गाँव, मुहल्ले-मुहल्ले म बेचते है। ये घर के दरवाजो पर, रेल के डिब्बो मे, सड़क की पटरियो पर गलियो के मोडो पर एव भीड के

स्थानो पर अपनी वस्तुयें वेचते हैं । ये अपने साथ उतनी ही वस्तुयें रखते हैं, जो दिन भर मे बिक सकें । कपड़े, वर्तन, बिसातखाने का सामान, मिठाइयाँ, कुल्फी, कम्बल आदि इनकी विक्रय सामिग्री हैं । सभी जनसाधारण इनसे वस्तुयें क्रय करते है ।

फेरी वाले व्यापारी के गुण—

(१) इन्हे कम पूँजी की आवश्यकता होती है, क्योंकि दिन भर की बिक्री का माल और बाँट, तराजू आदि से ही इनका काम चल जाता है। दुकान तो इन्हे किराये पर लेनी ही नहीं पड़ती । ये स्वतः ही सारा कार्य करते है । इस प्रकार इनका व्यय कम होता है ।

(२) ये ग्राहको के घर तक वस्तु पहुँचा देते हैं ।

फेरी वाले व्यापारी के दोष—

(१) मुख्यतः स्त्री और बच्चे ही इनसे सामान खरीदते है,जो घरो से बाहर कम निकलते हैं ।

(२) वे वस्तुएँ बाजार भाव से कुछ अधिक मूल्य पर ही बेचते हैं ।

(३) वे ग्राहकों को भली प्रकार आकर्षित नहीं कर पाते, क्योंकि वे स्थिर होकर तो रहते नहीं ।

(४) उनसे माल भी प्रायः ठीक नहीं मिल पाता ।

इस प्रकार का व्यापार छोटी-छोटी वस्तुओं तक ही सीमित है ।

(II) साधारण दुकानें
(Retail Shops)

फुटकर व्यापार अधिकतर इन्ही दुकानो द्वारा होता है । काम की मात्रा के अनुसार इन्हे बड़ी और छोटी दुकानो मे बाँटा जा सकता है । जितनी बड़ी दुकान होती है उतनी ही अधिक पूँजी और सजावट होना आवश्यक है । ये प्रायः गलियो, कूचो तथा सड़को पर दुकाने खोल लेते है । कुछ तो अनेक वस्तुएँ क्रय-विक्रय करते हैं, परन्तु पुस्तक, सोने-चाँदी आदि के व्यापारी केवल इनमे ही व्यापार करते है । ऐसे दुकानदारो का तो एक बाजार अलग से ही कायम हो जाता है । ये प्रायः अपने धन से ही दुकान चलाते हैं और आवश्यकता पड़ने पर अपना कोई साझेदार भी बना लेते है ।

साधारण दुकानों के गुण—

(१) इनसे अधिक अच्छा माल मिलता है । यदि वस्तु खराब निकले तो ग्राहको को वापिस करने मे सुविधा रहती है ।

(२) ये ग्राहकों को आकर्षित कर सकते हैं ।

(३) स्त्री, बच्चे, बड़े-बूढे सभी इनसे माल खरीदते है । राजा से रङ्क तक इनसे क्रय विक्रय करते है ।

(४) इनका थोड़ी पूँजी से काम चल जाता है ।

साधारण दुकानों के दोष—

इनका कार्य क्षेत्र सीमित होता है, क्योंकि इनको प्रायः पूँजी प्राप्त करने मे कठिनाई होती है।

साधारण दूकान लगाने वाले फुटकर व्यापारियों का संगठन—

साधारण दूकान लगाने वाले फुटकर व्यापारी को अपने व्यापार का संगठन करते समय निम्न बातो पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए :—

(१) व्यापार स्थान—उसे दूकान के स्थान के विषय मे निर्णय करना चाहिए। (i) जैसा ऊपर सकेत कर चुके हैं, दुकान नगर के मध्य मे होनी चाहिए और उसकी स्थिति ऐसी हो कि आने-जाने वाले ग्राहक उसकी ओर अनायास ही आकर्षित हों। (ii) स्थान का निर्णय करते समय वह किन वस्तुओ मे व्यापार करेगा, उसके ग्राहक किस बाजार अथवा बस्ती मे अधिक होंगे तथा वहाँ प्रतिस्पर्धा की कितनी सम्भावना है, आदि बातो पर पूर्णतः विचार कर लेना चाहिए। उदाहरणार्थ, सब्जी-मण्डी के निकट पुस्तकों की दुकान नही खोलनी चाहिए, वरन् विद्यार्थियो के छात्रालय के निकट पुस्तकों की दुकान खोलना श्रेयस्कर होगा। साधारणतः उसको अपनी दुकान उसी क्षेत्र मे रखनी चाहिए, जिस क्षेत्र मे वस्तुओं की अन्य दुकाने हों, जैसे—लश्कर ग्वालियर में पुस्तकों की दुकान पाटनकर बाजार मे, टोपियो की दुकान टोपी बाजार मे, लोहे की दुकान लोहिया बाजार मे तथा कपड़े की दूकान गाँधी मार्केट मे होनी चाहिए, क्योंकि ग्राहक मे यह प्रवृत्ति होती है कि वह उसी बाजार से वस्तुएँ खरीदता है, जिस बाजार मे उस वस्तु का विशेषीकरण है।

(२) वस्तुओ का क्रय—दूकान के स्थान का निर्धारण करने के बाद वह यह तय करेगा कि अमुक वस्तु कहाँ से खरीदी जाय। (i) उसे समस्त वस्तुयें ऐसे ही थोक-विक्रेताओ अथवा निर्माताओ से क्रय करनी चाहिए जो उन वस्तुओ के लिये ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। (ii) वस्तुओ का सग्रह पर्याप्त मात्रा मे करना चाहिए। आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का भी क्रय नही करना चाहिये। उतनी वस्तुओ का सग्रह करना चाहिए जो कि एक नियत अवधि मे सुविधा से बेची जा सकें, क्योंकि अधिक काल तक वस्तुएँ पड़ी रहने से उनकी दशा खराब हो जाती है तथा उनमे व्यर्थ पूँजी फँस जाती है।

(३) दुकान की सजावट—एक फुटकर व्यापारी के लिए दुकान की सजावट बहुत महत्त्व रखती है। (i) दुकान भीतर तथा बाहर, दोनो ओर से ही सुशोभित होनी चाहिए। (ii) दुकान के सामने ऊपर की ओर साइनबोर्ड (Sign-board) लगाना चाहिये तथा बाहर की ओर अत्यन्त आकर्षक ढङ्ग से सजावट करनी चाहिए। (iii) रात्रि के समय बहुरङ्गी प्रकाश करना भी दुकान की शोभा को बढाता है। (iv) दूकान के बाहर प्रदर्शनी आलमरियाँ (Windows for Display) होनी चाहिए, जिनमे अत्यन्त सुन्दरता एव शोभा के साथ नमूनो का प्रदर्शन होना

चाहिए। (v) सजी हुई वस्तुओं पर मूल्य पत्र (Price-card or chit) भी लगा रहना चाहिये। (vi) आलमारियों की शोभा का उस समय तक कोई मूल्य नहीं होता, जब तक दुकान के अन्दर कोई सजावट न हो, अतएव दुकान के अन्दर भी पर्याप्त स्थान होना चाहिये। (vii) आन्तरिक शोभा में यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि दुकान की प्रत्येक वस्तु ग्राहक की दृष्टि में रहे तथा किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में उसे पूछने की आवश्यकता प्रतीत न हो। (viii) दुकान के भीतर की आलमारियों, खम्बे आदि को आकर्षक ढङ्ग से सुशोभित करना चाहिये। (ix) दुकान की आन्तरिक तथा बाहरी शोभा परस्पर पूरक होनी चाहिए। (x) दुकान के अन्दर ग्राहकों की सुगमता तथा वस्तु लेते समय उनके आराम की व्यवस्था का पूरा ध्यान रखना चाहिए। (xi) ग्राहक से बातचीत करते समय बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। विक्रेता (Salesman) को सदैव प्रसन्न एवं मृदुभाषी होना चाहिए। ग्राहकों को अपने हाव-भाव से लुभाने की कला में स्त्रियाँ अधिक प्रवीण होती हैं, अतः उनको नियुक्त किया जा सकता है। विक्रेता को ग्राहकों से न तो घृणा के साथ बातें करनी चाहिए और न अधिक मक्खन ही लगाना चाहिए, वरन् उसे ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वह ग्राहकों के साथ नम्रता, मृदुलता तथा मितव्ययिता का व्यवहार करता हुआ उसको ओर सदैव आकर्षित रहे।

(xii) किसी भी प्रकार के विज्ञापन में दुकान की बाहरी सजावट विज्ञापन का सर्वश्रेष्ठ साधन है। बाहरी सजावट का प्रथम प्रभाव पड़ता है, जो अन्तिम होता है, अतः उससे आकर्षित होकर सभाव्य ग्राहक खरीददार बन जाता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि विज्ञापन नहीं करना चाहिए। विज्ञापन स्थानीय समाचार-पत्रों में समय-समय पर देते रहना चाहिए, जिससे जिनको दुकान की जानकारी न हो वे भी दुकान पर आने का कष्ट करेंगे एवं इस प्रकार ग्राहकों की सख्या बढ़ेगी।

(xiii) इसके अतिरिक्त फुटकर-व्यापारी को चाहिए कि वह अपने ग्राहकों को अन्य सुविधायें भी प्रदान करे। ग्राहकों के आते ही पान, सिगरेट, सौंफ से उनका स्वागत करना चाहिए। गर्मियों में ठण्डे जल तथा जाड़ों में चाय की व्यवस्था होनी चाहिए। इस प्रकार की सेवाओं से दुकान की ख्याति बढ़ती है एवं ग्राहक भी अधिक सख्या में आकर्षित होते हैं। किसी वस्तु का मौसम समाप्त हो जाने पर उसकी खुले रूप में बिक्री करनी चाहिए। अप्रचलित तथा खराब माल को कम कीमत में बेचा जा सकता है।

(४) मूल्य निर्धारण—हैनरी फोर्ड के कथनानुसार एक व्यापारी का मूल उद्देश्य केवल अधिकतम लाभ-कमाना ही नहीं वरन् जन-सेवा करना भी होना चाहिए, (i) अतः वस्तु का जो भी मूल्य निश्चित किया जाय, वह उचित होना चाहिए। उचित मूल्य की दशा में विक्रय भी अधिक होगा और जब अधिक बिक्री होगी तो लाभ भी बढ़ेगा। (ii) यदि अधिकतम लाभ के उद्देश्य से कोई व्यापारी अधिक मूल्य लेता है तो ग्राहक दुबारा उसके पास न आवेंगे, परिणाम-स्वरूप विक्रय कम होगा। (iii) यह भी

ध्यान रहे कि मूल्य प्रतिस्पर्धात्मक हो तथा उसी प्रकार की अन्य वस्तुओ के मूल्य मे भी समानता रहनी चाहिए। (iii) मूल्य का निर्धारण इस प्रकार होना चाहिए कि दुकान का व्यय निकाल कर कुछ लाभ भी शेष रहे। (iv) किसी वस्तु का मूल्य-निर्धारण सदैव ग्राहको द्वारा स्वाभाविक रूप से चुकाये जाने वाले मूल्य को देखकर ही करना चाहिए। सम्भवत यदि परिस्थितिया स्वीकृति दे तो वस्तुओ के प्रचलित मूल्य मे परिवर्तन करने की अपेक्षा उनके गुणो मे परिवर्तन करना अधिक श्रेष्ठ होता है।

(५) गोदाम या भण्डार—प्रत्येक फुटकर व्यापारी को एक साधारण गोदाम की भी व्यवस्था करनी पडती है, जहाँ से वह अपने व्यापार के लिए आवश्यक वस्तुओ का सग्रह करता है। (i) वस्तुओ को वहाँ इस प्रकार सजाकर रखना चाहिए कि स्थान और समय की पर्याप्त बचत हो तथा वस्तुयें सुरक्षित भी रहे। (ii) चूहे, दीमक आदि वस्तुओ को हानि न पहुँचावें, इस सम्बन्ध मे पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए। (iii) भडार की सामयिक सफाई होनी चाहिए तथा उसकी सब वस्तुये यथासमय आल्मारियो से निकाल कर भली प्रकार साफ कर लेना चाहिए। (iv) वस्तुओ को अत्यन्त सावधानी से रखना अथवा निकालना चाहिए। (v) भण्डार मे रखी हुई वस्तुओ के लिए एक पुस्तक मे ठीक-ठीक हिसाब रखना चाहिए।

(६) कर्मचारी— व्यापार के आकार प्रकार के अनुसार फुटकर विक्रेता को कर्मचारियो की नियुक्ति करनी पडती है। साधारणत. फुटकर विक्रेता के यहाँ एक रोकडिया या मुनीम होता है, जो रोकड सम्बन्धी व्यवहार करता है तथा लेखे आदि रखता है। दूसरा भण्डारी होता है, जो भण्डार की व्यवस्था करता है तथा माल का क्रय, उसकी प्राप्ति आदि करता है और तीसरा विक्रेता होता है, जो ग्राहको से व्यवहार करता है।

(III) बडी मात्रा मे फुटकर व्यापार

(Large Scale Ratail Trading)

वर्तमान युग मे बहु परिमाण पर फुटकर व्यापार करने का बडा बलबाला है। बहुधा बहु परिमाण मे फुटकर व्यापार करने वाली दुकान दो रूप मे पाई जाती हैं — (१) वैभागिक भण्डार, तथा (२) बहु विक्रयशालाय। इङ्गलैंड तथा अमेरिका मे बहु परिमाण पर व्यापार करने वाले एस फुटकर व्यापारी अनेक है। गत कुछ वर्षो से भारत मे भी इनकी प्रगति देखी जाती है। हमारे देश मे जो बड फुटकर विक्रेता हैं वे मुख्यत विदेशी है, जैसे—सर्व श्री व्हाइटवे लेडला अथवा हॉल एण्ड एण्डसन कलकत्ता आदि। भारतीय स्वामित्त्व एव प्रबन्ध के अन्तर्गत कार्य करने वाला इस प्रकार का एक मात्र सार्य टी० वॉकर एण्ड कम्पनी बम्बई है। दूसरा उल्लेखनीय सार्थ कानपुर मे के० जी० ठाकुरदास एण्ड सन्स का है। तीसरे 'डिपार्टमैण्टल क्लॉथ स्टोर नासिक' भी एक महत्त्वपूर्ण संस्था है।

बहु-परिमाण फुटकर व्यापार क्यो ?—

बडी मात्रा मे फुटकर व्यापार करने वाले लोगो की सख्या मे प्रगति के कुछ महत्त्वपूर्ण कारण इस प्रकार है :—

(१) व्यवसाय के केन्द्रीयकरण से आर्थिक लाभ—बहु परिमाण मे फुटकर व्यापार करने वाले गृह प्राय. अपने व्यवसाय का केन्द्रीयकरण करना आर्थिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त समझते है, अधिक मात्रा मे वस्तुये खरीदने से वे सुगमता से तथा सस्ती मिल जाती है, क्योकि थोक व्यापारी या उत्पादकगण सदैव अधिक मात्रा मे वस्तुयें भेजते समय ऐसे फुटकर विक्रेताओ को कुछ अधिक सुविधाये देते है, जैसे—अधिक कमीशन मिलना आदि।

(२) विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का सग्रह—बहु परिमाण फुटकर विक्रेता के पास पूँजी भी अधिक होती है, अत. वे विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का सग्रह करने मे समर्थ हो सकते है। ग्राहको को भी वस्तुओ के चुनाव मे अधिक सुविधा होती है। इससे ग्राहक अधिक सख्या मे आकर्षित होते हैं।

(३) ग्राहको की अधिक सेवा—ग्राहको को वह अधिक कार्यक्षम विक्रय सेवाओ द्वारा अधिकाधिक सुविधायें दे सकता है तथा किसी वस्तु विशेष मे विशिष्टीकरण प्राप्त कर सकता है, जिससे उसकी ख्याति बढती है। विज्ञापन आदि पर भी वह अधिक व्यय कर सकता है, क्योकि उसकी पूँजी भी अधिक होती है एव ग्राहक-सख्या भी।

अब हम बहु-परिमाण व्यापार के स्वरूपो की विस्तुत विवेचना करेंगे।

(अ) वैभागिक अथवा विभागीय भण्डार
(Departmental Store)

परिभाषा एव उद्देश्य—

जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, वैभागिक भण्डार से आशय एक ऐसी विशाल दूकान से है जिसमे कितने ही विभाग हो, जो पृथक-पृथक किसी विशेष वस्तु का व्यवसाय करते हैं। अन्य शब्दो मे, यह एक ऐसी पद्धति है जिसमे विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का व्यापार करने वाली कितनी ही दूकानें एक स्थान पर तथा एक ही नियन्त्रण मे रहती हैं। इसका प्रमुख उद्देश्य यह है कि सुई से लेकर रेडियो तथा मोटर आदि तक सभी वस्तुये उपभोक्ता को एक ही स्थान पर उपलब्ध हो जायें। उदाहरण के लिए, एक ही दुकान म निम्न विभिन्न विभाग हो सकते हैं :—शृङ्गार वस्तु विभाग, चर्म वस्तु-विभाग, घडी-विभाग, सूती-ऊनी तथा रेशमी वस्त्र विभाग, टेलरिंग विभाग, साइकिल विभाग, मोटर विभाग आदि। यही नही, ग्राहको की सुविधा के लिये भण्डारो मे केश कर्तनालय (Saloon-) शौचालय, स्नानागार, जलपान-गृह तथा विश्राम गृह भी होते है, जहाँ पर ग्राहक आराम कर सकें तथा शान्ति से बैठकर पत्र-व्यवहार कर सक। विदेशो मे वैभागिक भण्डार पोस्ट-आफिस की भी सुविधाएँ

देते हैं। ये भण्डार अपने ग्राहको से टेलीफोन पर आर्डर लेकर उनकी इच्छित वस्तुयें उनके घर तक पहुँचाने का भी प्रबन्ध करते है।

उद्गम —

वैभागिक भण्डारो का उद्गम फ्रास मे पिछली शताब्दी मे वहाँ के धनी विलासप्रिय ग्राहको की सुविधा के लिए हुआ था, जो केवल वस्तुओ के गुण एव उनकी पूर्ति का ही अधिक ध्यान रखते थे और जिन्हे छोटे-छोटे फुटकर विक्रेता सन्तुष्ट नही कर सकते थे। वहाँ से इनका विकास क्रमशः अमरीका तथा योरोप के अन्य देशो मे हुआ।

विशेषतायें—

एक उन्नत व सफल विभागीय भण्डार मे निम्न विशेषतायें होनी चाहिए :—

(१) स्थिति तथा स्थान—ऐसे भण्डार किसी भी नगर के ऐसे बाजार मे स्थापित किए जाने चाहिये जो सबसे अधिक आकर्षक तथा फैशन से परिपूर्ण हो एव जहाँ धनी तथा विलासप्रिय व्यक्ति अधिकता से रहते हो। ऐसे भवनो की बनावट इतनी सुन्दर व बाहरी प्रभाव मे इतनी चुम्बकीय शक्ति होनी चाहिये कि मनुष्य स्वय ही इस प्रकार प्रभावित होकर आ जाय, जैसे भँवरा कमल के पास आता है। इनमे पर्याप्त स्थान होना चाहिए। इन भण्डारो मे विश्राम-गृह, जलपान गृह, वाचनालय, सूचनालय, डाकघर, टेलीफोन तथा तार घर का भी उत्तम प्रबन्ध रहता है। कुछ भण्डारो मे तो भाषण, प्रदर्शन, नाच-गाने का कार्यक्रम, चलचित्र प्रदर्शन तथा गीत-नाट्य एव साधारण नाटको का भी प्रबन्ध स्वतन्त्र रूप से सभी के लिये किया जाता है।

प्रत्येक विभाग स्वतन्त्र होते हुए भी एक दूसरे से सम्बन्धित होना चाहिये। इस दृष्टि से प्रत्येक विभाग का काउण्टर अलग अलग होना है, जिन पर वस्तुओ का प्रदर्शन किया जाता है, जिससे जब ग्राहक एक विभाग से दूसरे विभाग मे जाता है तो उसे स्वय प्रत्येक विभाग की वस्तुओ की जानकारी हो जाती है। प्रत्येक विभाग का द्वार-शोभन भी भली विधि करना चाहिये, किन्तु इन सब बातो पर विचार करते समय यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि दुकान का किराया इतना अधिक न हो जिसका भुगतान करने मे ही सम्पूर्ण लाभ चला जाय।

(२) *सगठन एव व्यवस्था—इस प्रकार का व्यापार प्रायः सम्मिलित पूँजी* वाली कम्पनी द्वारा चलाया जाता है। कम्पनी स्वरूप होने के कारण इनकी एक सचालक सभा होती है, जो सामान्य प्रबन्ध नीति का निर्धारण करती है। इन भण्डारो का मुख्य कार्यकर्त्ता ही इनका प्रबन्ध सचालक (Managing Director) होता है, जो सचालक सभा की ओर से प्रति दिन की देख-रेख करता है। प्रत्येक विभागीय भण्डार अनेक उप-विभागो मे विभाजित होता है और प्रत्येक उप-विभाग का एक पृथक विभाग व्यवस्थापक (Sectional Manager) होना है। प्रत्येक विभाग की सफलता के लिए उसके विभाग व्यवस्थापक उत्तरदायी होते है।

प्रत्येक कार्यवाह भागो (Secretarial Sections) तथा लेखा भागो (Account Sections) के लिए प्रबन्ध सचालक उत्तरदायी होता है। प्रत्येक विभाग का हिसाब रखने के लिये पृथक-पृथक रोकडिया तथा लेखापाल रहते है। प्रत्येक विभाग का कार्य लाभकर हो रहा है अथवा नही, यह देखने की दृष्टि मे प्रत्येक विभाग की लेखा पुस्तके भी अलग-अलग रखी जाती है तथा सब विभागो पर होने वाला सामान्य व्यय प्रत्येक विभाग मे उनके विक्रय के अनुपातानुसार बाँट दिया जाता है तथा इनके अन्तिम लेखे भी अलग बनाये जाते है।

(३) क्रय-विक्रय—प्रत्येक माह के आरम्भ मे विभिन्न विभागो के प्रबन्धको को एक निश्चित राशि दे दी जाती है, जिनसे उन्हे अपने अपने विभागों मे विक्रय के लिये माल क्रय करने का पूर्ण अधिकार होता है। जैसे ही कोई आदेशित माल भण्डार मे आता है, प्रबन्धक उसकी भली प्रकार जाच करते है और तत्पश्चात् माल का कुछ भाग विक्रय के लिये विभाग मे भेज दिया जाता है। प्रत्येक विभाग मे अनेक विक्रेता तथा स्त्री विक्रेता होते हैं, जिन पर माल के विक्रय का उत्तरदायित्व होता है। ये विक्रेता बडे कुशल कलाकार होते है, क्योकि ग्राहको को सन्तुष्ट करने का भार इन्ही पर होता है। इन विभागो मे उधार तथा नकद दोनो ही प्रकार से माल बेचा जाता है।

(४) विक्रय पद्धति एव विक्रय लेखा—प्रत्येक विभाग के पास अलग-अलग कैशमीमो होती हैं, जिन पर प्रत्येक विभाग के पृथक क्रमांक पडे रहते है। प्रत्येक मीमो की तीन प्रतियां होती है। इसी प्रकार उधार माल का ब्यौरा रखने के लिए प्रत्येक विभाग को क्रेडिट मीमो भी दी जाती है। नकद विक्रय की दशा मे विक्रेता ग्राहक को कैशमीमो की दो प्रतियाँ देता है, जिनम मे एक प्रति रोकडिया रोकड लेकर रख लेता है तथा मूल प्रति ग्राहक को एक टोकन (Token) के साथ लौटा दी जाती है। ग्राहक टोकन द्वारपाल को देकर अपनी वस्तुयें अपने साथ ले जाता है। टोकन देने का उद्देश्य यह है कि कोई भी लफङ्गा दुकान से माल चुराकर न ले जा सके। यदि ग्राहक स्वय माल नही ले जाता तो वस्तुये पैकिंग-विभाग मे ग्राहक के नाम व पते के साथ अलग रख दी जाती हैं और जब उस क्षेत्र की वस्तुयें एकत्रित हो जाती हैं, तब सायकाल को ये ग्राहक के घर पहुँचा दी जाती है। एसी परिस्थिति मे रोकडिया ग्राहक को टोकन नही देता।

उधार माल बेचने की दशा मे ग्राहक को Credit Memo की केवल एक

प्रति दी जाती है तथा दूसरी विक्रेता अपने पास ही रख लेता है। साख की सुविधा केवल परिचित एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों को ही दी जाती है।

प्रत्येक दिन के अन्त में प्रत्येक विभाग की रोकड़-विक्रय तथा रोकड़-प्राप्ति का मिलान किया जाता है तथा प्रत्येक विभाग की लेखा पुस्तकों में प्रविष्टियाँ की जाती हैं। Credit Memos भी साख-विक्रय विवरण के साथ लेखा-कर्म विभाग को भेज दिये जाते हैं, जहाँ आवश्यक प्रविष्टियाँ की जाती है।

(५) कर्मचारी—वैभागिक भण्डार के विभिन्न विभागों में काम करने के लिये कर्मचारियों की नियुक्ति एक विशेष व्यक्ति, कर्मचारी प्रबन्धक (Personal Manager) द्वारा की जाती है। उसको देखना पड़ता है कि प्रत्येक विभाग के लिये योग्य कर्मचारी नियुक्त किए जायें तथा उनको अपने विभाग की क्रियायें करने में कार्य-क्षम बनाया जाय। यदि आवश्यकता हो तो उनके पूर्व प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की जाय। इसी प्रकार कर्मचारियों को सब विभागों के कार्य में दक्ष करने के उद्देश्य से इनको एक विभाग से दूसरे विभाग में यथासमय बदल दिया जाता है।

(६) भण्डार—जैसा ऊपर संकेत कर चुके हैं कि विभागीय भण्डार में एक पृथक भण्डार भी होता है, यहाँ माल का संग्रह किया जाता है। भण्डार में आने वाला माल तथा प्रत्येक विभाग को भेजा जाने वाला माल सबका विस्तृत ब्योरा एक पृथक रजिस्टर में भण्डारी (Store-keeper) रखता है। वस्तुओं की प्राप्ति पर "बीजक के अनुसार वस्तुयें प्राप्त हुई"—यह भण्डारी अपने हस्ताक्षर से लिखकर बीजक को लेखा-कर्म विभाग में भेज देता है तथा वस्तुओं की प्राप्ति की सूचना विभाग व्यवस्थापक को दे दी जाती है। इस बीजक के आधार पर ही वस्तुओं के विक्रय मूल्य का निर्धारण किया जाता है। समय समय पर भण्डार की वस्तुओं का स्टॉक भी लिया जाता है।

वैभागिक भण्डार के लाभ—

(१) अधिक वस्तुयें खरीदने में बचत—प्रायः ये भण्डार सभी वस्तुओं को अधिक मात्रा में खरीदते हैं, अतः अधिक मात्रा में वस्तुओं का क्रय होने के कारण एक तो, इन्हें अच्छी वस्तुयें मिल जाती हैं और दूसरे वे, सस्ते मूल्य पर भी मिल जाती हैं। इसके अतिरिक्त ये विभिन्न विभागीय वस्तुओं के क्रय के लिये क्रय विशेषज्ञों की नियुक्ति कर सकते हैं।

(६) *व्ययो मे मितव्ययिता*—वस्तुओ के क्रय-विक्रय, व्यवस्थापन एव विज्ञापन आदि का कार्य बहु-परिमाण पर होने के कारण इनके व्यय मे भी मितव्ययिता होती है।

(७) विशेषज्ञों द्वारा कार्य—इन भण्डारो मे प्रायः समस्त कार्य विशेषज्ञो द्वारा किये जाते हैं, अतः प्रत्येक कार्य सर्व श्रेष्ठ, लाभदायक तथा उच्च कोटि का होता है।

वैभागिक भण्डार की हानियाँ—

उपर्युक्त लाभ होते हुए भी विभागीय भण्डार मे निम्न दोष हैं :—

(१) मध्य स्थिति के कारण दूर के ग्राहको को असुविधा—ऐसे भण्डार प्रायः शहर के मध्य मे स्थित होते हैं, जहाँ पर दूर के ग्राहको का जाना सम्भव नही होता, इस कारण ये अपने निजी क्षेत्र की दुकानो से ही अपनी आवश्यकता की सन्तुष्टि कर लेते हैं, क्योकि छोटा फुटकर विक्रेता ग्राहको को अधिक सुविधाएँ देता है।

(२) विशाल पूँजी की आवश्यकता—इनके लिए आकर्षक विशाल भवन की आवश्यकता होती है, बडी मात्रा मे पूँजी तथा माल की जरूरत पडती है तथा अनेक कर्मचारियो की नियुक्ति करनी पडती है। साधारण व्यक्ति के लिए प्रायः इतनी पूँजी एकत्रित करना कठिन हो जाता है।

(३) वस्तुओ का अधिक मूल्य—इस प्रकार के व्यापार मे प्रायः व्यय अधिक होने के कारण वस्तुओ का मूल्य अधिक बढ जाता है, अतः क्रेताओ की सख्या भी कम होती है। केवल धनी वर्ग ही यहाँ आने का साहस कर सकते हैं।

(४) *ग्राहको की कम आवभगत*—ऐसे भण्डारो मे सदैव लाभ नही होता। ये ग्राहको की आवभगत उतनी मात्रा मे नही करते, जितनी कि फुटकर विक्रेता किया करता है। इसका बडा बुरा प्रभाव पडता है। एक बार जाने के बाद ग्राहक पुन. वहाँ जाने का नाम भी नही लेते।

(५) *कुछ विभागो को हानि*—कुछ विभाग ऐसे होते हैं जिन्हे विविधता बनाये रखने के लिए हानि पर ही चलाया जाता है, इस प्रकार लाभ मे कमी आती है।

(६) निशुल्क सेवा के कारण व्ययो मे वृद्धि—इन विभागो मे अनेक निशुल्क सुविधायें दी जाती है, जिनसे व्यय और भी बढ जाता है तथा लाभ की मात्रा घट जाती है।

(७) धनी-मानी ग्राहको का अधिक ध्यान—इनमे केवल धनी-मानी ग्राहको की ओर ही ध्यान दिया जाता है, छोटे-मोटे ग्राहको की चिन्ता नही की जाती, अतएव वे यहाँ आना भी पसन्द नही करते।

(८) कार्यक्षमता की कमी—अधिक पूँजी के अतिरिक्त इन भण्डारो के लिए अधिक कार्य-कुशलता की भी आवश्यकता होती है। यही कारण है कि हमारे देश में ऐसे भण्डार अधिक प्रचलित नही हैं।

(अ) बहु विक्रयशालायें अथवा शृङ्खलाबद्ध दुकानें
(Multiple or Chain shops)

परिभाषा—

बहु-विक्रयशालायें या शृङ्खलाबद्ध भण्डारों की प्रणाली व्यापार की वह पद्धति है जिसमें बहुत सी दुकानें एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत एक ही प्रकार का सामान विक्रय करती हैं। इनका उद्देश्य सब मध्यस्थों को हटाकर उपभोक्ता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना होता है। दुकानें बड़े शहर के कई भागों में तथा राज्य या देश के विभिन्न नगरों में खोली जाती हैं। इन दुकानों में केवल वही वस्तुयें बिकती हैं जो इनका सूत्रधार उत्पादक बनाता है। ग्राहक को आकर्षित करने के लिए कुछ अन्य वस्तुयें भी रखी जाती हैं। इन दुकानों में एक सी सजावट, एक सी किस्म तथा समान मूल्य एवं समान व्यवस्था पाई जाती है। इस समानता के ही कारण ग्राहक स्वाभाविक रूप से इनकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। हमारे देश में इस प्रणाली के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बाटा शू कम्पनी, सिंगर स्वीइङ्ग मशीन तथा ऊषा मशीन की दुकानें हैं। इसके अतिरिक्त एल्गिन मिल्स, कानपुर, जे० सी० मिल्स, ग्वालियर तथा देहली क्लॉथ मिल्स, दिल्ली ने भी अपनी दुकानें खोलकर इस प्रकार का आयोजन किया है।

शृङ्खलाबद्ध दुकानों को भी निम्न तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) वे दुकानें जो केवल एक निश्चित क्षेत्र में ही अपना व्यापार सीमित रखती हैं, जैसे—जे० सी० मिल्स बिरलानगर की ग्वालियर, लश्कर तथा मुरार की विक्रयशालायें अथवा एल्गिन मिल्स, कानपुर की कानपुर शहर की दुकानें।

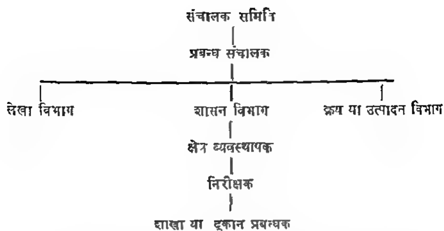
(२) वे दुकानें जो विभिन्न जिलों का एक विक्रय संगठन रखती हैं, जिनके आधीन उस जिले की समस्त विक्रयशालायें रहती हैं, जैसे—बाटा शू कम्पनी की विक्रयशालायें।

(३) वे दुकानें जिनकी विभिन्न शाखायें होती हैं, किन्तु उनके व्यवस्थापकों को क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता रहती है। मुख्य कार्यालय द्वारा वे सारा सामान खरीदती हैं।

इन व्यापारिक संस्थाओं का विकास इङ्गलैंड तथा अमेरिका में बहुत हुआ है, जहाँ लगभग २५% फुटकर व्यापार शृङ्खलाबद्ध दुकानों के ही अधिकार में है। भारत में इनका विकास अब धीरे-धीरे हो रहा है।

बहु विक्रयशालाओं का संगठन—

यह व्यापार प्रायः स्थूल पूँजी वाली कम्पनियों द्वारा चलता है। इनका संगठन भी विभाजित स्टोर की भाँति कम्पनी के रूप में होता है। साधारणतया इनकी व्यवस्था निम्न चित्र के अनुसार होती है :—



प्रत्येक दुकान की देख-रेख और व्यवस्था के लिए एक दुकान प्रबन्धक की नियुक्ति होती है। हर दुकान मे उसके नीचे बहुत से विक्रेता होते हैं, जो उपभोक्ताओ के सम्पर्क मे आते है और उनको सामान बेचते है। दुकानो मे अधिकतर सामान नकद बेचा जाता है। प्रति दिन बिक्री की रकम बैंक मे जमा करा दी जाती है। शाखा कर्मचारियो का वेतन एव अन्य व्यय मुख्य कार्यालय द्वारा दिये जाते है। इस प्रकार शाखाओ मे अधिक हिसाब-किताब रखने की आवश्यकता नही पड़ती और सारा कार्य मुख्य कार्यालय के लेखा विभाग द्वारा होता है। शाखा प्रबन्धक मुख्य कार्यालय को समय समय पर अपनी शाखा के विषय की सूचना देता रहता है। सारे स्थान को, जहाँ-जहाँ दुकाने खोली जाती है, क्षेत्रो मे बाँट दिया जाता है। क्षेत्र का अधिकारी क्षेत्र व्यवस्थापक कहलाता है, जो क्षेत्र निरीक्षको की सहायता से दुकानो का निरीक्षण करता है और अपनी रिपोर्ट प्रबन्ध सचालक को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार प्रबन्ध सचालक भण्डार का सबसे उच्च अधिकारी है, जिसका भण्डार के शासन, क्रय और लेखा विभागो पर पूर्ण अधिकार होता है।

विभाजित स्टोर्स और शृङ्खला भण्डार की तुलना—

विभाजित स्टोर्स और शृङ्खला भण्डार मे अन्तर की मुख्य बाते निम्नलिखित है :—

विभाजित स्टोर्स	शृङ्खला भण्डार
(१) ये ग्राहको की प्रायः सभी आवश्यकतायें पूरी करते है।	(१) ये प्रमुख्यतः उसी वस्तु मे व्यापार करते है, जो उनका सूत्रधार उत्पादक बनाता है। ग्राहको को आकर्षित करने के लिए वे अन्य वस्तुये भी रखते हैं, परन्तु ये वस्तुये सख्या मे थोड़ी ही होती हैं।

(२) इनमें ग्राहकों की सुविधा, भण्डार की चमक-दमक और बहुमूल्य वस्तुयें बेचने की व्यवस्था रहती है।	(२) इनमें दुकान की एकरूपता, विकेन्द्रीयकरण और साधारण वस्तुयें बेचने की व्यवस्था रहती है।
(३) यह स्टोर किसी खास स्थान में स्थापित किया जाता है और इस बात की कोशिश की जाती है कि ग्राहक उसकी ओर आकर्षित हों।	(३) ये सभी शहर में और देश में चारों ओर छिटके रहते हैं। इनकी यह चेष्टा रहती है कि वे यथासम्भव ग्राहकों के समीप पहुँचें।
(४) यह फुटकर व्यापारियों द्वारा स्थापित किया गया व्यापारिक संगठन है।	(४) यह उत्पादक द्वारा स्थापित किया जाता है।
(५) इसकी स्थापना विशेषतः धनिक वर्ग की सुविधा के लिए की जाती है।	(५) यह साधारण जनता की भलाई के लिये है।
(६) इसकी स्थापना के लिए बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है।	(६) इनकी स्थापना में विशेष व्यय नहीं होता।
(७) इनकी सारी पूँजी एक ही स्थान पर लगी रहती है और इनकी उन्नति एक निश्चित क्षेत्र पर ही निर्भर करती है।	(७) इनकी पूँजी विभिन्न स्थानों पर लगी होती है और इनकी उन्नति किसी एक क्षेत्र पर निर्भर नहीं करती। एक दुकान में हुई हानि दूसरी में पूरी हो सकती है।

शृङ्खला भण्डार के गुण एवं दोष

बहु विक्रयशालाओं के लाभ—

(१) इस पद्धति द्वारा सभी वस्तुयें अधिक मात्रा में खरीदी या निर्माण की जाती हैं, इससे उपभोक्ताओं को सस्ते मूल्य पर वस्तुएं मिल सकती हैं।

(२) केन्द्रीय कार्यालय में सब प्रकार के विशेषज्ञों की नियुक्ति करना सम्भव हो जाता है और उनकी सेवाओं का अधिक से अधिक लाभ उठाया जाता है।

(३) मध्यस्थों को दिये जाने वाले लाभ की बचत होती है।

(४) प्रत्येक दुकान की व्यवस्था एवं सजावट आदि में एकरूपता होने के कारण ग्राहक उन दुकानों को सुगमता से पहिचान लेता है तथा एक दुकान की ख्याति का लाभ दूसरी दुकानें भी उठाया करती हैं।

(५) सभी दुकानों का विज्ञापन एक साथ होने के कारण बचत हो जाती है।

(६) इन दुकानों के द्वारा सूचना भेजते ही वस्तुओं की पूर्ति केन्द्रीय भण्डार से हो जाती है, इसलिए इन्हें वस्तुओं का संग्रह रखने की आवश्यकता नहीं होती और न अधिक व्यापारिक स्थान ही घेरना पड़ता है।

(७) इसके साथ ही इनकी वस्तुओं के मूल्य सभी दुकानों पर समान होते हैं, जिससे जनता के मस्तिष्क में इनके प्रति विश्वास अधिक दृढ़ हो जाता है तथा इनकी ग्राहक संख्या भी बढ़ जाती है।

(८) जो सामान एक दुकान पर नहीं बिकता वह दूसरी पर भेजा जा सकता है, जहाँ उसके बिकने की अधिक आशा होती है।

(९) ऐसी दुकानें ग्राहकों के निवास स्थान से अधिक निकट होती हैं, अत. उनको सामान खरीदने के लिये दूर नहीं जाना पड़ता है।

बहु-विक्रयशालाओं के दोष—

(१) इनके कर्मचारी व्यापार बढ़ाने के लिए न तो उतना ध्यान देते हैं और न उतना परिश्रम ही करते है, जितना कि छोटे-छोटे व्यापारी अपनी विक्रय वृद्धि के लिए करते हैं।

(२) ऐसी दुकानों में ग्राहक की ओर व्यक्तिगत ध्यान नहीं दिया जाता।

(३) व्यापार में साख अधिक प्रचलित है, किन्तु ये दुकानें उधार सामान नहीं देती।

(४) इनमें ग्राहकों के घरों में सुपुर्दगी का प्रबन्ध नहीं होता है।

(५) इन शाखाओं की व्यवस्था में बड़ी कठिनाई होती है। कर्मचारियों के कार्य पर निरीक्षण रखना पड़ता है। उनके सुस्त तथा अयोग्य होने पर सारी दूकान तथा समस्त व्यापार कुप्रभावित होता है।

(६) समस्त दुकानों की समान व्यवस्था होने के कारण स्थानीय ग्राहकों की व्यक्तिगत रुचि पूरी नहीं हो पाती।

शृङ्खलाबद्ध दुकानों की अन्तर्व्यवस्था—

शृङ्खलाबद्ध विक्रयशालाओं में साधारणत. जन साधारण के उपयोग की वस्तुओं का विक्रय होता है, अत. इन दुकानों की अन्तर्व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये जो जन-साधारण को अपनी ओर आकर्षित कर सके।

(१) इस दृष्टि से इन दुकानों की स्थिति ऐसे स्थान पर होनी चाहिए जहाँ सर्व-साधारण जनता की पहुँच सुगमता से हो तथा जहाँ प्रति-दिन सहस्त्रों की संख्या में लोग आते जाते हों।

(२) शृङ्खलाबद्ध दुकानों की सजावट प्रायः सब जगह समान होती है। इस प्रकार की दुकानों का भवन भी प्राय. समान होता है, अत. कभी कभी भवन में समानता लाने के लिए दुकान के स्वामियों से भवन में आवश्यक परिवर्तन भी कराये जाते हैं। उदाहरण के लिये, बाटा शू कम्पनी की दुकान साधारणतः प्रत्येक नगर में एक ही प्रकार की होती है। इसी प्रकार बर्मा शैल कम्पनी के पैट्रोल के टैंक भी प्राय. समान ही होते हैं।

(३) दुकान में फर्नीचर आदि का आयोजन इस प्रकार होना चाहिए कि द्वार-

शोभन अथवा काउन्टर की शोभा मे किसी प्रकार भी बाधा न पड़े। दुकान के भीतर प्रत्येक वस्तु का प्रदर्शन इस प्रकार करना चाहिए कि ग्राहको का ध्यान उन पर स्वभावत. पड़े। इस प्रकार यदि समान ढग से सभी दुकानों की सजावट एवं अन्तर्व्यवस्था की जाय तो एक दुकान का ग्राहक अन्य नगरो मे भी उसकी दूसरी शृंखलाबद्ध दुकान से आकर्षित हो जायगा तथा समानता होने के कारण उसे सुगमता से पहचान सकेगा। इसके अतिरिक्त यथासमय मौसमी परिवर्तन के अनुसार ग्राहको की शीतकालीन तथा उष्णकालीन आवश्यकताओ तथा सुविधाओ का आयोजन भी किया जाना चाहिए।

(४) द्वार की शोभा को बढाने के लिए एव ग्राहको को अपनी ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से आजकल विविध प्रकार के विद्युत-प्रकाशो का आयोजन किया जाता है। आज-कल मर्करी ट्यूब्स (Mercury Tubes) का प्रचार अधिक हो रहा है। इनका प्रकाश आँखो को असहनीय न होते हुए वस्तुओं के प्रदर्शन को अधिक प्रभावी एव चित्ताकर्षक बना देता है। विदेशो मे आज-कल प्रकाश के नये-नये साधनो का आयोजन किया जा रहा है, जैसे—गुप्त प्रकाश किरणो का आयोजन। अमरिका तथा योरोपीय देशो मे इनका अधिक प्रयोग हो रहा है। सुशोभन करने से दुकान की शोभा बढती है, विक्रय मे वृद्धि होती है तथा विक्रेता का भी ग्राहक की अधिक सेवा करना सुगम हो जाता है।

(५) शृंखलाबद्ध दुकानो मे वस्तुओ के मूल्य के सम्बन्ध म 'एक मूल्य पद्धति' (One-Price System) का अवलम्बन किया जाता है, जिसमे ग्राहको को मोल-भाव नही करना पड़ता तथा विक्रेताओ को भी सुविधा होती है, क्योकि उनका (एव ग्राहक का भी) व्यर्थ समय नष्ट नही होता। बचे हुए समय मे वह अपने अन्य ग्राहक की ओर अधिक ध्यान दे सकता है। इसी उद्देश्य से विभिन्न वस्तुओ पर मूल्य-दर्शक पत्र लगा दिए जाते हैं। कभी-कभी वस्तुओ का मूल्य मुद्रा की इकाइयो मे (जैसे ५ रु०) न लिख कर गुप्त अंको (Cypher Figures) मे लिख दिया जाता है। ऐसे गुप्तांको का प्रयोग प्राय. उस व्यापार मे किया जाता है जिनमे मोल-भाव किये बिना ग्राहक को सतोष नही होता, जैसे—हीरे, जवाहरात आदि बहुमूल्य वस्तुओ के क्रय के सम्बन्ध मे। इन गुप्तांको से विक्रेता को वस्तु का उचित मूल्य ज्ञात हो जाता है और वह उससे नीचे वस्तु नही बेचता, परन्तु ग्राहको को वास्तविक मूल्य का ज्ञान नही हो पाता, अतः वह उनको मूल्य बताते समय मोल-भाव के लिए पर्याप्त गुंजायश रखता है। इस प्रकार की गुप्तांकन पद्धति का उपयोग (Reduction Sale) के लिए भी अधिक उपयोगी सिद्ध होता है।

(इ) डाक-द्वारा-व्यापार
(Mail Order Business)

परिभाषा एवं उद्देश्य—

डाक द्वारा विक्रय (Shopping by post) का साधारणतया यह अर्थ

होना है कि ग्राहक अपनी आवश्यक वस्तुओ के लिये डाक द्वारा व्यापारी को आदेश भेजते हैं और व्यापारीगण भी डाक द्वारा ही वस्तुएँ भेजते है। इस प्रकार क्रय विक्रय एवं भुगतान सब कुछ डाक द्वारा ही होता है। इस व्यापार मे ग्राहको को वस्तु का परिचय समाचार पत्रो मे अथवा डाक द्वारा पत्र भेजकर विज्ञापन भेजकर कराया जाता है। इस पद्धति मे क्रेता विक्रेता एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से नही जानते। डाकखाने द्वारा ही इन दोनो का सम्बन्ध स्थापित होता है। इनका मुख्य उद्देश्य विपणन की कडियो से मध्यस्थो को हटाना है। प्राय निर्माता इस प्रकार का व्यापार करके अपना सामान सीधे उपभोक्ता को भेजते हैं। यह व्यापार वैभागिक भण्डारो द्वारा तथा अन्य फुटकर विक्रेताओ द्वारा भी किया जाता है इस प्रकार के व्यापार का जन्म सर्वप्रथम अमेरिका मे हुआ। यातायात के साधनो की उन्नति के साथ साथ डाक व्यापार भी शनै.-शनै प्रत्येक देश मे उन्नति करता जा रहा है।

डाक द्वारा व्यापार की लोक-प्रियता के कारण—

(१) डाक द्वारा व्यापार की लोकप्रियता का मुख्य कारण विज्ञापन पद्धति के प्रचार को अपनाना है। (२) रहन सहन के स्तर मे प्रगति भी इसका एक कारण है, जिसमे कितने ही ग्रामीण लोग जिन वस्तुओ को अपने गाँव की दुकानो पर नही पाते, उन्हे वे डाक द्वारा आदेश भेजकर मगा लेते है। (३) डाक द्वारा व्यापार प्रणाली के द्वारा निर्मातागण स्वय अपने विज्ञापन द्वारा वस्तुओ का विक्रय कर सकते है। उन्हे मध्यस्थो की चिन्ता नही करनी पडती। (४) इस पद्धति के अन्तर्गत उपभोक्ताओ को बडी सुगमता से वस्तुयें मिल जाती है।

संगठन एव व्यवस्था—

(१) डाक द्वारा व्यापार के लिए न तो शोभन और न अन्तर्शोभन की आवश्यकता ही होती है, क्योकि इस पद्धति के अन्तर्गत ग्राहको को व्यक्तिगत रूप से आकर्षित करने की आवश्यकता नही पडती। यहाँ व्यवस्थापक केवल अपने घर बैठकर ही व्यापार चला सकता है।

(२) यदि किसी कारणवश वह अपने आपको प्रकट करना न चाहे तथा अपने निवास स्थान को भी गुप्त रखना चाहे तो वह P. O. Box प्रणाली के अनुसार अपने पत्र P. O. Box No. द्वारा मँगवा सकता है। इस प्रकार व्यापार प्रारम्भ करने के लिए न तो अधिक पूँजी की आवश्यकता है और न अधिक मात्रा में माल रखने की ही आवश्यकता है। आवश्यकता है एक कार्यालय, साधारण भण्डार गृह तथा विज्ञापन की।

(३) व्यवस्थापक को परिश्रमी, कार्यकुशल एव सफल विज्ञापक होना चाहिए। कार्यालय मे विभिन्न कर्मचारी रहते है, जो दैनिक पत्र व्यवहार की देखरेख करते है। यही नही, नियमित डाक द्वारा पुराने एव सम्भाव्य ग्राहको से सम्पर्क रखा जाता है। विज्ञापन आदि के कार्यों के लिए विज्ञापन-विशेषज्ञ रहते है, जो ग्राहको

को आकर्षित करने के लिये नये नये विज्ञापन निकाला करते हैं। विज्ञापन थोड़े से स्थान मे सुन्दर, आकर्षक तथा उस वस्तु के विषय मे अधिक से अधिक सूचना देने वाला होना चाहिये। विज्ञापन इतना चुम्बकीय हो कि उसे पढने वाला व्यक्ति यह समझे कि 'अमुक वस्तु का ही खरीदना चाहिये' अथवा 'उसको खरीदे बिना काम ही नही चल सकता।' सफल एव प्रभावी विज्ञापन ही इस पद्धति के व्यापार की आधारशिला है।

(४) ऐसा व्यापार प्रारम्भ करने से सर्व प्रथम व्यवस्थापक को उन समस्त ग्राहको की एक सूची तैयार करनी चाहिये, जो उसके माल को खरीदने के लिये तैयार हो। एक व्यवस्थापक विभिन्न प्रकार की वस्तुओ मे व्यापार कर सकता है। प्रत्येक वस्तु के विक्रेताओ की एक पृथक सूची तैयार की जाती है। ग्राहको के नाम टेलीफोन डाइरेक्टरी, मोटर मालिको की सूची, ट्रेड डाइरेक्टरी, भारतीय इयर-बुक आदि मे एकत्रित किये जा सकते हैं। इस सूची को समय-समय पर दुहराते रहना चाहिए। जिन ग्राहको से पत्र-विज्ञापन आदि भेजने पर भी कोई उत्तर न मिले उनका नाम डाक-सूची (Mailing List) से काट देना चाहिये तथा नये सम्भाव्य ग्राहको के नाम जोड़े जा सकते है। अमेरिका मे इस डाक सूची को अत्यन्त सुरक्षित रखा जाता है, क्योकि इसी के आधार पर वहाँ के बड़े बड़े फर्मे प्रति वर्ष करोड़ो डालरो का व्यापार डाक द्वारा करते हैं।

(५) सूची-पत्र जो डाक द्वारा ग्राहको को भेजा जाय उसका आकार उपयुक्त होना चाहिए। उसे मोड़कर भेजना भी एक कौशलपूर्ण कार्य है। साथ ही, उसकी सजावट एव विवरण, लिखने की पद्धति भी अत्यन्त आकर्षक होनी चाहिये। यदि इस व्यापार मे सफलता प्राप्त करना है तो वस्तु उत्पादन, कागज, छपाई तथा चित्र, सूचीपत्र की समस्त सजावट मे लेशमात्र भी कृपणता नही दिखानी चाहिये।

(६) डाक द्वारा व्यापार के लिये अधिक विक्रय होना आवश्यक है, अतः व्यापारी मे वस्तुओ के स्वरूप को स्पष्ट, निश्चित एव सूक्ष्म रूप मे उल्लेख करने की योग्यता होनी चाहिये। उसमे ग्राहको के हृदय मे रुचि एव लालसा जागृत करने का निपुणता का होना अत्यावश्यक है।

(७) डाक द्वारा व्यापार केवल उन्ही वस्तुओ मे सम्भव है जिनका प्रमापीकरण तथा श्रेणीयन हो गया है। प्रमापीकरण की दशा मे ग्राहक को इस बात का सतोष होता है कि उसे एक निश्चित प्रमाप तथा श्रेणी की तथा विशिष्ट ट्रेडमार्क की वस्तु मिलेगी। वस्तु को किस्म के विषय मे उसे चिन्ता नही करनी पडती। डाक द्वारा व्यापार ऐसी वस्तुओ मे सम्भव नही होता जिनकी कल्पना क्रेता को उनके वर्णन से नही हो सकती। माल ऐसा होना चाहिए जिसको यातायात मे किसी प्रकार की क्षति पहुँचने की आशंका न हो।

(८) डाक द्वारा माल मँगाने मे क्रेता को तीन आकर्षण होते हैं; प्रथम, उन वस्तुओ के मूल्य स्थानीय बाजार मे कम होना। दूसरे, डाक द्वारा घर तक सामान

आने की सुविधा तथा तीसरे, वस्तुओं के विवरण से उनकी पूर्ण कल्पना होना जिन वस्तुओं में ये तीन बातें पूर्ण हो जाती है, उनमें डाक द्वारा व्यापार अधिक यशस्विता के साथ अपनाया जा सकता है।

भारत में डाक द्वारा व्यापार अधिक लोकप्रिय नहीं—

(१) हमारे देश में डाक द्वारा व्यापार अभी तक लोकप्रिय नहीं हुआ ,क्योंकि — यहाँ की अधिकांश जन-संख्या अशिक्षित, अज्ञानी एवं रूढ़िवादी है। पत्र-व्यवहार द्वारा क्रय-विक्रय की प्रणाली से वे परिचित नहीं हैं।

(२) औद्योगीकरण का अधिक बोल-बाला होते हुए भी हमारा देश कृषि प्रधान है, जिससे उत्पादन का प्रमापीकरण एवं श्रेणीयन अभी उस स्तर पर नहीं हुआ है जितना कि पाश्चात्य औद्योगिक राष्ट्रों में हो चुका है।

(३) यातायात एवं संदेशवाहन के साधनों की अभी उतनी प्रगति नहीं हुई है जितनी पाश्चात्य देशों में।

(४) कृषि प्रधान होने के कारण यहाँ कृषि वस्तुओं का अधिक उत्पादन होता है, जो डाक द्वारा नहीं भेजी जा सकती और जिनका नमूना देखे बिना ग्राहक उनकी समुचित कल्पना नहीं कर सकता। फिर कृषि सम्बन्धी वस्तुओं का भी प्रमापीकरण एवं श्रेणीयन भी पूर्णतः नहीं हुआ है।

(५) विज्ञापन कला, जो ऐसे व्यापार की आधारशिला है, में भी भारत काफी पिछड़ा हुआ है। डाक द्वारा बढ़ते हुए व्यापार को कमेटी और धोखेबाज व्यापारियों ने बहुत रोक दिया है। किसी भी व्यक्ति को केवल एक ही बार धोखा दिया जा सकता है। जब लोगों ने यह अनुभव किया कि उन्हें एकसा समय देने वाली घड़ियों के विज्ञापन पर अच्छा मूल्य देने पर भी बच्चों की घड़ी मिली अथवा जब समस्त दर्दों की रामबाण दवा के विज्ञापन पर पानी भरी शीशी मिली तो उनका विश्वास ऐसे विज्ञापनों पर से हट गया और डाक द्वारा व्यापार की प्रगति धीमी पड़ गई।

डाक-द्वारा व्यापार के लाभ

ग्राहकों को लाभ—

(१) ग्राहक को वस्तु को लेने के लिए स्वयं नहीं जाना पड़ता, डाक द्वारा वस्तु ही उसके घर तक आ जाती है।

(२) प्रतियोगिता के कारण ग्राहक को अन्य पद्धतियों की अपेक्षा यहां वस्तु सस्ती भी मिल जाती है।

(३) डाक द्वारा क्रय की दशा में ग्राहक को यह विश्वास हो जाता है कि माल प्रमापित होगा। दुकान पर क्रय करने की दशा में किसी समय चुनाव करने के कारण वस्तु का खराब एवं कम उपयोगी होना सम्भव हो सकता है।

व्यवस्थापक को लाभ—

(१) व्यापारी को कीमती दूकान और सजावट आदि की आवश्यकता नही पडती । उसका कार्यालय कही भी हो सकता है

(२) उनको विक्रेताओ की भी आवश्यकता नही होती और इस कारण उनके वेतन, कमीशन आदि पर खर्च नही करना पडता ।

(३) नकद व्यापार करने के कारण रुपया मारे जाने का डर भी नही रहता ।

(४) जहाँ तक डाक जा सकती है वहाँ तक व्यापारी भी अपनी वस्तुयें और विज्ञापन भेज सकते हैं । इस कारण उनका कार्य क्षेत्र काफी विस्तृत हो जाता है ।

(५) ये लोग निर्माता, थोक विक्रेता और फुटकर विक्रेताओ से स्वतत्र रहते हैं, अत. ग्राहको को अधिक कमीशन दे सकते हैं ।

(६) इस प्रकार के व्यापार मे वस्तुओ का सग्रह नही करना पडता । कम पडने पर बिना ग्राहक के जाने ही उत्पादक से माल प्राप्त किया जा सकता है । इस प्रकार वे कम पूँजी से भी काम चला सकते हैं ।

(७) वे विज्ञापन भी बडी कुशलता के साथ करते हैं, क्योंकि इनका तो व्यापार ही विज्ञापन पर निर्भर है ।

दोष—

(१) ग्राहको को सामान देख-भाल कर लेने की सुविधा नही होती ।

(२) डाक द्वारा माल मगाने मे ग्राहक यह भी नही जान पाते कि वे किस व्यक्ति से व्यवहार कर रहे हैं।

(३) ग्राहक को कोई वस्तु उधार नही मिल सकती ।

(४) वे लोग कभी-कभी झूठे और चालबाज लोगो के चगुल मे फँस जाते हैं, जो झूठे प्रचार से जनता को फाँसने की कोशिश करते हैं ।

(५) यदि ग्राहक वस्तु की उपयोगिता या गुण के बारे मे कुछ पूछना चाहे तो बार-बार पत्र लिखना पडता है ।

(६) उनको सामान मिलने मे भी देरी होती है, क्योंकि आदेश भेजने तथा सामान प्राप्त करने मे काफी समय लगता है ।

(७) अनपढ ग्राहको के लिये यह पद्धति बेकार है ।

(८) व्यापारी चाहे जितना प्रयत्न करे वह विज्ञापन तथा सूची पत्र के द्वारा उतना प्रभाव उत्पन्न नही कर सकता जो ग्राहक पर वस्तु को देखने-भालने से सहज ही हो जायगा ।

(९) व्यापारी के लिये यह असम्भव है कि वह हर प्रकार के ग्राहक की रुचि का ख्याल रख सके, इसलिये उसके ग्राहक अधिक नही बनते ।

(१०) ग्राहको से परिचय न होने के कारण वह उन्हे उधार माल नही दे सकता । इस कारण उसे अपने ग्राहक निराश करने पडते हैं ।

डाक व्यापार की सफलता के लिए आवश्यक बातें—

(१) जन-संख्या बिखरी होना—ऐसी दशा मे प्रत्येक के लिए किसी दुकान तक पहुँचाना आसान न होगा। उदाहरण के लिये, नव स्थापित शहरी कॉलोनियो मे वस्तुओं की दुकाने सुलभ नही है, अत. यहाँ के लोग डाक द्वारा व्यापार पर सुविधा से निर्भर हो जाते हैं।

(२) ग्राहको का विश्वास पाना—जनता का विश्वास सम्पादन करने के लिये कभी-कभी ग्राहको को असन्तुष्ट होने पर वस्तुओ की कीमत डाक व्यय सहित लौटा देनी चाहिये। उन्हे खास तौर से इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उनकी वस्तुये विज्ञापन मे दी गई घोषणा के समान सुन्दर हो।

(३) कम मूल्य का आकर्षण—इस प्रकार से माल बेचने के लिये साधारणत. कम मूल्य का आकर्षण अधिक काम का सिद्ध होता है। प्राय. सूची-पत्र आदि मे लिखे हुए मूल्य को लोग स्थानीय बाजार मे जाकर मिलाते हैं और जब मूल्य बाजार से सस्ता होता है अथवा बाजार मे वे वस्तुएँ उस मूल्य पर नही मिलती तब ही वे डाक द्वारा आदेश देकर वस्तुयें मँगाते है।

(४) पर्याप्त मात्रा मे आदेश—कम मूल्य पर सेवायें तभी सुलभ की जा सकती है जब पर्याप्त मात्रा मे आदेश प्राप्त किये जा सकते हो।

(५) सुन्दर ढङ्ग से विज्ञापन—विज्ञापन अधिक से अधिक सुन्दर ढङ्ग से किया जाय। सूची-पत्र आदि बहुत सुन्दर और मनमोहक छपे होने चाहिये।

(६) ग्राहको से लगातार सम्पर्क—इस व्यापार मे उसी समय अच्छी सफलता मिल सकती है जबकि ग्राहको से लगातार समाचार प्राप्त किय जाये, उनके पास पत्र भेजे जाये तथा समय की पाबन्दी की ओर अच्छी तरह ध्यान दिया जाये।

(ई) एक मूल्य की दूकान
(One Price Shop)

इन दुकानो मे समस्त वस्तुओ के मूल्य एक ही होते हैं, अर्थात् विभिन्न वस्तुओं को एक ही मूल्य पर बेचा जाता है। ऐसे व्यापारी 'हर माल मिलेगा चार आने' या इसी प्रकार चिल्ला चिल्ला कर अपना माल बेचने का प्रयत्न करते है। इनका सामान ठेलो, चार पहिये वाली गाडी या हाथो मे ही पल्लडो मे रहता है। कभी-कभी पटरी पर एक कोन मे बैठे हुए भी य अपना माल बेचते हैं।

एक मूल्य की दुकानो के गुण—

(१) ग्राहक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का यह मनोवैज्ञानिक ढङ्ग है और काफी सफल सिद्ध हुआ है।

(२) यह गरीब जनता के लिए बहुत उपयुक्त हैं, जो विभिन्न प्रकार का सामान तो अपने पास रखना चाहते है, परन्तु साधन नही होता। इन दुकानो मे कम मूल्य होने के कारण वे उन्हे बहुत पसन्द करते हैं।

एक मूल्य की दुकानों के दोष—

(१) इस प्रकृति की दुकानें सस्ते और साधारण सामान के लिए ही खोली जा सकती है।

(२) पढ़े-लिखे और धनिक वर्ग के व्यक्तियो के लिए ऐसी दुकानें उपयोगी सिद्ध नही होती। वे लोग उनको नापसन्द करने लगे हैं।

(उ) कम्बिनेशन स्टोर या सुपर मार्केट

विभिन्न प्रकार की फुटकर संस्थाओ के मध्य प्रतिस्पर्धा ने अमेरिका मे दो महायुद्धों की अवधि के बीच मे एक नये प्रकार की फुटकर व्यापारिक संस्था को जन्म दिया है, जिसे 'कम्बिनेशन स्टोर' या 'सुपर मार्केट' (Combination Store or Super Market) कहते हैं। ये स्टोर परचूनिये और मांस का काम करते हैं। इनकी प्रमुख विशेषता यह है कि उनमे कोई विक्रेता-क्लर्क नहीं होते। ग्राहक स्वयं स्टोर में जाता है, जहां कि सामान सुनिश्चित विभागो मे खुले खानों मे सजा हुआ रखा होता है। वह अपनी इच्छानुसार सामान पसन्द करता है और एक ट्राली पर ट्रे मे रख लेता है। हां, जो सामान काटने वाला होता है, उसको बेचने के लिये विक्रेता क्लर्क की व्यवस्था होती है। ग्राहक ट्राली को ढकेल कर विभाग के दरवाजे पर लाता है, जहाँ काउन्टर बनी होती है। वहाँ वह सामान के दाम चुकाता है। इन स्टोरो से ग्राहक और विक्रेता दोनो को ही लाभ होता है। नकद भुगतान करके ग्राहक उधार सम्बन्धी व्यय बचा लेता है। अपना सामान स्वयं घर ले जाकर वह डिलीवरी देने का खर्च भी बचा लेता है। ग्राहक सुपर मार्केट से सस्ते मूल्य पर सामान प्राप्त कर लेता है, क्योंकि सुपर मार्केट अधिक मात्रा मे माल खरीद कर उसे सस्ते मूल्य पर बेच सकते हैं। सुपर मार्केट या स्टोर मे अनेक प्रकार का सामान मिल जाता है। वह चाहे जितना समय सामान के चुनाव मे लगा सकता है। विक्रेता व्यापारी को यह लाभ होता है कि उन्हे विक्रेता क्लर्क कम रखने पडते है या बिलकुल नही रखने पडते।

(ऊ) विक्रय मशीन

प्रगतिशील देशो मे 'प्रमाप' किस्म के सामान (Standardised products) बन्द पैकिटो मे स्वचालित मशीनो (Vending machines) द्वारा बेचे जाने लगते हैं। छेद मे आवश्यक सिक्के डालने पर सामान मशीन मे से निकल कर बाहर आ जाता है। इन मशीनो को इमारत के बाहर या भीतर रखा जा सकता है। एक आदमी ६०० मशीनें चला सकता हैं।

(ए) क्रयावक्रय पद्धति
(Hire Purchase System)

परिभाषा—

क्रयावक्रय माल बेचने की एक अनोखी प्रणाली है, जिसमे क्रेता तथा विक्रेता दोनों पक्षकारो को लाभ होता है। इस पद्धति के अन्तर्गत क्रेता एवं विक्रेता के बीच

किसी वस्तु के विक्रय के सम्बन्ध मे एक अनुबन्ध होता है, जिसके अनुसार क्रेता वस्तु का क्रय करता है, तथा उसका मूल्य निश्चित अंशो मे तथा निश्चित अवधि मे देता रहता है, जब तक कि उसके मूल्य का कुल भुगतान न हो जाये। इस पद्धति का आविष्कार वस्तुओ के विक्रय मे वृद्धि करने एव मध्यम वर्ग के ग्राहको को सुविधा देने के लिए किया गया है। वस्तु का क्रय करते समय क्रेता केवल मूल्य का थोडा सा भाग देता है और शेष भाग मासिक, छमाही अथवा वार्षिक किश्तो मे चुकाया जाता है। इस प्रणाली के अनुसार ज्यो ही पहली किस्त चुकाई जाती है, वस्तु क्रेता को सौंप दी जाती है, किन्तु उसका स्वामित्व विक्रेता के पास ही रहता है। हाँ, वस्तु का क्रेता उसे प्रयोग कर सकता है और जब वह मूल्य की अन्तिम किश्त चुकाता है, वह वस्तु का स्वामी बन जाता है। यदि क्रेता किसी किश्त के चुकाने मे असमर्थ रहता है तो वस्तु विक्रेता द्वारा वापिस ले ली जाती है और जो कुछ राशि वह विक्रेता को देता है, वह वस्तु के उपयोग का किराया समझा जाता है।

क्रयावक्रय पद्धति के प्रमुख लक्षण निम्न हैं :—

(१) इसमे माल उधार दिया जाता है।

(२) जो माल उधार दिया जाता है, उसका मूल्य धीरे धीरे किश्तो मे चुकाया जाता है।

(३) पहली किश्त के मिल जाने के बाद वस्तु के उपयोग का अधिकार क्रेता को दे दिया जाता है, किन्तु स्वामित्व विक्रेता के ही पास रहता है।

(४) किश्त के न चुकाये जाने पर माल वापिस कर दिया जाता है और पूर्व चुकाई गई किश्तो को किराये के रूप मे काट लिया जाता है।

(५) क्रयावक्रय मे वैधानिक तौर पर अनुबन्ध कर लिया जाता है, जो कि क्रेता तथा विक्रेता दोनो के लिए ही मान्य होता है।

इस प्रकार की पद्धति इङ्गलैंड, अमरीका आदि पाश्चात्य देशो मे रेडियो, सिलाई की मशीन, मोटर, टाइपराइटर आदि के विक्रेता अपनाते हैं। भारत मे भी ऊषा सिलाई कम्पनी ने इस प्रणाली को अपनाया है।

क्रयावक्रय पद्धति किन वस्तुओ के लिए उपयोगी है ?—

क्रयावक्रय की जाने वाली वस्तुओ मे निम्नलिखित आवश्यक बातें होनी चाहिए :—

(१) यह अलग इकाई होनी चाहिए, जिसको अलग से ही पहिचाना जा सके और आवश्यकता पड़ने पर व्यापारी उस पर अपना स्वामित्व कर सके।

(२) वस्तु मे स्वामित्व होना चाहिए, जिससे कि माल अधिक समय तक अच्छी दशा मे रह सके और माल का अधिकार वापिस लेने पर उसमे अधिक दोष पैदा न हो जायें।

(३) वस्तु नये फैशन के अनुकूल होनी चाहिए तथा उसमे यथोचित परिवर्तन करने की भी गुञ्जाइश हो, जिससे कि उसका पुरानापन मिटाया जा सके।

(४) वस्तु ऐसी हो जिसको कि क्रेता लेना चाहे तथा दीर्घ समय तक उसका उपयोग कर सके। वह ऐसी न हो कि जिससे उपभोक्ता थोड़े ही दिनों में ऊब जाय।

(५) वस्तु ऐसी हो जिसको सुविधा से एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटाया जा सके अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर विक्रेता उसे पुनः प्राप्त कर सके।

(६) वस्तु विवरण-योग्य होनी चाहिए, जिससे कि यथेष्ठ विवरण के द्वारा उसकी मांग को बढ़ाया जा सके।

(७) उसका मूल्य अधिक होना चाहिए, जिससे कि उसके भुगतान में उचित किस्तों की व्यवस्था की जा सके तथा उसके लिए अनुबन्ध लिखने की आवश्यकता हो।

(८) उसमें इतना लाभ होना चाहिए कि विक्रेता को उसमें हुए व्यय तथा लगी हुई पूंजी का ब्याज मिल सके।

सारांश में, सिलाई की मशीनें, टाइपराइटर, रेडियो, फर्नीचर, मोटर आदि इस प्रकृति की उपयुक्त वस्तुएं हैं।

क्रयविक्रय पद्धति के लाभ

(I) क्रेता की दृष्टि से लाभ—

(१) ग्राहक मूल्यवान् वस्तुयें भी सुविधापूर्वक खरीद सकता है तथा उसका उपयोग कर सकता है।

(२) वस्तु का मूल्य किश्तों में चुकाने से ग्राहक को बड़ी सुविधा हो जाती है।

(३) किश्त का भुगतान करने के लिए क्रेता को कुछ न कुछ बचत करनी पड़ती है। इस प्रकार उसमें मितव्ययिता की भावना बढ़ती है।

(४) जब तक किश्तों का भुगतान पूर्णतः न हो जाय, उस अवधि में यदि वस्तु टूट-फूट जाय तो विक्रेता के कारीगर उसकी मरम्मत मुफ्त में करते हैं।

(५) छोटे-छोटे उद्योगों व मध्यम वर्ग के लोगों के लिए यह प्रणाली बड़ी लाभदायक है। एक निम्न वर्ग के अल्प आय वाले नागरिक सीने की मशीन इत्यादि इस पद्धति के अनुसार खरीद कर अपनी जीविका चला सकते हैं तथा वस्तु का मूल्य चुकाने से ही पूर्व सब राशि उसके उपयोग से वसूल कर सकते हैं।

(II) विक्रेता के लिए लाभ—

(१) विक्रेता की विक्रय में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि होती है।

(२) क्रेता बार-बार विक्रेता के पास आता है, अतः कभी-कभी अन्य वस्तुएं भी खरीद लेता है।

(३) विक्रेता को ठीक समय पर किश्त का रुपया (ब्याज सहित) मिल जाता है और उसके एकत्रित करने में उसे कुछ भी व्यय नहीं करना पड़ता।

(४) यदि विक्रेता को पूंजी की आवश्यकता हो तो वह अपने क्रयावक्रय अनुबन्धों के प्रतिभूति से **कम ब्याज पर पूंजी** उधार ले सकता है। इसके पश्चात् क्रेता अपनी किस्तों की राशि विक्रेता के ऋणदाताओं को देगा।

क्रयावक्रय पद्धति के दोष

(I) क्रेता की दृष्टि से दोष—

(१) क्रेता को किस्तों मे नकद मूल्य (Cash price) से अधिक मूल्य देना पड़ता है, क्योंकि इसमें ब्याज, घिसाई आदि अनेक राशियाँ शामिल होती हैं।

(२) प्रथम किस्त मे क्रेता को अधिक राशि देनी पड़ती है और उसे अन्य किस्तें न देने पर उसका वस्तु पर से अधिकार छिन जाने पर अधिक हानि होती है।

(३) मध्यम वर्ग वाले व्यक्तियों के पास किस्त की राशि देने के बाद बहुत कम धन बचता है, जिससे उनका जीवन-स्तर कुप्रभावित होता है।

(४) क्रेता वस्तु का भुगतान करने के लिए वस्तु को न तो बेच ही सकता है और न गिरवी रख सकता है, अतः कभी-कभी किस्त चुकाने में उसे बड़ी असुविधा होती है।

(II) विक्रेता की दृष्टि से दोष—

(१) ऐसे व्यापार के लिए विक्रेता को अधिक पूँजी की आवश्यकता पड़ती है।

(२) पूँजी के डूब जाने का भय रहता है।

(३) जब कोई क्रेता किस्त का चुकारा नहीं कर पाता तो वस्तु तो वापिस मिल जाती है, किन्तु प्रयोग मे लाने के कारण उसका मूल्य कम हो जाता है। फिर उसको निकालना एक समस्या हो जाती है।

(४) कभी-कभी विक्रेता को वस्तु की हानि भी हो जाती है, यदि वह क्रेता के दिवालिया होने पर राजकीय प्रापक के अधिकार मे चली जाय।

भारत में क्रयावक्रय की कठिनाइयां –

हमारे देश मे क्रयावक्रय पद्धति को अभी विशेष प्रोत्साहन नही मिला है, क्योंकि यहां मूल्यवान वस्तुओं की उतनी मांग नही है, जितनी कि योरोपीय अथवा अमेरिकन देशों मे। इस पद्धति के प्रचलन मे भारतवर्ष मे निम्न असुविधायें है :—

(१) **विक्रेताओं के पास पूंजी की कमी**—भारतीय व्यापारियों के पास इतनी पूंजी नही है कि वे अपने गोदाम मे अधिक मूल्यवान वस्तुएं रख सकें तथा उनके लिए ग्राहक ढूंढ सके। यदि भाग्य मे मिल भी जाय तो इस पद्धति की शर्तों के

अनुसार उनको वस्तु का सम्पूर्ण मूल्य एक दम नहीं मिलता और इस प्रकार उनकी समस्त पूँजी रुक जाती है। जब तक समस्त किस्तों का रुपया चुका नहीं दिया जाता तब तक वह नया माल मँगाने मे असमर्थ रहता है। इस प्रकार उसके व्यापार की प्रगति रुक जाती है।

(२) उपभोक्ताओं द्वारा दूषित ढङ्ग से वस्तु का उपयोग—भारत मे उपभोक्तागण वस्तु के प्रयोग की सही पद्धति नहीं अपनाते और न नियमानुसार उसका मूल्य ही चुकाते है। कभी-कभी ऐसे विक्रेता को न तो अपनी वस्तु ही सुरक्षित रूप से मिलती है और न उसका मूल्य ही मिलता है और परिणामस्वरूप उसे बड़ी हानि उठानी पड़ती है। यही कारण है कि भारतीय विक्रेता, जिनके पास सीमित पूँजी है, क्रयावक्रय व्यापार मे हाथ डालने मे सकोच करते है।

(३) विशिष्टीकरण का अभाव—क्रयावक्रय व्यापार की दिशा मे अभी भारतीय व्यापारियों ने विशिष्टीकरण भी प्राप्त नहीं किया है। जो व्यापारी इसमे कुशल होते हैं वे अपनी वस्तु का मूल्य इस प्रकार लगाते हैं कि उसमे उनकी ब्याज, खर्च तथा छीजन का मूल्य भी मिल जाता है और वे इस प्रकार की व्यवस्था करते हैं कि बुरे ग्राहकों की हानि अच्छे ग्राहकों मे पूरी हो सके, किन्तु हमारे देश मे इस प्रकार की व्यवस्था अनेक दृष्टियों से सम्भव नहीं है।

(४) निम्न जीवन-स्तर—निम्न जीवन-स्तर के कारण भी भारतीय उपभोक्ता रेडियो, मोटर, भारी मशीनें आदि विलासिता के पदार्थ बहुत कम खरीदते हैं, अत. मूल्य को किस्त मे चुकाने की सुविधा होने पर भी यह प्रणाली लोकप्रिय न हो सकी।

(५) पृथक अधिनियम का अभाव—हमारे देश मे क्रयावक्रय व्यापार का सचालन अनुबन्ध अधिनियम के ही आधीन होता है और इसके लिए कोई पृथक सन्नियम नहीं है।

भारतवर्ष में सिङ्गर मशीन कम्पनी, ऊषा कम्पनी, हिन्दुस्तान मोटर वर्क्स लिमिटेड आदि संस्थाओं ने इस प्रणाली को विशेष प्रोत्साहन दिया है एवं उनको सफलता मिली है।

क्रयावक्रय व्यापार क्योंकर सफल हो ?—

क्रयावक्रय व्यापार की सफलता के लिए निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए :—

(१) वस्तु का मूल्य नगद-मूल्य (Cash Price) से अधिक होना चाहिए, किन्तु यह अतर अधिक न हो।

(२) किस्त की राशि एव अवधि का निर्धारण सावधानी से करना चाहिए, पहली किस्त इतनी होनी चाहिए कि उसमे दुबारा विक्रय का मूल्य किसी भी समय जोड़ देने पर वह कुल मूल्य के समान हो जाय। किस्त चुकाने की अवधि वस्तु के जीवन काल से कम होनी चाहिए।

(३) क्रेता से उसकी आर्थिक स्थिति, किस्तो के भुगतान करने की क्षमता, उसकी ईमानदारी आदि बातो के सम्बन्ध मे जांच-पड़ताल करके अनुबन्ध करना चाहिए। अनुबन्ध मे किस्तो की राशि एवं अवधि आदि का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए।

(४) अनुबन्ध पर दोनो पक्षकारो के हस्ताक्षर होने चाहिये। पहली किस्त पाते ही क्रेता को वस्तु देकर रसीद ले लनी चाहिए। इसके बाद ठीक-ठीक हिसाब रखना चाहिए। किस्त समय पर वसूल कर लेना चाहिए। यह भी देखना चाहिए कि क्रेता वस्तु का दुरुपयोग तो नही करता, उसको ठीक दशा मे रखता है अथवा नही।

(५) कभी-कभी विक्रेता, क्रेता से वस्तु एवं उसका स्वयं (क्रेता) का बीमा कराने को कहता है, जब तक कि कुल मूल्य का चुकारा न हो जाय। कुल मूल्य चुकाने पर पॉलिसी क्रेता के नाम कर दी जाती है और यदि दुर्भाग्य से क्रेता की मृत्यु पहले हो जाय तो पॉलिसी की राशि से वह अपना मूल्य वसूल कर सकता है।

(ऐ) प्रभाग भुगतान पद्धति
(Instalment Payment System)

परिभाषा—

प्रभाग भुगतान पद्धति वास्तव मे क्रयावक्रय पद्धति की संशोधित आवृत्ति है। इस पद्धति के अन्तर्गत पहली किश्त देने पर ही क्रेता वस्तु का स्वामी बन जाता है एवं सामयिक किश्तो मे वस्तु को बेचने का अधिकार उसको मिल जाता है। तत्पश्चात् वह शेष मूल्य चुकाता रहता है। यदि किसी समय वह किश्त का भुगतान करने मे अपने को असमर्थ पाता है तो वह वस्तु को बेचकर प्राप्त राशि से किश्त का भुगतान कर सकता है।

क्रयावक्रय एव प्रभाग पद्धति मे केवल इतना ही अन्तर है कि क्रयावक्रय मे जब तक क्रेता वस्तु का पूरा मूल्य न चुका दे, स्वामित्व विक्रेता के पास ही रहता है और किसी किश्त के न चुकाने पर विक्रेता वस्तु को क्रेता के अधिकार से नही ले सकता, किन्तु *प्रभाग पद्धति के अन्तगत पहली किश्त के भुगतान पर ही क्रेता* वस्तु का पूर्ण स्वामी बन जाता है और यदि कोई किश्त चुका न सके तो विक्रेता वस्तु को उसके अधिकार से नही ल सकता। वह तो केवल शेष राशि के लिए ही वैधानिक कार्यवाही कर सकता है।

प्रभाग भुगतान पद्धति के गुण—

(१) इस पद्धति के द्वारा ग्राहक अर्थ संकट से मुक्त हो जाता है, क्योकि उसे सारा मूल्य एक दम नही चुकाना पडता है।

(२) इस पद्धति के अन्तर्गत क्रेता को विक्रेता से वे समस्त सुविधायें प्राप्त होती है जो कि एक थोक व्यापारी फुटकर व्यापारियो को देता है अर्थात् वह ग्राहको को उस समय माल देकर सहायता पहुँचाता है, जबकि उनके पास यथेष्ठ धन नही होता।

(३) इससे व्यापार बढ़ता है, क्योंकि छोटी आय वाले व्यक्ति भी अधिक मूल्य वाले आवश्यक माल को खरीद सकते हैं।

(४) उत्पादन आदि के लिए वस्तुएँ खरीदने मे सुविधा हो जाती है, क्योंकि उस वस्तु से ही कमा कर वस्तु का मूल्य चुकाया जा सकता है।

(५) प्रथम किश्त देकर ही माल का स्वामित्व प्राप्त हो जाता है और आवश्यकता पड़ने पर बिना पूरे मूल्य का भुगतान किये ही सुविधा के साथ बेच सकता है।

(६) क्रयविक्रय के समस्त लाभ भी इस पद्धति मे मिल जाते हैं।

प्रभाग भुगतान पद्धति के दोष—

(१) मन्दी होने पर क्रेता को बड़ा नुकसान होता है, क्योंकि उसे वस्तु का अनुबन्ध-मूल्य ही चुकाना पड़ता है।

(२) विक्रेता के ऋण डूबने का डर है, क्योंकि माल बिकते ही क्रेता की सम्पत्ति हो जाती है और उसके दिवालिया हो जाने पर बेचारे विक्रेता को न तो माल ही मिल पाता है और न उसका पूरा मूल्य ही।

(३) क्रेता मे मितव्ययिता की भावना को प्रोत्साहन नहीं मिलता। वह सोचता है कि किसी किश्त को न चुकाने की दशा मे वह माल बेचकर भी किश्त चुका सकता है, अतः वह रुपये तभी बचाता है जब सुविधा मे बचा सके।

(४) तेजी आने पर वस्तु का मूल्य अनुबन्ध मूल्य के बराबर हो जाता है और विक्रेता को उसकी पूँजी रखने पर भी पर्याप्त ब्याज और अन्य व्यापारिक लाभ नहीं हो पाते।

(५) यह पद्धति उन वस्तुओं के लिए उपयोगी नहीं होती जिनका उपभोग माल का मूल्य चुकाने के पहले हो जाता है।

सारांश मे, इस पद्धति की सफलता वस्तु की प्रकृति तथा गुण पर निर्भर रहती है।

सरकार एवं नगरपालिकाओं द्वारा व्यवसाय

(State and Municipal Trading)

सरकार अथवा नगरपालिकायें भी कुछ ऐसी वस्तुओं मे व्यवसाय करती हैं, जो जनता के हित मे हो। जिन व्यवसायों को सरकार या नगरपालिकायें करती है, उनमे उनका एकाधिकार रहता है। मध्य-भारत रोडवेज, उत्तर प्रदेश रोडवेज, दिल्ली ट्रान्सपोर्ट सर्विस, कानपुर इलेक्ट्रिक सप्लाई कॉरपोरेशन आदि राजकीय व्यवसायों के उदाहरण हैं। कभी-कभी व्यक्तिगत व्यवसाय की प्रतिस्पर्धा मे भी सरकार या नगरपालिकाओं द्वारा व्यापार किया जाता है। युद्ध युग मे सरकार ने जब कन्ट्रोल किया था तो उसने उचित मूल्य की दुकाने (Fair-Price Shops) खोली थी, जहाँ से जनता को उचित मूल्य पर आवश्यकता की वस्तुएँ मिलती थी।

सहकारी भंडार
(Co-operative Stores)

सहकारी भण्डार से आशय—

'उपभोक्ता सहकारी स्टोर' से अभिप्राय उन दुकानों से है जो मध्यस्थों के लाभ से बचने के लिए तथा वस्तुयें सुगमता से प्राप्त करने के लिए उपभोक्ताओं द्वारा बराबरी के आधार पर मिलकर चलाई जाती हैं। बहुत से उपभोक्ता, जो एक ही वर्ग के व्यक्ति होते हैं, जैसे—किसी विद्यालय के विद्यार्थी और अध्यापकगण, किसी मिल या कारखाने के श्रमिक या किसी कार्यालय के क्लर्क आपस मे मिलकर एक सहकारी समिति खोल लेते है। एक निश्चित धन देने पर उसका सदस्य बना जा सकता है। समिति के प्रवन्ध के लिये प्रवन्धक की नियुक्ति कर ली जाती है, जिसे वेतन या कमीशन अथवा दोनो ही दिया जाता है। सदस्यों की एक समिति इसके कार्यों का निरीक्षण करती है। हर सदस्य एक वोट देने का अधिकारी होता है। ये स्टोर अपने सदस्यो को आवश्यक वस्तुयें खरीद कर उन्हें बेचते है। मध्यजन न होने के कारण उपभोक्ता सस्ते मूल्य पर वस्तुयें प्राप्त कर लेता है।

उपभोक्ता सहकारी स्टोर के गुण—

(१) ये स्टोर निर्माताओं तथा उत्पादको से बडी मात्रा मे वस्तु क्रय करते हैं। इस प्रकार उनका अन्य उपभोक्ताओं से सामान सस्ता मिल जाता है।

(२) यह किसी स्थान पर खोला जा सकता है, क्योंकि यह आशा की जाती है कि इसके सदस्य किसी दूसरे स्थान से सामान न खरीद कर इसी से लेंगे।

(३) इनमे प्रबन्ध का खर्च कम होता है। विज्ञापन तथा विक्रेताओं के रखने की आवश्यकता नही होती, क्योंकि ये सदस्यो के आपस के लाभ के लिये होते है। इनके प्रबन्ध के लिये कम वेतन पर कम व्यक्तियो की आवश्यकता होती है।

(४) ये सामान अधिकतर नकद बेचते है, इसलिए रकम डूबने का भय नही होता और न अधिक हिसाब रखने की जरूरत पडती है।

(५) सदस्यो मे लाभ उनकी खरीददारी के आधार पर बांटा जाता है, इसलिए हर सदस्य अधिक सामान मोल लेता है।

(६) इनके द्वारा सदस्यो का अच्छा सामान सुगमता से मिल जाता है।

उपभोक्ता सहकारी स्टोर के दोष—

(१) इनके प्रवन्धक अधिक शिक्षित तथा अनुभवी नही होते और न भण्डार ही शिक्षित तथा अनुभवी व्यक्ति रखने का व्यय उठा सकता है, अतः व्यापार सुचारु रूप से नही चल पाता। वे लोग माग का ठीक अन्दाज नही लगा पाते। ऐसी वस्तु भरकर रख लते है, जिसकी माँग कम होती

है और जिस वस्तु की मांग अधिक होती है वह उनके स्टोर में कम होती है।

(२) निरीक्षण समिति के सदस्य साधारण बुद्धि वाले होते हैं, अतः किसी कार्य के करने से पहले उस कार्य की सफलता के विषय में उनको सन्तोष दिलाने में काफी समय लगता है और इतने समय में ही कार्य की अवधि निकल जाती है।

(३) सदस्य संख्या अधिक बढ़ जाने से सहकारिता की भावना दूर हो जाती है।

(४) उसके कर्मचारी सदस्य के हित की ओर ध्यान न देकर अपने ही हित का अधिक ध्यान रखते हैं।

उपभोक्ता सहकारी भंडार का उद्गम—

इस दिशा में जर्मनी में राशडेल के २८ बुनकरों ने जो सराहनीय प्रयत्न किये वे सदैव स्मरणीय रहेंगे। ये रोशडेल निवासी अत्यन्त गरीब थे, किन्तु उनमें चार प्रधान गुण थे – साहस, व्यापक ज्ञान, धैर्य एवं कर्म में विश्वास। इन्हीं विशेषताओं के कारण वे अपने उद्देश्य में सफल हुए, अतः सन् १८४४ में इन २८ बुनकरों ने २८ पौंड की पूँजी से एक सहकारी भण्डार खोला। यद्यपि वह पूँजी बहुत थोड़ी थी, किन्तु सदस्यों का साहस अपार था। इन किंचित व्यक्तियों ने अपने धैर्य, दूरदर्शिता एवं मितव्ययिता द्वारा आधुनिक उपभोक्ता आन्दोलन में किस प्रकार सहयोग दिया, इसका इतिहास अत्यन्त रोचक है। बाद में रोशडेल निवासियों द्वारा स्थापित उपभोक्ता भण्डार के सिद्धान्तों पर अनेक उपभोक्ता भण्डार खुल गये। स्वतन्त्र सदस्यता, प्रजातन्त्रात्मक नियन्त्रण तथा लाभांशों पर प्रतिबन्ध ही समस्त सहकारी समितियों की स्थापना के मूल सिद्धांत हैं। इङ्गलैंड में परिवारों की अधिकांश आवश्यकताओं का क्रय इन्हीं भण्डारों द्वारा किया जाता है।

उपभोक्ता भंडारों के मुख्य लक्षण—

(१) कोई भी व्यक्ति इन संस्थाओं का सदस्य हो सकता है। सदस्यों द्वारा ही इनको पूँजी प्राप्त होती है, जिस पर निश्चित दर से ब्याज दिया जाता है।

(२) इनके प्रबन्ध एवं व्यवस्था में सदस्यों का समान अधिकार होता है। सदस्यगण ही प्रबन्ध की सुविधा के लिये एक कार्यकारिणी समिति का निर्वाचन करते हैं।

(३) वस्तुओं का विक्रय विपणि मूल्यों पर किया जाता है तथा सब वस्तुओं का नकद विक्रय ही होता है।

(४) सब सदस्यों को उनके वार्षिक क्रय के अनुसार लाभांश दिया जाता है।

(५) प्रति वर्ष लाभांश का एक निश्चित भाग धर्मार्थ कार्यों के लिए या सदस्यों की शिक्षा के लिये निकाला जाता है।

अन्य पाश्चात्य देशों में उपभोक्ता सहकारी संस्थाओं द्वारा ग्राहकों को निम्न सुविधायें प्रदान की जाती हैं—

(अ) उपभोक्ताओ को अच्छी एव गुणशील वस्तुयें दी जाती है ।

(आ) वस्तुये कम मूल्य पर दी जाती है । इस प्रकार इन्हे लाभ प्रदान करते हुये उनके रहन सहन के स्तर मे उन्नति करने का प्रयत्न किया जाता है।

(इ) मितव्ययिता की वृद्धि करते हुए उन्हे पर्याप्त आर्थिक सहायता भी दी जाती है ।

(ई) उपभोक्ताओं के लिये विवेक के साथ खरीदने, पारिवारिक बजट बनाने तथा सामान्य मितव्ययिता की ओर ध्यान देने के लिए इन्होने पर्याप्त कार्य किया है ।

(उ) उपभोक्ताओ के जीवन स्तर का सुधार करते हुये जनतन्त्रात्मक व्यवस्था से युक्त व्यापार के द्वारा उन्हे सुन्दर नागरिक बनाने का प्रयत्न किया गया है ।

(ऊ) सहकारी आन्दोलन द्वारा एकाधिकार, आर्थिक शोषण तथा अधिक लाभ लेने की प्रवृत्ति को रोका गया है ।

भारत मे सहकारी आन्दोलन असफल क्यो ?—

हमारे देश मे सहकारी आन्दोलन कही भी अधिक सफल नही हुआ, केवल कुछ भण्डार ही यत्र-तत्र सफलता के साथ चले है । भारत मे सहकारी आन्दोलन की असफलता के प्रधान कारण निम्नाङ्कित है—

(१) यहाँ की जनता सहकारिता के सिद्धान्तो के विषय मे अनभिज्ञ है ।

(२) ये भण्डार प्राय. अपने ग्राहको को अन्य दूकानदारो की अपेक्षा सस्ते मूल्य पर वस्तुये देते है, किन्तु जरा सी असावधानी की दशा मे अथवा उनमे अधिक मूल्य लेने पर इन भण्डारो के प्रति अविश्वास पैदा हो जाता है, जो इनके विनाश का कारण बन जाता है ।

(३) असफलता का एक मुख्य कारण साख पर बेचना तथा घर घर जाकर सदस्यो को भण्डार से माल लेने के लिए आग्रह करना है ।

(४) थोक और फुटकर मूल्यो मे अत्यन्त अल्प अन्तर रहने के कारण भी इनकी सफलता हुई है, क्योंकि इनके साधारण मूल्य प्रायः अधिक ही रहते है ।

(५) इसके साथ ही एक और कारण जो प्रमुखता से भारत मे कार्य करता है वह है व्यवस्थापकों की बेईमानी एव कपटपूर्ण व्यवहार, क्योकि प्रबन्ध समिति कभी भी इनके कार्यों पर नियन्त्रण एव निरीक्षण करने का प्रयत्न नही करती । इसका कारण यह कहा जाता है कि सहकारी सस्थाओ मे अवैतनिक कार्य कराया जाता है, अतः कपट एव चोरी करके कर्मचारी अपना पारिश्रमिक पूरा कर लेते है ।

(६) भारतीय सहकारी भण्डारो के पास योग्य कर्मचारी तथा कौशलपूर्ण व्यवस्था के लिए पर्याप्त स्थान नही होता है ।

(७) यहाँ सदस्यो की आवश्यकताओ का सावधानी के साथ अध्ययन नही किया जाता है ।

(८) भण्डार के सदस्यो में भण्डार के प्रति श्रद्धा एवं रुचि का अभाव रहता है।

जब तक अधिक मात्रा के उद्योगो द्वारा दिये गये मितव्ययिता आदि के लाभ का उपभोग ये भण्डार नहीं करते, तब तक इनकी सफलता कठिन है। उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन को सदैव प्रान्तीय समिति स्थापित करके प्रारम्भ करना चाहिए तथा उस समिति की शाखाये स्थानीय सदस्यो एवं समितियो के सहित सभी उपयुक्त स्थानो पर होनी चाहिए। जिन राज्यो मे परिस्थितियाँ अनुकूल हो, वहाँ रोशडल निवासियो के सिद्धान्त पर प्रत्येक बड़े गाँव अथवा नगर मे इन भण्डारो की स्थापना करनी चाहिए। प्रत्येक ३,००० की जन संख्या के स्थान पर एक समिति का होना आवश्यक है। उस समिति को कार्य करने के हेतु कुछ अंश पूँजी से तथा आवश्यकतानुसार केन्द्रीय सहकारी बैंको से पूँजी ले लेनी चाहिए। लगभग ५० ग्रामीण उपभोक्ता समितियो को मिलाकर एक केन्द्रीय समिति का निर्माण करना चाहिए।

सहकारी थोक विक्रय-समितियाँ—

इनका जन्म इङ्गलैंड में सन् १८६२ में हुआ। इनके मुख्य कार्य निम्न हैं—

(१) बड़ी मात्रा मे क्रय द्वारा मितव्ययिता प्राप्त करना।

(२) कृषि एवं निर्मित वस्तुओ का उत्पादन करना।

(३) अपनी सुविधा के लिए एवं अन्य सहकारी संस्थाओ को बैंकिंग एवं बीमा सम्बन्धी सुविधायें देने के लिए अपने बैंक तथा बीमा कम्पनी स्थापित करना।

इस प्रकार वितरण सहकारी संस्थाये, जो इनकी सदस्य होती है, अपनी समस्त वस्तुओ का क्रय सहकारी थोक विक्रय समितियो द्वारा ही करती है।

STANDARD QUESTIONS

1. It is said that the cost of retail services is very high today. Do you agree? Could you suggest a way by which the cost could by lowered?
2. Analyse the factors which influence the efficiency of a retail organisation
3. Why is a large scale organisation more efficient them a small-scale one?
4. Why is the efficiency of management greater in large firms than in small firms? If large scale management is more efficient, how do you account for the existence of a number of small firms

5 Briefly describe the various forms of large scale business which have become preminent in retail trade What has been the effect of the increase of multiple shops ?

6 How would you organize a departmental store ? Discuss its prospectus in India

7 What causes have led to the growth of the multiple shop system in the retail business ? How is it that this system has not so far developed much in India ?

8 Distinguish between (a) multiple shops and departmental stores (b) Hire purchase and deferred payment systems

9. Give the advantages and disadvantages of hire purchase trading from the point of view (a) buyers and (b) sellers

10 What is instalment selling ? How does it differ from the hire purchase system ? Do they help to increase sales ?

11 The owner of a small retail shop finds his business declining due to the opening of a branch of a multiple shop organisation in his neighbourhood What step would you advise him to take ?

12 Why do manufacturers prefer to entrust the marketing of their products to a separate organisation ?

13 Outline briefly the organisation of a sale department Is a larger sales organisation more efficient than a smaller one ?

14 What are the chief characteristics of a mail order business ? Can it be a successful agency for retailing agricultural good in India

15 What are the various difficulties in the way of adaption of the hire purchase system in India ?

16 What attraction does the hire purchases system offer to the purchasers ? Describe the features essential to an article suitable for hire purchase business

17 Discuss the relative advantages and disadvantages of being a customer of (a) a large department store (b) a small retail shop keeper (c) a cooperative society

18 What advantages does a large retail store like a departmental store or a chain store enjoy over a small retailer ?

19 Discuss the general effect of the growth of multiple shops on (a) the manufacturer (b) the whole saler and (c) the retailer

20 What is the difference between ( ) the instalment and hire

purchase systems of sale and (b) multiple shops and departmental stores ?

21 Examine the organisation and merits and demerits of Mail Order Shops. What are the conditions, essential for their success ?

22 How would you organize a departmental store ? Discuss its prospects in India

23 Write short notes on (a) Combination Store or Super Markets, (b) Vending Machines

24 What do you mean by large scale retailing ? Give its main form To what extent has it succeeded in India ?

25 Discuss the nature and origin of a departmental store How is such store organized ? What are its advantages if any, in a poor country like India ?

अध्याय १८

विज्ञापन की उपयोगिता

विज्ञापन का आशय—

विभिन्न लोगों ने विभिन्न प्रकार से विज्ञापन की परिभाषा की है। कहा जाता है कि विज्ञापन अधिक कुछ नहीं है, केवल विशुद्ध विक्रय कला है, जो कि 'लिखित' या 'छपी' हुई (Salesmanship in print) है। डाक्टर जोंस के शब्दों में, "यह (विज्ञापन) एक मशीन निर्मित, बड़े पैमाने पर उत्पादन की विक्रय विधि है, जो व्यक्तिगत विक्रेताओं के व्यक्तित्व और 'आवाज' की उसी प्रकार सहायता करती है जिस प्रकार कि एक मशीन निर्माण के कार्य में कारीगर की।" इसकी परिभाषा एक अन्य तरह से इस प्रकार की गई है कि **"यह वस्तुओं और सेवाओं के बेचने या बेचने में सहायता करने के उद्देश्य से सूचना का प्रसार करना है, जिसके लिये भुगतान किया जाता है।"** यद्यपि यह परिभाषा अच्छी है तथापि इसमें दोष यह है कि इससे प्रोपेगण्डा व विज्ञापन का भेद स्पष्ट नहीं होता। विज्ञापन का मौलिक उद्देश्य अधिकतम संख्या में लोगों को

न्यूनतम लागत पर माल बेचना है, जबकि प्रोपेगण्डा किसी विशेष तथ्य का, चाहे असत्य ढंगो से बुरे उद्देश्यो के लिये भी, अधिकतम लोगो तक पहुँचाने का एक संगठित प्रयास है, जिसमे लागत का कोई विचार नही किया जाता। उक्त परिभाषा से एक अच्छी परिभाषा यह हो सकती है कि **विज्ञापन मानव-क्रिया को प्रभावित करने वाली कला है, जिसके कारण हृदय मे एक विशेष वस्तु को ही लेने की इच्छा उदय हो जाती है, अथवा यह बड़े पैमाने पर लोगों को माल खरीदने के लिये तैयार करने की कला है।**" विक्रय कला एक विशेष क्षेत्र के लिये होती है, जबकि विज्ञापन विशाल क्षेत्र के लिये उपयुक्त होता है।

आजकल विज्ञापन शब्द की परिभाषा के अन्तर्गत हम उन सभी साधनो का समावेश करते है, जिनके द्वारा उपभोक्ताओं को नव निर्मित वस्तुओ की जानकारी प्राप्त होती है। वस्तुओ की माग मे कमी नही आने पाती, वरन् निरन्तर वृद्धि होती रहती है तथा व्यापार की साख जमती है। विज्ञापन का एकमात्र उद्देश्य जनता को विभिन्न वस्तुओ के सम्बन्ध मे जानकारी कराना, उपभोक्ताओ के हृदय मे वस्तुओ को क्रय करने के लिये कौतूहल पैदा करना, वस्तुओ के उत्तम होने का विश्वास जमाना, जनता के मस्तिष्क मे वस्तुओ के गुणकारी होने की छाप लगाना तथा इस प्रकार उनकी माँग मे अधिकाधिक वृद्धि करना होता है।

वर्तमान युग ही सचमुच 'विज्ञापन का युग' है। आज कल प्राय. प्रत्येक पदार्थ प्रचारक प्रतीत होता है। उदाहरण के लिये, जरा बम्बई नगर के मैरीनकोस्ट की कल्पना कीजिये। यहाँ की चौडी सडकें कभी खाली नही दिखेंगी। ट्राम, टैक्सी, डबल स्टोरी बसें एव विद्युत-शक्ति से चलने वाली रेलगाडियो का यहाँ बडा बोलबाला है। यातायात के ये सभी साधन अपने भीतर अथवा बाहर किसी न किसी प्रकार का सन्देशा लेकर नगर मे चक्कर काटते है—कोई डालमियाँ के बिस्कुट का प्रचारक है, कोई मघाराम की टॉफी का, कही मनहर स्नो का विज्ञापन लगा है तो कहीं आइल क्रीम का, इत्यादि। संध्या के समय सागर मे टिमटिमाता हुआ प्रतिबिम्ब भी मैरीनकोस्ट के पथिकों को यह सूचना देता है कि *'झनक-झनक पायल बाजे' चित्रपट का रजत-जयन्ती* सप्ताह प्रारम्भ हो गया है। विज्ञापन का यही अन्त नही होता। मैरीनकोस्ट की यात्रा समाप्त करके घर पहुँचकर विश्राम एव मनोरंजनार्थ ४१ मीटर बेण्ड पर रेडियो खोल दिया—सीलोन के व्यापार-विज्ञापन विभाग से यह समाचार मिला कि "गर्मियो मे मानसिक शान्ति के लिए गुरुकुल कॉंगडी का आँवला-हेयर ऑयल प्रयोग करना चाहिये।" लता के एक मधुर गीत के बाद पुन. सूचना मिली कि "दाँतो की सफाई के लिये बिनाका

टूथ पैस्ट का इस्तेमाल करना चाहिये।" फिर उपभोक्ताओं को कम मूल्य पर वस्तुये

प्याला उठाकर 'नव-भारत टाइम्स' के पन्ने प

भरमार थी। 'धर्मयुग' के पन्ने तो विविध व ता—विज्ञापन के सहयोग से उत्पादन व्यय

तक वर्णन किया जाय, आज की दुनियाँ ही , कि विज्ञापन के द्वितीय उद्देश्य मे स्पष्ट है,

वा भी प्रयत्न करना है। इससे अधिक

जाता है, जिससे उत्पादन मूल्य भी कम हो

विज्ञापन का हेतु—

ग एवं मूल्यों में स्थिरता आकर जनता का

क लोगों को रोजगार मिलता है।

'विज्ञापन' की उपरोक्त परिभाषा

अवलम्बन मुख्यत. निम्न उद्देश्यो की पूर्ति के —विज्ञापन से अनेक लोगों को शिक्षा भी

नऊ तथा प्रयाग के आकाशवाणी केन्द्रो से

(१) नव-निर्मित वस्तुओं के सम्बन्ध है उससे उन्हें विविध प्रकार के भोजन

के ढगों की जानकारी होती है। इसके

(२) उत्पन्न की हुई माँग को कायम विशेषता बतलाने मे जितना व्यय होता है

ल्य पर ही अत्यधिक प्रभावशाली ढङ्ग

(३) वस्तुओं की माँग को और अधि है।

ये तो रहे वाणिज्य-जगत मे विज्ञाप विकास—विज्ञापन के माध्यम से ही जनता

उपयोग अन्य उद्देश्यो की पूर्ति के हेतु भी ती है एवं माँग पैदा करके फिर उसे स्थाई

करने के लिये विज्ञापन का सहारा लेना, ही, किसी वस्तु विशेष की माँग को घटा कर

योजना) के प्रचार हेतु विज्ञापन करना ती है। वर्तमान युग बहु-परिमाण उत्पादन का

निश्चित विक्रय विज्ञापन पर ही निर्भर करता

ो गुण-सम्बन्धी जानकारी भी मिलती है तथा

विज्ञापन क्यों किया जाय ?—

हिये, इनकी पूर्ण कल्पना हो सकती है। उदा-

डे खरीदते समय ग्राहक को यह सन्तोष होता

वर्तमान उद्योग-प्रधान जगत मे न है। विज्ञापन के लिये प्रत्येक वस्तु का

होगे। आधुनिक वाणिज्य यन्त्र प्रणाली rk) होता है, जिससे ग्राहक को उस वस्तु

जिसके बिना अनेक औद्योगिक इकाइयो क । उस वस्तु के क्रय मे उसे सुगमता होती है।

चमत्कार होता है कि ग्राहक जिन वस्तुओं ग—विज्ञापन के माध्यम से विपरीत ऋतु

आकर्षित हो जाता है तथा क्रय करने के जाता है। उदाहरण के लिए यद्यपि चाय

परिणामस्वरूप अनेक व्यापारी अनिश्चित —'गर्मी मे गरम चाय ठण्डक पहुँचाती है'

तथा अपने यहाँ उ का सग्रह करते है। विज्ञ माँग को स्थाई रखा जा सकता है।

फलस्वरूप उपभोक्ताओं की रुचि मे परिवर्त —आधुनिक विषम प्रतिस्पर्धा के युग मे विज्ञा-

पनपतियो को सफलता मिल सकती है।

नव-निर्मित एवं विज्ञापित वस्तुओं का उप का विनाश किया जा सकता है एवं इस

मनुष्यो के खाने-पीने, पहिनने ओढने तथा।

सकता है। अब हम इसके गुणों पर विस्तृद्धि —अन्त मे व्यापार की ख्याति का विज्ञापन

ही महत्वपूर्ण साधन है। इसमे कोई स देह नही कि अनेक व्यापारियो ने अपनी ख्याति का निर्माण एव वृद्धि इसी विज्ञापन द्वारा की है।

(१०) दुकानदार प्राप्त करना —उपभोक्ता के लिये किये हुए विज्ञापन से नये दुकानदार भी प्राप्त हो सकते हैं। इससे वस्तुओ का अधिक व्यापक वितरण होता है।

(११) सुरक्षा पैदा करना—विज्ञापन निर्माता के कारबार के लिये बीमे का काम करता है। विज्ञापन के कारण जनता वस्तु को पहचान लेती है, इससे अन्य व्यापारी विज्ञापित वस्तु के स्थान पर अपनी वस्तुयें नही चला पाते। सच तो यह है कि विज्ञापन से वह सुरक्षा प्राप्त होती है जो अपना समय व्यतीत हो जाने के बाद पैटेन्ट प्रदान नही कर सकता।

(१२) क्वालिटी मे विश्वास पैदा करना—जब विज्ञापन की प्रथा न थी, तब क्रेता अपनी क्वालिटी बताने की योग्यता पर सब से बहुत अधिक निर्भर रहता था। सामान्य उपभोक्ता के लिये यह बताना सम्भव नही था कि वह असली सोना खरीद रहा है या नकली। जिन वस्तुओ का सम्पूर्ण देश मे विज्ञापन होता है उनका खरीददार अपने पिछले अनुभव के कारण यह विश्वास करता है कि यदि निर्माता अपनी वस्तुओ की कोई विशेष क्वालिटी विज्ञापन द्वारा सूचित करते हैं तो वे उसी क्वालिटी की होगी।

(१३) ग्राहक को बनाये रखना—विज्ञापन से ग्राहक सन्तुष्ट बना रहता है और सदा उस वस्तु को अपनाये रखता है। जब कोई नई कार या कपडा खरीदने का समय आवेगा तो सबसे पहले वह उस विज्ञापित वस्तु को ही खरीदना चाहेगा।

(१४) सेल्समेनो को प्रोत्साहन एवं समर्थन—विक्रेता प्रतिनिधियो को अपनी वस्तु की बिक्री करने के लिये सम्भावित क्रेता को समझाना-बुझाना और रिझाना पडता है। इसके लिये उसम वाकचातुर्य, वस्तु की पूर्ण जानकारी आदि गुणो की आवश्यकता पडती है और काफी समय देना पडता है। विज्ञापन वस्तु को बेचने का एक हिस्सा तो सेल्समेनो की ओर से पहले ही पूरा कर देता है तथा विज्ञापित वस्तुओ का बेचना उनके लिये स ल हो जाता है और वे अधिक धन कमा सकते हैं।

(१५) प्रबन्ध अधिकारियो पर सुप्रभाव—विज्ञापन से स्वयं फर्म के प्रबन्ध अधिकारियो मे यह भावना पैदा हो जाती है कि वे सब की आँखो के सामने काम कर रहे हैं और जनता के प्रति जिम्मेदार हैं। बार-बार विज्ञापन करने से वे वस्तु के विषय मे उत्साही भी बने रहते है और इस बात का प्रयत्न करते है कि जो आदर्श उन्होने विज्ञापन मे प्रगट किए हैं वे वस्तुत उनकी वस्तु मे हो।

(१६) कारखाने के मजदूरो को प्रेरणा—मजदूरो पर भी, जो कि विज्ञापित वस्तु के कारखाने मे काम करते हैं, अच्छा असर पडता है। वे यह अनुभव करते हैं कि उनकी वस्तु जनता के बडे काम आती है और उनके ऊपर बडी जिम्मेदारी है।

(१७) अच्छे कर्मचारियो की प्राप्ति—किसी प्रसिद्ध कम्पनी मे, जिसका विज्ञापन

पत्र आदि व विभिन्न साधनो एव विज्ञापको म परस्पर सहयोग दे। साथ ही इन पर राजकीय नियन्त्रण रहना भी आवश्यक है। गन्दे अथवा झूठे एव कपटमयी विज्ञापन निकालने वालो पर भारी दण्ड होना चाहिये। विज्ञापन व्यापार की ख्याति बढाने का सर्वोत्तम साधन है, किन्तु यह सद्भावना, सेवा-भाव तथा सत्य पर आधारित होना चाहिए।

विज्ञापन की मर्यादाएँ—

यद्यपि विज्ञापन व्यापार मे प्रगति एव सफलता पाने का महत्त्वपूर्ण साधन है, किन्तु यह कोई जादू का डण्डा अथवा अलाउद्दीन का चिराग नही, जिसे प्रत्येक क्षेत्र मे सफलता मिल ही जाय। विज्ञापन की निम्न सीमायें ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) जनता को जिस माल से अरुचि हो गई है वह विज्ञापन से नही बेचा जा सकता, चाहे वह कितना ही प्रभावी क्यो न हो।

(आ) केवल एक बार के विज्ञापन का भी प्रभाव नही पडता और जनता उसे शीघ्र भूल जाती है, अत. विज्ञापन की यशस्विता के लिए विज्ञापन बार बार देना चाहिए, जिससे जनता के मस्तिष्क पर उसकी अमिट छाप लग जाय।

(इ) यह भी पूर्ण सत्य नही कि केवल विज्ञापन देने से ही किसी वस्तु की माग म अवश्य वृद्धि होगी। सम्भव है कि विज्ञापन तो श्रेष्ठ एव पर्याप्त हो, किन्तु दूषित विक्रय-कला (Defective Salesmanship) के कारण ग्राहक आकर्षित न होते हो, अत विक्रय वृद्धि के लिए विज्ञापन तथा विक्रय कला दोनो का परस्पर सहयोग होना चाहिय।

(ई) विज्ञापन किसी भी व्यक्ति को अपर्याप्त वस्तु की माग करने के लिये विवश नही करता और न यह एक या दो दिन म ही मनुष्यो के रीति रिवाज अथवा फैशन को ही बदल सकता है। इसके साथ ही, अर्थशास्त्र तथा मनोविज्ञान के नियमो के विरुद्ध भी यह सफलता प्राप्त नही कर सकता।

अन्त मे यह कहना अनावश्यक न होगा कि उपरोक्त सीमाओ के होते हुए भी विज्ञापन-कला अपने उपासक को लाभान्वित करती है।

विज्ञापन से वस्तु मूल्य घटता है—

यद्यपि प्रत्यक्ष म तो ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञापन से वस्तु का मूल्य बढता है, क्योकि विज्ञापन व्यय को विक्रेता वस्तु के मूल्य म शामिल कर देता है। यह तो ठीक है, किन्तु दीर्घकालीन दृष्टि से विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि विज्ञापन से वस्तु का मूल्य घटता है। विज्ञापन वस्तु की माग को बढाता है, जिसे पूरा करने के लिये बडी मात्रा मे उत्पादन किया जाता है। इस बहुप्रमाण

उत्पादन म विभिन्न प्रकार से मितव्ययिता होती है तथा वस्तु का मूल्य कम रखना भी सम्भव हो जाना है।

STANDARD QUESTIONS

1 It pays to advertise" Do you agree ? Just fy your v ew by specific reasons

2 Mo1 ey spent on advertising is wasteful Do you agree ? Give reasons for your answer

3 Modern auvertisement has made the luxuries of yesterday the necessities of today Comment on thi statement giving s iitable examples in support of your answer

4 Write a full note on Advertisement is a nat onal waste

5 Explain the term publicity Is it the same thing as Propa ga1 da Appraise briefly the publ city in modern business

6 What do you understa1 d by scientific advertisi 1g Explain the u efulness of advertiseinent in moder business

---

अध्याय १६

विज्ञापन का संगठन

प्रारम्भिक—

विज्ञापन के सगठन के सम्बन्ध मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विज्ञापक को स्वय मनोविज्ञान विशेषज्ञ होना चाहिए। उसको इस बात का ज्ञान होना चाहिए के जनता की आवश्यकता क्या है ? जन साधारण की रुचि के अध्ययन की क्षमता उसमे होनी चाहिए। से यह विचार कर लेना चाहिय कि क्या अमुक वस्तु का विज्ञापन करना उचित है। उसे यह भी ध्यान रखना चाहिय कि यदि विज्ञापन द्वारा किसी

वस्तु की माग बढेगी तो उसकी पूर्ति करने के लिये पास मे पर्याप्त स्टॉक है अथवा नही।

विज्ञापक को यह भी देखना चाहिये कि अन्य प्रतिद्वन्दियो की तुलना मे उसका विज्ञापन कैसे प्रभावी हो तथा उसके लिये कितना व्यय किया जाय, जिसमे कि वह उसका धन विज्ञापन के हेतु अलग निकाल कर रख सके। साधारणत. व्यापारी इस बात का ध्यान नही रखते और विज्ञापन मे निश्चित धन से अधिक राशि लगा बैठते है। छोटे-छोटे व्यापारो मे अर्थ नियोजन पहले से ही निश्चित राशि से निर्धारित नही किया जाता, वरन् व्यापार के आर्थिक कलवर एव आवश्यकतानुसार व्यय किया जाता है, किन्तु बडे-बडे व्यापारो मे विज्ञापन के हेतु निश्चित राशि पहले से ही नियत कर ली जाती है। इस राशि का निर्धारण करते समय व्यवसाय के आर्थिक कलेवर, व्यावसायिक समस्यायें तथा विज्ञापन के हेतु पर विचार करना चाहिये। विज्ञापन प्रभावी बनाने के लिये उसे मुद्रण कला से भी परिचित होना चाहिये तथा किस प्रकार के विज्ञापन मे कौन से एव कैसे टाइप का उपयोग करना चाहिए, इसका ज्ञान होना आवश्यक है।

इसके बाद यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि विज्ञापन का कार्य किसको सौपा जाय। क्या विज्ञापन सस्था (Advertising Agency) को यह कार्य सौप दिया जाय अथवा विक्रय सगठन के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र विज्ञापन विभाग खोला जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह कार्य प्रत्येक दशा मे तत्सम्बन्धी परिस्थितियों पर निर्भर करता है। पैसे वाली व्यापारिक सस्था की दशा मे विज्ञापन का कार्य किसी विज्ञापन अभिकर्त्ता को सौंपा जा सकता है। विज्ञापन-सस्थाओं मे विभिन्न व्यवसाय के विशेषज्ञ होते हैं, जो अपनी कुशल सेवाये अपने ग्राहको को प्रदान करते है। ये सस्थायें प्रायः कम मूल्यो पर अच्छे से अच्छे विज्ञापन निकाला करती है। यदि किसी व्यापारिक सस्था मे बडे पैमाने पर उत्पादन होता है तथा उसका आर्थिक सगठन भी सुदृढ है तो वह अपना स्वतन्त्र विज्ञापन-विभाग खोल सकती है। ऐसी परिस्थिति मे विज्ञापन-विभाग के कलाकारो तथा अन्य कर्मचारियो की नियुक्ति बडी सावधानी से करनी चाहिए। इस विभाग के लिए प्रायः एक व्यवस्थापक अलग रखा जाता है, जोकि अनुभवी, उत्तरदायी तथा विक्रय-कला विशेषज्ञ होता है, जिसे वेतन भी अच्छा दिया जाता है। इस विभाग के निर्धारित व्यय की ओर पूर्ण ध्यान रखना चाहिये, जिससे विभाग का व्यय व्यवसाय के आर्थिक कलेवर को देखते हुये अधिक न हो। विक्रय-विभाग तथा विज्ञापन मे परस्पर सम्पर्क तथा सहकार्य व्यावसायिक प्रगति के लिए नितान्त आवश्यक है, अतः विज्ञापन विभाग की नीति का निर्धारण करते समय विक्रय-व्यवस्थापक से परामर्श लेना अधिक लाभप्रद होता है, क्योंकि विक्रय-विभाग का प्रमुख उद्देश्य अधिक से अधिक मात्रा में वस्तुओ का बेचना होना है और इस उद्देश्य की पूर्ति विज्ञापन-विभाग के सहयोग से ही सम्भव है। विक्रय-विभाग को चाहिये कि वह अपनी सभी योजनाओ मे विज्ञापन-विभाग को परिचित रखे। विज्ञापन-व्यवस्थापक

को विभिन्न विपणियों की जानकारी भी विक्रय-विभाग से ही प्राप्त होती है। ग्राहकों की रुचि का अनुमान लगाने के लिये उसे फुटकर विक्रेताओं से भी सम्पर्क रखना पड़ता है तथा विज्ञापन पद्धति के विषय मे भी उनसे परामर्श कर लेना चाहिए, जिससे विज्ञापन-पद्धति मे मौलिकता एव नवीनता रखी जा सके। यही कारण है कि विज्ञापन व्यवस्थापक विक्रय-सगठन के आधीन होता है, जिससे कि इन दोनों विभागों म परस्पर सामञ्जस्य रहे :—

यदि विज्ञापन कार्य विज्ञापन-प्रतिनिधियों को सौंपा जाय तो इसमे विज्ञापक को निम्न लाभ होते है :—

(१) विज्ञापन सम्बन्धी चिन्ता से वह मुक्त हो जाता है, क्योंकि यह प्रतिनिधि ही विक्रय विभाग की आवश्यकतानुसार सारा कार्य कर लेते है। इसके अतिरिक्त अपने ग्राहको की वस्तुओं के लिये चित्रादि, विज्ञापन पुस्तिकायें, कैलेन्डर आदि बनाने का कार्य एव उनका वितरण भी ये ही करते है। इसमे विज्ञापक को अनेक लाभ होते है, क्योंकि ये लोग अपने कार्य सचालन के हेतु विज्ञापन-विशेषज्ञ तथा कलाकार रखते है। विज्ञापक को पृथक से उनकी नियुक्ति नही करनी पडती।

(२) विज्ञापन प्रतिनिधि पहले से ही अपने ग्राहकों के लिए आवश्यक स्थान खरीद लेते है, जिससे विज्ञापक को सुविधा होती है तथा 'स्थान' भी उपयुक्त एव सस्ती दर पर मिल जाता है।

(३) विज्ञापन प्रतिनिधियों के विभिन्न क्षेत्रों के अनुभव का उपयोग भी विज्ञापक को अनायास प्राप्त हो जाता है।

— विज्ञापन का परिणाम देखना भी विज्ञापन-सगठन का एक महत्वपूर्ण अग है। इस हेतु वार्षिक विक्रय के विभिन्न विपणियों के आँकडे एकत्रित किये जाते है तथा इनकी तुलना विज्ञापन म पूर्व की बिक्री तथा विज्ञापन के बाद की बिक्री से की जाती है। ऐसी तुलना से इस बात का स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि विज्ञापन का व्यय व्यर्थ तो नही हो रहा है। विज्ञापन पद्धति मे आवश्यक सुधार भी सुविधा से किये जा सकते है।

थोक एवं फुटकर विक्रेताओं की विज्ञापन-नीति में अन्तर—

थोक एव फुटकर विक्रेताओं की विज्ञापन नीति मे काफी अन्तर होता है, क्योंकि दोनों के ग्राहक विभिन्न प्रकार के होते है—थोक व्यापारी के ग्राहक हैं फुटकर विक्रेता और फुटकर व्यापारी के ग्राहक है उपभोक्तागण—इस कारण विज्ञापन की पद्धति का अवलम्बन दोनों ही व्यापारों मे अलग अलग ढङ्ग से होना है।

एक ओर फुटकर विक्रेता अपनी दुकान की ओर ग्राहकों को आकर्षित करने के उद्देश्य से विज्ञापन करता है और दूसरे थोक व्यापारी सदैव अपने माल की माग बढ़ाना चाहता है, जिससे उसका माल अधिक से अधिक मात्रा म बिके, चाहे वह किसी

भी दुकान मे क्यो न बेचा जाय। थोक विक्रेता तो वस्तु की मांग बढ़ाकर उसे अधिक से अधिक मात्रा में विभिन्न स्थानो पर बेचने का प्रयत्न करता है, उसे किसी विशेष दुकान अथवा स्थान से मोह नही होता। यही कारण है कि एक थोक व्यापारी का विज्ञापन सीधे व्यापार से सम्बन्ध रखता है और वह बडे बडे समाचार पत्रो मे तथा कभी-कभी डाक द्वारा सूचीपत्र, हैन्डबिल अथवा विवरण-पत्रो मे विज्ञापन देता है। थोक व्यापारी के विज्ञापन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है, किन्तु फुटकर व्यापारी के विज्ञापन का क्षेत्र अपेक्षाकृत सकुचित होता है। फुटकर व्यापारी का उद्देश्य केवल अपनी दुकान तक ग्राहको को आकर्षित करना होता है, अतः वह केवल स्थानीय समाचार-पत्रो मे ही अपने विज्ञापन देता है या ऐसे साधनो का उपयोग करता है, जिनका स्थानीय महत्त्व होता है, जैसे–स्थानीय सिनेमा मे, रेल्वे स्टेशन, ट्रामगाडियो आदि मे। एक थोक व्यापारी अपना विज्ञापन समस्त राष्ट्र को ध्यान मे रखकर करता है, अर्थात् उसकी अपील एक सीमित क्षेत्र के लिए न हो कर देशव्यापी होती है और वह प्राय सभी देशवासियो को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करता है, किन्तु फुटकर व्यापारी कुछ सीमित व्यक्तियो को ही अपना स्थाई ग्राहक बनाने का प्रयत्न करता है। इसी के कारण वह (फुटकर व्यापारी) विज्ञापनो मे अपनी वस्तुओ के गुण, विशेषतायें तथा उनके चित्र या नमूने आदि देकर अपने ग्राहको को मोहित किया करता है।

सक्षेप मे एक थोक विक्रेता का प्रमुख उद्देश्य अपनी व्यापारिक वस्तुओ के लिए मांग बढाने का होता है और एक बार मांग बढ जाती है तो फिर फुटकर विक्रेता स्वय उस वस्तु का सग्रह करता है जिससे उसकी बिक्री बढती है। दूसरी ओर, फुटकर विक्रेता अपनी दुकान की ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से ही विज्ञापन करता है।

उदाहरण

थोक विक्रेता द्वारा विज्ञापन—	फुटकर विक्रेता द्वारा विज्ञापन—
समस्त दन्त रोगों की	विटको टूथ पाउडर
एक मात्र औषधि	के लिए
विटको टूथ पाउडर	—:पधारिये:—
निर्माता : विटको केमीकल वर्क्स,	कुमार वस्तु भंडार
नासिक रोड, नासिक।	१४, राजा मार्केट, ग्वालियर।

सहकारी या सामूहिक विज्ञापन

विज्ञापन की पद्धति दो प्रकार की हो सकती है—(१) प्रतिस्पर्धात्मक, (२) सहयोगात्मक। प्रतिस्पर्धात्मक पद्धति के अन्तर्गत प्रत्येक निर्माता केवल अपने माल के गुणो

का ही गान करता है, जैसे—'यह है सनलाइट साबुन' अथवा 'These are Dalda products' आदि। प्रतिस्पर्धात्मक पद्धति मे विषम प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन मिलता है तथा व्यय भी अधिक होता है, अतएव आज-कल सहकारिता के सिद्धान्त पर विज्ञापन देने का अवलम्बन किया जा रहा है, जिससे वस्तुओ की माग बढती है तथा विज्ञापन व्यय मे मितव्ययिता होकर परस्पर प्रतिस्पर्धा नही रहती। सयोगात्मक पद्धति के अन्तर्गत सभी निर्माता सहयोग से कार्य करते है। उदाहरणार्थ कुछ समय पूर्व ग्वालियर नगरी मे अन्य नगरो की भाँति प्रत्येक नये पिक्चर का विज्ञापन अलग-अलग बारात के रूप में सिनेमाघरो के स्वामियो द्वारा निकाला जाता था, किन्तु गत कुछ दिनो से सिनेमा-स्वामियो ने सामूहिक विज्ञापनो की प्रणाली अपनाई है। प्रतिदिन सध्या को एक विशाल तथा लम्बी बारात निकलती है, जिसमे सभी नई पिक्चरो का विज्ञापन होता है। इससे उन्हे पैट्रोमैक्स, पोस्टर बाँटने वाले लडके, विशाल चित्रो को लेकर चलने वाले व्यक्तियो, बाजा आदि का अलग अलग प्रबन्ध नही करना पडता, फलत मितव्ययिता होती है एव सहयोग की भावना भी बढती है। भारतीय बीमा कम्पनियाँ भी प्राय इसी प्रणाली को अपनाती है। इस प्रकार Indian Tea Market Association Board ने भी इस पद्धति को अपनाया है। ऐसे विज्ञापन मे राष्ट्रीय सम्पत्ति की बचत होकर विदेशी व्यवसायियो से प्रतिस्पर्धा की जा सकती है एव आपस की प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन किया जा सकता है।—

विज्ञापन का वर्गीकरण—

विज्ञापन का वर्गीकरण हम निम्न भागो मे कर सकते हैं—

(१) ऐसे विज्ञापन जो साधारण जनता को आकर्षित करने के लिए दिये जाते हैं। अधिकाश विज्ञापन इसी वर्ग मे आते है।

(२) निर्माताओ को आकर्षित करने के हेतु किये जाने वाले विज्ञापन, जैसे—यन्त्र सामग्री, मशीनरी आदि के विज्ञापन।

(३) विशेष दुकानदारो द्वारा अपनी दुकान के लिये दिये गये विज्ञापन। ऐसे विज्ञापन किसी विशेष दुकान पर ही ग्राहक को आकर्षित करने के लिये दिये जाते है, जैसे 'स्वादिष्ट भोजन के लिये कैलाश भोजनालय मे पधारिये।'

STANDARD QUESTIONS

1. Outline briefly the organisation and describe the working of the advertising department of a large firm. What methods are available for testing the effectiveness of its advertising?
2. Differentiate between the advertisement policy of a wholesale and retail dealer.

———

अध्याय २०

विज्ञापन के साधन

"विज्ञापन के समस्त साधनों में बाह्य विज्ञापन अत्यन्त लोकप्रिय है। बाह्य विज्ञापन के अन्तर्गत केवल दीवालों पर लगाये जाने वाले विज्ञापन ही नहीं वरन् निम्न भी सम्मिलित हैं: पोस्टर चिपकाना, बस, ट्रेन तथा ट्राम के विज्ञापन, सैंडविच बोर्ड इत्यादि।"

विज्ञापन के विभिन्न साधन निम्नांकित हैं :—

(१) समाचारपत्रीय विज्ञापन (Press Advertisement)।

(२) बाह्य या दीवालों के विज्ञापन (Out-door or Mural Advertising)।

(३) डाक द्वारा प्रत्यक्ष विज्ञापन (Direct Mail Advertising)।

(४) अन्य विविध विज्ञापन साधन (Miscellaneous Advertising)।

विज्ञापन-साधन का चुनाव—

विज्ञापन के साधन का चुनाव करते समय बड़ी सावधानी से कार्य करना चाहिये। कभी भी अन्धे होकर किसी की नकल नहीं करनी चाहिये और न किसी के कहने में ही आना चाहिये। सर्वोत्तम विधि तो यह होगी कि किसी विशिष्ट विज्ञापन संस्था से सलाह ले ली जाय। विज्ञापन का साधन अपनाते समय निम्न बातों पर ध्यान रखना चाहिये :—

(१) विज्ञापन के विविध साधनों में अत्यन्त चित्ताकर्षक साधन कौनसा होगा, यह विचार करना चाहिये। फिर इस बात का भी ज्ञान होना चाहिए कि विभिन्न प्रकार के विज्ञापन सम्बन्धी माध्यमों, जैसे—रंगीन चित्र वाले आदि में कौनसा माध्यम अधिक प्रभावी होगा।

(२) विज्ञापन के अन्य माध्यमों का क्या स्वरूप है तथा ग्राहकों को आकर्षित करने के लिये वे कहाँ तक प्रभावशाली होंगे, इसका तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए।

(३) विज्ञापन के किस माध्यम का जनता अधिक आदर करती है तथा कौनसा साधन अधिक प्रचलित एवं प्रसिद्ध है, इसका भी ज्ञान होना चाहिये।

(४) एक साधन विशेष को अपनाने मे कितने समय बाद जनता को आकर्षित कर सकते हैं, इस पर भी विचार कर लेना चाहिए।

(५) विज्ञापन के अन्य प्रकार, जैसे—तार्किक, ध्वन्यात्मक आदि जनता पर कितना प्रभाव डाल सकते हैं, इसका ज्ञान होना चाहिए।

(६) किस प्रकार के विज्ञापन से वही बात पुन. प्रभावशाली ढग से दुहराई जा सकती है, इस पर भी विचार कर लेना चाहिए।

(७) विभिन्न प्रकार के व्यक्तियो को उनकी सामाजिक एव आर्थिक स्थिति, शिक्षा, धर्म मनोवृत्ति आदि आधार पर विभाजित कर लेना चाहिए और फिर यह देखना चाहिए कि एक वर्ग विशेष के लिए कौनसा विज्ञापन श्रेष्ठ होगा।

(८) विज्ञापन के प्रभाव को ध्यान मे रखते हुए कौनसा साधन सबसे सस्ता होगा, इसका भी ध्यान रखना चाहिए।

अब हम विभिन्न साधनो पर पृथक पृथक विचार करेंगे :—

(१) समाचार पत्र तथा अन्य व्यापारिक पत्र-पत्रिकायें

समाचार पत्रीय विज्ञापन आधुनिक विज्ञापन का सबसे अधिक प्रचलित साधन है। दैनिक समाचार पत्रो तथा अन्य व्यापारिक पत्र-पत्रिकाओ के विज्ञापन मे कुछ अन्तर है। समाचार-पत्र प्रति दिन निकलते हैं एव इनका क्रय मुख्यत दैनिक समाचारो की जानकारी के हेतु किया जाता है, किन्तु इसके विपरीत अन्य व्यापारिक पत्र-पत्रिकायें साप्ताहिक, मासिक, छमाही अथवा वार्षिक होते हैं। साधारणत दैनिक समाचार-पत्रो का महत्त्व उसी दिन तक सीमित रहता है जिस दिन वह प्रकाशित होता है और इसके बाद उनका कोई महत्त्व नही रहता। यहां तक कि माह के उपरान्त तो लोग रद्दी के रूप मे उसे बेच डालते है, किन्तु इसके विपरीत नियत अवधि के बाद निकलने वाले व्यापारिक पत्र पत्रिकाओ का महत्त्व अधिक होता है। इनको एक दिन मे ही पढकर समाप्त करने की जल्दी नही होती, अत. पाठक इन्हे आराम से अपने फुरसत के समय मे पढते हैं। दैनिक समाचार-पत्र जल्दी मे पढकर समाप्त कर दिये जाते हैं। एक दिन बाद इनका कोई महत्त्व नही रहता, किन्तु साप्ताहिक पत्रो का प्रभाव लगभग सात दिन तक, मासिक पत्रो का प्रभाव लगभग तीस दिन तक, छ माही पत्रो का प्रभाव लगभग एक सौ अस्सी दिन और वार्षिक पत्रिकाओ का प्रभाव लगभग तीन सौ पैंसठ दिन तक रहता है। इस सम्बन्ध मे दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि दैनिक समाचार पत्रो का विक्रय साधारणतया किसी निश्चित नगर तक अथवा अधिक से अधिक जिस राज्य मे वह प्रकाशित होता है उसकी चहार दीवारियो तक सीमित रहता है। इसके विपरीत नियत सामयिक पत्रिकाओ (Periodicals) का विक्रय केवल नगरव्यापी अथवा राज्यव्यापी ही नही वरन् देशव्यापी होता है। तीसरे, दैनिक समाचार पत्रो का कागज बहुत खराब होता है, जिससे उसमे कलात्मक विज्ञापन

अथवा चित्रादि नहीं दिये जा सकते । इसके विपरीत सामयिक व्यापारिक पत्र पत्रिकाओं का कागज अच्छे किस्म का होता है, जिसमें कलात्मक विज्ञापन बड़ी सुविधा से दिये जा सकते है । चौथी उल्लेखनीय बात यह है कि दैनिक समाचार-पत्रों का प्रकाशन प्रति दिन होने के कारण उनमे मुद्रण सम्बन्धी अनेक दोष रह जाते हैं, परन्तु सामयिक पत्रों का प्रकाशन अत्यन्त सावधानी से किया जाता है। पांचवे, दैनिक समाचार पत्रों का प्रचार क्षेत्र सीमित होता है, परन्तु सामयिक पत्रों का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। कुछ सामयिक पत्र केवल राष्ट्रीय महत्व के ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के भी होते हैं। छठवें, दैनिक समाचार पत्र अधिकांशतः जन-साधारण के उपयोग के लिए होते है, किन्तु नियत सामयिक पत्रिकायें मुख्यतः किसी विशेष उद्देश्य से प्रकाशित किये जाते है अथवा वे किसी विशेष हित का प्रतिनिधित्व करते हैं। दैनिक समाचार-पत्रों के उदाहरण हैं—नवभारत टाइम्स, हिन्दुस्तान टाइम्स, अमृत बाजार पत्रिका इत्यादि। साप्ताहिक पत्र पत्रिकाओं के उदाहरण हैं—साप्ताहिक हिन्दुस्तान, कॉमर्स, कैपिटल, इण्डियन फाइनेन्स इत्यादि। मासिक पत्रों मे माडर्न रिव्यू तथा इण्डियन रिव्यू प्रमुख हैं और वार्षिक पत्रों मे कॉमर्स तथा कैपिटल के वार्षिक अङ्क महत्वपूर्ण हैं।

उद्योग-व्यापार पत्रिका पढकर
अपना उद्योग-व्यापार सम्बन्धी ज्ञान
बढाइये ।

उद्योग समृद्धि के
स्रोत
हैं

भारत सरकार के
वाणिज्य और उद्योग मन्त्रालय द्वारा प्रकाशित
वार्षिक मूल्य ६ रु०, १ प्रति आठ आने ।

समाचार-पत्रीय विज्ञापनो को हम दो वर्गों मे बाँट सकते हैं :—

(१) वर्गीकृत विज्ञापन (Classified Advertisemnt),

(२) अवर्गीकृत विज्ञापन (Unclassified Advertisement)।

वर्गीकृत विज्ञापन मे प्रायः वस्तुओं के नाम, विवरण, पते तथा अन्य विशेषतायें संक्षेप मे दी जाती हैं। ऐसे विज्ञापनों की ओर पाठक-गण एकदम आकर्षित नहीं होते । जो व्यक्ति किसी विशेष वस्तु की क्रय-विक्रय सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करना

चाहता है, उसे ऐसे विज्ञापनो से बडा लाभ होता है। इसके विपरीत प्रवर्गीकृत विज्ञापनो के लिए स्थान का कोई प्रभाव नही होता। ये प्राय. समाचार पत्र के पूरे अथवा आधे पन्ने म या चौथाई भाग मे दिये जाते हैं।

किसी भी समाचार पत्र मे विज्ञापन देने के पहले विज्ञापक को यह निर्णय कर लेना चाहिये कि वह किस दैनिक समाचार पत्र अथवा किस सामयिक पत्रिका में अपना विज्ञापन भेजे। यह निर्णय करने के लिए उसे पत्र-पत्रिकाओ की लोकप्रियता की ओर ध्यान देना होगा। जो पत्र अथवा पत्रिका अधिक लोकप्रिय होता है, वह अपनी ख्याति के अनुसार ही कम अथवा अधिक चार्ज करता है। हमारे देश के विभिन्न भागो मे अलग-अलग वर्गों के मध्य अलग-अलग समाचार-पत्र पढे जाते है, जैसे—बडे-बडे लोग तो टाइम्स ऑफ इण्डिया पढते है और कांग्रेस के उपासक हिन्दुस्तान टाइम्स को अधिक प्राथमिकता देते है, अतएव समाचार पत्रो का चुनाव करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किस क्षेत्र अथवा किस वर्ग के लोगो के लिए विज्ञापन देना है।

समाचार पत्रीय विज्ञापन एक बहुत बडी सख्या मे लोगो के द्वारा पढा जाता है, क्योकि इनका मूल्य विज्ञापनो के ही कारण केवल नाम मात्र को ही होता है।

प्रभावी विज्ञापन की आवश्यकताएँ—

एक समाचार पत्रीय विज्ञापन को प्रभावशाली एव यशस्वी बनाने के लिये व्यापक दृष्टिकोण रखना चाहिए। यह दृष्टिकोण या अपील सभी जनता को आकर्षित एव मोहित करने वाली होनी चाहिए। विज्ञापन एक सुसम्पादित समाचार की भाति होना चाहिए तथा उनको इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिये कि जिससे भ्रमर रूपी पाठक उनको पढते ही स्वय खिचता हुआ चला आवे एव उसके मस्तिष्क पर विज्ञापन की स्थाई सील लग जाय। इन विज्ञापनो मे अधिक हृदयभेदी बातो का होना अच्छा नही होता, वरन् इनमे केवल वस्तु की सक्षिप्त कहानी होनी चाहिए, जिससे उसके गुणों का पूर्ण परिचय मिल सके। विज्ञापन की अपील ग्राहको की रुचि का अध्ययन करने के उपरान्त निश्चित करनी चाहिये। अपने प्रतिद्वन्दी विज्ञापको का भी ध्यान रखना चाहिये। कभी कभी उनकी भूलो से लाभ उठाया जा सकता है।

किसी वस्तु के विज्ञापन को अधिक प्रभावी बनाने के लिए उस वस्तु के उपभोक्ताओ की प्रवृत्ति का अध्ययन करना आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी कम मूल्य वाली सिलाई की मशीन का विज्ञापन करना है तो महिलाओ के सम्मुख मितव्ययिता का आकर्षण उपस्थित करना चाहिए। इसके विपरीत यदि किसी ऊँचे मूल्य वाली मशीन का विज्ञापन करना है (जैसे, सिंगर या पफ) तो महिलाओं का ध्यान वस्तु के टिकाऊपन, मजबूती, प्रयोग मे सुगमता एव आनन्द आदि गुणो की ओर आकर्षित करना चाहिए। इसी प्रकार यदि किसी कपडे धोने के साबुन का विज्ञापन करना है तो उस साबुन से कपडे साफ करने के गुण तथा अन्य सम्बन्धित विशेषताओ (जैसे अधिक झाग उठाना, बिना अधिक परिश्रम के वस्त्रो का शीघ्र उज्ज्वल हो जाना आदि) का प्रचार करना अति आवश्यक होता है। इसके

विपरीत यदि स्नान करने वाले साबुन का विज्ञापन करना है तो निम्न बातो पर अधिक बल देना चाहिये—उसके द्वारा त्वचा सुकोमल एव सदैव सौन्दर्यपूर्ण रहेगी, कभी भी कोई त्वचा-सम्बन्धी रोग न होगा, मन को शांति मिलेगी तथा मस्तिष्क को शीतलता।

विज्ञापन की प्रति कैसी हो ?—

विज्ञापन की प्रति का निर्माण अनुभवी कलाकारो द्वारा कराया जाना चाहिए, क्योकि वे ही जनता को अपनी ओर आकर्षित करने तथा वस्तुओ को उपयुक्त ढग से सजाने का कार्य भली भांति जानते हैं। विज्ञापन ऐसा होना चाहिए जो सुगमता से लोगो द्वारा देखा जा सके, पढा जा सके और उसमे दिए हुए सन्देश को ग्रहण करने मे कोई कठिनाई न हो। अन्य शब्दो मे, हम यह कह सकते हैं कि विज्ञापन मे ग्राहक को आकर्षित करने की चुम्बकीय शक्ति होनी चाहिए। जिन प्रवृत्तियो की ओर ग्राहक का तथा जनता का आकर्षण करना चाहिए वे निम्न प्रकार है :—

(अ) स्वरक्षा सम्बन्धी प्रवृत्ति (Self Preservation Instinct)—इसमे भोजन, गर्मी, स्वास्थ्य, कुशलता, आरोग्यता आदि की अभिलाषा रहती है।

(आ) पैतृक प्रवृत्ति (Parental-Instinct)—इसमे बच्चो की सुरक्षा तथा इनकी रुचि और कुशलता बनाये रखने की भावना रहती है।

(इ) सामाजिक-इच्छाये (Social-Desires)—इसमे आत्म बल, महत्वाकाक्षा वैवाहिक तथा रूढिगत कार्यवहिया आती है, इसलिये किसी वस्तु के विज्ञापन को प्रभावशाली एव चित्ताकर्षक बनाने के लिए पहले इन बात का अध्ययन करना चाहिए कि वस्तु की आवश्यकतानुसार कौनसी प्रवृत्ति को उत्तेजित किया जाय। डा० स्कॉट तथा प्रो० हैस ने निम्न आठ मानसिक प्रवृत्तियाँ बतलाई हैं :—

(१) स्वरक्षा प्रवृत्ति (Self Preservation Instinct)।
(२) खाद्य प्रवृत्ति (Food Preservation Instinct)।
(३) आखेट प्रवृत्ति (Hunting Preservation Instinct)
(४) वस्त्र प्रवृत्ति (Clothing Preservation Instinct)।
(५) सचय प्रवृत्ति (Hoarding Preservation Instinct)।
(६) पैतृक प्रवृत्ति (Parental Preservation Instinct)।
(७) कौतूहल प्रवृत्ति (*Curiosity Preservation Instinct*)।
(८) बैठे से बेगार भली प्रवृत्ति (Something for nothing Preservation Instinct)।

प्रभावी एवं यशस्वी विज्ञापन के मूल तत्त्व—

श्री एस० आर० डावर के मतानुसार एक प्रभावी एव यशस्वी विज्ञापन मे निम्न गुण होने चाहिये :—

(१) ध्यानाकर्षण (Attention Value)—प्राय: जनता किसी वस्तु की ओर स्वभावतः आकर्षित नही होती, उसका ध्यान विज्ञापक को स्वय ही आकर्षित करना पडता है। उदाहरणार्थ, समाचार-पत्रो का प्रमुख उद्देश्य जनता को विश्व की राजनैतिक हलचलो से परिचित करना होता है, अतएव इनमे जो विज्ञापन दिये जाते हैं उनका रूप ऐसा होना चाहिए कि जिससे पाठक उनकी ओर आकर्षित हो। इस गुण को शोभन तत्त्व (Display Value) भी कहते है। विज्ञापन मे यदि यह तत्त्व न होगा तो कोई भी वाचक ऐसे विज्ञापन को नही पढेगा और उनमे व्यर्थ ही धन का अपव्यय होगा। आधुनिक युग मे प्रायः लोग अपने-अपने कार्यों मे अधिक व्यस्त रहते है, अतः जब तक विज्ञापन मे कोई मौलिकता न हो तब तक वाचक उनकी ओर आकर्षित न होगा। विज्ञापन की प्रति का शोभन विभिन्न प्रकार से किया जा सकता है,- जैसे— रगीन छाया-चित्र देकर, विशेष आकर्षक रग देकर आदि। रगो का समायोजन ऐसा होना चाहिए कि पाठक का ध्यान अन्य समाचारो अथवा सूचनाओ से हटकर उस विशेष विज्ञापन की ओर खिच कर चला आये एवं वह मोहित होकर उसको पढने लगे। इसी प्रकार सडको पर दिये जाने वाले विज्ञापनो मे विद्युत प्रकाश का आयोजन अथवा चमकने वाले रगो से चित्रण करना चाहिए। प्रो॰ हैरलो गेल (Harlow Gale) के मतानुसार चित्ताकर्षक रगो मे प्रथम श्रेणी लाल रग की, द्वितीय श्रेणी हरे रग की तथा तृतीय श्रेणी काले रग की है। मेरी सम्मति मे नीला रग भी चित्ताकर्षण के लिये सुन्दर रग है। इसके अतिरिक्त विज्ञापन के लिए समुचित स्थान भी होना भी अति आवश्यक है। यदि कोई विज्ञापन अन्य विज्ञापनो के बीच मे लगाया जाता है तो वह लोगो का ध्यान अधिक आकर्षित नही कर सकता। यही कारण है कि प्रायः सम्पूर्ण पृष्ठ पर ही विज्ञापन दिये जाते है, जिससे केवल एक विज्ञापक की तूती बोले। यदि अन्य विज्ञापनो के मध्य मे विज्ञापन दिया जा रहा है तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अपना विज्ञापन अधिक सुशोभित हो। उसमे ऐसी मौलिकता तथा चित्ताकर्षण शक्ति होनी चाहिए, जिससे वह साधारण पुष्पो के मध्य कमल की भाति शोभायमान हो।

विज्ञापन का शीर्षक भी अत्यन्त चित्ताकर्षक होना चाहिए। शीर्षक जितना छोटा एवं सूचक हो उतना ही श्रेष्ठ है। ऐसे चित्ताकर्षक शीर्षक का एक उदाहरण आगे प्रस्तुत करते हैं :—

इस प्रकार विज्ञापन की प्रति म जो विभिन्न विशेषताएँ, चित्रण आदि हो, उनमे विरोध न होते हुए विभिन्न घटको का परस्पर पोषक होना अनिवार्य है। विज्ञा-



पन मे किसी न किसी स्वरूप मे कोई ऐसा संकेत होना चाहिए, जो स्मृति पर प्रभाव डालने वाला हो, विचारो को उभाडने वाला हो तथा भावनाओ मे स्पन्दन पैदा करके वस्तुओ के प्रति विश्वास उत्पन्न करने वाला हो।

(२) सूचक-तत्त्व (Suggestive Value)—वाचक का ध्यान, अपनी ओर आकर्षित करने के बाद उसके मस्तिष्क मे विचार-तरङ्ग उत्पन्न होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, वस्तु के गुण, प्रयोग, विधि आदि के सम्बन्ध मे उसे आवश्यक जानकारी मिलनी चाहिए, जैसे—

क्या आप जानते है कि मेरी, त्वचा क्यो इतनी कोमल तथा स्वच्छ है ?	क्योंकि मैं लक्स साबुन का प्रयोग करती हूं —कामिनी

अथवा

"डालडा के प्रयोग के कारण ही मेरा भोजन अति स्वादिष्ट होता है।"

इस प्रकार के सूचक वाक्य अथवा सूचक कहानियाँ (जैसे—सिनेमा गृहो मे दिखलाए जाने वाले 'होशियार तोते' अथवा 'चतुर बालक' की कहानी) दी जानी चाहिये। चित्रो द्वारा इन्हे और भी प्रभावी तथा मनहर बनाया जा सकता है।

(३) स्मरण तत्त्व (Memorizing Value)—वस्तु की उपयोगिता का प्रभाव डालने के बाद उस वस्तु का स्मरण सदैव बना रहे, यह भी विक्रय वृद्धि के लिए आवश्यक होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि विज्ञापन को बार-बार दुहराया जाय अथवा विज्ञापन की वाक्य-रचना ऐसी हो तथा उसमे ऐसे नारो का प्रयोग किया जाय जो पढने वाले की स्मरण-शक्ति मे रहे, जैसे—योजना की सफलता के हेतु बचत सम्बन्धी विज्ञापन अथवा डनलप टायर्स, 'फौज मे मौज है', 'सीखो और धन कमाओ' आदि के विज्ञापन। विशिष्ट चिन्हो का भी विज्ञापनो मे प्रयोग करना चाहिए, जिससे वाचक उन्हे सदा याद रखे, जैसे—'जे० बी० प्रोडक्ट्स', 'जे० के० गुड्स', 'एल्गिन', 'लाल इमली', 'काकोमी', 'टाटा प्रोडक्ट्स' आदि।

(४) विश्वास तत्त्व (Conviction Value)—विज्ञापन मे ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए कि जिससे वाचक के मन मे वस्तु की श्रेष्ठता विषयक विश्वास पैदा हो जाय, जैसे—'लाल इमली' के विज्ञापनो मे भेड का चित्र रहता है अथवा अलीगढ के डेयरी प्रोडक्ट्स मे 'गाय' का। ये चित्र वस्तु की शुद्धता के परिचायक होते है। कभी-कभी वस्तु की सदोषता होने पर उसे वापिस लेने का प्रलोभन देना चाहिए। ऐसे प्रलोभन से वाचक का उस वस्तु की उपयोगिता मे शीघ्र विश्वास उत्पन्न हो जाता है।

(५) भावात्मक तत्त्व (Sentimental Value)—विज्ञापन मे इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि किसी की जाति अथवा धर्म सम्बन्धी भावनाओ को चोट न पहुँचे, अन्यथा उस माल का पाठको द्वारा स्वागत न होगा एवं विज्ञापन व्यर्थ जाएगा। भोज्य पदार्थों के सम्बन्ध मे यह बात विशेष रूप से लागू होती है, जैसे—'चरबी रहित', 'अण्डा रहित' आदि शब्दो के प्रयोग से शाकाहारी लोगो पर अच्छा प्रभाव पडता है। राष्ट्रीय भावनाये प्रेरित करने वाले शब्दो के कुछ ज्वलन्त उदाहरण ये है—'हिन्द साइकिल', हिन्दुस्तान मोटर' आदि। इसी प्रकार जिन वस्तुओ के विषय मे जनता को घृणा हो गई है, वहाँ अन्य पदार्थों का विक्रय सुविधा से किया जा सकता है।

(६) शिक्षा-तत्त्व (Educative Value)—विज्ञापन के लिए यह भी आवश्यक है कि वह शिक्षात्मक हो, अर्थात् किसी वस्तु का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए, इस विषय की आवश्यक जानकारी विज्ञापन से ही स्पष्ट होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, सेन्ट्रल टी मार्केटिङ्ग बोर्ड अच्छी चाय कैसे बनाई जाय, इस सम्बन्ध

मे पांच नियम अपने विज्ञापन मे देता है। इसी प्रकार डालडा के विज्ञापनों मे भी इस बात का उल्लेख होता है कि स्वादिष्ट पकवान कैसे बनाये जायें ? ऐसे विज्ञापनो से कम से कम जो लोग विज्ञापित वस्तु का उपयोग नही जानते, वे एक बार तो अवश्य वस्तु का प्रयोग करेंगे और फिर पसन्द आने पर वे उसके स्थायी ग्राहक बन जायेंगे।

(७) प्रवृत्ति-तत्त्व (Instinctive Value)—मनुष्य सर्दव अपना क्रम किसी न किसी प्रवृत्ति के ही कारण करता है, जिनका उल्लेख हम पिछले पृष्ठो मे कर चुके हैं।

सावधानियाँ—

उपर्युक्त विशेषताओ के अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना चाहिये कि विज्ञापन मे निम्न दोष न आ जायें—

(अ) मिथ्या कथन अथवा कपटमयी बातो का पूर्ण परित्याग होना चाहिए।
(आ) क्लिष्ट भाषा अथवा लम्बे-लम्बे वाक्यो का प्रयोग नही करना चाहिए।
(इ) ग्राहको को विश्वास दिलाते समय अपने विचार प्रस्तुत न करके सत्यता से उल्लेख करना चाहिए।
(ई) कभी भी अतिशयोक्ति या नकारात्मक विवरण का प्रयोग नही करना चाहिए।
(उ) कभी भी व्यर्थ के प्रश्न एवं वाक्यो का प्रयोग नही करना चाहिए, जिनसे ग्राहको के हृदय मे क्रोध अथवा उत्तेजना पैदा हो।

विज्ञापन का खाका (Lay out)—

इसमे विज्ञापन का विषय, चित्र, व्यापार चिन्ह आदि का विवेचन रहता है। खाका विज्ञापक द्वारा तैयार किया जाता है। इसको बनाते समय मानस शास्त्र के अनुसार निम्न बातो का ध्यान रखना चाहिये—

(१) विज्ञापन का विषय बडे अक्षरो मे मुद्रित होना चाहिये, जिससे वाचको का ध्यान समाचार-पत्रादि पढते समय स्वभावतः ही उस ओर आकर्षित हो तथा पढने मे भी सुगमता हो।
(२) विज्ञापन का विषय साराश मे देना चाहिये।
(३) विज्ञापन मे दिये हुये छाया-चित्र तथा अन्य चित्रादि विषय के अनुकूल एवं अर्थपूर्ण हो तथा उनका मुद्रण सुन्दर होना चाहिये।
(४) दो मुद्रित पंक्तियो के बीच पर्याप्त अन्तर दिया जाय तथा प्रत्येक अक्षर साफ-साफ मुद्रित हो।
(५) पंक्तियो की लम्बाई २½" से ३" तक हो, जिससे वाचक का ध्यान सम्पूर्ण लाइन पर केन्द्रित हो सके।
(६) प्रत्येक विज्ञापन मे परम्परागतिकता न होकर कुछ मौलिकता होनी चाहिए।

(७) विज्ञापन के एक भाग मे ही सम्पूर्ण विषय न लिखते हुए विषय का विभाजन समुचित होना चाहिए, जिसमे विज्ञापन के ऊपर दृष्टि स्थिर हो जाय।

(८) प्रत्येक विज्ञापन मे केवल एक ही वस्तु का विज्ञापन किया जाय तथा उसकी आवश्यकताओ पर प्रकाश डाला जाय।

(२) बाह्य विज्ञापन

बाह्य विज्ञापन क्या है ?—

साधारणत. दीवालो पर किये जाने वाले विज्ञापन को 'बाह्य विज्ञापन' कहते हैं। यह विज्ञापन की अत्यन्त प्राचीन प्रणाली है। उस युग मे जब कि मुद्रण कला का प्रारम्भ नही हुआ था तथा विज्ञापन के आधुनिक साधन भी उपलब्ध न थे, तब प्राचीन रोम तथा मध्यकालीन इङ्गलैंड के व्यापारी अपने दरवाजे के बाहर एक बडा बोर्ड लगाते थे, *जिस पर वे उन वस्तुओ का उल्लेख करते थे, जिनमे वे व्यापार करते थे। श्री हिंघम (Hingham) के अनुसार इस बोर्ड लगाने की पद्धति से ही क्रमश आधु*-निक दीवार पर लगाये जाने वाले विज्ञापनो तथा पोस्टर्स चिपकाने की कल्पना आई। इस पद्धति को आजकल 'मूरल एडवरटाइजमेंन्ट' ('मूरल' का अर्थ है 'दीवाल सम्बन्धी') कहते हैं। इस सम्बन्ध *यह जानना आवश्यक है कि बाह्य-विज्ञापन की परिभाषा के* अन्तर्गत केवल दीवालो पर लगाये जाने वाले विज्ञापन ही नही आते, वरन् निम्न को भी हम इसी श्रेणी मे गिनते हैं—पोस्टर्स बाँटना अथवा चिपकाना, बिजली द्वारा *सजावट करना, बस, ट्रेन तथा ट्राम के विज्ञापन,* सेंडविच-वार्ड विज्ञापन, इत्यादि।

दीवालो के विज्ञापन सदैव समाचार-पत्रीय विज्ञापन के पूरक होते है। इस प्रणाली के द्वारा केवल ऐसी वस्तुओ का ही विज्ञापन देना श्रेष्ठ होता है, जो सर्व-साधारण के उपयोग की हो, जैसे—गृहस्थी की वस्तुए, खाने-पीने की चीजें, साबुन, जूते, कपडे, स्टेशनरी आदि। विशिष्ट वर्ग के लिये उपयोगी पदार्थो (जैसे, वैज्ञानिको के लिए दर्शक यन्त्र या माइक्रसकोप, व्यापारियो के लिए टाइप मशीन, उद्योगपतियो के लिए विशाल मशीने तथा यन्त्र आदि) का विज्ञापन इस ढङ्ग से नही करना चाहिये, अन्यथा वह *व्यर्थ होगा। सरकस, सिनेमा, नाटक या नौटङ्की की सूचना,* क्रिकेट या फुटबाल आदि के मैचो की सूचना, कवि सम्मेलन या मुशायरो के कार्यक्रम की सूचना, मेले या प्रदर्शनी अथवा दङ्गल की सूचना आदि दीवार-योग्य विज्ञापन है। जब कभी किसी सीमित क्षेत्र के भीतर ही विज्ञापन करना होता है तो ऐसी दशा मे इस साधन को अपनाया जाता है। कभी-कभी किसी वस्तु के लिए फुटकर विक्रेताओ को आकर्षित करने के हेतु भी इस साधन का प्रयोग किया जाता है।

बाह्य विज्ञापन के उदाहरण—

जैसा कि हम ऊपर सकेत कर चुके हैं, बाह्य-विज्ञापन की परिभाषा के *अन्तर्गत* केवल दीवालो पर चिपकाने वाले विज्ञापन ही नही आते, वरन् इसके अनेक रूप हैं।

इस साधन के कुछ प्रमुख स्वरूप ये हैं—स्टेशन पर इश्तहार चिपकाना, गगन-चुम्बी अट्टालिकाओं की दीवालों व छतों पर एवं कारखानों की चिमनियों पर पोस्टर चिपकाना तथा रंगीन अक्षरों में विज्ञापन लिखना, वायुयान द्वारा धुयें से अक्षर लिखना आकाश में रंगीन-लेखन करना, गुब्बारों पर वस्तुओं का सूक्ष्म विवरण देकर उन्हें उड़ाना, यातायात के विविध साधनों पर विज्ञापन बोर्ड अथवा पट्टियाँ लगाना इत्यादि। अनेक व्यापारी होल्डर, पेन्सिल, ब्लाटिंग पेपर, ऑटो-दिल-बहार कार्ड, डायरियाँ, पैड तथा अन्य साधारण प्रयोग में आने वाली वस्तुओं पर विज्ञापन लिखकर जनता में उनका वितरण करते हैं। विज्ञापन के ये अत्यन्त उपयोगी तथा चित्ताकर्षक साधन हैं।

बाह्य-विज्ञापन में सावधानी—

दीवालों पर किये जाने वाले विज्ञापन ऐसे होने चाहिये कि वहाँ के निकलने वाले व्यक्ति उन्हें पढ़ने के लिये लालायित हो जायें। स्वाभाविक रूप में उनका ध्यान दीवालों की ओर आकर्षित हो जाना चाहिये। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि विवरण अत्यन्त सूक्ष्म होना चाहिये। संक्षिप्तता के साथ-साथ प्रभावशीलता भी होनी चाहिए। विज्ञापनों को प्रभावी बनाने के लिये सुन्दर सजावट एवं भिन्न भिन्न रंगों से शोभित करना आवश्यक होता है। इस विज्ञापन द्वारा किसी ऐसी वस्तु या विचार जनता के मस्तिष्क में जम जाना चाहिये जिसका कि विज्ञापन समाचार-पत्रों आदि में उन्होंने पहिले पढ़ा हो। बाह्य विज्ञापन पूर्व परिचित विज्ञापन की पुनस्मृति करा देते हैं। ये विज्ञापन प्रायः उन लोगों को आकर्षित करने में अधिक यशस्वी सिद्ध होते हैं जो जीवन में अत्यधिक व्यस्त रहते हैं तथा उन्हें अन्य पत्रों में विज्ञापन देखने का अवकाश ही नहीं मिलता। इन विज्ञापनों के हेतु यदि किसी चित्र का प्रयोग किया जाय तो वह भी उपयुक्त एवं चित्ताकर्षक होना चाहिये। विज्ञापन में तीन बातें अनिवार्य रूप से देखनी चाहिये—(१) वस्तु का नाम तथा बनावट, (२) वस्तु की उपयोगिता तथा अन्य विशेषतायें और (३) वस्तु प्राप्त होने का स्थान। विज्ञापन सदैव बड़े-बड़े अक्षरों में होना चाहिये, जिससे वह सुगमता से पढ़ा जा सके। व्यापारी संस्था का नाम तथा ट्रेड मार्क रंगीन अक्षरों में देना चाहिये। इनके साथ प्रभावशाली नारों का भी प्रयोग किया जा सकता है, जैसे—

'बाटा के बूट, न भूट न लूट'

विज्ञापन से सदैव वस्तु सम्बन्धी ध्वनि निकलनी चाहिये। महिलाओं के विभिन्न ढङ्गों से प्रस्तुत किये हुये चित्र ऐसे विज्ञापनों में सोने में सुहागा का काम करते हैं। उदाहरणार्थ, अफगान स्नो के विज्ञापन के साथ श्रृङ्गार करती हुई महिला, साबुन के विज्ञापन के साथ स्नान करती हुई महिला, साड़ियों के विज्ञापन के साथ सुसज्जित महिला, इत्यादि।

अब हम इस बाह्य-विज्ञापन के प्रमुख स्वरूपों पर प्रकाश डालेंगे :—

(१) विज्ञापन-पत्र (Posters)—विज्ञापन-पत्र या पोस्टर्स से आशय विज्ञापन का सन्देश रखने वाले ऐसे छपे हुये कागजों, कार्ड बोर्डों, लकड़ियों या धातु के

प्लेटो से होता है जो चौराहो, रेल्वे स्टेशनों, सडक के किनारे या दुकानो के बाहर तथा भीतर लगे रहते हैं। इन पोस्टरो का निर्माण अत्यन्त चित्ताकर्षक ढङ्ग से करना चाहिये। इनका कागज (अथवा अन्य पदार्थ, जिस पर ये बनाये जायें) उत्तम श्रेणी का होना चाहिये, जिससे यह मिट्टी से अथवा वर्षा ऋतु मे जल से शीघ्र खराब न हो जायें। खराब विज्ञापन पत्रों को समय-समय पर बदलते रहना चाहिये, अन्यथा उनमें आकर्षण शक्ति न रहेगी। मुद्रित कागजो का चिपकाना सरल होता है। पोस्टरो के ऊपर विद्युत आदि के प्रकाश का भी प्रबन्ध होना चाहिये, जिससे रात्रि के समय भी उन्हे सुगमता से पढ़ा जा सके।

पोस्टरो का सबसे बडा लाभ यह है कि उनके माध्यम से किसी नगर, बाजार या मुहल्ले के लोगो का ध्यान बडी आसानी से आकर्षित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जब ये दीवालो पर चिपका दिये जाते हैं, तो जनता की आवश्यक वस्तुओ की पूर्ति करने मे अत्यन्त सफल सिद्ध होते है। ये जनता को पूर्व परिचित वस्तुओ का स्मरण कराकर उन्हे अपनी ओर आकर्षित करते है।

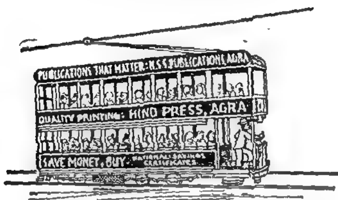
(२) विज्ञापन बोर्ड—बडे-बडे नगरो के चौराहो पर विज्ञापन बोर्ड लगाये जाते है, जैसे—ग्वालियर मे फूलबाग के गेट के निकट 'लक्ष्मी होटल' तथा 'ग्वालियर-रेयन' का विज्ञापन अथवा लखनऊ मे चारबाग स्टेशन के बाहर 'जे० बी० मंघाराम' का विज्ञापन आदि। कभी-कभी ऐसे रगीन बोर्ड मकानो की छत पर भी लगाये जाते हैं। इनके स्थान प्रायः नियत रहते है। विज्ञापन के व्यापारी बोर्ड लगाने के लिए विभिन्न स्थानो पर एव समुचित सडको पर कुछ जगह बोर्ड लगाने के लिए नगर-पालिकाओ से किराये पर ले लेते है तथा वे इन बोर्डों को विज्ञापको को किराये पर देते हैं। इन पर आवश्यक चित्रण विज्ञापक की इच्छानुसार किया जाता है। ये बोर्ड जनता की स्मरण-शक्ति को सदैव ताजी बनाये रखते है।

(३) बिजली द्वारा सजावट—रात्रि के समय ग्राहको को आकर्षित करने का यह सर्वश्रेष्ठ साधन है। चमकते हुये रगीन अक्षरो द्वारा मन अनायास ही आकर्षित हो जाता है। इस प्रकार विद्युत प्रकाश से सुसज्जित विज्ञापन प्राय. ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं या दीवालो पर लगाये जाते हैं। इनका आकार निश्चित नहीं होता। हाँ, ऐसे विज्ञापन सूक्ष्म होने चाहिये, अर्थात् संक्षिप्त रूप मे वस्तु का नाम, निर्माता का नाम तथा संस्था का नाम लिखा रहना चाहिये। बिजली की सजावट को चित्ताकर्षक करने के लिये रगीन बल्ब तथा घूमती हुई रोशनी का भी उपयोग किया जाता है। वास्तव मे एक प्रकार की अपेक्षा विभिन्न रंग वाले प्रकाश का होना अधिक लाभप्रद होता है।

(४) सैन्ड विच बोर्ड विज्ञापन—इस पद्धति के अन्तर्गत किसी एक व्यक्ति अथवा अनेक व्यक्तियो के उनके चहुँ ओर पट्ठे या बोर्डो के विज्ञापन लिख कर एक पंक्ति मे परेड सी करते हुये निकाला जाता है, जैसे—'दाद मार मरहम' का विज्ञापन या 'बन्दर छाप मजन' का विज्ञापन। ऐसे विज्ञापन अपनी विशेष विचित्र वेशभूषा

के कारण जनता का ध्यान शीघ्र आकर्षित करते हैं। यह पद्धति सिनेमा या नाटक के विज्ञापन मे अधिक सहायक होती है। आजकल यह पद्धति अधिक प्रचलित नही है, क्योंकि इससे जनता का तो अवश्य मनोरजन होता है, किन्तु विज्ञापक का अभीष्ट सिद्ध नहीं होता। दूसरे, अब सस्ते वेतन पर काम करने वाले व्यक्ति भी नहीं मिलते।

(५) बस, ट्रेन तथा ट्राम के विज्ञापन—यातायात के इन साधनो पर कार्ड या पोस्टर लगाकर विज्ञापन किया जाता है। आजकल मोटरो मे बहुत अधिक



विज्ञापन किए जाते है। इसका मुख्य कारण यह है कि मोटर यातायात का एक गतिशील साधन है। पथिक प्रायः यह देखने के लिए कि मोटर किस ओर से आ रही है



तथा किस ओर जा रही है—इस उद्देश्य से बडी उत्कठा से उसकी ओर निहारते हैं। उनकी इस उत्कठा का लाभ विज्ञापकगण उठा सकते है। यही कारण है कि बसो के ऊपर अधिकाशतः विज्ञापन दिए जाते है। ये विज्ञापन बस के अन्दर तथा बाहर दोनो स्थान पर होते है। अन्दर के विज्ञापनों से अधिक लाभ होना है। जब तक कोई यात्री किसी बस, ट्रेन अथवा ट्राम मे बैठा रहता है, यदि उसके सम्मुख अच्छे सुन्दर ढग से

सुसज्जित एव चित्रित विज्ञापन लगे रहते है तो अनायास ही उसकी दृष्टि उन पर पड जाती है और जब तक वह अपने अभीष्ट स्थान तक नही पहुँच जाता है तब तक बार-बार उन्ही विज्ञापनो को पढ-पढकर अपना मन बहलाता तथा समय काटता है। बार-बार देखने तथा पढने से उसके मस्तिष्क मे उस विज्ञापन की अमिट छाप लग जाती है। दूसरे, अन्दर दिए जाने वाले विज्ञापनो के लिए यह भी आवश्यक नही कि उनकी प्रति अत्यन्त संक्षिप्त ही हो, उनमे पर्याप्त सूचनाएँ तथा विवरण दिए जा सकते हैं। इस प्रकार के विज्ञापन से उस समय और भी लाभ हो सकता है, जब यह नगर के निकट कुछ दूरी पर स्थित गाँव मे जाने वाले वाहनो पर लगाये जाते है। ऐसी दशा मे केवल नगर के निवासी ही नही वरन् ग्रामीण जनता भी उनसे लाभान्वित होती है। विज्ञापन का यह साधन अधिक खर्चीला भी नही होता। वाहनो पर दिए जाने वाले विज्ञापन अर्थपूर्ण एव स्पष्ट होने चाहिए तथा उनमे रङ्गो का चुनाव भी चित्ताकर्षक होना चाहिए।

बाह्य विज्ञापन के लाभ—

विज्ञापन का यह साधन अत्यन्त प्रचलित एव उपयोगी है। इसके द्वारा अधिक से अधिक जनता को वस्तुओ की सूचना सुगमता से दी जा सकती है। पथिको की स्मरण शक्ति को प्रभावित करने का यह सर्वश्रेष्ठ साधन है, क्योकि चलते-फिरते व्यक्ति जिस समय मार्ग से जाते है उस समय प्रायः उनका मस्तिष्क खाली होता है तथा विज्ञापित वस्तु पर सुगमता से उनका ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है। दूसरे, वस्तुओ के अनुकूल जनता की रुचि एव विचार लेने के लिए यह अत्यन्त प्रभावशाली साधन है। इस साधन के द्वारा अधिक से अधिक जनता का चित्ताकर्षित किया जा सकता है तथा पोस्टर-बोर्ड आदि बडे-बडे आकारो मे लगाये जा सकते है। तीसरे, प्रारम्भ मे छोटे बोर्ड लगाकर और फिर बाद मे क्रमशः बडे-बडे बोर्ड लगाकर विज्ञापन मे विविधता एव मौलिकता लाई जा सकती है। चौथे, स्थानीय फुटकर विक्रेता के लिए भी ऐसे विज्ञापन बडे उपयोगी होते हैं, क्योकि उनकी बिक्री बिना किसी विज्ञापन के सुलभ हो जाती है। इस साधन के अन्तर्गत लीफलेट या हैण्ड बिल भी प्रयोग किया जा सकता है, विशेषतया जब नया व्यापारी अपने व्यापार का परिचय देना चाहता है, अथवा जब कोई नई वस्तु उसकी दुकान पर विक्रय के हेतु आती है। -

(३) डाक द्वारा प्रत्यक्ष विज्ञापन

इस प्रकार की विज्ञापन की पद्धति के अन्तर्गत गश्ती चिट्ठिया, सूची-पत्र, मूल्य-पुस्तक, वस्तुओ के विवरण-पत्र आदि डाक द्वारा ग्राहको को भेजे जाते हैं। विज्ञापनो की इस पद्धति का प्रयोग किसी भी क्षेत्र मे किया जा सकता है। इसका प्रयोग एक स्थान पर तथा सुदूर देशो मे किया जा सकता है। यह विज्ञापन सर्व साधारण जनता के लिए नही, वरन् कुछ चुने हुए व्यक्तियो के लिए ही उपयुक्त रहता है। इस प्रकार के विज्ञापन के लिए ऐसे व्यक्तियो की एक सूची बना ली जाती है जिनसे प्रत्यक्ष डाक सम्पर्क स्थापित करना होता है। बढती हुई सुविधाओ के कारण इस प्रणाली का आज-कल बड़ा बोलबाला है।

डाक द्वारा विज्ञापन की प्राय दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं :—प्रथम पद्धति के अनुसार कुछ विक्रय पत्र छपवा कर ग्राहकों से पृथक-पृथक अपनी वस्तुओं के लिए निवेदन किया जाता है । द्वितीय पद्धति के अनुसार एक ही प्रकार के लीफलेटस, सूची पत्र आदि विविध प्रारूप में मुद्रित करा कर प्रत्येक ग्राहक के पास भेजे जाते हैं। यह विज्ञापन भी बहुधा समाचार-पत्रीय तथा बाह्य विज्ञापन के सिद्धान्तों पर ही किया जाता है। इसमें क्रेता पर विशेष ध्यान रखा जाता है, अतः उसकी आवश्यकता की जानकारी होना अति आवश्यक है। इस प्रकार के विज्ञापन में मेलिंग लिस्ट (Mailing List) बनाने के लिए टेलीफोन डायरेक्ट्री तथा ट्रेड-डायरेक्ट्री का उपयोग किया जाता है। इस सूची में वर्तमान ग्राहकों के नाम व पतों के साथ भावी ग्राहकों के भी नाम व पते दिये रहते हैं।

व्यक्तिगत निवेदन के लिए जो पत्र तैयार किया जाय वह अत्यन्त प्रभावशाली होना चाहिए। उसको आकर्षक ढङ्ग से लिखा जाना चाहिए, जिससे कि भ्रमर रूपी वाचक उसको पढ़ते ही मुग्ध हो जायें एवं आदेश भेजने के लिए लालायित हो उठें। पत्र की भाषा सरल तथा व्यावहारिक होनी चाहिए तथा उसमें वस्तु की विशेषताओं पर विशेष जोर डालना चाहिए। इन पर भेजने वाले के हस्ताक्षरों की सील नहीं होनी चाहिए, वरन् विज्ञापक को स्वयं हस्ताक्षर करने चाहिए। विक्रय सम्बन्धी सभी बातें संक्षिप्त रूप से समझानी चाहिए। उसमें ग्राहकों को आश्वासन दिलाने के लिए नमूने की वस्तुओं को भेजने की सूचना, उनकी उपयोगिता के प्रमाण, प्रयोग-विधि आदि बातों का यदि समावेश है तो यह सोने में सुहागा होगा। उदाहरणार्थ, यदि वस्तु के अच्छा न लगने पर मूल्य वापिस करने की प्रतिज्ञा की जाये तो ग्राहकों को स्वतः उस वस्तु के प्रति आश्वासन हो जाता है। पत्रों में जो भी सन्देश दिया जाय वह ध्वनात्मक तथा प्रभावी होना चाहिए। पत्र का अन्तिम पैरा तक पूर्ण होना चाहिए, जिससे ग्राहक के हृदय पर निवेदन का अमिट प्रभाव पड़े और वह उस वस्तु को क्रय करने के लिए तैयार हो जाय। पत्र को अधिक प्रभावी बनाने के लिए साथ में एक आवेदन-पत्र तथा ऐसा जवाबी कार्ड या लिफाफा रख देना चाहिए जिस पर ग्राहक को टिकट लगाने की आवश्यकता न हो।

लाभ—

डाक द्वारा विज्ञापन के अनेक लाभ हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत एक ही सूचीपत्र में अनेक वस्तुओं का विज्ञापन समाविष्ट किया जा सकता है तथा यह सूचीपत्र सम्भावी ग्राहकों को मासिक-पत्रों के साथ भेज दिया जाता है। समाचार-पत्रों के विज्ञापन से ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि उसमें एक विज्ञापन में केवल एक ही वस्तु का परिचय दिया जा सकता है। इसका दूसरा महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि इस माध्यम से ग्राहकों को सदैव स्थायी रखा जा सकता है। हाँ, विज्ञापन का यह साधन खर्चीला अवश्य

है। साधारण वस्तुओं की अपेक्षा बहुमूल्य पदार्थों के विज्ञापन के लिए यह अधिक उपयोगी व प्रभावी सिद्ध हुआ है।

(४) विज्ञापन के अन्य साधन

अन्य साधनों में निम्न उल्लेखनीय हैं—

(१) मेला एवं प्रदर्शनी—कुछ व्यापारी संघ समय-समय पर मेलों एवम् प्रदर्शनियों का आयोजन करते हैं, जिनमें वे अपनी-अपनी वस्तुओं का परिचय ग्राहकों को देने के लिए एकत्रित होते हैं। दिसम्बर सन् १६५५ में दिल्ली में होने वाला औद्योगिक मेला (Indian Industries Fair) इसका ज्वलन्त उदाहरण है। भारतवर्ष में तो मेले तीर्थ स्थानों पर बहुधा होते रहते हैं। युद्ध पूर्व काल में प्रदर्शनी की गाड़ियों (Exhibition Trains) द्वारा भी विज्ञापन किया जाता था। ये गाड़ियाँ प्रत्येक स्टेशन पर कुछ समय के लिए रुक कर जनता को विभिन्न वस्तुओं का परिचय देती हैं। इनके द्वारा विभिन्न व्यावसायियों में पारस्परिक सहयोग की भावना बढ़ती है एवं उपभोक्ताओं को भी बड़ा लाभ पहुँचता है।

(२) सिनेमा गृहों में स्लाइड्स् दिखाना—आजकल के व्यस्त-जगत में मनोरञ्जनार्थ सिनेमा देखने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है, अतएव स्लाइड्स् द्वारा यहाँ जनता के सम्मुख यह प्रस्तुत किया जाता है कि अमुक वस्तु इनको कहाँ पर मिलेगी। ये स्लाइड्स् सिनेमा के प्रारम्भ में तथा मध्यान्तर में दिखाये जाते हैं तथा जनता की स्मरण शक्ति को प्रभावित करने में बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

(३) विज्ञापन चित्रपट—बड़े-बड़े निर्माता अपनी वस्तु का विज्ञापन करने के लिए अपने एडवरटाइजमेंट फिल्मस (Advertizement Films) बनवाते हैं, जैसे—डालडा, सनलाइट साबुन आदि का विज्ञापन। यह साधन अत्यन्त खर्चीला है, अतः साधारण निर्माता इसका प्रयोग नहीं कर सकते।

(४) रेडियो व टेलीविजन द्वारा विज्ञापन—आजकल रेडियो एडवरटाईजिंग एजेन्सीज द्वारा विज्ञापन देना बहुत लोकप्रिय हो रहा है। इस प्रकार के विज्ञापन सीलोन रेडियो से प्रातःकाल व सायंकाल फिल्मी गीतों के बीच दिये जाते हैं।

(५) लाउड स्पीकर द्वारा विज्ञापन—कुछ नगरों में विज्ञापन के हेतु इस साधन का भी प्रयोग किया जाता है, किन्तु कर्ण कटु होने के कारण एवं अधिक अव्यवस्था तथा अशान्ति फैलाने के कारण कुछ नगरों में इसका प्रयोग अवैध घोषित कर दिया गया है।

(६) आकाश लेखन—युद्ध पूर्व काल में वायुयान द्वारा धुयें की सहायता से आकाश में वस्तुओं का विज्ञापन किया जाता था। यह साधन भी अत्यन्त खर्चीला है।

(७) विविध साधन—इस शीर्षक के अन्तर्गत विज्ञापन की अनेक विधियाँ

आती हैं, जैसे—गिरे हुए मूल्य पर वस्तुओं का विक्रय (Reduction Sale), नमूनों का मुफ्त वितरण, वस्तु के साथ कुछ मनमोहक पदार्थों का मुफ्त वितरण, जैसे डालडा के बड़े टीन के साथ एक काच का ग्लास देना अथवा सनलाइट की एक बट्टी के साथ पेचक, सुई या गुब्बारा देना अथवा पुस्तका के साथ छोटे कलेण्डर व डायरियाँ देना इत्यादि।

STANDARD QUESTIONS

1 What channels are available to a manufacturer to market his products ? Which method would you advise a manufacture of fountainpens to adapt and why ?

2. Examine carefully the principles of effective advertising and suggest methods by which an advertisement may be made to appeal effectively to an illiterate public ?

3 Outline briefly the organisation and describe the working of the advertising department of a large firm What methods are available for testing the effectiveness of its advertising ?

4 By what principles would you be guided to selecting the medium for an advertisement ? Bring out the relative merits and demerits of newspapers and magazines as advertising media

5 What points should the advertisement of a life insurance office bring out in order to induce the public to become its policy holders ?

6 Review the merits and demerits of different media of advertising

7. State the various methods by which display value of an advertisement in (1) a newspaper and (2) a magazine is improved and draw up a layout as well as a copy of an advertisement for a magazine in connection with a maker of a radio set in the sale of which your are interested

8 State what elements a scientifically drafted copy of an advertisement must embrace ? Draft a copy of an advertisement of a patent branded breakfast food for children embracing appeal to the appropriate instincts

9 How would you explain to an advertiser who has never used posters their suitability for this proposition detailing the object with which the posters are to be used as helps to other forms of advertisements

Draw up a poster which you would recommend in the above case

10 Write a short essay on 'Mural Advertising'

11. State briefly the essentials of a good newspaper advertisement, and draw up a suitable advertisemnt (for insertion in a financial weekly on behalf of a life insurance company or a bank.)

12 A glass manufacturing company has been recently started under good auspices How should it in your opinion, arrange for the publicity of its products ?

13 (a) Discuss the essentials of a good copy of advertisement
(b) What points should an advertiser consider in selecting the media of advertisement ?

14. Discuss the value of window display as form of publicity and state the important points which a scientific advertiser should not lose sight of in this connection

15 As a publicity manager of a big business house narrate the various factors which you will keep in mind while preparing a publicity plan

---

अध्याय १

विवेकीकरण का अर्थ, उद्देश्य एवं सिद्धान्त

(Meaning, Objectives & Principles of Rationalisation)

विवेकीकरण की परिभाषा

विवेकीकरण का सामान्य अर्थ—

'विवेकीकरण (Rationalisation) शब्द 'विवेक' से बना है, जिसका आशय ऐसी किसी क्रिया से है जो कि बुद्धि द्वारा एवं सोच-विचार कर की गई हो। 'वैज्ञानीकरण' एवं 'युक्तीकरण' इसके अन्य पर्यायवाची हैं। वैज्ञानीकरण का अर्थ होता है वैज्ञानिक पद्धति से कार्य करना, क्योंकि विज्ञान में प्रत्येक परिणाम कारण परम्परा से निकाला जाता है। किसी भी कार्य को करने से पूर्व निगमन या आगमन (Deductive or Inductive) प्रणाली द्वारा उसका विश्लेषण किया जाता है और उपयुक्त परिणाम के अनुसार ही कार्य किया जाता है। इसी प्रकार 'युक्तीकरण' से आशय है, युक्ति द्वारा सोच-समझ कर कोई कार्य करना। किसी भी नाम से पुकारिये, विवेकीकरण का सामान्य अर्थ यही है कि जो भी कार्य किया जाय, वह भली प्रकार विचार करके एवं गुण-दोषों के सन्तुलन के उपरान्त करना चाहिये, अर्थात् ऐसी कोई भी मानवीय क्रिया जो तर्क अथवा युक्ति पर अवलम्बित हो, विवेकशील कही जा सकती है। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति भले-बुरे का विचार किये बिना कार्य करता है तो परिणाम अच्छा न होगा। तभी तो किसी ने कहा कि 'बिना विचारे जो करे सो पाछे पछताय'। तर्कहीन कार्य को 'विवेकहीन' (Irrational) कहा जा सकता है।

उद्योग में विवेकीकरण का अर्थ—

ऊपर हमने विवेकीकरण का सामान्य अर्थ बतलाया है। 'उद्योग' में विवेकीकरण का तात्पर्य यह है कि उद्योग की प्रत्येक क्रिया को तर्क के आधार पर अथवा किसी विशेष युक्ति से किया जाय। साधारणतः उद्योग के तीन क्षेत्र होते हैं—(अ) प्रवर्तन अर्थात् प्रारम्भिक अनुसन्धान करना (ब) निर्माण एवं (स) विज्ञापन तथा विक्रय। उद्योग के इन तीनों क्षेत्रों में विवेक अथवा युक्ति की आवश्यकता है। उदाहरण के लिये, प्रवर्तन के क्षेत्र में प्रवर्तक को कारण परम्परा द्वारा यह निर्धारित करना पड़ता है कि उसके उद्योग के लिये कौनसे संचालक उपयुक्त होंगे, किसको प्रबन्ध संचालक बनाया जाय, पूँजी प्राप्त करने के लिये पूँजी का कलेवर कैसे बनाया जाय, श्रमजीवी कहाँ से प्राप्त किये जायें, सस्ती शक्ति कहाँ से उपलब्ध होगी, आदि ?

इन प्रश्नो के हल के लिये बडे विवेक की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार निर्माण के क्षेत्र मे उसे यह सोचना पडता है कि कच्चा माल कहा से एव किस मात्रा मे प्राप्त किया जाय, औद्योगिक कला मे निपुण कारीगर कहाँ से प्राप्त होगे, नवीनतम मशीनें कहा से उपलब्ध होगी, आदि प्रश्नो को हल करने मे भी युक्ति की आवश्यकता पडती है। तीसरे, विक्रय वृद्धि के लिये बडे प्रयत्न करने पडते है। कारण परम्परा द्वारा यह निश्चय करना पडता है कि सबमे सस्ता एव कुशल यातायात का साधन कौनसा होगा, जिसके द्वारा उपभोक्ताओ के दरवाजे तक निर्मित माल पहुँचाया जाय। **अत यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक पद्धतियो द्वारा उत्पत्ति के विभिन्न साधनो से अधिक उपयोगिता प्राप्त करना ही वैज्ञानिकन अथवा विवेकीकरण कहलाता है।**

क्या विवेकीकरण कोई नवीन विचारधारा है ?—

वर्तमान युग 'विवेकीकरण' का युग कहलाता है। गत कुछ वर्षों से आर्थिक क्षेत्र मे विवेकीकरण का बोलबाला है, प्रत्येक उद्योग मे एव उद्योग की प्रत्येक शाखा मे विवेकीकरण के प्रयास किये जा रहे है। अब प्रश्न यह है कि क्या पहले कभी विवेक द्वारा कार्य नही होते थे, क्या बिना विचार के उद्योगपति पहले कार्य करते थे, वे क्या भली प्रकार यह नही सोचते थे कि किस युक्ति के द्वारा उद्योग मे उनको सफलता मिलेगी ? **सच बात तो यह है कि विवेकीकरण औद्योगिक विषय मे कोई नवीन विचारधारा नही है। उद्योग के साथ ही विवेकीकरणका भी जन्म हुआ, अतएव प्रारम्भ से ही विवेकीकरण की ओर उद्योगो की प्रवृत्ति रही है। हाँ, इतना अवश्य है कि उन दिनो युक्ति के ढग कुछ और थे, किन्तु आज कुछ दूसरे हैं और उनका व्यापक उपयोग भी किया जा रहा है।** विवेकीकरण की ओर जो ध्यान दिया गया है वह इतना साधारण है और जो सफलता मिली है वह इतनी आश्चर्यजनक है कि इसे एक बिल्कुल नया सिद्धान्त समझा जाने लगा है। यही नही, वर्तमान युग भी कभी-कभी विवेकीकरण का युग कहा जाता है। अपने प्रति दिन के व्यवहार मे भी यह बात लागू होती है। हर एक मनुष्य जानता है कि उसको विवेक के द्वारा कार्य करना चाहिये, क्योकि 'बिना विचारे जो करे सो पाछे पछताय', किन्तु फिर भी मनुष्य त्रुटि करता है—उसके ऐसे अनेक कार्य होते है जिन्हे विवेकहीन (Irrational) कहा जा सकता है। इसी प्रकार उद्योग के क्षेत्र मे भी पहले मनुष्य ऐसे अनेक कार्य करता था जो कि किसी तर्क पर अवलम्बित नही होते थे, परन्तु परिस्थितियो ने विवेकीकरण **की महिमा को आज बहुत बढा दिया है। नवीन न होते हुए भी इसे आज नई विचारधारा माना जाता है। यही कारण है कि वाल्टर मैकन (Walter Meckon) ने विवेकीकरण को 'नव औद्योगिक क्रान्ति' के नाम से पुकारा है।**

विवेकीकरण 'नव औद्योगिक क्रान्ति' है—

हाँ, विवेकीकरण को 'नव औद्योगिक क्रान्ति' (Neo-Industrial Revolution) कहा जा सकता है। अठारहवी शताब्दी के मध्य मे इगलैण्ड मे अनेक चमत्कारपूर्ण परिवर्तन हुए, जिन्होने देश की आर्थिक व्यवस्था मे एक उथल पुथल

मचा दी। मशीनों के आविष्कार एवं यातायात तथा संदेशवाहन के साधनों ने देश के कृषि प्रधान कलेवर को बदल कर उद्योग प्रधान कर दिया। परिणामस्वरूप देश के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में अनेक परिवर्तन हुए, जो इतने महत्त्वपूर्ण थे कि विश्व के आर्थिक इतिहास में आज वे 'औद्योगिक क्रांति' के नाम से विख्यात हैं। यह तो रही अठारहवीं शताब्दी की बात। ठीक इसी प्रकार प्रथम महायुद्ध से पद-दलित एवं जर्जर आर्थिक व्यवस्था को सुधारने में सन् १९१८ के बाद जर्मनी ने उद्योगों में वैज्ञानिक परम्परा का आश्रय लिया, जिसके परिणामस्वरूप उसने दिन-दूनी रात चौगुनी उन्नति की और अपनी आर्थिक दशा को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया। इसी आधार पर वैज्ञानिकरण अथवा विवेकीकरण की उपमा औद्योगिक क्रान्ति से की गई है। दोनों ने ही उद्योग के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये, केवल समय का अन्तर था। इसी कारण विवेकीकरण को 'नूतन औद्योगिक क्रान्ति' कहते हैं।

विवेकीकरण का उद्‌गम—

प्रथम महायुद्ध की संकटपूर्ण परिस्थितियों द्वारा विवेकीकरण को प्रेरणा मिली। विवेकीकरण की कोई विशेष जन्म तिथि नहीं है। सच बात तो यह है कि उद्योग के साथ ही विवेकीकरण का भी जन्म हुआ। उद्योग सनातन है, अतः विवेकीकरण भी सनातन है। इसका न आदि है न अन्त, किन्तु फिर भी ऐसा कहते हैं कि विवेकीकरण का प्रसार प्रथम विश्व युद्ध (सन् १९१४-१९१८) के बाद हुआ। उस समय आर्थिक मन्दी का युग था और औद्योगिक कलेवर पर संकट के बादल मंडरा रहे थे तथा वह छिन्न-भिन्न होने की स्थिति में आ पहुँचा था। जिस प्रकार संकट के समय ही मनुष्य ईश्वर को याद करता है उसी प्रकार विश्व के उद्योगपतियों ने प्रथम महायुद्ध की संकटमय परिस्थितियों से आकुल होकर विवेकीकरण की शरण ली। विवेकीकरण का उद्‌गम सर्व प्रथम जर्मनी में हुआ। इसके प्रणेता वाल्टर राथेनाउन थे। प्रथम महायुद्ध में भी जर्मनी पराजित हुआ, उसकी औद्योगिक एवं आर्थिक स्थिति को बड़ा धक्का पहुँचा। एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में अपना स्थान बनाये रखना तथा अपनी बड़ी जन-संख्या को जीवनोपयोगी वस्तुएं उपलब्ध करने के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह कोई ऐसी प्रणाली निकाले जिसके द्वारा देश के मृत-प्राय उद्योग उत्पादक बन सकें। इस हेतु जर्मनी में जो उपाय किए गये उन्हें जर्मन भाषा में 'नूतन औद्योगिक क्रांति' (Rationalisierung) कहते हैं। इन्हीं उपायों द्वारा जर्मनी ने ऐसी उन्नति की कि द्वितीय महायुद्ध में मित्र-राष्ट्रों को लेने के देने पड़ गये। अन्य देश भी विवेकीकरण की इस धारा से अछूते न रहे। लगभग सभी देशों में विवेकीकरण की प्रवृत्ति को थोड़ी-बहुत उत्तेजना मिली।

महायुद्ध ने प्रकट होने वाली निम्नलिखित परिस्थितियों ने इस उत्तेजना को विशेष प्रोत्साहन प्रदान किया :—

(१) युद्ध के समय तथा उसके बाद भी वस्तुओं की माँग अधिक रही और उत्पादन पर्याप्त न था, अतः आवश्यकता ऐसे साधनों की थी जिनकी

सहायता से अधिक से अधिक उत्पादन हो सके और लोगो की माँग पूरी हो।

(२) युद्ध के बाद श्रमिक सघो ने काम के घण्टो मे कमी और वेतन मे वृद्धि करने की माँग की, अस्तु ऐसे उपाय करने आवश्यक हो गये जिनके द्वारा कम व्यय पर कुशल श्रम प्राप्त हो सके।

(३) कुछ वर्ष बाद सन् १९२९ मे मन्दी का जो झोका आया उसने उद्योगपतियो को उत्पादन व्यय कम करने के लिए विवश किया, अत निर्माण की विशिष्ट रीतियो का पुन॰ सगठन आवश्यक हो गया।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय परिषदो ने भी 'विवेकीकरण' को मान्यता दी।

(५) मुद्रा चलन की व्यवस्था मे भी अनेक उलट फेर हुए।

द्वितीय महायुद्ध का प्रभाव—इस प्रकार सन् १९३९ तक विवेकीकरण के आन्दोलन का जोर रहा, किन्तु द्वितीय महासमर आरम्भ होते ही उद्योगो को विवेकीकरण की आवश्यकता न रही। जिस प्रकार कभी कभी सुख मे मनुष्य को अपने सिद्धान्तो का विचार नही रहता, उसी प्रकार युद्ध युग मे, जो उद्योगपतियो के लिए स्वर्ण युग है, वे विवेक खो बैठे, परन्तु सन् १९४५ मे शान्ति स्थापित होते ही आगामी आर्थिक मन्दी से बचने के लिए उद्योगपति प्रयत्न करने लगे तथा विवेकीकरण की आवश्यकता पुन प्रतीत होने लगी, परिणामस्वरूप इसका अवलम्बन भी होने लगा। सितम्बर सन् १९४९ मे मुद्रा का अवमूल्यन करना विवेकीकरण का ही एक उदाहरण है। इसके अतिरिक्त युद्ध द्वारा नष्ट हुए योरोप एव एटम बम द्वारा दुखित जापान ने पिछले छ सात वर्षों म जो चमत्कारपूर्ण एव प्रसशनीय प्रगति की है वह वास्तव मे विवेकीकरण अथवा युक्तिकरण का ही परिणाम है।

विज्ञान की उन्नति—शक्ति एव यात्रिक साधनो के क्षेत्र मे अनेक नवीन आविष्कारो ने एक क्रान्ति सी मचा दी है। वस्तुओ की किस्मो मे भिन्नता के स्थान पर एकरूपता आ गई है। अन्य शब्दो मे हम यह सकते है कि विभिन्न भेदो को सरल करने, हाथ के काम की अपेक्षा उन्नत मशीनो का प्रयोग करने, अनार्थिक कारखानो को बन्द करने, उत्पादन व्यय को घटाने और बेचने मे मितव्ययिता के विषय मे विवेकीकरण के आन्दोलन ने बहुत उन्नति की है। इस आन्दोलन ने नवीन उत्साह पैदा किया है तथा औद्योगिक अनुसधान को बडा प्रोत्साहन दिया है। वैज्ञानिक प्रबन्ध के क्षेत्र मे समय, गति तथा थकावट अध्ययन से सम्बन्धित अनेक प्रयोग किये जा रहे है तथा इनमे सम्बन्धित समस्याओ को सुलझाने के लिए नवीनतम युक्तियाँ निकाली जा रही है। स्वचालन (Automation) तथा यान्त्रिक सचार (Cybernetics) वर्तमान औद्योगिक युग की नवीन घटनायें है जिनका एक मात्र उद्देश्य वैज्ञानिक ढग से उत्पादन व्यय मे कमी करना है। आजकल विवेकीकरण उद्योग का एक अनिवार्य अग समझा जाने लगा है और सभी औद्योगिक राष्ट्र इस दिशा मे प्रयत्नशील है।

प्रसिद्ध विद्वानों एवं समस्थाओं द्वारा विवेकीकरण की परिभाषायें—

उपर्युक्त विवेचन केवल सामान्य दृष्टि से विवेकीकरण की परिभाषा पर प्रकाश डालता है। विवेकीकरण का अर्थ गनी प्रकार समझने के लिए विभिन्न लेखकों तथा सस्थाओं द्वारा दी हुई निम्न परिभाषाओं से बडी सहायता मिलेगी :—

(१) जर्मनी की राष्ट्रीय बचत तथा कार्यक्षमता परिषद् (**National Board for Economy and Efficiency**) के अनुसार, विवेकीकरण सम्पूर्ण उद्योग को उन्नत करने के लिए व्यवस्थित योजनाओं एवं सब तान्त्रिक साधनों का उपयोग है, जिससे कम लागत पर अधिक उत्पादन मिले एव गुणों में सुधार हो। इसका हेतु सस्ती कीमत पर अधिक परिमाण में अच्छे गुणों की वस्तुयें उपलब्ध कर जन-साधारण की सम्पन्नता बढाना है।"[1]

(२) विश्व आर्थिक सम्मेलन, जनेवा, (**The World Economic Conference, Genewa, 1927**) के अनुसार, "श्रम अथवा वस्तुओं का न्यूनतम अपव्यय करने के लिए बनाये हुए सगठन एव तन्त्र की पद्धति ही विवेकीकरण है।" इस प्रकार "श्रम का वैज्ञानिक सगठन, कच्चा माल एव उत्पादन दोनों का प्रमापीकरण, क्रियाओं की सरलता तथा विक्रय एव आवागमन की पद्धतियों में सुधार-- इनका समावेश भी विवेकीकरण में होता है।[2] विवेकीकरण की यह परिभाषा वैसे तो काफी विस्तृत है, किन्तु उद्योगों की अर्थ एव सगठन सम्बन्धी समस्याओं पर यह समुचित प्रकाश नहीं डालती। विवेकीकरण केवल विद्यमान इकाइयों के सगठन तक ही सीमित नहीं है, किन्तु नवीन उद्योगों एव नये कारखानों का सगठन भी इसके अन्तर्गत आता है। किसी उद्योग विशेष के लिए अनुकूलतम परिणाम क्या हो, कौनसी स्थिति सर्व-श्रेष्ठ होगी, आवश्यक धन-राशि क्या होगी, ये समस्यायें भी विवेकीकरण के आधार पर ही हल होनी चाहिए, क्योंकि वे भी इसी के अग हैं।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन, १९३७ (**International Labour Organisation, 1937**) की विशेषज्ञ समिति ने विवेकीकरण की बडी सुन्दर परिभाषा दी है, जो इस प्रकार है :—

---

1. "Rationalisation is the employment of all means of technique and ordered plans which serve to elevate the whole industry and to increase production, lower its costs and improve its quality".

—National Board for Economy and Efficiency.

2. "Rationalisation includes the Scientific Organisation of Labour, Standardisation of both material and prouducts, simplification of processes and improvement in the system of transport and marketing. *—World Economic Conference, Genewa.*

(अ) सामान्य अर्थ मे—विवेकीकरण वह सुधार है जो प्राचीन एव परम्परागत परिस्थिति के स्थान पर व्यवस्थित एव कारण परम्परा पर आधारित साधना को प्रयोग मे लाता है।

(आ) अत्यन्त सकुचित अर्थ मे—विवेकीकरण से तात्पर्य किसी सस्था, शासन अथवा किसी सरकारी अथवा गैर सरकारी सेवा मे किए जाने वाले ऐसे सुधारो से है जिसके द्वारा पुरानी परम्परागत प्रणालियो के स्थान पर नियमित और विवेकपूर्ण विधियो का उपयोग किया जाता है।

(इ) विस्तृत अर्थ मे—विवेकीकरण ऐसे सुधार को कहते हैं जिसमे व्यापार सस्थाओ के किसी समूह का इकाई मान लिया जाता है तथा व्यवस्थित, विवेकपूर्ण एव सगठित प्रयास द्वारा अनियन्त्रित प्रतिस्पर्द्धा से होने वाली बरबादी तथा हानियो को रोका जाता है।

(ई) अति विस्तृत रूप मे—विवेकीकरण से तात्पर्य ऐसे सुधार से है जिसम विशाल आर्थिक तथा सामाजिक समूहो की सामूहिक क्रियाओ म नियमित तथा विवेकपूर्ण विधियो का प्रयोग किया जाता है।*

इस प्रकार सकुचित अर्थ म विवेकीकरण को एक विशेष कारखाने पर, विस्तृत अर्थ मे एक विशेष उद्योग पर तथा अत्यन्त विस्तृत अर्थ मे समस्त समाज पर लागू किया गया है।

(४) प्रोफेसर रूपराम गुप्ता के शब्दो मे, विवेकीकरण एक ऐसा तन्त्र है, जो दोषपूर्ण व्यापारिक सगठन, अपर्याप्त एव असन्तोषजनक तान्त्रिक साज सज्जा (कार्यकर्त्ता एव मशीनरी से सम्बन्धित), विक्रय के अप्रचलित तरीको, अति पूँजीकरण

---

* (i) 'Rationalisation in general is any reform tending to replace habitual, antiquated practices by means or methods based on systematic reasoning'

(ii) 'Rationalisation in the narrowest sense is any reform of an undertaking, administration or other service, public or private, tending to replace habitual, antiquated practices by means or methods based on systematic reasoning"

(iii) "Rationalisation in the wider sense, is a reform which takes a group of business undertakings as a unit and tends to reduce waste and loss due to unbridled competition by concerted action based on systematic reasoning"

(iv) 'Rationalisation in the widest sense, is a reform tending to use means and methods based on systematic reasoning to the collective activities of the large economic and social groups'

—*International Labour Organisation*

और अत्यधिक प्रभारों, आलस्य और अविचार के परिणामों, गलतियों और त्रुटिपूर्ण गणना की बुराइयों को दूर करता है।"*

(५) उर्विक (Urwick) ने अपनी पुस्तक 'The Meaning of Rationalisation' में विवेकीकरण की परिभाषा इस प्रकार की है—"यह एक अर्थ में उचतर प्रवृत्ति है और दूसरे शब्दों में एक पद्धति है। संसार की आर्थिक स्थिति का अधिकतम वैज्ञानिक नियन्त्रण सम्भव है तथा आवश्यक भी—इस धारणा को अंकित करते हुए यह एक उचतर प्रवृत्ति है। वस्तुओं के उत्पादन, वितरण व उपभोग में वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है—इस दृष्टि से यह एक पद्धति है। विवेकीकरण के अन्तर्गत श्रम के वैज्ञानिक संगठन, कच्चे माल तथा निर्मित वस्तुओं का प्रमापीकरण, उत्पादन प्रणालियों को सरल से सरल करना, विक्रय तथा यातायात के साधनों में सुधार करना, आदि का समावेश किया जाता है।'

(६) डाक्टर डी० एच० मैक गिरोगोर (D H Mac Gregor) ने विवेकीकरण की परिभाषा निम्न शब्दों में की है —"उद्योग का ऐसा उचित संगठन जो कि न्यायोचित राज्य के नियमों पर अवलम्बित है और जिसमें उत्पादन-कर्ताओं का सम्बन्ध इस प्रकार हो कि वे निर्माणी विशेषीयोजन (Work Specialisation) में और शिथिल इकाइयों के अविनाशकारी विच्छेदन तथा नूतन कारखानों के प्रवेश पर नियन्त्रण रख सकें।' इस परिभाषा में उचित संगठन पर विशेष बल दिया गया है।

(७) डाक्टर नायडू एवं एस० के दत्ता ने जो परिभाषा दी है उसमें उपर्युक्त सभी परिभाषाओं का सार आ जाता है। उन्होंने विवेकीकरण की परिभाषा को पाँच भागों में विभक्त किया है —

(१) यह देश के विभिन्न उद्योगों के ध्यान, ढाँचे और प्रबन्ध में पूर्णरूपेण परिवर्तन ला देता है।
(२) यह प्रत्येक प्रकार के निरर्थक विनाश को दूर कर देता है।
(३) यह श्रमिकों में कार्यक्षमता ला देता है।
(४) यह श्रमिकों के जीवन स्तर में प्रगति लाने का प्रयास करता है।
(५) यह सम्पूर्ण समस्या किसी भी उद्योग विशेष के विषय में सामूहिक रूप

---

* *"It is a technique which seeks to remove the evils of* defective business organisation, inadequate and unsatisfactory technical equipment (both in person and machinery), obsolete marketing methods, over capitalization and excessive overhead charges, results of lithargy and thoughtlessness, mistakes, and miscalculations."

—*Business Organisation by Prof R R Gupta, Page 439.*

से सोची जानी चाहिए, उनको किसी व्यक्तिगत उपक्रम के लिये अलग-अलग नही विचारना पडता।

निष्कर्ष—

उपरोक्त परिभाषाओ के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सगठन द्वारा दी हुई परिभाषा के अतिरिक्त शेष सभी परिभाषाओं मे कुछ न कुछ दुर्बलता रह गई है। उदाहरणार्थ, जर्मनी की राष्ट्रीय बचत एव कार्य क्षमता परिषद् ने 'औद्योगिक क्षेत्र मे विवेकीकरण' को परिभाषित किया है, श्री उरविक ने 'विवेकीकरण' के केवल तीन क्षेत्रों—प्रमापीकरण, वैज्ञानिक प्रबन्ध तथा सुगमन पर ही अधिक बल देकर इसे परिभाषित किया है, प्रोफेसर गुप्ता ने 'व्यावसायिक सगठन मे विवेकीकरण' पर प्रकाश डाला है, इत्यादि। किन्तु विवेकीरण की सर्वश्रेष्ठ परिभाषा वही है जो अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन ने दी है, क्योंकि इससे विवेकीकरण' की व्यापकता का परिचय मिलता है। किसी क्षेत्र विशेष मे विवेकीकरण क्या है, यह न बतलाकर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन की विशेषज्ञ समिति ने इसके सामान्य, सकुचित, विस्तृत व अति विस्तृत अर्थों पर प्रकाश डाला है। अतएव यही उपयुक्त परिभाषा है।

विवेकीकरण के उद्देश्य—

विवेकीकरण की उपर्युक्त परिभाषाओ से इसके निम्नलिखित उद्देश्य स्पष्ट हैं :—

(१) हर प्रकार के अपव्यय को रोकना—किसी भी उद्योग म यदि युक्तिसगत एव वैज्ञानिक पद्धतियो के स्थान पर पुरानी एव परम्परागत पद्धतियो का प्रयोग किया जायगा, तो ऐसी दशा मे अपव्यय होना स्वाभाविक है। यह अपव्यय श्रम, पूँजी, सगठन आदि सभी क्षेत्रो मे हो सकता है —

(अ) दोषपूर्ण सगठन से होना वाला अपव्यय—दूषित सगठन की दशा म श्रमजीवियो तथा प्रबन्धको दोनो को ही बहुत सा व्यर्थ परिश्रम करना पडता है। कभी-कभी अतिपूँजीकरण, अथवा न्यून-पूँजीकरण के कारण घोर क्षति होती है। परिणामत उत्पादित वस्तुओ की प्रति इकाई लागत बढ जाती है।

(ब) प्रतिस्पर्धा से होने वाला अपव्यय—कभी कभी उद्योगो की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा से भी बरबादी होती है। उदाहरणार्थ, विषम प्रतियोगिता के कारण प्रचार एव विज्ञापन पर बहुत अधिक व्यय करना पडता है, विभिन्न किस्म का माल बनाना पडता है, जो लाभप्रद नही होता और अन्त म अनेक कारखाने घाटे पर चलते-चलते बन्द हो जाते हैं।

(स) दोषपूर्ण उत्पादन विधियो से होने वाला अपव्यय—अप्रचलित एव घिसी हुई मशीनो से काम करने तथा उत्पादन की परम्परागत प्रणालियो के अपनाने मे भी बडी हानि होती है। समय भी अधिक

लगता है, परिश्रम भी अधिक करना पड़ता है एवं उत्पादन भी श्रेष्ठ कोटि के नही होते।

(द) उत्पादन के विभिन्न साधनो मे समन्वय के अभाव से होने वाला अपव्यय—उत्पत्ति के विभिन्न साधनो—भूमि, श्रम, पूँजी, सगठन, साहस मे प्रभावपूर्ण सहकारिता आवश्यक होती है। यदि इन साधनो मे पर्याप्त समन्वय नही है, तो अपव्यय ही होगा। उदाहरण के लिए, आवश्यकता से अधिक मजदूरो की नियुक्ति कर ली गई, तो उन्हे व्यर्थ मजदूरी और भत्ता देना पडेगा। इसी प्रकार आवश्यकता से अधिक पूँजी लगाने से भी विनियोगको को व्यर्थ ब्याज देना पडेगा।

(२) प्राप्त साधनो का श्रेष्ठतम उपयोग—विवेकीकरण का मूलभूत उद्देश्य प्रत्येक साधन का अच्छे से अच्छा उपयोग करना होना है। प्रत्येक देश तथा प्रत्येक उद्योग के कुछ अपने सीमित साधन होते हैं, जिनको घटाया या बढाया नही जा सकता। विवेकीकरण के सिद्धान्तो के अवलम्बन द्वारा यह प्रयत्न किया जाता है कि किन्ही साधनो का उपयोग इस प्रकार किया जाय, जिससे अधिक से अधिक उत्पादन सम्भव हो सके।

विवेकीकरण के मुख्य ४ उद्देश्य

(१) निम्न कारणो मे होने वाले अपव्यय को रोकना :—
- (अ) दोषपूर्ण सगठन।
- (ब) पारस्परिक प्रतिस्पर्धा।
- (स) दोषपूर्ण उत्पादन विधि।
- (द) उत्पादन के साधनो मे समन्वय का अभाव।

(२) प्राप्त साधनो का श्रेष्ठतम उपयोग करना।

(३) देश के उद्योग-धन्धो मे स्थिरता लाना।

(४) जनसाधारण का जीवन-स्तर ऊँचा रखना।

(३) देश के उद्योग-धन्धो मे स्थिरता लाना—जब कभी देश के उद्योग-धन्धो की दशा दयनीय हो जाती है, उन्हे लगातार घाटा होता है, अथवा समापन के लिये वे विवश हो जाते है, तो ऐसी परिस्थिति मे विवेकीकरण द्वारा उद्योगो को लाभप्रद स्थिति मे लाया जाता है। वास्तव मे विवेकीकरण का आरम्भ उद्योगो की गिरती हुई हालत को सभालने के लिये किया गया है।

(४) जन साधारण का जीवन-स्तर ऊँचा रखना—विवेकीकरण का एक उद्देश्य सस्ते मूल्य पर प्रमापित वस्तुयें प्रदान करके उपभोक्ताओ की सेवा करना भी है। जब जन साधारण को सस्ते मूल्य पर वस्तुयें उपलब्ध होने लगती हैं, तो उनका जीवन स्वतः उन्नत एव सुखी हो जाता है तथा रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन सन् १९२ ने विवेकीकरण के ७ निम्न उद्देश्य निर्धारित किए हैं :—

(१) कम से कम प्रयत्न द्वारा अधिकतम कार्यक्षमता प्राप्त करना,
(२) श्रम-शक्ति एवं अनिर्मित माल के निरर्थक उपयोग को दूर करना,
(३) वस्तुओं को उपयुक्त बनाना एवं उनके वितरण में सुगमता लाना।
इस हेतु निम्नलिखित दिशाओं में प्रयत्न करना चाहिए :—
(i) अनावश्यक यातायात को दूर करना,
(ii) अनावश्यक मध्यस्थों को हटाना,
(iii) आर्थिक भार को कम करना,
(iv) वस्तुओं एवं यन्त्रों का प्रमापीकरण, और
(v) निर्माण के ढङ्गों में अनुसंधान करना।
(४) समाज के लिए अधिक स्थायी और उच्चतर जीवन स्तर सम्भव करना।
(५) उपभोक्ताओं के लिये कम से कम मूल्य पर वस्तुयें उपलब्ध करना।
(६) विभिन्न वर्ग के उत्पादकों के लिये (चाहे वे बड़े हों या छोटे) उचित पारितोषिक का नियोजन करना तथा श्रमिकों एवं उपभोक्ताओं की सामाजिक समृद्धि करना।

विवेकीकरण एवं वैज्ञानिक प्रबन्ध में अन्तर

सामान्यतः विवेकीकरण एवं वैज्ञानिक प्रबन्ध को एक दूसरे का पर्यायवाची कहा जाता है, क्योंकि दोनों ही उद्योग-धन्धों के प्रबन्ध एवं संगठन में प्राचीन एवं परम्परागत विधियों के स्थान पर नई एवं कारण परम्परा पर अवलम्बित विधियों के प्रयोग की कोशिश करते हैं। दोनों ही औद्योगिक उत्पादनशीलता को बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। दोनों ही का उद्देश्य श्रमजीवियों की कार्यक्षमता बढ़ाना, उत्पादन व्यय को न्यूनतम करना तथा बरबादी को रोकना होता है। दोनों ही प्रणालियाँ वैज्ञानिक प्रयोगों पर आधारित हैं। 'प्रयोग' तथा 'अनुसंधान' दोनों की आधारशिला हैं। परन्तु **इस समानता के होते हुए भी, विवेकीकरण एवं वैज्ञानिक प्रबन्ध में कुछ मौलिक भेद हैं, जो निम्नलिखित हैं :—**

(१) **क्षेत्र** —विवेकीकरण अति विस्तृत शब्द है और वैज्ञानिक प्रबन्ध उसका एक अंग मात्र है। विवेकीकरण की व्यापकता का परिचय, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन द्वारा की गई इसकी निम्न परिभाषा से मिलता है—"सामान्यतः विवेकीकरण एक ऐसा सुधार है जो प्राचीन एवं परम्परागत पद्धतियों के स्थान पर व्यवस्थित एवं कारण परम्परा पर आधारित पद्धतियों को प्रयोग में लाता है। विवेक की आवश्यकता केवल उद्योग में ही नहीं, वरन् कृषि, व्यापार, यातायात, संदेश-वाहन आदि सभी क्षेत्रों में होती है। बिना विवेक के परिणाम कभी मंगलकारी नहीं हो सकता तथा अन्त में पछताना पड़ता है। कहने का आशय यह है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध का क्षेत्र तो केवल श्रमिकों की कार्यक्षमता तक ही सीमित है, जबकि विवेकीकरण अति विस्तृत शब्द है, जो कि अधिक उत्पादन व्यय को दूर करने की चेष्टा करता है तथा किसी उद्योग विशेष में ही क्षय (Waste) को कम करने का प्रयत्न नहीं करता, वरन् समस्त औद्योगिक

इकाइयों में से क्षय को दूर करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार विवेकीकरण समस्त उद्योग, समाज एवं मानव-जाति में से क्षय को दूर करता है।"

(२) आवश्यकता—वैज्ञानिक प्रबन्ध की आवश्यकता तो उस समय उठती है जबकि कारखाना स्थापित हो जाता है, किन्तु विवेकीकरण के अन्तर्गत किसी भी औद्योगिक इकाई के स्थापित होने के पूर्व की समस्यायें भी सम्मिलित होती हैं। उदाहरण के लिए, कल्पना कीजिये कि सुरेश ग्वालियर में एक सूती वस्त्र मिल खोलना चाहता है, तो सर्व प्रथम प्रारम्भिक अनुसंधान के द्वारा यह देखना होगा कि क्या अन्य विद्यमान मिलों से प्रतिस्पर्धा में वह सफल हो सकेगा? उसकी प्रस्तावित औद्योगिक इकाई की पूँजी का कलेवर क्या होगा? क्या उद्योग के संचालन के हेतु योग्य प्रबन्धक उपलब्ध हैं? इत्यादि। इन प्रारम्भिक प्रवर्तन सम्बन्धी समस्याओं के हल में सुरेश को विवेकीकरण का सहारा लेना पड़ेगा। किन्तु, वैज्ञानिक प्रबन्ध की आवश्यकता यहाँ नहीं होगी। कारखाना स्थापित हो जाने के बाद सुरेश को वैज्ञानिक प्रबन्ध की समस्या पर भी विचार करना होगा, इसके पूर्व नहीं।

(३) विवेकीकरण समस्त उद्योग को इकाई मान कर लागू किया जाता है, जबकि वैज्ञानिक प्रबन्ध प्रायः व्यक्तिगत कारखानों में लागू किया जाता है। विवेकीकरण की कोई भी योजना लागू करने के पहले समस्त उद्योग को एक इकाई मानना पड़ेगा तथा सबकी कठिनाइयों पर ध्यान देना होगा, परन्तु इसके विपरीत कोई भी औद्योगिक इकाई वैज्ञानिक प्रबन्ध की योजना को अकेले किसी भी समय लागू कर सकती है।

(४) वैज्ञानिक प्रबन्ध केवल श्रमिकों की कार्यक्षमता एवं उनके संगठन से ही सम्बन्ध रखता है, किन्तु विवेकीकरण के अन्तर्गत उत्पादन एवं वितरण का संगठन भी आता है। वितरण की समस्याओं (जैसे यातायात का व्यय, विज्ञापन विपणि) का हल विवेकीकरण द्वारा हो सकता है। ये चीजें वैज्ञानिक प्रबन्ध के क्षेत्र के बाहर हैं।

(५) सामान्यतः विवेकीकरण की याद आर्थिक संकट के समय होती है, जबकि वैज्ञानिक प्रबन्ध लाभ देने वाले कारखानों में भी लागू किया जाता है। विश्व का औद्योगिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि मन्दी के युग में जब माँग गिर जाती है, तब व्यापारीगण व उत्पादक प्रायः विवेकीकरण का सहारा लेते हैं तथा वैज्ञानिकन की योजनाओं द्वारा ही तात्कालिक उपचार किया जाता है। उदाहरणार्थ, विविध प्रकार के संयोगों (जैसे कार्टेल, संघ आदि) का निर्माण करके विषम प्रतिस्पर्धा का सामना किया जाता है।

(६) संयुक्तिकरण—यदि कुछ व्यावसायिक इकाइयाँ प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन करने के लिए, पारस्परिक सहयोग तथा जन-हित की भावना से प्रेरित होकर संयोग का निर्माण करती हैं, तो ऐसा संयुक्तीकरण, विवेकीकरण कहा जा सकता है परन्तु वैज्ञानिक प्रबन्ध का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

(७) विवेकीकरण कोई निश्चित प्रणाली नहीं है, वरन् वैज्ञानिक प्रबन्ध एक निश्चित प्रणाली है। विवेकीकरण की योजना के अन्तर्गत सुविधानुसार प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन करने के लिए, उत्पादन व्ययो को न्यूनतम करने तथा बरबादी को रोकने के लिए कोई भी कदम उठाया जा सकता है। इसके विपरीत वैज्ञानिक प्रबन्ध एक निश्चित प्रणाली है, जिसकी निश्चित विधियाँ हैं, जिनको उसके विद्वानो ने उचित प्रयोगो के बाद निर्धारित किया है।

विवेकीकरण एवं राष्ट्रीयकरण में अन्तर

विवेकीकरण एव राष्ट्रीयकरण औद्योगिक विश्व के दो भिन्न पहलू हैं। ये एक दूसरे के पर्यायवाची नही, इनमे बड़ा अन्तर है। थोड़े से शब्दो मे, हम यह कह सकते हैं कि राष्ट्रीयकरण के अन्तर्गत प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण होता है और उसका प्रायोजन जनतन्त्रात्मक पद्धति द्वारा किया जाता है। राष्ट्रीयकरण के अन्तर्गत उद्योग पर स्वामित्व भी सरकार का होता है, किन्तु इसके विपरीत विवेकीकरण उत्पादन-क्षमता तथा श्रमिको की कार्य शक्ति बढाने का एक साधन मात्र है, उद्योगो के स्वामित्व से इसका कोई सम्बन्ध नही है।

विवेकीकरण की आवश्यकता तो प्रत्येक प्रकार के उद्योग के लिये रही है और रहेगी भी, चाहे वह व्यक्तिगत उद्योग हो अथवा राजकीय। इसका प्रधान कारण यही है कि विवेकीकरण तो प्रत्येक प्रकार के उद्योग के हित के लिये होता है। युक्ति की आवश्यकता कहाँ नही होती? राजकीय उद्योग भी इससे बच नही सकते, यदि वे विवेकहीन होकर कोई कार्य करेंगे तो उन्हे असफलता ही मिलेगी।

यदि राष्ट्रीयकरण द्वारा किसी उद्योग की कार्य-कुशलता बढ़ती है तो ऐसा राष्ट्रीयकरण भी विवेकीकरण का ही एक साधन माना जायगा।

उदाहरण के लिये, यदि अनियमितता, अकुशलता एव भ्रष्टाचार को रोकने के लिए रोडवेज (Roadways) का राष्ट्रीयकरण किया जाय तो ऐसा 'राष्ट्रीयकरण' 'विवेकीकरण' कहा जा सकता है, परन्तु यदि अपनी आय की वृद्धि के हेतु राज्य रोडवेज का स्वामित्व ग्रहण कर ले और जनहित का ध्यान न रखते हुए अकुशल एव अनियमित ढग से बसें (Buses) चलवाये तो ऐसा राष्ट्रीयकरण विवेकीकरण नही कहलायेगा, क्योंकि यह तो विवेकहीन क्रिया है।

विवेकीकरण के मुख्य सिद्धात—

कुछ विद्वानो के मतानुसार 'प्रयोग और 'अनुसधान' (Experimentation and Research) विवेकीकरण के मूल तत्त्व हैं। विवेकीकरण का मूल हेतु है—अपव्यय को कम करके कार्यक्षमता मे वृद्धि करना, अतः इस हेतु की पूर्ति के लिए जो उपाय काम मे लाये जाते हैं उन्ही का समावेश विवेकीकरण के अन्तर्गत होता है। विवेकीकरण के उक्त लिखित उद्देश्यो की पूर्ति के लिये निम्नलिखित प्रयत्न किये जा सकते हैं:—

(१) प्रमापीकरण—निर्माणी क्रियाओं में सरलता लाने के लिये प्रमापीकरण (Standardisation) ही सर्वश्रेष्ठ औषधि है। इसके अनुसार प्रत्येक उद्योग की वस्तु एक निश्चित प्रमाप की बनाई जायगी; उसमें भिन्नता न होगी। प्रोफेसर किम्बाल के मतानुसार, "प्रमापीकरण उत्पादन की किसी एक शाखा को थोड़े से साइजों, किस्मों एवं विशेषताओं में सीमित करने को कहते हैं।" उदाहरण के लिए, प्राचीन काल में जूतों के निर्माता पहले प्रत्येक व्यक्ति के पैर का नाप लेते थे और फिर जूते तैयार करते थे। लेकिन अब थोड़े से स्टैन्डर्ड साइज के जूते तैयार करने पर हरेक आदमी के पैरों के लायक जूते तैयार हो सकते है। इसी प्रकार बाजारों में स्टैन्डर्ड साइज के सिलेसिलाए कपड़े भी बिकते हैं।

विवेकीकरण के आठ सिद्धांत

(१) प्रमापीकरण।
(२) सुगमन।
(३) विशिष्टीकरण।
(४) यन्त्रीकरण।
(५) संयुक्तीकरण।
(६) औद्योगिक अनुसंधान।
(७) वैज्ञानिक प्रबन्ध।
(८) अभिनवीकरण एवं स्वचालन।

(२) सुगमन—वस्तुओं के प्रकार को कम करना 'सुगमन' (Simplification) कहलाता है। डॉक्टर चार्ल्स के मतानुसार सुगमन के अन्तर्गत निर्माताओं को विभिन्न तरह की वस्तुयें बनाने के लिए परेशान नहीं होना पड़ता। सुगमन का एक आशय यह भी है कि उत्पादन प्रणालियाँ सरल से सरल हों। वे इतनी पेचीदा न हों कि श्रमिकों को अधिक कठिनाई उठानी पड़े।

(३) विशिष्टीकरण—अधिकतम प्रमापीकरण में विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। विशिष्टीकरण का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि प्रत्येक उद्योगपति की उत्पादन क्षमता बढ़े। प्रत्येक उद्योग विभिन्न वस्तुओं के निर्माण में उतनी कार्यक्षमता प्राप्त नहीं कर सकता जितनी कि वह एक ही वस्तु का उत्पादन करने में प्राप्त कर सकता है। इसी उद्देश्य से विशिष्टीकरण का प्रयोग किया जाता है। यही नहीं, उत्पादन की विभिन्न क्रियाओं का भी विशिष्टीकरण किया जाता है। इसके अनुसार एक संस्था केवल एक ही प्रकार की वस्तु का उत्पादन करती है और दूसरी संस्था किसी अन्य प्रकार की वस्तु का। विशिष्टीकरण श्रमिकों के कार्य में भी लागू होता है, अर्थात् एक श्रमिक किसी कार्य विशेष का केवल एक भाग ही करता है। इससे श्रमिकों की वैयक्तिक कार्यक्षमता एवं उत्पादनशीलता बढ़ती है। इस अंग पर विस्तार से आगे विचार किया गया है।

(४) यन्त्रीकरण—प्रमापीकरण एवं विशिष्टीकरण के लिये यन्त्रीकरण अनिवार्य है। वर्तमान युग ही 'यन्त्र का युग' कहलाता है, क्योंकि आज छोटी से छोटी क्रिया भी एक-न-एक यन्त्र से सम्पादित की जा सकती है। यन्त्रों के प्रयोग से श्रमिकों की कार्यशक्ति बढ़ती है और उत्पादन को भी प्रोत्साहन मिलता है। उत्पादन एवं श्रम की

प्रगतिशीलता भी यन्त्रो द्वारा बढती है । यन्त्रो द्वारा बनी हुई वस्तुएँ भी प्राय. एक रूप होती है । इस सम्बन्ध मे यह न भूलना चाहिए कि विवेकीकरण का आशय अधिकतम यन्त्रीकरण से नही है । यदि किसी कार्य मे यन्त्रो के स्थान पर अधिक श्रमिको के प्रयोग से ही अधिकतम कुशलता की आशा है, तो विवेकीकरण के सिद्धान्तानुसार यन्त्रो का नही वरन् श्रमिको का ही उपयोग करना चाहिये ।

(५) सयुक्तीकरण—सयुक्तीकरण विवेकीकरण का पचम मुख्य सिद्धान्त है । विषम प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन करके, पारस्परिक सहयोग की भावना बढाने एव जनहित की दृष्टि से किए हुए विभिन्न व्यापारिक इकाईयो के एकीकरण को ही सयुक्तिकरण, (Combination) कहते है । उदाहरणार्थ, मान लीजिये कि A, B तथा C तीन व्यापारिक इकाईयाँ है, जो कि साईकिल का व्यापार करती है । A एक साईकिल को १५०) मे बेचना है, B प्रतिद्वन्द्विंतावश ग्राहको को अपनी ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से साईकिल को १३५) मे बेचता है, और C इसी भावना से १३०) मे बेचता है । अत. ये तीनो व्यक्ति पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन करने के उद्देश्य से मिल कर एक सयोग बना ल, तो ऐसा कार्य विवेकीकरण कहलायेगा, परन्तु यदि सयोग बनाने के उपरान्त एकाधिकार प्राप्त होने पर वे जनता का शोषण शुरू कर दें तो इसे विवेकीकरण न कहगे । जिन कारखानो को लगातार हानि हो रही हो, उन्हे बन्द करके सुसगठित कारखानो के साथ उत्पादन करना भी विवेकीकरण ही कहलायेगा ।

(६) औद्योगिक अनुसन्धान—विवेकीकरण के उद्देश्य की पूर्ति के लिये औद्योगिक अनुसन्धान अति आवश्यक है , नवीन आविष्कारो द्वारा उत्पादन मे वृद्धि होती है और कुशलता बढती है, अतएव औद्योगिक अनुसन्धानशालाओ का खोलना भी विवेकीकरण का ही एक अग है ।

(७) वैज्ञानिक प्रबन्ध—श्रमिक के काम करने की दशाओ का विवेक से अध्ययन करना चाहिये और युक्तिपूर्ण ढग से उनसे काम लेना चाहिये । वास्तव मे वैज्ञानिक प्रबन्ध विवेकीकरण का ही भाग है । इसके अन्तर्गत उत्पादन की परिस्थिति को सुधारने तथा श्रमिको एव कर्मचारियो की कार्यक्षमता मे वृद्धि करने से उत्पादनशीलता बढाई जाती है ।

(८) अभिनवीकरण एव स्वचालन—अभिनवीकरण के अन्तगत अप्रचलित तथा अकुशल मशीनो के स्थान पर नई मशीनो का प्रयोग किया जाता है । नई-नई मशीनें पुरानी मशीनो की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होती है । अनुसन्धान एव आविष्कार के द्वारा नई मशीनो मे सदैव इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि ये अधिक-से अधिक स्वचालित हो, जिसमे मानवीय श्रम का अपव्यय रोका जा सके । आजकल स्वचालित यन्त्रो का प्रयोग दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति कर रहा है ।

विशिष्टीकरण का सिद्धान्त

(Principle of Specialisation)

विशिष्टीकरण की परिभाषा—

'विशिष्टीकरण' से हमारा तात्पर्य है किसी व्यवसाय या कार्य विशेष मे निपुणता प्राप्त करना। प्रोफेसर किम्बाल (Kimball) के मतानुसार "विशिष्टीकरण प्रयास के सीमित क्षेत्र मे केन्द्रीयकरण को कहते हैं।" आजकल छोटी से छोटी वस्तु के सम्बन्ध मे अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने की प्रथा सी चल पडी है। किसी भी क्षेत्र मे देखिये, अधिकतर लोगो की प्रवृत्ति विशिष्टीकरण की ओर ही है। उदाहरण के लिये एक जूते के कारखाने को ले लीजिए। जूते के कारखाने मे श्रमिकों का एक वर्ग चमडा कमाता है, दूसरा उसे काटना छाँटता है, तीसरा सिलाई करता है और चौथा उसे अन्तिम रूप देता है। इस प्रकार जूते के निर्माण की क्रिया अनेक सूक्ष्म प्रक्रियाओ मे विभाजित कर दी जाती है और प्रत्येक प्रक्रिया उसमे दक्ष श्रमजीवियो द्वारा सम्पन्न की जाती है। इस प्रकार वकालत के पेशे का लीजिये। कोई इन्कम-टैक्स के मामलों का विशेषज्ञ है तो कोई दीवानी के मामलो का और कोई फौजदारी के मामलो का। सच-मुच वर्तमान युग ही विशिष्टीकरण का युग है।

अपने सामान्य अर्थ मे विशिष्टीकरण अत्यन्त प्राचीन है। भारतवर्ष मे लोगो के काम प्रायः जाति के आधार पर बँटे थे, प्रमुख जातियाँ चार थी—ब्राह्मण, क्षत्री वैश्य और शूद्र। ब्राह्मणो का काम शिक्षा देना, क्षत्रियों का काम युद्ध करना, वैश्यो का काम व्यापार करना और शूद्रो का काम सेवा करना था। वर्तमान युग मे विशिष्टी-करण की प्रगति बडी तेजी से हुई है, यद्यपि उसका स्वरूप वैसा नही रहा। आजकल विशिष्टीकरण केवल उद्योगो मे ही नही वरन् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे व्याप्त हो गया है।

विशिष्टीकरण के प्रमुख स्वरूप—

विशिष्टीकरण के प्रमुख स्वरूप निम्नलिखित हैं :—

(१) पेशो का विशिष्टीकरण—आजकल प्रायः यह देखने मे आता है कि लोग विभिन्न प्रकार के व्यवसायो को न करके अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार सर्व श्रेष्ठ व्यवसाय का अपनाते हैं। इसी को 'पेशेवर श्रम-विभाजन' (Specialisation of Trades) कहते हैं। वर्तमान युग मे इसी प्रकार का विशिष्टीकरण बहुत बढ गया है। उदाहरण के लिए केवल अध्यापक, डाक्टर, वकील या इन्जीनियर ही नही मिलते, वरन् अध्यापन के क्षेत्र मे कोई वाणिज्य विशेषज्ञ होता है, कोई विज्ञान विशेषज्ञ और कोई कला विशेषज्ञ। यही नही, अकेले वाणिज्य क्षेत्र मे ही, कोई एका-उन्टेसी का विशेषज्ञ है तो कोई व्यावसायिक संगठन का और कोई वाणिज्य अर्थशास्त्र का। इसी प्रकार नाक, कान, गले के विशेषज्ञ, दवाओं अथवा शल्य चिकित्सा के विशेषज्ञ, दाँतों अथवा टी० बी० के विशेषज्ञ मिलेंगे। इन्जीनियरो मे भी कोई सिविल इन्जीनियर

होगा, कोई इलैक्ट्रिकल और कोई मिकेनिकल। वकील भी दीवानी, फौजदारी, माल, आय-कर, विक्रय कर आदि के विशेषज्ञ हो सकते हैं। इसी प्रकार दर्जी भी कुछ कपडे मर्दाने सीते हैं और कुछ केवल महिलाओ के वस्त्र।

(२) श्रम का विशिष्टीकरण—आजकल केवल पेशेवर विशिष्टीकरण नही, वरन् काम का विशिष्टीकरण (Specialisation of Functions) भी देखने को मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति मे कोई विशेष कार्य करने का चाव होता है, अतः मानसिक एव शारीरिक क्षमता के अनुसार उसे कार्य सौंपने की प्रणाली ही 'श्रम-विभाजन' कहलाती है। यन्त्रो के अधिकतम प्रयोग के कारण श्रम विभाजन अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया है। उदाहरणार्थ एक जूते के कारखाने मे चमडा कमाने मे दक्ष श्रमिक चमडा कमाने का काम करते है, सिलाई मे दक्ष व्यक्ति सिलाई का काम करते है, इत्यादि। वास्तव मे श्रम विभाजन के अनेक लाभ होते हैं, जिनके प्राप्त करने के लिए ही यह विशिष्टीकरण हुआ है। शारीरिक श्रम मे विशिष्टीकरण से सामान्यतः गति तथा कार्यक्षमता बढ जाती है।

(३) भौगोलिक विशिष्टीकरण— उद्योगो के विकास पर भौगोलिक परिस्थितियो का गहरा प्रभाव पडा है। उदाहरण के लिए, जूट के व्यवसाय के लिए कलकत्ता, वस्त्र मिल उद्योग के लिए बम्बई और अहमदाबाद, लौह एव इस्पात उद्योग के लिए टाटानगर, सीमेंट के लिए डालमियानगर आदि भौगोलिक विशिष्टीकरण (Geographical or Territorial Division of Labour) के उदाहरण है। कुछ केन्द्रो मे पूर्वारम्भ अथवा भौगोलिक प्रादुर्भाव के कारण भी उद्योग स्थापित हो गये हैं, जैसे फिरोजाबाद मे काच एव चूडियो का व्यवसाय।

औद्योगिक इकाइयो का विशिष्टीकरण—

विशिष्टीकरण के सिद्धान्त के प्रादुर्भाव के पूर्व एक ही कारखाना विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का निर्माण करता था जैसे इन्जीनियरिंग का कारखाना विभिन्न प्रकार की मशीने तैयार करता था, परन्तु आजकल यह प्रथा प्राय. बन्द हो गई है। अब हम देखते है कि एक कारखाना पूरी मशीन न बना कर केवल एक ही प्रकार के या कुछ पुरजे ही तैयार करता है जैसे मोटर के इन्जिन बनाना अथवा केवल बस की बॉडी बनाना। पहले कारखाने अपनी आवश्यकता की वस्तुए स्वय बनाते थे, परन्तु बाद मे उन्होने अनुभव किया कि स्वय बनाने की अपेक्षा अलग से क्रय करने मे अधिक सुविधा होगी। यह प्रवृत्ति आजकल इतनी बढ गई है कि अब एक मशीनरी बनाने वाला कारखाना भी उसके सारे पुरजे अपने यहा नही बनाता। वह अपनी निजी डिजायन देकर उन्हे विशिष्ट कारखानो मे तैयार करा लेता है। उदाहरणार्थ, मोटर के कारखाने बैटरी, पिस्टन, रिंग तथा अन्य पुरजे विशेष कारखानो से तैयार कराते हैं। विशिष्टीकरण की इस प्रवृत्ति के दो मुख्य कारण है—प्रथम बडे पैमाने के उत्पादन मे व्यय कम हो जाता है और इस प्रकार एक कारखाने को पुरजे स्वय बनाने की अपेक्षा

खरीदने मे सस्ते पड़ते हैं। केवल एक विशेष शाखा मे उत्पादन करने से अनुसन्धान के काम मे आसानी हो सकती है।

विशिष्टीकरण के उपयुक्त स्वरूप म कहीं-कहीं अपवाद भी दृष्टिगत होते है। प्रथम अपवाद तो यह है कि जब किसी औद्योगिक संस्था का आकार बहुत बढ जाता है, तब उसको बहुत बडी मात्रा मे सहायक वस्तुओ की आवश्यकता पडती है, जिनको स्वय बनाने मे उसे अधिक सुविधा एव लाभ रहता है। उदाहरण के लिये, ग्वालियर के जे० बी० मंघाराम के कारखाने को ही ले लीजिए। बिस्कुटो और गोलियो के इस कारखाने मे इन वस्तुओ का उत्पादन इतनी अधिक मात्रा मे होता है कि सामान बाजार भेजने के लिये इसे बहुत बडी मात्रा मे डिब्बो आदि की जरूरत पडती है। ये सारे डिब्बे इसी कारखाने मे बनाये जाते है। दूसरे कभी-कभी ऐसा होता है कि कारखाना मुख्य वस्तु के उत्पादन के साथ-साथ गौण वस्तुओ का भी स्वय उत्पादन करने लगता है, जैसे—शक्कर के कारखाने द्वारा शीरा या अलकोहल तैयार करना।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि ज्ञान-विज्ञान, राजकीय सहायता, यन्त्रीकरण, श्रम संगठन तथा सभ्यता के विकास से विशिष्टीकरण को पोषण मिला। प्रमण्डल विशेष, विशेष प्रक्रियाओ मे कुशल होते चले गये। श्रमिको को तान्त्रिक प्रशिक्षा ने भी विशिष्टीकरण म सहयोग प्रदान किया है। आज एक कम्पनी मे इन्जीनियर, एकाउन्टेन्ट, विज्ञापन विशेषज्ञ, सेक्रेटरी, टाइपिस्ट, परिव्यय लेखा विशेषज्ञ आदि व्यक्तियो का मिलना सामान्य बात है। विशिष्टीकरण एव श्रम विभाजन एक दूसरे पर निर्भर हैं। जब एक कार्य एक व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर हो गया तो उसका उपविभाजन हुआ और तत्पश्चात् विशिष्टीकरण का प्रादुर्भाव हुआ। फिर विशिष्टीकरण द्वारा एक ही क्रिया के अनेक उप-विभाग होते चले गय।

विशिष्टीकरण के लाभ

विशिष्टीकरण से निम्नलिखित लाभ होते है—

(१) विशिष्टीकरण के अन्तर्गत उत्पादन की प्रत्येक क्रिया एक विशेषज्ञ द्वारा सम्पन्न की जाती है। फलत. जो भी कार्य किया जाता है वह श्रेष्ठ कोटि का होता है। यही नही, उत्पादन में वृद्धि होती है तथा उत्पादन का व्यय भी अपेक्षाकृत कम होता है।

(२) श्रम जीवियो का चुनाव बडी सावधानी से उनकी शारीरिक एव मानसिक क्षमता के अनुसार किया जाता है। उनके प्रशिक्षण पर भी कम समय तथा कम धन व्यय होता है, क्योंकि उनको समस्त कार्य नही, वरन् कुल कार्य की केवल एक छोटी-सी क्रिया का ही ज्ञान कराया जाता है। प्रशिक्षण अत्यन्त सरल हो गया है। श्रमिक को काम बदलने का भी कष्ट नही उठाना पडता और न व्यर्थ समय ही नष्ट होता है।

(३) धोखेबाजी की भी अब कम आशंका है क्योकि एक ही कार्य अनेक व्यक्तियो मे बँटा रहता है। लगातार के अंकुश से परिणाम भी श्रेष्ठ निकलते हैं।

(४) विशिष्टीकरण का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति विशेष की योग्यता का पूर्ण सदुपयोग करना है। एक ही कार्य को निरन्तर लगन के साथ करने से श्रमिक की कार्यक्षमता भी सदैव बढती रहती है।

(५) विशिष्टीकरण द्वारा श्रमिको की साख भी बढती है। काम विशेष के आधार पर श्रमजीवी प्रसिद्ध हो जाते हैं, जैसे फौजदारी के मामलो के लिए शिवदयाल वकील, वाणिज्य सम्बन्धी पुस्तको के प्रकाशन के लिए नवयुग साहित्य सदन, घडियो के लिए स्विट्जरलैण्ड के श्रमजीवी इत्यादि।

विशिष्टीकरण की हानियाँ—

(१) विशिष्टीकरण के परिणामस्वरूप किसी भी श्रमिक को सम्पूर्ण कार्य के उत्पादन मे रुचि नही रहती, क्योकि उसका सम्बन्ध एक क्रिया विशेष से होता है। परिणामत. सम्पूर्ण वस्तु के उत्पादन के आनन्द का वह अनुभव नही कर पाता।

(२) नये नये आविष्कार तथा प्रक्रियाओ से कारखानो को विशिष्टीकरण के आर्थिक सकटो का सामना करना पडता है। अति विशिष्टीकरण युक्त यन्त्र पुराने यंत्रो को बेकार कर देता है और कभी-कभी तो कारखाने को बन्द करने की नौबत आ जाती है। कारखाना बन्द होने की दशा मे श्रमजीवी बेकार हो जाते है और वे अन्यत्र समान मजदूरी पर कार्य नही कर सकते।

(३) विशिष्टीकरण की योजना के अन्तर्गत श्रमिक के तान्त्रिक प्रशिक्षण पर भी बहुत काफी व्यय करना पडता है। अतः यह प्रणाली काफी खर्चीली है।

(४) एक ही व्यक्ति के लिए विशिष्टीकरण के बढने पर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना कठिन हो जाता है। उत्पादन की केवल एक ही क्रिया विशेष को करने के कारण उसका दृष्टिकोण सकुचित हो जाता है और उसमे कूपमडूकता बढती है। उद्योग के विभिन्न विभागो तथा उप-विभागों के सम्बन्ध मे उसे अस्पष्ट ज्ञान रहता है।

(५) श्रमिको मे उत्तरदायित्व की भावना भी कम हो जाती है।

(६) प्रत्येक उप-विभाग मे अलग अलग अधिकारी विभिन्न मनोवृत्तियों के रहते हैं। उनकी स्वय की सूझबूझ का व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड सकता है। कार्य के पूर्ण होने मे भी अधिक समय लग जाता है।

(७) किसी विशेषज्ञ मे समान योग्यता का अभाव होने के कारण उसका व्यक्तिगत विकास रुक जाता है और वह हतोत्साहित हो सकता है। कागजी काम का अधिक बढना, भेद-भाव एव पारस्परिक वैमनस्य के परिणामस्वरूप उत्पादन शिथिल पड जाता है।

विशिष्टीकरण की सीमायें—

विशिष्टीकरण की सफलता के लिए निम्न शर्तो का पूरा होना आवश्यक है:—

(१) वस्तु का बाजार काफी विस्तृत हो तथा माँग भी अधिक हो, जिससे बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव हो सके।

(२) किस्मों की न्यूनता तथा प्रत्येक किस्म की उचित माँग का होना अनिवार्य है।

(३) यदि किस्म तथा उत्पादन विधियों में लगातार परिवर्तन होता रहे, तो भी विशिष्टीकरण सम्भव नहीं।

अन्त में, यह लिखना अनावश्यक न होगा कि विशिष्टीकरण के परिणाम-स्वरूप उत्पादन श्रेष्ठ, प्रमापित तथा सस्ता होता है। माल के सस्ते होने से उसकी माँग बढ़ जाती है। दूसरे, यह भी उल्लेखनीय है कि अनिवार्य वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण उपयुक्त होता है तथा विलास की वस्तुओं के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। अत्यन्त गहन विशिष्टीकरण से कार्यक्षमता के स्थान पर अक्षमता उत्पन्न हो सकती है।

स्वचालन

(Automation)

आज अमेरिकी व्यापार क्षेत्र में 'स्वचालन' का बड़ा बोलबाला है। 'स्वचालन' का अभिप्राय कार्य अपने आप होने से है और इसके अन्तर्गत इस उद्देश्य की पूर्ति करने वाले समस्त साधन एवं विधियाँ सम्मिलित हैं।

वास्तव में स्वचालित मशीन बड़ी चमत्कारिक हैं। एक दो उदाहरण से यह बात भली प्रकार स्पष्ट हो जायगी। स्वचालित टेलीफोन पर बात करने के लिए उपभोक्ता को डायल पर नम्बर लगाना पड़ता है। यदि लाइन खाली न हो तो उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है और जब लाइन खाली हो जाय तो पुन. नम्बर लगाना पड़ता है। लेकिन स्वचालन के अन्तर्गत उपभोक्ता को दुबारा नम्बर लगाने की जरूरत नहीं है, क्योंकि मानवी मस्तिष्क की भाँति वह यन्त्र भी नम्बर स्मरण रख सकता है, अतः आपको प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जैसे ही लाइन खाली होगी वैसे ही घण्टी बज उठेगी और दुबारा नम्बर लगाये बिना ही वार्ता की जा सकती है। इसी प्रकार उत्पादन में भी स्वचालन ने भारी क्रान्ति उपस्थित कर दी है। जहाँ पहले एक बिजली-बल्ब निर्माता को ९०,००० बल्ब बनाने में ७५,००० मजदूर लगाने पड़ते थे वहाँ अब केवल २३० मजदूर ही उतना काम कर सकते हैं। इसका रहस्य 'स्वचालन' में ही छिपा है।

अभी तो छोटे मोटे कार्यों के लिए, जैसे—माल रखने, उठाने, एकत्र करने, बण्डल बनाने व वितरण करने में स्वचालित मशीनों का उपयोग किया गया है, लेकिन बहुत शीघ्र ही इन्जीनियर एक पूरा कारखाना ही 'स्वचालन' के आधार पर स्थापित कर सकेंगे। यह सही है कि छोटे-छोटे उपक्रमों के लिए यह बहुत मँहगा है, लेकिन ऐसी आशा है कि भविष्य में इनका मूल्य कम हो जायगा।

किन्तु श्रमिकों में स्वचालन का क्या प्रभाव होगा ? यह तो निर्विवाद है कि उसकी स्थिति में परिवर्तन होगा, किन्तु स्वचालित मशीनें उसे बिल्कुल ही प्रतिस्थापित (Replace) न कर सकेंगी। वास्तव में, श्रमिकों को अपना परिश्रम अधिक रुचिपूर्ण प्रतीत होने लगेगा। भारी और नीरस कार्य कम हो जायगे। स्वचालन के लिए अधिक (किन्तु विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के लिए) मजदूरों की आवश्यकता होगी। हाँ, अकुशल मजदूरों की माँग कम हो कर कुशल मजदूरों के लिए माँग बढ जा गी। यही नहीं, ये मशीनें अधिक उत्पादन करगी, जिससे मजदूरों का जीवन स्तर ऊँचा उठेगा।

जहाँ साधारण मशीनों ने मनुष्य के हाथ पैरों का स्थान लिया है, वहाँ स्वचालित मशीनें उसके मस्तिष्क का स्थान ग्रहण करने लगी हैं, अत. मजदूरों में बेकारी फैलने का भय निराधार नहीं कहा जा सकता। दूसरे शब्दों में, किसी देश को स्वचालन का प्रयोग केवल इसीलिए ही नहीं करना चाहिए कि एक अन्य देश वैसा कर रहा है। उस अपनी जन शक्ति को भी ध्यान म रखना चाहिए। जनरल इलेक्ट्रिक कम्पनी की अनुसन्धान प्रयोगशाला के डाइरैक्टर श्री हम्फी का कथन है कि यदि स्वचालन का सही उपयोग हो तो श्रमिकों के लिए भयभीत होने का कोई कारण नहीं। उन्होंने कहा कि ब्रिटेन और अमेरिका के लिए यह विधि भले ही उपयुक्त हो, भारत के लिए तो यह अनुपयोगी है, क्योंकि यहाँ अपार जन शक्ति सुलभ है। भारत को तो आयात की हुई मशीनों की अपेक्षा मानवी श्रम का उपयोग करना श्रेष्ठ है।

STANDARD QUESTIONS

1. What is rationalisation ? Is it a new conception ?
2. Discuss the circumstances which have led to the idea of Rationalisation Is it "Neo Industrial Revolution" ?
3. Give a clear and concise definition of 'Rationalisation.' Is it different from Scientific Management ? Also differentiate between 'Rationalisation' and 'Nationalisation'
4. Briefly describe the principles underlying Rationalisation.
5. Define the terms 'Specialisation' Discuss its various forms What are its merits demerits and limitations ?
6. What do you understand by the term 'Automation' ? How far do you advocate Automatisation of Indian Industries ?

अध्याय २

विवेकीकरण के गुण-दोष

(Merits and Demerits of Rationalisation)

विवेकीकरण के लाभ

भूमिका—

अध्ययन की सुविधा के लिए विवेकीकरण के लाभो को चार भागो मे बाँटा जा सकता है :—

(I) उत्पादकों को लाभ—

उत्पादकों की दृष्टि मे विवेकीकरण की नीति का अनुसरण करने से निम्न लाभ होते हैं :—

(१) प्रमापीकरण से निश्चित प्रमाप का ही माल बनता है। इससे निम्न लाभ मिलने की आशा होती है—

(अ) प्रमापीकरण से बडे पैमाने पर उत्पत्ति हो सकती है तथा केवल थोडी सी प्रमापित किस्मे तैयार करने से उत्पादन व्यय भी कम हो जाते हैं।

(ब) प्रमापित वस्तुओ के बनाने मे एक के स्थान पर दूसरी वस्तु का प्रयोग हो सकता है।

(स) वस्तुओ को दिखाने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि श्रेष्ठ किस्म के कारण उपभोक्तागण बिना छाँटे माल को ले लेते हैं।

> **विवेकीकरण के लाभ**
>
> (I) उत्पादकों को लाभ,
> (II) श्रमिकों को लाभ,
> (III) उपभोक्ताओं को लाभ, और
> (IV) राष्ट्र के लिए लाभ।

(द) प्रमापीकरण से तरह-तरह के डिजाइन बनाने मे व्यर्थ समय और धन बरबाद नहीं होता। उसे उत्पादन विधियो मे सुधार करने में लगाया जा सकता है।

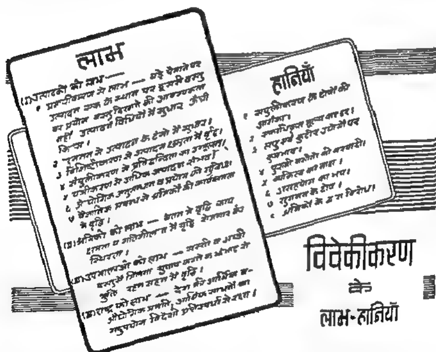
(य) प्रमापित किस्म प्रायः ऊँची होती है; अतः इसके द्वारा किस्म मे सुधार होता है। किम्बाल के शब्दो मे, "प्रमापित वस्तु विशेष वस्तु मे हमेशा

अधिक संतोषप्रद होती है, इसलिए जब तक बहुत बड़ा कारण न हो, तब तक ग्राहक प्रमापित वस्तु से नहीं हटता।"

(र) प्रमापित वस्तु के उत्पादन में काम आने वाला स्टोर तथा अन्य सामान कई किस्मों में इकट्ठा नहीं करना पड़ता, अतः कार्यशील पूँजी की मात्रा बहुत कम रह जाती है।

(ल) प्रमापीकरण से विशिष्टीकरण को भी प्रोत्साहन मिलता है।

(२) सुगमन द्वारा उत्पादन के ढङ्ग सुधर जाते हैं, कच्चे माल और मानवीय प्रयत्न के विनाश को रोका जाता है। उत्पादन एवं कार्यकुशलता में वृद्धि होती है, न्यूनतम क्षय होता है। श्रमिकों की कार्यशक्ति बढ़ती है और न्यूनतम पूँजी द्वारा अधिकतम लाभ होता है।



(३) विशिष्टीकरण से भी उद्योगपति की उत्पादन-क्षमता बढ़ती है। प्रत्येक उद्योग विभिन्न वस्तुओं के निर्माण में उतनी कार्यक्षमता प्राप्त नहीं कर सकता जितनी वह एक ही वस्तु का निर्माण करने में प्राप्त कर सकता है।

(४) यन्त्रीकरण द्वारा अधिक उत्पादन सम्भव होता है एवं वस्तुयें एक ही प्रकार की होती हैं। बड़ी मात्रा में उत्पादन सम्भव होने के कारण विक्रय मूल्य कम रखे जा सकते हैं, क्योंकि भीतरी तथा बाहरी बचतें होती हैं। फिर मशीनों के द्वारा उत्पादन शीघ्र होता है। मशीनों ने प्राकृतिक शक्तियों का भी उपयोग सम्भव कर

दिया है, जिससे उत्पादन में सहायता मिली है। इसके अतिरिक्त श्रम विभाजन, जिससे उत्पादकों को अनेक लाभ होते हैं, वास्तव में यन्त्रीकरण का ही परिणाम है।

(५) संयुक्तीकरण के द्वारा पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता का उन्मूलन होता है, सहयोग की भावना को प्रोत्साहन मिलता है एवं जन हित का अवसर मिलता है। विवेकीकरण के सिद्धान्तानुसार शिथिल इकाइयाँ बन्द कर दी जाती हैं, उत्पादन पर नियन्त्रण रहता है, कोई सदस्य अपने निर्धारित कोटे से अधिक उत्पादन नहीं कर सकता। फलस्वरूप अधिक उत्पादन का भय नहीं रहता। उत्पादन के विक्रय एवं वितरण में भी व्यर्थ का भय नहीं रहता। उद्योगपतियों में परस्पर सम्पर्क एवं सहयोग होने से प्रतिस्पर्धा का अन्त हो जाता है। व्यर्थ विज्ञापनबाजी नहीं करनी पड़ती। मिली-जुली यातायात व्यवस्था की जाती है। इस सन्तुलन एवं औद्योगिक स्थायित्व के फलस्वरूप सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन में स्थायित्व रहता है।

(६) औद्योगिक अनुसन्धान द्वारा नए-नए आविष्कार किये जाते हैं, जिनसे उत्पादन में वृद्धि होती है एवं कुशलता बढ़ती है।

(७) प्रयोग द्वारा किसी तथ्य का विश्लेषण किया जाता है और यह निश्चित किया जाता है कि न्यूनतम व्यय पर अधिकतम उत्पादन कैसे सम्भव हो।

(८) वैज्ञानिक प्रबन्ध से श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ती है, जिससे अन्त में उत्पादकों को ही लाभ होता है। उन्हें कुशल श्रमिक प्राप्त होते हैं तथा अधिक से अधिक प्रमापित उत्पादन सम्भव होता है।

इसके अतिरिक्त उत्पादकों को निम्न लाभ भी होते हैं :—

(९) उत्पादन में वृद्धि—विवेकीकरण द्वारा कच्चे माल का निरर्थक व्यय कम हो जाता है। वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार यन्त्रों के उपयोग से अधिकतम उत्पादन होता है। प्रति वस्तु उपरिव्यय कम होने से प्रति वस्तु उत्पादन मूल्य घटता है। वस्तुओं का प्रमापीकरण होता है, अतएव गिनी चुनी किस्मों के ही रह जाने से फुटकर व्यापारी को अनेक प्रकार का माल अपने स्टॉक में नहीं रखना पड़ता।

(१०) न्यूनतम पूँजी का उपयोग—विवेकीकरण के द्वारा व्यापारी कम कर्मचारियों से काम चला सकता है। विशिष्टीकरण होने से कच्चे माल का क्रय, वितरण-व्यय, यातायात-व्यय, इत्यादि भी कम हो जाते हैं, अतएव पहले की अपेक्षा उसे व्यापार में थोड़ी पूँजी लगानी पड़ती है।

(११) श्रम तथा पूँजी में एकता—विवेकीकरण के परिणामस्वरूप पूँजीपति और श्रमिक एक दूसरे के निकट आ जाते हैं। इनमें सहयोग की भावना बढ़ जाती है। इससे राष्ट्र को भी हित होता है। उत्पादन एवं वितरण-पद्धति का भी केन्द्रीयकरण होने से सुधार के लिए पर्याप्त स्थान रहता है, क्योंकि सभी उद्योगों के सामूहिक प्रयत्न एवं साधन सुधार के लिए उपलब्ध होते हैं।

(II) श्रमिकों के लिए लाभ—

विवेकीकरण की योजना से श्रमिकों को निम्न लाभ होते हैं :—

(१) वेतन में वृद्धि—उत्तम प्रबन्ध के परिणामस्वरूप श्रम-जीवियों की कार्यक्षमता बढ़ जाती है, जिससे उत्पादन व्यय कम होने हैं, कारखानों को अधिक लाभ होता है तथा वे मजदूरों की असली मजदूरी बढ़ा देते हैं। श्रमिकों को कम मूल्य पर अच्छी वस्तुएं मिलने लगती हैं।

(२) कार्यक्षमता एवं गतिशीलता में वृद्धि—विवेकीकरण से श्रमजीवियों की कार्यक्षमता भी अधिकतम हो जाती है। इसके द्वारा अनावश्यक मानवीय प्रयत्न कम हो जाते हैं। मजदूरों का चुनाव कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है और वैज्ञानिक कार्य-पद्धति के अनुसार उनसे काम लिया जाता है। श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण के द्वारा उनकी कार्यक्षमता को विशेष प्रोत्साहन मिलता है। उनकी गतिशीलता भी बढ़ जाती है। वे एक उद्योग से दूसरे उद्योग में बिना किसी कठिनाई के जा सकते हैं, क्योंकि प्रमापीकरण के फलस्वरूप मशीनें चलाने की क्रियायें एक समान होती हैं।

(३) रोजगार की स्थिरता—विवेकीकरण के परिणामस्वरूप दीर्घकाल में बेरोजगारी दूर हो जाती है एवं रोजगार में स्थिरता आ जाती है।

(III) उपभोक्ता के लिए लाभ—

उपभोक्ताओं को इससे निम्न लाभ होते हैं :—

(१) सस्ती दर पर उच्च कोटि का माल—उपभोक्ताओं को विवेकीकरण के परिणामस्वरूप सस्ती दर पर उच्च कोटि की वस्तुएं मिलने लगती हैं। इससे इनकी क्रय-शक्ति बढ़ जाती है।

(२) चुनाव के झंझट से मुक्ति—विवेकीकरण के अन्तर्गत केवल प्रमापित वस्तुएं ही बनाई जाती हैं। अतः उपभोक्ता को वस्तुओं के चुनाव में अपना समय बरबाद नहीं करना पड़ता। उन्हें विभिन्न किस्म की वस्तुओं के दाम भी याद रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(३) रहन-सहन के स्तर में वृद्धि—कम मूल्य पर श्रेष्ठ वस्तुओं के मिलने के कारण उपभोक्ताओं का जीवन-स्तर भी ऊँचा हो जाता है, क्योंकि वे पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुओं का उपयोग करने में समर्थ हो जाते हैं।

(IV) राष्ट्र को लाभ—

विवेकीकरण से समस्त राष्ट्र को लाभ पहुँचता है, क्योंकि :—

(१) इससे देश की आर्थिक तथा औद्योगिक प्रगति होती है। फलतः राष्ट्रीय आय बढ़ती है तथा आर्थिक संकट से छुटकारा मिलता है।

(२) देश के समस्त आर्थिक साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग होता है तथा अपव्यय नहीं होता है।

(३) विदेशी प्रतिस्पर्धा से रक्षा होती है। देश में औद्योगिक स्थिरता आती है तथा दीर्घकालीन आर्थिक योजनाओं का निर्माण किया जा सकता है।

विवेकीकरण के दोष

भूमिका—

सचमुच इसका विचार करते हुए बडा आश्चर्य होता है कि 'विवेक' से कार्य करने पर भी कोई हानि हो सकती है। विवेक का मार्ग तो स्वर्ण मार्ग है, इसमे हानि की कल्पना भी नही करनी चाहिए, किन्तु इतना अवश्य है कि विवेकीकरण के सिद्धान्तो का पालन करने मे निम्न दुर्बलताओ की सम्भावना रहती है :—

(१) सयुक्तीकरण के दोषो की आशका—यह तो हम ऊपर सकेत कर चुके हैं कि सयुक्तीकरण विवेकीकरण का ही एक अग है, किन्तु सयुक्तीकरण का मार्ग है बडा कटकाकीर्ण। यदि अनुकूलतम परिणाम की ओर ध्यान नही दिया गया तो सम्भव है कि सस्थाओ का समूह आवश्यकता से बडा हो जाय, जिसका प्रबन्ध तथा नियन्त्रण भी कुशलता से न किया जा सके। ऐसी दशा मे 'महान व्यापार' (Big Business) की त्रुटियाँ आ जाती हैं और कार्यक्षमता बढने की अपेक्षा घटने लगती है।

औद्योगिक सस्थाओ के समूह न्यूनतम उत्पादन व्यय पर अधिकतम उत्पत्ति करने के लिये बडी मात्रा मे उत्पादन करते है। वस्तुओ की किस्मे कम कर दी जाती हैं और उत्पादन मे प्रमापीकरण किया जाता है, मूल्यवान वस्तुओ का प्रयोग किया जाता है। ऐसी परिस्थिति मे, यदि कही दुर्भाग्यवश स्थिति मे परिवर्तन हो जाय अथवा वस्तुओ की माँग बढ जाय तो वह मशीन बेकार हो जायगी और उसके स्थान मे दूसरी का अर्थ-प्रबन्ध करना कठिन हो जायगा, अत. विवेकीकरण मे उद्योग का आकार इतना ही बढना चाहिए जो उपयुक्त अथवा अनुकूल (Optimum) हो, तभी इस दोष का निवारण हो सकता है।

(२) एकाधिकृत मूल्य का डर—विवेकीकरण का दूसरा दोष यह है कि इससे सयुक्तीकरण को प्रोत्साहन मिलता है, फलस्वरूप औद्योगिको द्वारा एकाधिकृत मूल्य (Monopolistic Price) लिए जा सकते हैं। वे इस असामाजिक नीति का अवलम्बन कर सकते हैं और पूर्ति तथा माँग के सम्मिलित प्रभावो को किसी वस्तु की पूर्ति पर रोक लगाकर कम कर सकते है। इस समस्या का एक मात्र उपाय यही है कि उन उद्योगो मे राज्य का हस्तक्षेप रहे और उचित नियमो द्वारा राज्य उन पर अपना नियन्त्रण रखे।

(३) लघु एव कुटीर उद्योग पर कुप्रभाव—विवेकीकरण की योजनाओ द्वारा अधिक पूँजी वाली कम्पनियाँ अभिनवीकरण व स्वचालन (Modernisation and Automatisation) करके लागत बहुत कम कर लेती हैं। इसके विपरीत लघु व कुटीर उद्योग पूँजी के अभाव के कारण ऐसा करने मे असमर्थ रहते हैं। वे विवेकीकरण की योजनाओ को कार्यान्वित नही कर पाते, अतः प्रतिस्पर्धा मे भी वे नही टिक पाते। ऐसी परिस्थिति मे या तो वे समाप्त हो जाते हैं अथवा बडी इकाइयो मे उनका विलीनीकरण हो जाता है।

(४) पुरानी मशीनो की बरबादी—आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप नई-

नई मशीनो का प्रयोग किया जाना है तथा पुरानी मशीने बेकार कर दी जाती हैं। कुछ लोगो के मतानुसार, यदि आधुनिकीकरण म लगाई जाने वाली पूँजी नय उद्योगो के विकास मे लगाई जाती, तो अधिक लाभ होता।

(५) व्यक्तित्व का नाश—यदि एक ओर विवेकीकरण वस्तुओ के मूल्य को कम करके उन्हे सर्वसाधारण की पहुँच के भीतर लाता है तो दूसरी ओर वह सब मनुष्यो को एक ही स्तर पर लाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार विवेकीकरण व्यक्तित्व को कम कर देता है।

(६) असहयोग का भय- विवेकीकरण मे प्रबन्ध के विभिन्न अङ्गो का कार्य भिन्न-भिन्न विभागो द्वारा प्रबन्ध के क्रियात्मक विभाजन से किया जाता है। यदि प्रत्येक विभाग सहयोग से कार्य करे तब तो सफलता की आशा होती है, किन्तु यदि प्रत्येक विभाग अपने को स्वतन्त्र समझ कर कार्य करे तो उनमे संगठन एव सहयोग की अपेक्षा असहयोग की भावना जाग्रत हो सकती है। इससे उत्पादन क्षमता बढने की अपेक्षा कम ही होगी, क्योकि प्रत्येक विभाग एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करेगा।

(७) सुगमन के दोष—सुगमन के परिणामस्वरूप मौलिकता (Originality) का अभाव हो जाता है। स्वतन्त्र विचार वृत्ति का अभाव होना उद्योगो की दृष्टि से भी हानिकारक होता है। सुगमन तथा विशिष्टीकरण की प्रथा के अन्तर्गत एक कारखाना प्राय: एक ही वस्तु अथवा उसके एक भाग का ही निर्माण करता है, इसलिए यदि वस्तुओ की किस्म अथवा माग या निर्माण के ढगो मे क्रान्तिपूर्ण परिवर्तन हो जाय (जो अस्वाभाविक नही) तो ऐसी परिस्थिति मे बुरे परिणाम भी हो सकते हैं। वस्तुओ की किस्मो मे कमी होने के कारण उपभोक्ताओ को नाना प्रकार की वस्तुएँ नही मिलती। दस्तकारी की चीजें तो उनके लिए दुर्लभ हो जाती हैं, क्योकि उनका निर्माण मशीने नही कर सकती।

(८) श्रमिको द्वारा विरोध—श्रमजीवियो तथा श्रम सघो ने सदैव विवेकीकरण की योजनाओ को घृणा की दृष्टि से देखा है। वे उन्हे प्राय उनको डस लेने वाली नागिन समझते हैं। कुछ समय पूर्व सूती वस्त्र मिल उद्योग मे विवेकीकरण के प्रश्न पर कानपुर मे श्रमिको द्वारा बहुत लम्बी हडताल हुई थी। श्रमजीवी प्राय निम्नलिखित आधार पर विवेकीकरण की योजना का विरोध करते हैं—

श्रमिको द्वारा विवेकीकरण का विरोध

श्रमिकों द्वारा विरोध क्यो ?—

(१) बेरोजगारी की भयानक आशका—आधुनिक स्वचालित मशीनो के प्रयोग का तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि अनेक श्रमजीवी काम से अलग कर दिए जाते हैं। परिणामत. उनमे बेरोजगारी, भुखमरी, गरीबी आदि बढ जाती है।

(२) काम का बोझ बढना—विवेकीकरण की योजनाओ के कार्यान्वित होने से स्वभावत. श्रमिको पर काम का बोझ बढ जाता है, विशेषत. यदि कारखाने का वातावरण स्वास्थ्यप्रद न हो। अतिरिक्त उत्तरदायित्व एव काम के बोझ के कारण मजदूरो का स्वास्थ्य बिगडने का डर रहता है।

(३) पूँजी का श्रम पर आधिपत्य—विवेकीकरण के अन्तर्गत नई-नई मशीनो की महिमा तो बढ जाती है, परन्तु श्रमिको का महत्त्व घट जाता है। मशीनो के अधिकतम प्रयोग से श्रमिक भी एक 'कल' का रूप धारण कर लेते हैं। उनकी शक्ति कम हो जाती है तथा उन पर पूँजी का आधिपत्य बढ जाता है।

श्रमिको द्वारा विवेकीकरण का विरोध क्यो ?

(१) उनमे बेरोजगारी, भुखमरी व गरीबी बढ जाती है।

(२) उन पर काम का बोझ बढ जाता है।

(३) उनका महत्त्व गिर जाता है।

(४) पूँजीपतियो को तो लाभ होता है, लेकिन श्रमिक जहाँ के तहा रहते हैं ?

(५) सगठन का दोष श्रमिको के मत्थे पडता है।

(४) श्रमिको का शोषण—प्राय. विवेकीकरण की योजनायें उत्पादको द्वारा श्रम के शोषण की साधन समझी जाती है। विवेकीकरण से जो काम मे वृद्धि होती है, उसकी तुलना मे मजदूरी मे वृद्धि नही होती। उदाहरण के लिये अगर एक श्रमजीवी दो के स्थान पर चार करघे देखने लगे, तो उसका काम तो दुगुना हो गया, परन्तु उसकी मजदूरी मे कोई सतोषजनक वृद्धि नही होती। इस प्रकार विवेकीकरण से प्राप्त लाभ का अधिकाश भाग तो पूँजीपतियो की जेब मे जाता है, जबकि बिचारे श्रमिक जहा के तहा रहते है।

(५) संगठन के दोष श्रमिको के मत्थे—कुछ श्रम सघो का यह मत है कि पूँजीपति सगठन सम्बन्धी दोष को श्रमिको के मत्थे मढना चाहते है तथा उन पर काम का बोझ बढाकर अधिक लाभ कमाना चाहते हैं।

उपर्युक्त दोष कहाँ तक वास्तविक हैं ?—

ऊपर विवेकीकरण के जिन दोषो की विवेचना की गई है वे अवास्तविक (Unreal) हैं। यह तो अवश्य सत्य है कि यन्त्रो के प्रयोग से दस्तकारी एव मौलिकता कुप्रभावित होती है, किन्तु अन्य दोषो मे कोई तथ्य नही है। ऐसा सयुक्तीकरण जिससे सामाजिक शोषण हो अथवा ऐसी यन्त्रीकरण जिसमे बरोजगारी बढे, विवेकीकरण नही कहा जा सकता। फिर यन्त्रो के प्रयोग मे तो तत्कालिक बेरोजगारी होती है। अन्त मे तो रोजगार बढना ही है, अतः गुणो एव दोषो के सन्तुलन से हम यह कह सकते हैं कि विवेकीकरण दोषहीन प्रणाली है एव इसका मार्ग अनुकरणीय है।

फिर विवेकीकरण की योजना क्यो कर सफल हो ?—

विवेकीकरण के उपर्युक्त दोषो से ऐसी धारणा नही कर लेनी चाहिए कि यह

कोई बुरी नीति है। युक्ति की नीति तो सदैव हित मे ही है। अतः इतना अवश्य है कि इन दोषो को दूर करने के लिए नीति का प्रयोग सावधानी से करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे हमारे निम्नलिखित सुझाव हैं :—

विवेकीकरण की योजना कैसे सफल हो?

१ तीनो पक्षो की पूर्व सहमति से योजना कार्यान्वित की जाय।
२ पूँजी की समस्या को हल करने के लिए एक — विकास निधि बनाई जाय।
३ उद्योग सम्बन्धी अनुसन्धान करने के लिए — एक समिति बनाई जाय।
४ समस्त दिशाओ मे विवेकीकरण की नीति का उपयोग किया जाय।
५ श्रमिको को भी प्रबन्ध मे हिस्सा दिया जाय।
६ विवेकीकरण से प्राप्त लाभ को सभी पक्षो मे समान रूप से बाँटा जाय।
७ बेकारी को रोकने के हेतु पूर्ण प्रयत्न किये जाँय।

(१) त्रिपक्षीय सहयोग—विवेकीकरण की योजना को कार्यान्वित करने के पहले श्रम, पूँजी तथा सरकार की पूर्व सहमति प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस हेतु प्रत्येक मिल मे एक 'विवेकीकरण समिति' बनाई जाए, जिसमे तीनो पक्षो के प्रतिनिधि हो। इन तीनो पक्षो मे श्रमजीवियो का सहयोग प्राप्त करना तो नितान्त आवश्यक है। सबसे पहले सम्पूर्ण नीति उन्हे भली प्रकार समझा देना चाहिए और यदि उचित हो तो आवश्यकतानुसार उसमे संशोधन भी कर देना चाहिए। यदि श्रमिको के सहयोग से कोई कार्य किया जायगा, तो सफलता पाना कठिन न होगा।

(२) विकास निधि बनाना—नई मशीनो के लिए पूँजी की समस्या को हल करने के हेतु प्रत्येक मिल मे एक 'विकास निधि' (Development Fund) बनाई जाय। इस निधि की राशि पर सरकार को आय-कर की छूट देनी चाहिए। इस निधि का उपयोग पुरानी मशीनो के स्थान पर नई मशीनो के लगाने मे किया जाय।

(३) अनुसंधान समिति—प्रत्येक उद्योग मे एक अनुसंधान समिति बनाई जाय, जो उस उद्योग से सम्बन्धित अनुसंधान का काम करे। समिति द्वारा प्रत्येक किस्म के प्रमाप निकाले जाएँ, काम को करने की आदर्श विधियाँ खोजी जायँ, इत्यादि।

(४) समस्त दिशाओं में विवेकीकरण की नीति का उपयोग— विवेकीकरण की योजना का उद्देश्य केवल श्रम-जीवियों की कार्यक्षमता को बढ़ाना ही नहीं होना चाहिए, वरन् उसका हेतु उद्योग का सामान्य-स्तर ऊँचा करना है। संक्षेप में, श्रम के वैज्ञानिक प्रबन्ध के साथ-साथ औद्योगिक संगठन का विवेकीकरण हो।

(५) पारस्परिक सहकारिता—श्रम तथा पूँजी के बीच सहयोग एवं एकता की भावना पैदा करने के लिए श्रमिक को भी प्रबन्ध में हिस्सा दिया जाय।

(६) लाभ का समान वितरण – विवेकीकरण में मिलने वाले लाभ को सभी पक्षों में समान रूप से बाँटा जाय, अर्थात् श्रमिकों की मजदूरी बढ़ाई जाय तथा वस्तु के दाम भी कम किये जाय, जिससे मजदूरों तथा उपभोक्ताओं को भी लाभ हो सके।

(७) बेरोजगारी को रोकने के पूर्व प्रयत्न— यदि विवेकीकरण द्वारा बेकारी फैलने की आशंका हो, तो उद्योगपतियों को पहले ही से सावधान रहना चाहिए तथा ऐसे उपाय करना चाहिए, जिससे कि विस्थापित श्रम-जीवियों को काम मिल सके।

(८) विवेकीकरण की योजना शनैः-शनैः लागू की जाय— योजना की सफलता के हेतु निम्न उपाय भी करने चाहिए :—

(अ) प्रति वर्ष जो लोग वृद्धावस्था, या दुर्घटना के कारण काम छोड़ देते हों उनके स्थान पर नई नियुक्तियाँ न की जाएँ, वरन् काम अन्य लोगों में बाँट दिया जाय।

(ब) जिन लोगों को काम से अलग कर दिया गया हो, उनके लिए यदि सम्भव हो, तो उसी कारखाने में किसी अन्य स्थान पर कार्य देने की व्यवस्था की जाय। यह भी ध्यान रहे कि उनके वेतन में किसी प्रकार की कमी न हो।

(स) जिन श्रमिकों को अलग करना हो, उनकी सूची पहले से बना ली जाय तथा जिन लोगों की नौकरी की अवधि सबसे कम हो उन्हें ही पहले निकाला जाय। इसी प्रकार विवाहितों की अपेक्षा अविवाहितों को तथा बड़े परिवार वालों की अपेक्षा छोटे परिवार वालों को पहले अलहदा किया जाय।

(द) विवेकीकरण की योजना कार्यान्वित करने के बाद जब कभी अतिरिक्त श्रमिकों की आवश्यकता पड़े तो पहले विस्थापित श्रमिकों का ही प्राथमिकता देनी चाहिए।

(९) तान्त्रिक शिक्षा की सुविधा—विवेकीकरण के अन्तर्गत यन्त्रीकरण भी आता है, अतएव इसकी सफलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि श्रमिकों को तान्त्रिक शिक्षा का उचित प्रबन्ध हो। वेतन तथा पारितोषिक देने के ढङ्गों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इसके अतिरिक्त श्रमिकों के काम की दशाओं तथा उनके हितों

का भी ध्यान रखना आवश्यक है। विवेकीकरण की योजना उसी उसा म सफल समझी जावेगी जबकि सम्पूर्ण समाज एव राष्ट्र की उससे उन्नति हो।

विश्व आर्थिक सम्मेलन के सुझाव—

श्रम सहयोग प्राप्त करने के लिये विश्व आर्थिक सम्मेलन सन् १६२७ ने निम्न लिखित तीन बातो पर जोर दिया है —

(१) विवेकीकरण से उत्पन्न बकारी का निवारण करने के लिए तथा निकले हुए श्रमिको को तत्काल ही काय देने के लिय समुचित आयोजन पहले से ही करना चाहिये।

(२) श्रमिको का चुनाव, शिक्षा, मार्ग दर्शन एवं कार्य तथा आराम के घण्टों का समुचित वितरण एव नियोजन हो, और

(३) श्रमिको के हितो की सुरक्षा का भी आयोजन किया जाय।

बम्बई टैक्सटाइल लेबर इन्क्वायरी कमेटी ने विवेकीकरण की सफलता के सम्बन्ध मे जो सुझाव दिए हैं उनम से प्रमुख निम्नलिखित हैं —

(१) विवेकीकरण से तीन पक्षो को लाभ होना चाहिये—विनियोगताओं, श्रमिको एव राज्य, जो कि उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व करता है। इन्ह सुविधानुसार काय सचालन के लिये परस्पर सहकारिता से काय करना चाहिए।

(२) कायक्षमता बढान के लिये विवेकीकरण की कोई योजना हो। उसका अवलम्बन यथासम्भव श्रमिको एव नियोक्ताओं के परस्पर विचार विनिमय से होना चाहिए, क्योकि परस्पर सहयोग मे ही विवेकीकरण की किसी भी योजना की सफलता का रहस्य छिपा है।

(३) यदि उद्योग को यशस्वी बनाना है तो श्रमिको का विश्वास प्राप्त करना चाहिये, उन्ह विश्वास-पात्र बनाना चाहिए और उनकी समस्त शङ्काओं के समाधान के लिए पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

STANDARD QUESTIONS

1 Briefly discuss the merits and demerits of rationalisation and suggest methods to combat its evils

2. What do you understand by Rationalisation of Industries? Does it lead to greater production and employment of labour? Discuss

3 Explain cleary the meaning of Ration alisation of Industry' Discuss its effects on labour Can it be used as an effective method for increasing efficiency in India?

4 'Rationalisation is not an unmixed blessing Comment

5 'The greatest opposition to rationalisation has been from the side of labour Show what measures should be taken to get support of labour in any scheme of rationalisation

अध्याय ३

भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण

(Rationalisation in Indian Industries)

भारत में आन्दोलन की गति धीमी क्यों ?—

भारतीय उद्योगो मे विवेकीकरण की घोर आवश्यकता होते हुए भी इसकी प्रगति बहुत मन्द गति से हुई है। भारत मे ऐसे उद्योग बहुत थोड़े हैं, जिनमे विवेकीकरण का अनुसरण किया गया है। सन् १९२९ की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी से छुटकारा पाने के लिये विदेशी उद्योगो ने जो राशिपातन (Dumping) शुरू किया, उसके परिणाम-स्वरूप भारतीय उद्योगपतियो ने विवेकीकरण की आवश्यकता को समझा और द्वितीय महायुद्ध के युग मे तथा इसके बाद इस दिशा मे कुछ प्रयत्न किये। इस आन्दोलन की धीमी गति के प्रधान कारण निम्नलिखित हैं :—



(१) पूँजी का अभाव—अभिनवीकरण की योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए भारतीय उद्योगपतियो के पास धन का अभाव है। मशीनो के सम्बन्ध मे भारत अभी आत्म-निर्भर नहीं हुआ है। अतः विदेशो से आयात करने मे बहुत धन खर्च होता है। इसलिए मशीनों के अप्रचलित तथा बेकार होने पर भी उन्हे बदला नही जा सका।

(२) सद्भावना का अभाव—भारतीय उद्योगपतियो मे पारस्परिक मैत्री एव सद्भावना के अभाव के कारण लोग किसी समझौते पर राजी ही नही होते थे। सयोग के क्षेत्र मे जो किंचित समझौते हुए भी, वे अल्पकालीन रहे एव व्यक्तिगत स्वार्थों का सघर्ष होने के कारण अधिक सफल न हो सके।

(३) विदेशी सरकार —सन् १९४७ के पूर्व तक विदेशी शासन के कारण हमारे देश की कोई नियोजित औद्योगिक नीति न थी। अतः भारतीय उद्योगों की वैज्ञानिक ढग से प्रगति न हो सकी।

(४) औद्योगिक अशान्ति—श्रम एव पूंजी के बीच वैमनस्य भी विवेकीकरण की सफलता का कारण है। श्रमजीवी मिल मालिकों को अपना पोषक नहीं वरन् शोषक समझते है। इसी प्रकार सेवायोजक भी मजदूरों को उद्योग का अनिवार्य अंग नहीं मानते। अतः श्रम-सगठन विवेकीकरण की योजनाओं का प्राय: विरोध करते है।

(५) उद्योगपतियों का विरोध—भारतीय उद्योगपति भी परम्परावादी हैं। वे अभिनवीकरण की योजनाओं को अधिक खर्चीली होने के कारण अपनाने में हिचकिचाते है।

(६) भारतीय श्रमिक अशिक्षित, अज्ञानी एव रूढ़िवादी है—हमारे कारखाने मे काम करने वाले अधिकतर श्रमिक गाँवों से आते है। इन गाँवों का वातावरण ही वैज्ञानिक विकास के विपरीत है। ग्रामवासी अपने अतिरिक्त समय मे काम की तलाश मे नगरों की ओर चले जाते है और फसल के दिनों मे काम छोड कर वापिस लौट जाते है। इस कारण कारखानों मे काम से उन्हे कोई विशेष चाव नहीं होता। उनकी भरती भी किसी नीति अथवा सिद्धान्त के अनुसार नहीं होती। भरती का काम कर्म-कारियोजको (Jobbers) के हाथ रहता है। श्रमिकों की उचित शिक्षा के सम्बन्ध मे भी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। उनमे सगठन का भी अभाव है।

विशिष्ट उद्योगों में विवेकीकरण

(Rationalisation in Specific Industries)

प्रमुख भारतीय उद्योगों मे विवेकीकरण से सम्बन्धित प्रयत्नों का सक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है :—

(१) सीमेंट उद्योग—सन् १९३० मे सीमेन्ट मार्केटिंग कम्पनी स्थापित हुई, जिसने अपने सदस्यों के समस्त उत्पादन को आर्थिक मूल्य पर बेचना शुरू किया। सीमेंट के प्रत्येक कारखाने के लिये उत्पादन का कोटा निश्चित कर दिया गया। रेलवे कम्पनियों से भी भाडे सम्बन्धी उचित ठहराव कर लिये गये। भिन्न भिन्न प्रकार के सीमेन्ट के लिये बाजार बाँट दिया गया। इस प्रकार सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी ने प्रतिस्पर्धा की भावना का अन्त कर दिया, यातायात के व्यय को कम कर दिया तथा उत्पादन पर नियन्त्रण करके आवश्यकता से अधिक उत्पादन की सम्भावना को भी समाप्त कर दिया। उपभोक्ताओं को भी सस्ते दामों पर वस्तुएं मिलना सुलभ हो गया। तत्पश्चात् सन् १९३६ में 'एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनीज' के रूप मे सीमेंट के अनेक प्रमण्डलों का सयुक्तीकरण हुआ। फिर सन् १९४१ मे 'एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनीज' ने डालमिया ग्रुप के साथ गठबन्धन कर लिया।

(२) शक्कर उद्योग—इसी प्रकार शक्कर उद्योग मे भी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता की भावना को समाप्त करने की दृष्टि से, 'सुगर मार्केटिंग बोर्ड' सन् १६३२ मे स्थापित किया गया। फिर शक्कर के उत्पादन एव उसके वितरण पर नियन्त्रण रखने की दृष्टि से सन् १६३७ मे सुगर सिंडीकेट स्थापित किया गया। अब कुछ समय से 'केन्द्रीय शक्कर समिति' बना दी गई है। इस समिति के परिणामस्वरूप शक्कर के उद्योग मे अनेक उपयोगी अनुसधान हो रहे हैं। गन्ने की उपज मे वृद्धि होने के अतिरिक्त शक्कर के उत्पादन तथा उनके विक्रय की रीति मे भी बहुत उन्नति हो गई है। किन्तु आज भी शक्कर उद्योग मे अनेक निरर्थक क्षय होते हैं, जिनका यदि उपयोग किया जाय तो मेथीलेटिड स्प्रिट, शराब इत्यादि उत्तोत्पाद (Bye-products) बनाये जा सकते है। आज शीरा तथा बँगेसेज का समुचित उपयोग नही हो रहा है। अतएव उद्योग के अपने पैरो पर खडे होने के लिये उत्पादन एव उत्पादन क्रियाओ का विवेकीकरण करने की आवश्यकता है, जिसमे मितव्ययिता आकर सरक्षण की जरूरत न रहे।

(३) जूट उद्योग—जूट उद्योग भारत का सबसे सगठित उद्योग है, क्योकि इसमे हम उत्पादन का सबसे अच्छा नियन्त्रण देखते हैं। किन्तु अन्य बातो पर इस उद्योग मे भी विशेष ध्यान नही दिया गया है। इसका प्रधान कारण यह था कि अभी तक भारतवर्ष को इस उद्योग का एकाधिकार प्राप्त था। पारस्परिक सहयोग लाने तथा उत्पादन का नियन्त्रण करने के लिये इण्डियन जूट मिल एसोसियेशन की स्थापना की गई। विवेकीकरण काम के घण्टो मे कमी करने तक ही सीमित रहा। भारतीय जूट उद्योग आज त्राहि-त्राहि कर रहा है। भारत के बँटवारे के कारण हमारे मिलो को पर्याप्त मात्रा मे एव उचित मूल्य पर पाट नही मिल रहा है। दूसरे, हमारे जूट की माँग भी विदेशो मे कम हो रही है, क्योकि आज जूट के स्थान मे अन्य चीजो का प्रयोग होने लगा है। तीसरे, अवमूल्यन के बाद जूट का मूल्य भी बहुत बढ गया है। अत. जूट उद्योग को सुरक्षित रखने के लिये विवेकीकरण का अनुसरण अनिवार्य है।

(४) लोहा एवं इस्पात उद्योग—इस उद्योग मे विवेकीकरण की जो प्रगति हुई वह केवल सराहनीय ही नही वरन् अनुकरणीय भी है, ऐसे अनेक प्रयोग किये गये हैं जिनके फलस्वरूप उत्पादन क्रियाओ मे सरलता आ गई है और उत्पादन मे भी वृद्धि हुई। निरर्थक क्षय कम हो गया है। श्रम-बचत के अनेक साधनो का उपयोग किया गया है। इतना ही नही, वरन् द्वितीय महायुद्ध के युग ने तो इस्पात बनाने मे "स्क्रैप-कार्बन-प्रोसेज' का उपयोग किया गया है, जो वास्तव मे एक महत्त्वपूर्ण सुधार है।

(५) सूती वस्त्र उद्योग—सूती वस्त्र मिल उद्योग भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण एव महान् उद्योग है। द्वितीय महायुद्ध के पहले इस उद्योग मे विवेकीकरण के कुछ प्रयत्न किए गये, किन्तु वे सराहनीय नही कहे जा सकते, क्योकि उनमे से अधिकांश

प्रयत्न असफल रहे। इस उद्योग मे विवेकीकरण से सम्बन्धित प्रयत्न प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के विरोध एवं असहयोग के कारण अभी तक प्रायः असफल ही रहे हैं। सन् १९३६ मे मिलो के पारस्परिक समिश्रण के लिए अनेक प्रयत्न किये गये, किन्तु वे सफल नही हुए। जब द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ तो कपडे की माँग दिन पर दिन बढने लगी। इस कारण उद्योग को उन्नति का बडा अवसर मिला। उन दिनो भारत मे चारो ओर वस्त्र संकट था, अतएव उपयोगिता के वस्त्र का उत्पादन बढाने के लिए तथा वस्त्र की कमी की समस्या को हल करने के हेतु सन् १९४५ मे भारत सरकार ने उत्पादन के विवेकीकरण मे सम्बन्धित एक अधिनियम (Textile Industry Rationalisation of Products Order) बनाया, जिसके फलस्वरूप तरह-तरह के वस्त्रो का बनाना बन्द कर दिया गया। मिले केवल ऐसा ही कपड़ा तैयार करने लगी, जिसकी सबसे अधिक उपयोगिता थी। सन् १९४५ के आदेशानुसार उत्पादन एव वितरण पर भी नियन्त्रण रखा गया। बम्बई तथा अहमदाबाद की मिलो मे विवेकीकरण का अनुसरण विशेष रूप से किया गया। फासेट कमेटी के अनुसार कोहेनूर मिल्स और मंसून तथा फिनले ग्रुप की मिलो मे कुछ 'कुशलता वृद्धि योजनायें' (Efficiency Schemes) प्रचलित की गई। प्रोफेसर सी० एन० वकील ने कपास के क्रय तथा वस्त्र के वितरण मे विवेकीकरण से मितव्ययिता लाने के लिए सयुक्त केन्द्रीय सभा (Joint Central Board) की स्थापना को आवश्यक बताया है।

सन् १९४८ के अन्त मे मिल मालिक सघ की सिफारिशो पर भारत सरकार ने श्री भवानीशङ्कर एम० बोरकर को सूती कपास उद्योग के सम्बन्ध मे तान्त्रिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने जापान भेजा। यह प्रयत्न भी विवेकीकरण की दशा मे ही किया गया। उद्योग की उन्नति के लिए, अभी कुछ दिन हुए, यन्त्रो के आधुनिकीकरण (Modernisation) की सिफारिश की गई है। इसी प्रकार भारतीय प्रमाप सस्था द्वारा प्रमाप एव निर्देशन (Specification) के अनुसार उत्पादन क्रियाओं का प्रमापीकरण करने की सिफारिश की गई है।

वर्तमान काल मे विवेकीकरण की आवश्यकता—

आजकल हमारे देश मे विवेकीकरण व अभिनवीकरण की विशेष आवश्यकता है। इसके प्रधान कारण निम्नलिखित है :—

(१) विदेशी प्रतियोगिता—आज दुनियाँ के सभी देश अभिनवीकरण की दिशा मे बडी तेजी से बढे चले जा रहे हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद सभी पाश्चात्य देशो, चीन, जापान आदि ने अपने देश मे लगी मशीनरी का नवकरण कर लिया है। यदि हम चाहते है कि अन्य प्रगतिशील देशो के साथ कदम ब कदम मिला कर चलें तथा प्रतिस्पर्धा मे किसी देश से पीछे न रहें तो विवेकीकरण को अपनाना होगा।

(२) विदेशी बाजारो का छिनना—हमारे विदेशी व्यापार मे भी शनैः-शनैः कमी होती जा रही है। युद्ध युग मे भारतीय उद्योगो ने काफी विस्तृत बाजार

तैयार कर लिया था। उदाहरणार्थ, युद्ध काल मे भारतीय कपडा ईरान, ईराक, मिस्र, अरब, इण्डोनेशिया, बर्मा इत्यादि देशो मे जाता था। परन्तु जापान की स्वतन्त्रता के बाद ये बाजार काफी सीमा तक भारत मे छिन गये हैं। अतएव अपनी स्थिति पूर्ववत् रखने के लिए विवेकीकरण की शरण लेना आवश्यक है।

वर्तमान काल में विवेकीकरण की आवश्यकता की ६ बातें

(१) विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा।
(२) विदेशी बाजारो को बनाये रखना।
(३) अप्रचलित व घिसी मशीनरी का प्रतिस्थापन।
(४) घरेलू माँग मे कमी को रोकने के लिए।
(५) देश के विभाजन की समस्याओ को हल करने के लिए।
(६) विदेशी विनिमय कमाने के लिये।

(३) अप्रचलित व घिसी मशीनरी—युद्धोत्तर काल मे चीन, जापान आदि सभी देशो ने लगभग सभी करघो व तकुओ का नवीनीकरण कर लिया है तथा वहाँ स्वचालित मशीनो का प्रयोग किया जाता है जिसमे एक मजदूर ४० करघे तक एक साथ देखता है। हमारी मिलो मे प्रयोग होने वाली मशीने बहुत पुरानी है। इस सम्बन्ध मे सन् १९५२ मे सूती उद्योग की वर्किंग कमेटी ने निम्न आँकडे दिये, जिसके अनुसार सूती वस्त्र उद्योग मे ६५% मशीनरी सन् १९२५ से पहले की है, उसमे ३०% तो सन् १९१० से भी पहले की है। वीविंग विभाग मे ७५% करघे सन् १९२५ मे पहले के हैं, जिनमे ४९% तो १९१० से भी पहले के हैं। सन् १९५८ मे कॉटन टैक्सटाइल इन्क्वाइरी कमेटी (जोशी कमेटी) ने भी इस बात पर बल दिया कि हमारे मिलो की गिरी हुई दशा का एक प्रधान कारण अभिनवीकरण का अभाव है। योजना आयोग का भी इसी सम्बन्ध मे यही मत है।

(४) घरेलू माँग मे कमी—युद्ध के समाप्त होने से आन्तरिक माँग मे भी बहुत कमी आ गई है। एक ओर तो खाद्य पदार्थों तथा औद्योगिक कच्चे माल की कीमतें बढती जा रही हैं और दूसरी ओर आर्थिक आयोजन की पूर्ति के लिए सरकार तरह-तरह के कर लगा रही है, इसलिए अन्य उपभोग की वस्तुओ की माग स्वतः कम हो रही है। माँग मे वृद्धि के हेतु किस्म मे वृद्धि अनिवार्य है और वह तब तक सम्भव नही जब तब कि विवेकीकरण की शरण न ली जाय।

(५) देश का विभाजन—देश की विभाजन-जन्य समस्याओ (जैसे रुई, पटसन आदि कच्चे माल की कमी) को हल करने के लिए भी विवेकीकरण को अपनाना होगा, जिससे कि उपलब्ध साधनो का अच्छे से अच्छा उपयोग हो सके तथा अपव्यय रोका जा सके।

(६) विदेशी विनिमय का अर्जन—पंचवर्षीय योजनाओ की सफलता के लिए बहुत बड़ी मात्रा मे विदेशी विनिमय की आवश्यकता है, जो तभी सम्भव हो

सकती है। जबकि हमारे निर्यात बढे। निर्यातो को बढाने के लिए वस्तुओ की किस्म बढानी होगी और इस हेतु वैज्ञानिक प्रणालियो का अनुसरण अनिवार्य है।

भारतीय उद्योगो मे विवेकीकरण की आवश्यकता—

भारतीय उद्योगो मे विवेकीकरण की प्रगति के एक मात्र अवलोकन से यह स्पष्ट है कि हमारे देश मे लौह एव इस्पात उद्योग के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्योग मे वैज्ञानिकन का उपयोग न के बराबर है। अन्य उद्योगो मे जो किंचित प्रयत्न किए गये है वे या तो सयोग के लाभो को प्राप्त करने अथवा प्रतिस्पर्धा का अन्त करने की दृष्टि से किये गए है। उदाहरणार्थ, वस्त्र मिल उद्योग को ही लीजिए। इस उद्योग में वैज्ञानिकन की आवश्यकता पर जोर देते हुए टाटा क्वाटर्ली ने लिखा है कि सूती वस्त्र उद्योग मे निर्माण क्रियाओ के वैज्ञानिकन की आवश्यकता निम्न दो कारणो से अधिक बलवती हो गई है :—

(१) मशीनो का अप्रचलित हो जाना एव घिस जाना।

(२) देश के बँटवारे के बाद निर्यात-बाजारो का विकास आवश्यक हो जाना।

सन् १६५२ मे प्रकाशित अपनी रिपोर्ट मे सूती उद्योग की वर्किङ्ग कमेटी ने बताया था कि स्पिनिंग विभागो मे ६५% मशीनरी सन् १६२५ से पहले लगाई गई थी और ३०% सन् १६१० से पहले। वीविंग विभागो की स्थिति तो और भी खराब है। ७५% लूम्स सन् १६२५ से पहले लगाये गये थे। ४३६% तो सन् १६१० से भी पहले के है। साधारणत. एक मशीन ३० साल तक काम करती है, इसलिए इसे बदलने की नितान्त आवश्यकता है। पाकिस्तानी प्रदेश मे देश के विभाजन के पूर्व २०% उत्पादन खपता था। आज वह बाजार बन्द-सा हो गया है। वे स्वय बढिया मशीनरी लगा रहे हैं। जापान ने भी युद्ध के बाद प्राय. सारी मशीनरी अपटूडेट कर दी है। जापान के सूती वस्त्र उद्योग के ७०% स्पिन्डिल और ५६% लूम्स युद्धोत्तर काल मे सन् १६५२ के अन्त तक लगाये गये थे और अधिकाश लूम्स ऑटोमैटिक है। अन्य देशो ने भी अपने उद्योगो की मशीनरी अपटूडेट कर ली है, यद्यपि युद्ध-पूर्व के युग मे सन् १६५१ के अन्त तक विश्व की उत्पादन क्षमता ३५,००० मिलियन गज से बढ कर ३६,००० मिलियन गज हो गई है, किन्तु वस्त्र सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा ६,७५० मिलियन गज से घटकर केवल ५,५४० मिलियन गज रह गई है। उनसे प्रतिस्पर्द्धा के लिये हमारे देश मे विवेकीकरण के अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग नही है।

वस्त्र मिल उद्योग की मशीनरी के अभिनवीकरण का प्रश्न केवल विदेशी बाजार की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नही वरन् घरेलू माँग (Domestic Demand) को स्थिर रखने के लिये भी वाछनीय है। गत कुछ वर्षो से कपडे की माँग गिरती जा रही है। मार्च सन् १६५२ की मन्दी के बाद से वस्त्र उद्योग के लिये परिस्थितियाँ विशेषत. कठिन हो गई है। सन् १६५३ के प्रथम ६ महीनो मे कपड़े का बिना बिका

स्टॉक दुगुना हो गया, जो कि वर्ष के अन्त में लगभग ७९ करोड़ रुपये का था। जब तक उद्योग अपने उत्पादन व्यय व मूल्यों को कम नहीं करता और माल की किस्म में उन्नति नहीं करता तब तक विकास तो दूर, आन्तरिक बाजार को स्थिर रखना भी अत्यन्त कठिन है। वस्त्र मिल उद्योग के अतिरिक्त भारत के अन्य उद्योगों में भी मशीनरी के अभिनवीकरण (Modernisation) का प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण है।

चीनी उद्योग में अभी तक मिलों ने क्षेप्य पदार्थों (Waste) का उपयोग उप वस्तुएँ (Bye-products) बनाने के लिये नहीं किया, जो नितान्त आवश्यक है। इसमें मितव्ययिता होकर उत्पादन व्यय गिरेंगे। यन्त्रों के आधुनिकीकरण एवं उत्पादन क्रियाओं के प्रमापीकरण का प्रयत्न भी अभी तक नहीं किया गया है, जो बहुत आवश्यक है।

जूट मिल उद्योग में विवेकीकरण के अवलम्बन की आवश्यकता है, क्योंकि इसके बिना न तो हम अन्य देशों की प्रतिस्पर्द्धा में टिक सकते हैं और न विदेशी माँग को पूरा करने में समर्थ हो सकते हैं। सीमेंट उद्योग में भी अभी तक मानवीय श्रम एवं वस्तुओं का निरर्थक व्यय करने की दृष्टि से तथा उत्पादनशीलता बढ़ाने एवं यन्त्रों के आधुनिकीकरण की ओर से कुछ भी नहीं किया गया है।

भारतीय प्रमाप संस्था ने अभी तक जो कुछ किया है वह सन्तोषजनक अवश्य है, किन्तु औद्योगिक विकास में अभी प्रमापों का महत्त्व नहीं दिया जा रहा है। उद्योगपतियों की शिकायत है कि खरीददार देशी माल का विश्वास नहीं करते और विदेशी माल को महँगा होते हुए भी खुशी से खरीदते हैं।

अत भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण की बड़ी आवश्यकता है। इसी के आधार पर हमारे उद्योग केवल देशी बाजार में ही नहीं, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भी टक्कर लेने के लिए समर्थ हो सकते हैं, परन्तु विवेकीकरण का सफलतापूर्वक प्रयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय उद्योग वैयक्तिक एवं सामूहिक रूप में समुचित शिलान्यास कर विवेकीकरण की नींव को सुदृढ़ करें।

रोजगार पर विवेकीकरण के प्रभाव—

श्रम-संचालक-यन्त्रों के द्वारा विवेकीकरण के प्रचलन का सबसे बड़ा विरोध यह बताया जाता है कि इससे बेरोजगारी को बढ़ावा मिलता है और रोजगार की समस्या, जो पहले से ही जटिल है, और भी भीषण हो जाती है। इसी समस्या पर हम गम्भीरता से विचार करेंगे।

विवेकीकरण के परिणामस्वरूप जो बेरोजगारी फैलती है उसके दो रूप हो सकते हैं—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष रूप में तो उन उद्योगों में बेरोजगारी होने की सम्भावना है, जहाँ ऑटोमेटिक मशीनरी का प्रयोग किया जाय और अप्रत्यक्ष रूप से उन उद्योगों में भी बेरोजगारी की सम्भावना है जो वैज्ञानीकृत इकाइयों से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकतीं और फलस्वरूप: अपना कार्य बन्द करने के लिये विवश हो जायें। इसी प्रकार छोटे पैमाने के उद्योग तथा हैण्डलूम उद्योग में भी बेरोजगारी

बढ सकती है, क्योकि वैज्ञानीकृत सगठित उद्योगो के सामने उनके टिकने की सम्भावना कम हो जाती है।

विवेकीकरण की योजना की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि इस दिशा मे जो भी कार्य किया जाय वह दोनो पक्षकारो—श्रम तथा पूँजी के सहयोग से हो। सबसे पहले तो सम्पूर्ण नीति श्रमिको को भली प्रकार समझा दी जाय और यदि उचित हो तो आवश्यकतानुसार उसमे सशोधन भी कर दिये जायें। योजना को इस प्रकार कार्यान्वित किया जाय कि यदि श्रमिका पर इसके कुछ बुरे प्रभाव पडने की सम्भावना है तो वे एक विस्तृत अवधि पर फैला दिये जायें, जिससे कि उनका भार असहनीय न हो। बेरोजगारी रोकने तथा निकाले हुए श्रमिको को पुन कार्य देने का भी आयोजन होना चाहिये। इसके लिये निम्न कार्य किये जा सकते हैं—नवीन पद्धतियो के अनुसार काय करने की ट्रेनिंग का आयोजन करना, तान्त्रिक शिक्षा की सुविधा देना, कार्य की पालियाँ (Shifts) बढाना तथा एक विभाग से दूसरे विभाग को श्रमिको का स्थानान्तर। इन ढङ्गो से रोजगार पर पडने वाले विवेकीकरण के कुप्रभावो को कम किया जा सकता है।

वास्तविक बात तो यह है कि यदि विवेकीकरण के लिये खुली आशा भी दे दी जाय तो भी बडी मात्रा मे बेरोजगारी होने की सम्भावना नही है, क्योकि एक तो देश की समस्त औद्योगिक इकाइयाँ विवेकीकरण की योजना को धन की कमी के कारण अपनाने म असमर्थ ह और जो किंचित उद्योग इसका प्रयोग भी करेंगे उनके उपलब्ध कोषो का अधिकाश भाग तो मशीनरी के आधुनिकीकरण मे ही खप जायगा और शेष, जो श्रम सचय यन्त्रो मे स्तेमाल होगा, बहुत थोडा होगा। एक अनुमान के अनुसार बम्बई तथा अहमदाबाद की केवल २० वस्त्र मिल ऑटोमैटिक मशीनरी लगाने की कल्पना कर सकती है। सन् १९४६ से सन् १९५३ तक ७ वर्ष की अवधि मे केवल ४,६०५ ऑटोमैटिक लूम्स लगाये गये अथवा दूसरे शब्दो मे प्रति वर्ष ६५८ लूम्स लगाये गये। इससे स्पष्ट है कि वैज्ञानिकन के प्रचलन से रोजगार की स्थिति पर कोई भीषण प्रभाव पडने की आशका नही है। यह अनुमान लगाया गया है कि ऑटोमैटिक मशीनरी के द्वारा जितने श्रमजीवियो की छँटनी करनी पडेगी उनकी सख्या अधिक न होगी, अतएव कुछ समय के उपरान्त उन निकाले हुये श्रमिको को उद्योगो मे पुन. काम देना कोई कठिन बात नही। यदि निकाले हुए श्रमिको को दुबारा रोजगार देने के लिए ट्रेनिंग की आवश्यकता हो तो इसकी व्यवस्था की जा सकती है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने औद्योगिक सघर्ष (सशोधित) अधिनियम सन् १९५३ मे निकाले हुए श्रमिको की क्षति पूर्ति करने की व्यवस्था की है।

यही नही, विवेकीकरण के प्रचलन से उत्पादन व्यय तथा मूल्यो मे कमी होगी और वस्तुओ की किस्म सुधर जायगी। फलस्वरूप माँग बढेगी, जिसमे नवीन उद्योगो की स्थापना को बढावा मिलेगा। इन नवीन उद्योगो मे श्रमिको को कार्य दिया जा सकता है।

यदि विवेकीकरण स्थगित कर दिया जाय ?—

यदि विवेकीकरण की योजना को कार्यान्वित न करें तो इस बात की गारन्टी नहीं है कि भविष्य में रोजगार की दशा सुधर जावेगी। सच तो यह है कि इसको स्थगित करने से वस्तुओं की किस्म एवं उनके मूल्य पर बुरा प्रभाव पड़ेगा, जिसके परिणामस्वरूप देशी तथा विदेशी माग भी कुप्रभावित होगी। उदाहरण के लिए, वस्त्र मिल उत्पादन का २०% भाग जो आजकल विदेशों को जाता है, जाना बन्द हो जावेगा और इससे मिलों को अपना उत्पादन कम करने के लिये विवश होना पड़ेगा, जिससे बेरोजगारी बढ़ेगी, अतएव हमारे सम्मुख केवल दो मार्ग हैं—प्रथम, विवेकीकरण का प्रचलन, जिसके परिणामस्वरूप यद्यपि थोड़ी तात्कालिक बेरोजगारी होने की सम्भावना है, किन्तु उद्योग की कार्यक्षमता निस्सन्देह बढ़ेगी और स्थिति सुदृढ़ होगी तथा दूसरा मार्ग यह है कि विवेकीकरण की योजना को स्थगित कर दिया जाय, जिससे यद्यपि तात्कालिक बेरोजगारी तो नहीं बढ़ेगी, लेकिन निकट भविष्य में बाजारों के छिन जाने पर बेरोजगारी एक रौद्र रूप धारण कर लेगी।

STANDARD QUESTIONS

(1) Explain the urgency of introducing rationalisation in Indian Industries What repercussions will it have on the employment situation in the country ? What are the advantages of rationalisation ?

(2) What is 'Rationalisation' ? Discuss the problems of its application to Indian industries

(3) Write an essay on 'Rationalisation' in the Cotton Textile Industry of India.

(4) Discuss the reasons for the slow growth of Rationalisation in Indian Industries.

अध्याय ४

राज्य एवं विवेकीकरण

(State & Rationalisation)

प्रारम्भिक—

जबकि विश्व के औद्योगिक रूप से उन्नत देश अणु शक्ति एव स्वचालन द्वारा प्रसारित द्वितीय औद्योगिक क्रान्ति के मोड पर खडे है तब भारत मे स्टीम एव विद्युत शक्ति पर आधारित प्रथम औद्योगिक क्रान्ति भी अपने पूर्ण निखार पर नहीं आ पाई है। हमारी अत्यधिक दरिद्रता, हमारे भूतपूर्व शासको की उपेक्षा और हमारी जनता की रूढिवादिता ने बैलगाडी युग की अवधि को बढा दिया है तथा हम अब भी औद्योगीकरण की शक्तियो का हथौडो से ही सामना कर रहे हैं। इस खेदजनक स्थिति के होने पर भी विवेकीकरण के प्रति सरकार का रुख अस्पष्ट एव सकोचपूर्ण है, यद्यपि वह खुले रूप मे विवेकीकरण के विरुद्ध नही कही जा सकती। भारत सरकार ने विवेकीकरण की दिशा मे अब तक जो प्रयास किये हैं उन्हे निम्न शीर्षको के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है :—

(१) श्रम-पूँजी सहयोग—

सन् १९५१ मे योजना मन्त्री श्री नन्दा की अध्यक्षता मे उद्योग विकास समिति की एक उप समिति ने भारतीय उद्योगो के विवेकीकरण की समस्या पर विचार किया और निम्न निर्णय किये :—

(१) भारतीय उद्योगो मे विवेकीकरण किया जाय, लेकिन इस बात का ध्यान रखा जाय कि कम से कम मजदूरो की छँटनी हो। इस सम्बन्ध म निम्न सुझाव दिये गये—(i) मृत्यु अथवा रिटायर होने के कारण जो स्थान खाली हो, उन्हे भरा नही जाय, (ii) अतिरिक्त (Surplus) श्रमिको को अन्य विभागो मे काम दिया जाय और इससे उनकी सेवा की अवधि तथा पुरस्कार पर कोई प्रभाव नही पडने देना चाहिये, (iii) अपनी इच्छा से रिटायर होने वाले श्रमिको को ग्रेचुइटी दी जाय, और (iv) टेक्नोलाजिकल सुधारो क कारण जो मजदूर बेकार हो गये है उनमे से कुछ को काम देने के लिये मशीन का विस्तार किया जाय।

(२) कार्य भार (Work-load) का एक आदर्श निश्चित कर देना चाहिये ।

(३) टैक्नीकल परिवर्तनों को कुछ समय तक अजमाया जाय, ताकि उद्योगों को उसका प्रारम्भिक अनुभव हो सके ।

(४) विवेकीकरण से होने वाले लाभ में श्रमिकों को भी उचित भाग दिया जाय ।

(५) निकाले हुये श्रमिकों के पुनर्वास के लिए सरकार को उपयुक्त योजना बनानी चाहिये ।

इस प्रकार के कुछ सुझाव प्रथम पंच-वर्षीय योजना के निर्माताओं ने दिये, जिसमें विवेकीकरण देश में प्रगति करे और श्रमिकों एवं सेवायोजकों के बीच संघर्ष न हो । द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में योजना आयोग ने औद्योगिक ट्रिब्यूनलों का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया कि वे अवार्ड देते समय समझौते द्वारा निश्चित की हुई व्यवस्था को उचित महत्त्व दें ।

अभी हाल में, भारत सरकार ने विवेकीकरण से सम्बन्धित एक आदर्श ठहराव बनाया है, जो कि जुलाई सन् १६५७ में भारतीय श्रम सम्मेलन के सम्मुख रखा गया था । इस ठहराव में यह स्वीकार किया गया है कि विवेकीकरण की योजनाओं को कार्यान्वित करने की सुविधा के लिए श्रमिकों एवं सेवायोजकों में पारस्परिक परामर्श व सहयोग की आवश्यकता है । इस ठहराव में यह व्यवस्था भी की गई है कि ऐसा कोई टेक्नोलॉजिकल परिवर्तन करने से पहले, जिसके कारण श्रमिकों की संख्या में कमी होने की आशंका है, प्रबन्धकों को चाहिये कि अपने इस इरादे की सूचना श्रम संघ को ३ सप्ताह से लेकर ३ माह पूर्व ही दे दें। यदि टेक्नोलॉजिकल परिवर्तन करने के फलस्वरूप कुछ श्रमिक बेकार हो जाते हैं, तो उन्हें पुनः काम देने के लिये कारखाने के कार्यकलापों का यथासम्भव विस्तार किया जाय । यदि श्रमिकों और सेवायोजकों में कोई मतभेद हो तो उसे मध्यस्थ को सौंपा जाय ।

सुझाव—

'आँसू रहित विवेकीकरण' (Rationalisation without tears) वह वाक्य है जिसके द्वारा भारत में जनता की इस आशा और माँग को व्यक्त किया जाता है कि बढ़ी हुई उत्पादकता के कारण बेरोजगारी की समस्या में, जो कि देश में पहले से ही व्यापक रूप से विद्यमान है, और अधिक वृद्धि नहीं होनी चाहिये । बेरोजगारी के भय का विवेकीकरण करने के लिये निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) साधारणतः बहुत बड़ी संख्या में श्रमिकों को काम देने वाले उद्योगों में स्वचालन या प्रचलन करना अबुद्धिमत्तापूर्ण है, जब तक कि उद्योगों में योजनाबद्ध विकास की व्यवस्था न हो ।

(२) विवेकीकरण द्वारा सम्भव की गई बचत में श्रमिकों, सेवायोजकों एवं उपभोक्ताओं तीनों का हिस्सा मिलना चाहिये ।

(३) यदि विद्यमान इकाइयाँ अथवा उद्योग विस्थापित होने वाले श्रमिकों को काम देने के लिये अपने प्लाट का विस्तार करने मे असमर्थ हो, तो उनमे विवेकीकरण की नीति के उपभोग को तब तक रोकना बुद्धिमानी होगी जब कि आर्थिक विकास के कार्यक्रम अन्य उद्योगो मे अतिरिक्त श्रमिको को काम मिलने की सुविधा उपलब्ध न कर दे।

(२) उद्योग का नियमन—

उद्योग (विकास एव नियमन) अधिनियम सन् १६५१ ने भारत सरकार को इस बात का अधिकार दिया है कि वह अनुसूचित उद्योगो मे विवेकीकरण लागू करने के विभिन्न पहलुओ पर विचार करने के हेतु विकास परिषदे नियुक्त कर दे। इन विकास परिषदो के निम्न कार्य है :—

(१) उत्पादन के लक्ष्यो की सिफारिश करना, उत्पादन के कार्यक्रमो का समन्वय करना और समय-समय पर प्रगति का मूल्याकन करना।

(२) अपव्यय को समाप्त करने, अधिकतम उत्पादन करने, किस्म में सुधार करने तथा लागत घटाने की दृष्टि से निपुणता के प्रमाप निश्चित करना।

(३) स्थापित क्षमता का पूर्ण उपयोग करने तथा उद्योग के कार्यकरण का सुधार करने के लिये उपाय सुझाना।

(४) वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसन्धान की व्यवस्था करना।

(५) उद्योग मे सलग्न श्रमिको की टेक्नीकल ट्रेनिंग को बढावा देना तथा विस्थापित श्रमिको को अन्य कार्यों की ट्रेनिंग देना।

(६) भारत सरकार को परामर्श देने के लिये विभिन्न विषयो या सामग्री का सकलन करना।

अब तक तेरह उद्योगो के लिये विकास परिषदो की स्थापना की जा चुकी है।

(३) वित्तीय सहायता—

कर जाँच आयोग सन् १९५४ की सिफारिशो पर, भारत सरकार ने औद्योगिक सस्थाओ को कुछ कर सम्बन्धी रियायतें दी हैं, जैसे विकास-छूट और अतिरिक्त घिसाई का अलाउन्स। आधुनिकीकरण के कार्यक्रमो मे रुचि रखने वाली औद्योगिक इकाइयो मे प्लान्ट एव मशीनरी के प्रतिरिक्त प्रतिस्थापना एव नवकरण के लिये वित्तीय सहायता देने को सन् १९४८ मे औद्योगिक वित्त-निगम की स्थापना की गई। प्रथम पच-वर्षीय योजना मे, प्रतिस्थापन एवम् आधुनिकीकरण के कार्यक्रमो के

राज्य द्वारा विवेकीकरण की दिशा में किये गये प्रयत्न

(१) श्रम-पूँजी सहयोग।
(२) उद्योग का नियन्त्रण।
(३) वित्तीय सहायता।
(४) औद्योगिक अनुसधान।
(५) भारतीय प्रमाप सस्था।
(६) भारतीय उत्पादकता आन्दोलन।

लिये २३० करोड के धन की व्यवस्था की थी। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना मे प्राइवेट क्षेत्र के लिये इन कार्यों पर १५० करोड के व्यय की व्यवस्था की गई है।

(४) औद्योगिक अनुसन्धान—

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत मे औद्योगिक एवम् वैज्ञानिक अनुसन्धान की समस्या पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। उद्योग मुख्यतः विदेशी टेक्नीको पर ही निर्भर करते थे तथा अपनी ही टेक्नीक के विकास का प्रयास नही करते थे। युद्ध-काल मे आयात की जाने वाली सामग्रियो की स्थानापन्न वस्तुओ का विकास करना आवश्यक हो गया और साथ ही इन स्थानापन्न वस्तुओ को, आयात की सामग्रियो के स्थान मे प्रयोग करने के लिये नई विधियाँ खोजना भी आवश्यक था। इन परिस्थितियो मे भारत सरकार ने सन् १६४० मे बोर्ड आफ साइन्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च की स्थापना की। काउन्सिल आफ साइन्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च की स्थापना सन् १६४२ मे हुई। स्वतन्त्रता के बाद से तो वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसन्धान की प्रगति के लिये अतिरिक्त सुविधायें देने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। इस दिशा मे सबसे महत्वपूर्ण बात है देश के विभिन्न भागो मे नेशनल लेबोरेटरियो की स्थापना होना, जिनमे से मुख्य-मुख्य लेबोरेटरियाँ इस प्रकार हैं :—

(i) National Physical Laboratory, New Delhi.
(ii) National Chemical Laboratory, Poona.
(iii) Central Fuel Research Institue, Jealgora (Bihar).
(iv) Central Food Technological Research Institute, Mysore.
(v) Central Glass and Ceramic Research Institute, Jadhavpur.
(vi) Central Drug Research Institute, Lucknow.
(vii) Central Road Research Institute, New Delhi.
(viii) Central Electro-Chemical Institute, Karaikudi Madras.
(ix) Central Leather Research Institute, Madras.
(x) Central Building Research Institute, Roorkee.
(xi) Central Electric Engineering Research Institute, Pilani (Rajasthan)
(xii) National Botanical Gardens, Lucknow.
(xiii) Central Salt Research Institute, Bhawnagar.
(xiv) Central Mining Research Station, Dhanbad.

इन सब संस्थाओं का मुख्य कर्तव्य नये मौलिक ज्ञान की खोज करना है। वे विद्यमान औद्योगिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करते हैं और निर्माण कार्य की टेक्नीक मे सुधार करने के सुझाव देते है।

(५) भारतीय प्रमाप संस्था—

भारतीय उद्योगपतियो ने सर्वप्रथम सन् १९४० के बारहवें उद्योग सम्मेलन मे भारतीय प्रमाप निश्चित करने के लिये 'भारतीय प्रमाप सस्था' (Indian Standards' Institute) खोलने का प्रस्ताव सरकार के सम्मुख रखा, किन्तु युद्ध की परिस्थितियो के कारण उस समय भारत सरकार ने प्रस्ताव पर ध्यान नही दिया। सन् १९४६ मे औद्योगिक योजना के अन्तर्गत प्रमापीकरण की आवश्यकता का अनुभव करते हुए भारत सरकार ने एक प्रमाप सस्था खोलने का निश्चय कर लिया। सस्था खोली गई और उसका केन्द्रीय कार्यालय नई दिल्ली मे रखा गया है। इस सस्था का प्रबन्ध एक साधारण परिषद् *(General Council)* द्वारा होता है, जिसके सभापति उद्योग सचिव है और इसमे केन्द्रीय सरकार के विभिन्न विभागो, राज्यो, अनुसधान संस्थाओ, चैम्बर आफ कामर्स इत्यादि के कुल ६४ प्रतिनिधि है।

भारतीय प्रमाप सस्था का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर विभिन्न वस्तुओ एव क्रियाओ के प्रमाप निर्धारित करना तथा इस सम्बन्ध मे आवश्यक सुधार करना, औद्योगिक आँकड़े एव सूचनायें एकत्रित एवम् प्रकाशित करना तथा प्रमापीकरण की उन्नति के लिए पुस्तकालय, म्यूजियम तथा प्रयोगशालाय स्थापित करना और विभिन्न वस्तुओ के प्रमापीकृत चिन्हो का रजिस्ट्रेशन करना है। भारतीय प्रमाप सस्था अन्तर्राष्ट्रीय प्रमापीकरण सगठन की सदस्य है। इस बात से ही इसकी यशस्विता का परिचय मिलता है। भारतीय प्रमाप सस्था का कार्य अब राष्ट्रीय महत्व प्राप्त कर चुका है। यह सस्था ७ साल पहले सरकार और जनता के समर्थन से प्रारम्भ की गई थी और यह भारत म खपने और बनने वाली चीजो के नाप, किस्म और काम के प्रमाप निर्धारित करती है। सस्था को केन्द्रीय सरकार सहायता देती है। इसके अलावा राज्य सरकारें, औद्योगिक एव व्यापारिक सस्थाएँ, कारखाने, औद्योगिकशालाएँ, नगरपालिकाएँ और निगम आदि भी सस्था के सदस्य है तथा इसके लिए चन्दा देते है। इस काम की लोकप्रियता और महत्त्व इसी बात से प्रकट होता है कि अब कारखानो के मालिक अपनी चीजो के प्रमाप निर्धारित करने के लिए स्वय ही माँग करने लगे है।

भारतीय प्रमाप सस्था के विकास मे सबसे महत्त्वपूर्ण कदम सन् १९५२ का भारतीय प्रमाप अधिनियम है। इस अधिनियम के बन जाने से प्रमाप सस्था के अधिकार बढ गये है। अब सस्था को प्रमाप चिन्ह देने और कम्पनियो को भारतीय प्रमापो के अनुसार माल तैयार करने के लाइसेन्स देने का अधिकार मिल गया है। इससे उचित किस्म का माल निर्माण करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा तथा सस्ते और घटिया माल के मुकाबिले का डर कम हो जायगा। केन्द्रीय सरकार की यह नीति है कि जहाँ

तक हो, नियत प्रमाप की वस्तुएँ ही खरीदी जाएँ। ज्यों-ज्यों उपभोक्ता प्रमाप वाली वस्तुओं पर भरोसा करेंगे, त्यों-त्यों औद्योगिक विकास की गति भी तीव्र होती जायगी। हमारे जैसे निर्धन देश में तो कच्चे माल की बचत का महत्व युद्ध और शान्ति-काल दोनों में एकसा है।

(६) भारतीय उत्पादकता आन्दोलन—

फरवरी सन् १९५८ में एक स्वायत्त संस्था के रूप में भारत में राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद की स्थापना की गयी थी, जिसका काम उत्पादकता आन्दोलन चलाना है। इस उत्पादकता आन्दोलन का आधार नीचे लिखे पाँच सिद्धान्त हैं :—

(१) उत्पादकता आन्दोलन का उद्देश्य उत्पादन बढ़ाना और सुधरी उत्पादन विधियों द्वारा माल की किस्म उन्नत करना है। इसका लक्ष्य मानव, मशीनों, माल, बिजली और पूँजी के उपलब्ध साधनों का कुशल तथा उपयुक्त प्रयोग करना, जनता के रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना और मजदूरों की काम करने तथा कल्याण की स्थितियों में सुधार करना है। ऐसा करते समय इन परिवर्तनों के सामाजिक परिणामों का भी ख्याल रखा जाता है।

(२) निरन्तर विकासशील अर्थ-व्यवस्था में उत्पादकता बढ़ने का अर्थ होगा है कि अन्त. उद्योगों का विकास होकर इसमें रोजगार बढ़ने में सहायता मिलेगी।

(३) उत्पादकता बढ़ने से होने वाले फायदे को समुचित रूप में मालिक, मजदूर और उपभोक्ताओं में वितरित किया जाना चाहिए और इसका परिणाम यह होना चाहिए कि मयन्न, मशीनों और उपकरणों का विस्तार तथा नवीकरण हो।

(४) राष्ट्र के सभी कार्यों में उत्पादकता में समान रूप से सुधार किये जायें। उद्योगों के क्षेत्र में यह आन्दोलन सरकारी तथा गैर सरकारी क्षेत्र के विशाल, मध्यमवर्गीय, लघु उद्योगों तथा हल्के उद्योगों में किया जायगा।

(५) मिल मालिकों तथा श्रमिकों के पूरे-पूरे सहयोग के बिना, उत्पादकता बढ़ायी नहीं जा सकती।

STANDARD QUESTIONS

1 What steps have been taken by the Government of India for the Rationalisation of Indian Industries ?

2 Write an essay on "State & Rationalisation"

— —

अध्याय ५

औद्योगिक उत्पादकता आन्दोलन

(Industrial Productivity Movement)

प्रारम्भिक—

उत्पादकता आन्दोलन से आशय—

किसी वस्तु के उत्पादन मे श्रम पूँजी, भूमि और सगठन चारो साधनो का सहयोग होता है। इनमे से किसी एक साधन का उत्पत्ति मे जो अनुपातिक भाग रहता हो उसे ही उस साधन की 'उत्पादकता' कहा जाता है। **सबसे अधिक रुचि श्रम के सम्बन्ध मे ली जाती है, अत. 'उत्पादकता' शब्द का अभिप्राय प्राय. श्रम के सापेक्षिक सहयोग से लगाया जाता है।** श्रम की उत्पादकता को प्रति व्यक्ति या प्रति घण्टा के रूप मे व्यक्त किया जाता है। इस परिमाण की लोकप्रियता का आधार यह तथ्य है कि श्रम मे बचत होने का लागत, मूल्य, लाभ, मजदूरी और यहाँ तक कि राष्ट्र की सामाजिक सुरक्षा तथा जीवन-स्तर पर भी प्रभाव पडता है।

लेकिन उत्पादकता को केवल श्रम के दृष्टिकोण से मापना गलत परिणाम प्रस्तुत करेगा, क्योकि श्रम तो उत्पादन के कई साधनों मे से एक है। वास्तव मे उत्पादकता *का आशय सब साधनो के सम्मिलित प्रयास से है और उत्पादकता की वृद्धि के* लिये प्रत्येक क्षेत्र मे प्रत्येक प्रकार के अप व्यय पर रोक लगाना और उपलब्ध श्रम, यन्त्र, सामग्री, पूँजी, शक्ति, भूमि इत्यादि का अधिकतम उपयोग करना आवश्यक है।

श्रमिको मे 'उत्पादकता' शब्द का एक गलत एवं भ्रमपूर्ण अर्थ प्रचलित है, जिससे प्रभावित होकर वे उत्पादकता आन्दोलन के विरोध मे खडे हो जाते हैं। 'उत्पादकता' से वे अपने लिये अधिक कार्य-भार एव घोर परिश्रम का आशय लेते है, जिसका उद्देश्य मिल मालिको के लाभ मे वृद्धि करना है। श्रमिको को अपने मन से इस भ्रान्तिपूर्ण धारणा को निकाल देना चाहिए और उन्हे समझना चाहिए कि उत्पादकता बढाने *की टेक्नीक का उद्देश्य अधिक कुशलता से कार्य का सचालन कराना है,* जिससे उन्हे कम थकावट हो, उनके काम की दशाओ मे सुधार हो और उनकी कार्य-विधि सरल हो जाय। यह सोचना भी गलत है कि उत्पादकता आन्दोलन से केवल प्रबन्धको को ही लाभ होना है। वास्तव मे इसका लाभ श्रमिको, उपभोक्ताओ, सेवायोजको, सरकार व साधारण समाज सभी को होता है।

भारत के लिये उत्पादकता आन्दोलन का महत्त्व—

(i) उत्पादकता सम्बन्धी सूचनाओं को देश की आर्थिक और औद्योगिक सफलताओं का मापक यंत्र (Barometer) माना जाता है। इसकी सहायता से आर्थिक परिवर्तनों का अनुमान लगाया जा सकता है। (ii) योजनाकरण के दृष्टिकोण से उत्पादकता सम्बन्धी आँकड़े बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते है, क्योंकि इनके आधार पर एक ही उद्योग की विभिन्न इकाइयों में एवं एक देश की औद्योगिक इकाइयों की दूसरे देश की औद्योगिक इकाइयों से तुलना की जा सकती है तथा सम्पूर्ण उद्योग की प्रगति का मूल्यांकन किया जा सकता है। (iii) उत्पादकता सम्बन्धी अध्ययन के आधार पर सरकार को यह निश्चित करने में सुविधा होती है कि अमुक उद्योग को किस सीमा तक सरक्षण दिया जाय। (iv) करारोपण व प्रशुल्क नीतियों के सचालन एवं सामाजिक बीमे व श्रम कल्याण की योजनाओं के विस्तार में भी सहायता मिलती है। (v) टेक्नोलौजीकल परिवर्तनों का उत्पादन और रोजगार पर क्या प्रभाव पड़ता है और विवेकीकरण एवं वैज्ञानिक प्रबन्ध की योजनाओं ने उत्पादन की वृद्धि में किस सीमा तक योग दिया है इसका निश्चय करने में भी बड़ी सुविधा हो जाती है। (vi) उत्पादकता सम्बन्धी आँकड़ो के आधार पर ही दुर्बल एवं दोषयुक्त अर्थ व्यवस्था के पुनर्वास की योजना बनाई जाती है। सक्षेप में, उत्पादकता निर्देशांक अनेक उपयोगों में लिये जाते हैं और राजनीतिज्ञ, व्यापारियों, उद्योगपतियों व श्रमिक नेताओं की नीतियों के निर्धारण में बड़ी सहायता देते हैं। भारत में उत्पादकता आन्दोलन का विशेष महत्त्व है, जो इस प्रकार बताया जा सकता है :—

(१) विदेशी उत्पादकों से सफल प्रतियोगिता करने के लिये—उत्पादकता को भावी अर्थ-व्यवस्था का एक महान आधार बताया जाता है, भारतीय अर्थ-व्यवस्था में उत्पादकता की वृद्धि का एक विशेष महत्त्व है, क्योंकि वर्तमान प्रतिस्पर्धात्मक विश्व अर्थ-व्यवस्था में भारतीय उद्योगों के लिये उत्पादन की पुरानी टक्नीक के सहारे टिकना कठिन है। देश के भीतर ही नहीं, वरन् देश के बाहर भी बाजारों का विकास करना है। यह तभी सभव है जब उत्पादकता में वृद्धि हो, जिससे उत्पादकता की लागत कम होकर प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य रखे जा सकें।

(२) विद्यमान कारखानों की क्षमता बढ़ाने के लिये—भारत में औद्योगीकरण बहुत कम हो पाया है। परिणामत उसे अपनी पूँजीगत आवश्यकताओं और साज-सामान के लिये विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। नवीन औद्योगिक विकास के लिये उपलब्ध पूँजी की मात्रा बहुत अपर्याप्त है, अत. नए कारखाने स्थापित करना सुगम नहीं है। ऐसी दशा में विद्यमान कारखानों की उत्पादन क्षमता में वृद्धि करने का महत्त्व स्पष्ट है। यह आवश्यक है कि उत्पादन की नई टक्नीक एवं विधियों का प्रयोग करके सभी साज सामान का, मानव श्रम का, भूमि का अधिक से अधिक लाभ उठाया जाय, जिससे नये निर्माण की आवश्यकता न्यूनतम रखी जा सके।

(३) रहन-सहन का स्तर ऊँचा करने के लिये—उत्पादन में वृद्धि करके

हर प्रकार का उत्पादन साज-सामान अधिक द्रुत गति से बनाया जा सकता है, अतः रहन-सहन के स्तर मे भावी प्रगतियो की बुनियाद डाली जा सकेगी। विद्यमान साधनो से ही अधिक वस्तुयें उत्पन्न करने से उत्पादन की लागत को कम किया जा सकता है और वस्तुएं पहले से कम कीमत पर बेची जा सकेंगी। इसका लाभ उपभोक्ता को तो मिलेगा ही, साथ मे मजदूरो के पारिश्रमिक मे थोडी वृद्धि करने का अवसर भी मिलता है।

नवम्बर सन् १९५७ मे उद्योग एव व्यापार मत्रालय द्वारा आयोजित एक सेमिनार का उद्घाटन करते हुए केन्द्रीय उद्योग मत्री ने इस बात पर बल दिया था कि उत्पादन की प्रति इकाई पर श्रमिक द्वारा व्यय की जाने वाली शक्ति मे बचत करके उत्पादन करना सभव है, जिसका लाभ श्रमिक को अतिरिक्त मजदूरी के रूप मे मिलेगा। उत्पादकता मे वृद्धि होने से नये कारखानो की स्थापना के लिये अधिक पूंजी मिलना सरल होता है और अन्त मे रोजगार की वृद्धि भी होती है।

'औद्योगिक उत्पादकता' पर प्रभाव डालने वाले घटक—

यो तो औद्योगिक उत्पादकता पर प्रभाव डालने वाले विविध प्रकार के अनेक घटक है, तथापि उन्हे टैक्नोलोजीकल, वित्तीय, प्राकृतिक, सामाजिक, प्राबधिक एव राजकीय वर्गों मे इस प्रकार विभक्त किया जा सकता है :—

(१) टैक्नोलोजीकल घटक—टैक्नोलोजीकल प्रगति का औद्योगिक उत्पादन की तीव्र वृद्धि मे एक महत्त्वपूर्ण भाग रहा है। "भाप शक्ति और यान्त्रिक आविष्कारो का उत्पादन की क्रियाओ मे प्रयोग करने से औद्योगीकरण की गति बहुत ही तेज हो गई है और विज्ञान एव टैक्नोलोजी के क्षेत्र मे विस्तृत एव उपयोगी सभावनाये दिखाई पड़ने लगी हैं।" औद्योगिक प्रगति पर जिन टैक्नोलोजीकल परिवर्तनो का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है वे निम्न है :—(i) यात्रिक शक्ति का प्रयोग, (ii) विशिष्ट एव स्वचालित मशीनो का प्रचलन, (iii) सयत्र एव मशीनो का उच्च कोटि का समन्वय, (iv) उत्पादन एव कार्य दोनो का विशेषोपयोजन, और (v) उत्पादक प्रक्रियाओ का समन्वय।

(२) वित्तीय घटक—नवीन टेक्नीकल सुधारो को प्रचलित करने के लिये पर्याप्त वित्तीय साधन उपलब्ध होना अति आवश्यक होना है। टेक्नीकल अनुसधानो पर, मजदूरो को उन्नत सुख, सुविधाये प्रदान करने, कच्चे और पक्के माल का स्टाक रखने, इमारतो व साज-सामान का आधुनिकीकरण करने एव प्लाट व मशीनरी को कार्य योग्य दशा मे बनाये रखने के लिये अपार धन-राशि व्यय करनी पड़ती है। अतः जिन देशो मे पूजी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध है, वहा उत्पादकता आन्दोलन ने बडी उन्नति कर ली है।

(३) प्राकृतिक घटक—प्राकृतिक घटको मे भौतिक, भौगोलिक एव जलवायु सम्बन्धी अन्तरो का समावेश किया जाता है, जोकि औद्योगिक सस्थाओ की उत्पादकता पर एक व्यापक प्रभाव डालते हैं। उदाहरण के लिये (i) कोयला खानो की गहराई,

(ii) सम्बन्धित क्षेत्रो की रचना, (iii) कोयले की किस्म, (iv) कोयले की तहो की मोटाई का कोयला उद्योग की उत्पादकता पर गहरा प्रभाव पडता है। औद्योगिक श्रमिको की कार्यकुशलता एव उत्पादकता पर जलवायु का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, भूमध्यरेखीय एव उष्ण जलवायु मे श्रमिक काम करते हुए जल्दी थक जाते है।

(४) सामाजिक घटक—सामाजिक रहन-सहन एव दृष्टिकोण का औद्योगिक प्रणाली के सुचारु सचालन से प्राय. उचित प्रकार समायोजन नही होने पाता। नगरो मे स्थित उद्योगो मे भूमि-रहित कृषक या पूरा काम न पाने वाले किसान या शहरो मे बेकार निवासी ही आकर्षित होते है और उनसे यह आशा की जाती है कि वे कारखाने के अनुशासन को मानेंगे। यह ग्रामीण जनो के लिये, जोकि स्वच्छन्द वातावरण मे जन्मे और बढे हैं तथा अनेक रूढियो व प्रथाओ मे जकडे रहते हैं, एक कठिन परीक्षा सिद्ध होती है। बहुत से सेवायोजको का अपने कर्मचारियो के प्रति सहानुभूति का रुख नही होता, वे उनकी स्वतन्त्र समिति को महत्त्व नही देते। इन सब बातो का औद्योगिक उत्पादकता पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है।

'औद्योगिक उत्पादकता' पर प्रभाव डालने वाले ६ घटक

१ टेक्नोलोजीकल घटक।
२ वित्तीय घटक।
३ प्राकृतिक घटक।
४ सामाजिक घटक।
५. प्रबन्ध सम्बन्धी घटक।
६ सरकारी नीतियाँ।

(५) प्रबन्ध सम्बन्धी घटक—यह सत्य ही कहा जाता है कि औद्योगिक विकास के इतिहास मे सजग, साहसी, दूरदर्शी प्रबन्ध कला मे चतुर, कल्पना शक्ति से ओत-प्रोत प्रबन्धको के लिए इतनी अधिक आवश्यकता पहले कभी भी अनुभव नही हुई जितनी कि आज अनुभव की जाती है, क्योकि औद्योगिक इकाइयो की सफलता एव असफलता बहुत कुछ उन लोगो पर निर्भर होती है जोकि उनका सचालन करते हैं। यह आवश्यक है कि प्रबन्धको मे सगठन की अपूर्व क्षमता हो, निर्णय शक्ति एव जोखिम उठाने की तत्परता हो, अपने अधीन कर्मचारियो एव मजदूरो के साथ उनका व्यवहार सम्मानजनक व सहानुभूतिपूर्ण हो। इन गुणो के अभाव मे औद्योगिक उत्पादकता पर बुरा असर पडता है। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि एक कुशल टेक्नीशियन का कुशल मैनेजर होना भी आवश्यक नही है, क्योकि प्रबन्ध विज्ञान का क्षेत्र टेक्नोलाजी के क्षेत्र से बिल्कुल भिन्न है।

(६) सरकारी नीतियाँ—अपनी कर-नीति, प्रशुल्क, वित्त एव प्रशासन सम्बन्धी नीतियो के द्वारा सरकार औद्योगिक उत्पादकता पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाल सकती है। जैसे, विशाल कारखानो एव मशीनो की स्थापना के लिए कर सम्बन्धी छूटे दी जा सकती है। इसके विपरीत, अत्यधिक सरक्षण देने की नीति के कारण घरेलू बाजार मे एकाधिकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं तथा यह भी सम्भव है कि सरकारी सहायता के आधार पर अकुशल एव अलाभिक इकाइयो का पालन भी होता रहे। दोनो ही दशाओ मे औद्योगिक उत्पादकता पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। बड़े औद्योगिक संयोगो की उत्पत्ति पर रोक लगा कर सरकार ऐसी दशायें उत्पन्न कर सकती है जिनमे प्रतिस्पर्धा करने वाली विभिन्न इकाइयाँ अपनी उत्पादकता की वृद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती है। सरकार की प्रशासन एव वित्त-नीतियाँ, विनियोग, बचत एव एक उद्योग से दूसरे उद्योग मे पूँजी के प्रवाह को उत्साहित या निरुत्साहित कर सकती है।

भारत मे उत्पादकता वृद्धि-आन्दोलन की प्रगति—

प्रथम पच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत श्रम की उत्पादकता बढाने पर काफी ध्यान दिया गया। उन कारणो की वैज्ञानिक जाँच कराई गई, जिनके लिए सेवायोजक और श्रमिको का आरोप एव प्रत्यारोप था कि वे उत्पादकता को घटाते हैं। उत्पादकता की वृद्धि के उपायो पर विचार करने के लिए अध्ययन गोष्ठियो का आयोजन भी किया गया और 'टैक्नीकल सहायता कार्यक्रम' के अन्तर्गत विदेशो से टैक्नीकल विशेषज्ञो को भी आमन्त्रित किया गया तथा अपने शिष्ट मण्डल भी विदेशो मे अध्ययन के लिये भेजे गये।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सगठन के प्रथम शिष्टमण्डल का आगमन भारत मे दिसम्बर सन् १९५२ मे हुआ। इसमे प्रबन्ध एव औद्योगिक इञ्जीनियरिङ्ग से सम्बन्धित चार विशेषज्ञ सम्मिलित थे। इनकी सहायता के लिए हैडक्वार्टर स्टाफ के अनेक कर्मचारी भी साथ आये थे। सरकार, उद्योगपतियो एव श्रमिक सघो के परामर्श पर यह दल दो भागो मे बँट गया और उन्होने कलकत्ता मे औद्योगिक इञ्जीनियरिङ्ग तथा बम्बई व अहमदाबाद मे सूती वस्त्र मिल उद्योग के सम्बन्ध मे अनेक प्रदर्शनो का आयोजन किया। कलकत्ते मे पाँच फर्में (जिनमे एक सरकारी कारखाना भी शामिल था) चुनी गई और दल ने 'मैथड स्टडी' की टेक्नीक का अनुसरण करते हुए यह प्रदर्शित किया कि सरल एव द्रुतगामी ढगो का उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है। यह देखा गया कि केवल उत्पादकता सम्बन्धी रिकार्ड उचित रूप से रखकर ही औद्योगिक उत्पादकता मे पर्याप्त सुधार किया जा सकता है। अधिकतर सुझाव कार्य के श्रेष्ठ सगठन, सामग्री की मितव्ययिता, कार्य के स्थान और कार्यशील पूँजी से सम्बन्धित थे। बम्बई व अहमदाबाद मे दल ने अपना कार्य दो मिलो मे आरम्भ किया। अधिकांश कार्य उन्नत मशीनो के प्रयोग, उन्नत किस्म, घटे हुए कार्यभार और थकावट तथा सामग्री की बचत से सम्बन्धित थे।

इस मिशन के कार्य का मुख्य परिणाम यह हुआ कि सरकार ने दिसम्बर सन् १९५३ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन से यह प्रार्थना करने का निश्चय कर लिया कि वह सन् १९५४ में राष्ट्रीय उत्पादकता केन्द्र की स्थापना करने में टेक्नीकल सहायता दे। सन् १९५४ में एक दूसरा मिशन भारत आया और अनेक कारखानों में अपना कार्य फैलाया।

मार्च सन् १९५७ में एक दल डा० विक्रम साराभाई की अध्यक्षता में जापान की उत्पादकता बढ़ाने की प्रचलित विधियों का गहन अध्ययन करने के लिए भेजा गया। इस दल ने लौटकर अपनी विस्तृत रिपोर्ट सरकार को दी और उसने इस बात पर बल दिया कि द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में उत्पादन सम्बन्धी जो लक्ष्य निर्धारित किए गये हैं उनकी पूर्ति में विद्यमान उत्पादकता में वृद्धि करने के लिए उत्पादन विधियों में सुधार करने तथा श्रमिक वर्ग में अधिक और अच्छा माल पैदा करने की भावना जागृत करना आवश्यक है। दल ने जापान की भाँति एक 'राष्ट्रीय उत्पादकता-वृद्धि काउन्सिल' (National Productivity Council) की स्थापना करने का सुझाव दिया, जिसके निम्न काम हों—(१) उत्पादकता की वृद्धि के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा करना, (२) राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय साधनों से वित्तीय सहायता प्राप्त करना, (३) विशिष्ट टेक्नीकल सहायता प्रदान करना एवं (४) क्षेत्रीय काउन्सिलों की स्थापना करना।

उत्पादकता वृद्धि से सम्बन्धित सेमिनार—

भारतीय मण्डल की सिफारिशों को लागू करने की दिशा में पहला कदम सन् १९५७ में उठाया गया, जबकि केन्द्रीय उद्योग एवं वाणिज्य मन्त्रालय ने उत्पादकता बढ़ाने के सम्बन्ध में एक सेमिनार का आयोजन किया, जिसमें राष्ट्रीय उत्पादकता आन्दोलन के सिद्धान्तों और कार्यक्रम का अनुमोदन किया गया। सेमिनार द्वारा यह निश्चय किया गया कि कार्य का अत्यधिक केन्द्रीयकरण न किया जाय और राष्ट्रीय एवं स्थानीय काउन्सिलों का कार्य-क्षेत्र सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था पर विस्तृत होना चाहिये अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिगत साधन से और उत्पादन की प्रत्येक इकाई से उनका सम्पर्क रहे। काउन्सिलें स्वतन्त्र रूप से सचालित हों। उत्पादकता आन्दोलन को बढ़ावा देने के सम्बन्ध में सेमिनार ने निम्नलिखित सिद्धान्त निश्चित किये :—

(१) उद्देश्य यह होना चाहिए कि सुधरी हुई टेक्नीक के प्रयोग द्वारा उत्पादन बढ़ाया जाय और किस्म में सुधार किया जाय, लोगों का जीवन-स्तर ऊंचा किया जाय, श्रमिकों के काम करने की दशाओं में सुधार किया जाय, कल्याण कार्यों में वृद्धि की जाय तथा इन परिवर्तनों के सामाजिक महत्त्व पर भी ध्यान दिया जाय। आन्दोलन का उद्देश्य श्रमिकों के कार्य-भार में वृद्धि करके उन पर अधिक बोझ डालना नहीं है।

(२) एक वृद्धिशील अर्थ-व्यवस्था में उत्पादकता की वृद्धि उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित कर अन्तिमतः रोजगार वृद्धि का कारण बनेगी।

(३) उत्पादकता की वृद्धि से जो लाभ हो उसका पूँजी, श्रम एव उपभोक्ता के मध्य न्यायोचित विभाजन होना चाहिये ।

(४) उत्पादक आन्दोलन के क्षेत्र मे बडे, छोटे और हल्के (सावजनिक क्षेत्र मे अथवा प्राइवेट) सभी उद्योगो को सम्मिलित किया जाय ।

(५) उत्पादकता की वृद्धि के लिये उपयुक्त वातावरण पैदा करने के हेतु सयुक्त विचार विमर्श, प्रबन्ध मे श्रमिको के भाग और प्रत्येक उद्योग एव प्रत्येक इकाई मे पारस्परिक सहयोग को प्रोत्साहन देना चाहिये ।

राष्ट्रीय एवं स्थानीय उत्पादकता काउन्सिलें—

राष्ट्रीय उत्पादकता काउन्सिल की स्थापना सोसायटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट के अन्तर्गत सन् १९५८ मे हुई । काउन्सिल मे ११ प्रतिनिधि हैं, जो कि सरकारी विभागो, सेवायोजको के सघो तथा श्रमसघो से लिये गये । उपभोक्ताओ, टैक्नीशियनों, लघु उद्योगो आदि के प्रतिनिधियो को भी सम्मिलित कर लिया गया है । कुल सदस्य सख्या ६० है । यूनियन उद्योग मत्री इस काउन्सिल के अध्यक्ष हैं । काउन्सिल की एक प्रशासन समिति भी है, जिसमे २४ सदस्य हैं, जिनका निर्वाचन काउन्सिल करती है । इस समिति के चेयरमैन डाक्टर लोकनाथन हैं ।

सन् १९५८ ५९ की अवधि मे क्षेत्रिक, प्रान्तीय एव स्थानीय आधार पर १५ उत्पादकता काउन्सिल सगठित करने का प्रस्ताव था । स्थानीय काउन्सिलों का सगठन राष्ट्रीय काउन्सिल के समान ही किया जाना था । प्रान्तीय सरकार का प्रतिनिधि इन काउन्सिलो मे रखा गया और इन काउन्सिलो को राष्ट्रीय काउन्सिल मे प्रतिनिधित्व दिया गया है ।

आठ सूत्री-कार्यक्रम——

अपनी पहली बैठक मे राष्ट्रीय काउन्सिल ने निम्नलिखित आठ सूत्री कार्यक्रम स्वीकार किया है —

(१) उत्पादकता से सम्बन्धित सूचना का प्रसार करके उत्पादकता बढाने की चेतना को बढावा देना ।

(२) प्रबन्ध के सभी स्तरो पर उत्पादकता की टैक्नीक व प्रक्रियाओं की ट्रेनिंग देना ।

(३) जब स्थानीय काउन्सिलें आवश्यक समझें तब विशेषज्ञो की सेवायें उपलब्ध करना ।

(४) कारखानो मे पारस्परिक निरीक्षण का प्रोत्साहन देना, जिससे सामान्य समस्याओं पर विचारो का आदान प्रदान होने लगे ।

(५) उत्पादकता के क्षेत्र मे विस्तृत एव गहन अनुसन्धान कराना ।

(६) प्रगतिशील देशो मे उत्पादकता को बढाने के लिये अपनाये गये साधनो का अध्ययन करने के हेतु अध्ययन-मण्डल भेजना ।

(७) विदेशो मे ट्रेनिंग प्राप्त करने की व्यवस्था करना।

(८) विदेशी टेक्नीशियनो एव विशेषज्ञो को निमन्त्रित करना।

अप्रैल सन् १९५८ मे राष्ट्रीय कार्उसल ने एक 'प्रोडक्टिविटी सर्वे कमेटी' का सगठन किया, जिसका उद्देश्य टैकनीकल कर्मचारियो की उपलब्धता और भावी आवश्यकता के सम्बन्ध मे जांच-पड़ताल करना था। फैक्टरियो का चीफ एडवाइजर इस कमेटी का चेयरमेन है। सर्वे के क्षेत्र मे वैज्ञानिक प्रबन्ध, मानवीय सम्बन्ध, औद्योगिक इन्जीनियरिंग आदि को सम्मिलित किया गया। जहाँ तक प्रबन्ध का प्रश्न है, सभी श्रेणियो के प्रबन्धको को प्रोडक्टिविटी की टेकनीक का जो प्रशिक्षण दिया जायगा उसमे वैज्ञानिक प्रबन्ध, मानवीय सम्बन्ध, कार्य-मूल्याकन, भृत्ति-प्रेरणायें, औद्योगिक डिजायन, विधि विश्लेषण, इत्यादि भी शामिल हैं। विभिन्न केन्द्रो मे विशेषज्ञो की रीजनल प्रोडक्टिविटी यूनिट स्थापित की जायेगी, जिनकी सेवायें लोकल प्रोडक्टिविटी काउन्सिलो के द्वारा प्राप्त की जा सकेंगी। बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, कानपुर और दिल्ली मे ऐसी यूनिटें कायम की गई हैं।

सूचना के प्रसार के लिए एक टेक्नीकल इन्क्वाइरी सर्विस सगठित की जायेगी, जो कि उद्योग द्वारा पूछे गये टेक्नीकल प्रश्नो का उत्तर देगी तथा रिपोर्ट, पुस्तिकायें, व्याख्यान, सेमिनार प्रदर्शनियो के सगठन आदि के द्वारा उत्पादकता सम्बन्धी जानकारी का प्रसार करेगी।

राष्ट्रीय काउन्सिल ने आठ सदस्यो का एक दल पश्चिमी जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका के कारखानो का अध्ययन करने के लिये सितम्बर सन् १९५८ मे भेजा था। ऐसे ही अनेक दल अभी और भेजे जाने को हैं।

उत्पादकता बढ़ाने के कार्यक्रम मे भाग लेने वाली एजेन्सियाँ—

निम्न सस्थायें उत्पादकता आन्दोलन के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने मे सहायता कर रही हैं—

(१) दी इण्डियन स्टेटिस्टीकल इन्स्टीट्यूट कलकत्ता ने कुछ वर्ष पहले भारतीय उद्योगो मे क्वालिटी कन्ट्रोल की टेकनीक को प्रोत्साहन देने के लिये सेमिनार आयोजित किये और बम्बई व बगलोर मे इसने क्वालिटी कन्ट्रोल यूनिटें स्थापित की हैं। दी अहमदाबाद टैक्सटाइल इन्डस्ट्रीज रिसर्च एसोसियेशन ने भी टैक्सटाइल इण्डस्ट्री मे क्वालिटी कन्ट्रोल की टेकनीक का विस्तार करने के लिये विस्तृत कार्यक्रम बनाया है। हाल मे ही इण्डिया टैक्सटाइल रिसर्च एसासियेशन ने भी ऐसा ही कार्यक्रम आरम्भ किया है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन ने भारत को विशेषज्ञ शिक्षको की सेवायें सुलभ की हैं, जिन्होने भारत के विभिन्न केन्द्रो मे सुपरवाइजरो के लिये कई कोर्स सचालित किये हैं।

(३) भारत सरकार ने एक एडमिनिस्ट्रेटिव स्टाफ कालेज की स्थापना की

है और मैनेजमेंट एसोसियेशनो का सगठन कराया है। कई विश्वविद्यालयो ने भी बिजनेस एडमिनिस्ट्रेशन के कोर्स अपने यहाँ प्रारम्भ कर दिये हैं।

(४) इण्डस्ट्रियल इन्जीनियरिंग के क्षेत्र मे कुछ प्राईवेट परामर्शदाता फर्में भी कार्य कर रही है। दी इन्डीयन इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नोलोजी खडगपुर मे भी इण्डस्ट्रियल इन्जीनियरिंग का कोर्स चलाया जाता है। बम्बई का प्रोडक्टिविटी सेंटर भी इस दिशा मे काफी प्रयत्नशील है।

(५) भारत सरकार द्वारा स्थापित स्माल इन्डस्ट्रीज इन्स्टीट्यूट ट्रेनिंग प्रदान करते हैं और टेक्नीक मे सुधार कराने का प्रयत्न करते है।

(६) नेशनल डेवलपमेण्ट काउन्सिल के अन्तर्गत प्लान प्रोजेक्ट कमेटी व प्लानिंग की इण्डस्ट्रियल मैनेजमट रिसर्च यूनिट और अन्य कई औद्योगिक अनुसधान एसोसियेशन भी अनगिनती औद्योगिक इकाइया व प्रोजेक्टो के अधिक उन्नत सचालक सचालन की विधियो के सम्बन्ध मे छानबीन कर रहे है

(७) अमेरिका का टेक्नीकल कोआपरेटिव मिशन भी प्रोडक्टिविटी आन्दोलन म बहुत कुछ सहयोग दे रहा है, जैसे मैनेजमेंट, लाइब्रेरियो के लिये बहुमूल्य पुस्तकें भट देना, विशेषज्ञो के लेक्चर आयोजित करना इत्यादि।

उपसहार—

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हैं कि भारत मे उत्पादकता आन्दोलन के प्रति लोगो का ध्यान अधिकाधिक आकर्षित होता जा रहा है, लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर अधिकाश कार्य का समन्वय नही हो पाया है। इस बात की बडी आवश्यकता है कि एक ऐसा पत्र प्रकाशित किया जाया करे जिसमे विभिन्न क्षेत्रो मे हुई प्रगति का विस्तृत ब्यौरा हो। इससे राष्ट्रीय स्तर पर उत्पादकता आन्दोलन का सही मूल्याकन करने मे बडी सहायता मिलेगी। राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद को चाहिए कि वह विभिन्न एजेन्सिया के कार्य म उचित समन्वय स्थापित करे और उन्हे उचित सहायता द।

STANDARD QUESTIONS

(1) Define Productivity Discuss the importance of Productivity Movement in India

(2) Briefly discuss the factor which affect productivity.

(3) What steps have been taken by the Government of India to *increase productivity ?*

(4) Write an essay on ' Productivity Movement in India "

अध्याय ६

वैज्ञानिक प्रबन्ध का अर्थ एवं उसके सिद्धान्त

(Meaning & Principles of Scientific Management)

वैज्ञानिक प्रबन्ध का अर्थ —

श्रमिको की कार्यक्षमता मे वृद्धि करने के उद्देश्य से वैज्ञानिक अथवा कारण परम्परा पर आधारित कोई भी क्रिया 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' की परिभाषा के अन्तर्गत सम्मिलित की जा सकती है। उदाहरण के लिए, यदि बिना किसी नियम के ऊटपटाग ढग से श्रमिको की भरती की जाय, उनकी शारीरिक एव मानसिक क्षमता का विचार किए बिना कोई भी कार्य उन्हे सौंप दिया जाय, तो ऐसे श्रमिको से अधिक उत्पादन की आशा नही की जा सकती, किन्तु यदि वैज्ञानिक सिद्धान्तो के आधार पर उनकी भर्ती की जाय, जिनकी कार्य मे रुचि हो उन्ही को प्रवेश दिया जाय। श्रमिको का चुनाव व्यक्तिगत वार्तालाप अथवा योग्यता विषयक परीक्षा के उपरान्त किया जाय, मानसिक क्षमता के अनुसार उन्हे कार्य सोपा जाय, कार्य कराने के पूर्व औद्योगिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय तो यह प्रणाली 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' की प्रणाली कहलाएगी। इसी प्रकार श्रमिको की कार्यक्षमता बढाने के लिये वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा कच्चे माल अथवा मशीनो का चुनाव करना भी 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' ही कहलायगा।

कुछ प्रसिद्ध लेखकों द्वारा दी गई वैज्ञानिक प्रबन्ध की परिभाषाएं —

विभिन्न लेखको ने वैज्ञानिक प्रबन्ध की परिभाषा विभिन्न प्रकार से की है। प्रमुख परिभाषायें इस प्रकार हैं :—

(I) एच० एस० पर्सन (H S Person) के अनुसार "वैज्ञानिक प्रबन्ध से तात्पर्य ऐसे सगठन का है, जो कि वैज्ञानिक अन्वेषण एवं विश्लेषण से निकाले हुए सिद्धान्तो अथवा प्रनियमो पर अवलम्बित हो ....।"

(II) हेनरी पी० केन्डाल (H.P. Kendall) के अनुसार प्रबन्ध के निम्नलिखित तीन प्रकारो मे अन्तर है और इन तीनो ही प्रकारो मे कार्यक्षमता पर विभिन्न प्रभाव होते है—(अ) अव्यवस्थित प्रबन्ध, (आ) व्यवस्थित प्रबन्ध, और (इ) वैज्ञानिक प्रबन्ध।

प्रबन्ध का यह वर्गीकरण 'कुशलता' के आधार पर है। 'अव्यवस्थित प्रबन्ध' मे काम करने की पद्धति दोषपूर्ण होती है। 'व्यवस्थित प्रबन्ध' मे अधिक दोष नही

होना, किन्तु सारी क्रियायें व्यवस्थित ढंग से सम्पादित की जाती हैं। व्यवस्थित प्रबंध में पहली पद्धति की भांति श्रमिकों एवं कर्मचारियों में शिथिलता नहीं रहती। हां, यह अवश्य है कि इस पद्धति में भी नियोजन एवं नियन्त्रण का केन्द्रीयकरण नहीं होता। इसमें श्रमिकों की कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। सेवायोजक भी यह जानने का प्रयत्न नहीं करते कि श्रमजीवी पूर्ण कार्यक्षमता के साथ कार्य कर रहे हैं अथवा वे उस कार्य के लिए कार्यक्षम भी हैं या नहीं। तीसरी पद्धति 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' में कोई भी दोष नहीं होता और प्रत्येक क्रिया एक विशेष युक्ति से विवेक द्वारा की जाती है। इससे स्पष्ट है कि 'वैज्ञानिक प्रबन्ध', प्रबन्ध की उस पद्धति को कहते हैं जिसमें नियोजन एवं नियन्त्रण का केन्द्रीयकरण हो और श्रमजीवियों की कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए तथा अधिकतम उत्पादन के हेतु विभिन्न क्रियाओं का निरीक्षण किया जाय और प्रयोग के उपरान्त उनमें आवश्यक परिवर्तन किये जायें। उदाहरणार्थ, अधिक घण्टे काम करने से श्रमिक की कार्यक्षमता घटती है। इसी प्रकार प्रत्येक श्रमिक की काम करने की कार्यक्षमता भी भिन्न होती है। अतएव कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए श्रमिकों को उनकी योग्यता एवं प्रकृति के अनुसार ही काम देना चाहिये एवं उसकी प्रवृत्ति के अनुसार ही उन्हें आवश्यक शिक्षा भी देनी चाहिए तथा पारितोषण पद्धति में भी सुधार करना चाहिए।

(III) एफ० डब्लू० टेलर (F. W. Taylor) के शब्दों में, "एक व्यक्ति विशेष से क्या कार्य कराना चाहिए, इस बात को जानने की कला का नाम ही 'प्रबन्ध' है।"

(IV) एक अन्य विद्वान के मतानुसार—'साधारणतया वैज्ञानिक प्रबन्ध से आशय ऐसे प्रबन्ध का है जिसके फलस्वरूप श्रम, पूँजी, मशीन, उत्पादन क्रियाओं एवं कच्चे माल को अधिक से अधिक उपयोगिता मिल सके। यह उत्पादन के कार्य का प्रारम्भ से वस्तु के वितरण तक नियन्त्रण करता है।" इसी विद्वान ने आगे लिखा है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व का विभाजन होता है। जो मनुष्य जिस कार्य के लिए उपयुक्त होता है उसको वही कार्य दिया जाता है।

प्रबन्ध के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास—

गत कुछ वर्षों से औद्योगिक कुशलता को बढ़ाने के लिये 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' (Scientific Management) का बड़ा बोलबाला है। विवेकशील उद्योगपति 'औद्योगिक प्रबन्ध' में विज्ञान' के महत्त्व पर अधिक जोर देते हैं। औद्योगिक प्रबन्ध में वैज्ञानिक विचारधारा का विकास सर्वप्रथम १६वीं शताब्दी के अन्तिम काल में हुआ। इस विचारधारा के प्रवर्तक थे, श्री एफ० डब्लू० टेलर। टेलर महोदय ने अपना जीवन सन् १८७८ में अमेरिकन मिडवेल स्टील कम्पनी में एक सामान्य श्रमजीवी के रूप में आरम्भ किया, किन्तु क्रमशः उन्नति करते-करते ६ वर्ष के उपरान्त, अर्थात् सन् १८८४ में उसी कम्पनी के चीफ इन्जीनियर बन गये। अपने अनुभव से वे इस निर्णय पर पहुँचे कि श्रमिकों की उत्पादन क्षमता बहुत कम है, जिसको बढ़ाने के लिए वैज्ञानिक

पद्धतियो का प्रयोग अनिवार्य है। उन्होने 'समय', 'गति' व 'थकावट' के अध्ययन से सम्बन्धित अनेक प्रयोग किय तथा अपने निष्कर्षों का लेखो के रूप म प्रकाशित कराया। उनके प्रमुख लेख थे—'कार्यानुसार भृत्ति पद्धति', 'शॉप मैनजमन्ट' इत्यादि। सन् १९११ मे उन्होने Principles of Scientific Management शीर्षक निबन्ध प्रकाशित किया, जिसमे सर्वप्रथम 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' शब्द का प्रयोग किया गया। सन् १९११ व १९१२ मे इन निबन्धो ने बडी ख्याति पाई, परन्तु सन् १९१५ मे टेलर की मृत्यु के साथ वैज्ञानिक प्रबन्ध आन्दोलन धीमा पड गया। टेलर की मृत्यु के कुछ वर्ष बाद रूस के अध्यक्ष श्री लेनिन ने इस विज्ञान का अध्ययन किया तथा अनुसरण करने के लिए अप्रेल सन् १९१८ मे एक आदेश दिया—"We must introduce the study and techings of the New Taylor System and its systematic trial and adaptation."

अन्य देशो मे वैज्ञानिक प्रबन्ध की वास्तविक आवश्यकता प्रथम विश्व-युद्ध के बाद तब प्रतीत हुई जब सन् १९२९-३० की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी ने व्यापारियो एव उद्योगपतियो की जडे हिला दी। वैज्ञानिक प्रबन्ध के फिर अनेक मार्गदर्शक हुए, जिन्होने इस पद्धति को प्रोत्साहन दिया। गंट (Gantt), गिलब्रेथ (Gilbreth), एच० एस० पर्सन (H S. Person), एच० इमर्सन (H Emerson), मौरिस कुक (Morris Cooke), एच० पी० कैडाल (H. P Kendall), फैयल (Fayol) इत्यादि विख्यात इन्जीनियरो तथा विद्वानो ने इसमे योगदान दिया। इस नवीन प्रणाली के अनुसार औद्योगिक प्रबन्ध प्राचीन परम्परा के स्थान पर नई वैज्ञानिक विधियो द्वारा होने लगा। अन्य विद्वानो की ही भाँति औद्योगिक प्रबन्ध को भी विज्ञान समझा जाने लगा तथा उसकी विधियो को उचित प्रयोगो द्वारा निर्धारित किया जाने लगा।

वैज्ञानिक प्रबन्ध-आन्दोलन के कारण—

वैज्ञानिक प्रबन्ध सम्बन्धी आन्दोलन के प्रधान कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) तर्क शक्ति मे वृद्धि—कृषि, इन्जीनियरिंग तथा अन्य क्रियाओ मे विज्ञान की आगमन एव निगमन प्रणालियो के उपयोग के कारण लोगो की तर्क-शक्ति बढ गई थी। अत. अब वे हर बात को वैज्ञानिक पहलू से सोचते थे।

(२) श्रम-समस्याओ मे वृद्धि—औद्योगिक क्रान्ति के बाद जब से कारखाना प्रणाली का विकास हुआ है तब से श्रम एव पूँजी व सम्बन्ध दिन प्रतिदिन बिगडते ही चले गये। श्रमजीवियो की सख्या मे लगातार वृद्धि होने से उनके सगठन की समस्या अधिक जटिल हो गई थी और लोग लगातार इस प्रयत्न मे थे कि किसी न किसी ढग से समस्या को हल किया जाय एव प्रबन्ध मे सुधार हो।

(३) प्रतिस्पर्धा मे वृद्धि—यातायात एव सदेशवाहन के विकास तथा यत्र निर्मित प्रमापित माल के कारण बाजार का क्षेत्र लगातार बढता जा रहा था, जिसके परिणामस्वरूप प्रतिस्पर्द्धा भी बढ रही थी। अतएव अपनी स्थिति को कायम रखने के

लिए उद्योगो को अपनी लागत कम करने के उद्देश्य से 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' की शरण लेनी पड़ी।

(४) इन्जीनियरिंग कला का विकास—इसी समय अनेक योग्य इन्जीनियरो की नियुक्ति कारखानो मे की गई। इन लोगो ने उत्पादन-क्षमता को बढाने के लिये विज्ञान का सहारा लिया। उन्होने अनुभव किया कि श्रमिको की कम उत्पादनशीलता के दो कारण है—प्रथम, वे स्वय काम नही करना चाहते और दूसरे, उन्हे काम करने की ठीक-ठीक विधि भी ज्ञात नही है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के उक्त प्रवर्तको ने अनेक प्रयोग किये एव उत्पादन बढाया। शनै.शनैः टेलरवाद का प्रचार बहुत बढ गया। कुछ लोगो ने इसका प्रयोग उद्योग के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो मे भी किया, यहा तक कि राजकीय प्रशासन मे भी वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त को प्रयोग किया जाने लगा।

टेलरवाद का प्रचार—

यद्यपि टेलर तथा उनके अनुयायियो ने वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्तो का प्रयोग सर्व प्रथम अमेरिका मे किया, किन्तु बाद मे योरोपीय तथा अन्य देशो मे भी वे लोकप्रिय हुए। योरोप मे टेलरवाद के प्रचार को हम तीन श्रेणियों मे बाट सकते है '—

(१) प्रारम्भिक समय—इस काल मे कई योरोपीय देशो मे वैज्ञानिक प्रबन्ध के प्रारम्भिक प्रयोग किए गये, जो यथेष्ठ ज्ञान की कमी के कारण प्राय सभी असफल रहे। कारखानो के मालिको ने कम से कम समय मे अधिक से अधिक काम लेने पर ही विशेष जोर दिया, जिसका कारीगरो ने विरोध किया। फलत सफलता नही मिल पाई। अधिक मजदूरी के लोभ मे मजदूर आवश्यकता से अधिक परिश्रम करते थे, जिसका उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता था। अत इन्ही दिनो एक नया आन्दोलन जोर पकडने लगा, जिसमे यह चेष्टा की गई कि मजदूर इतना अधिक काम न करें कि उनका स्वास्थ्य बिगड जाय। पहले तो इसे टेलरवाद का विरोधी समझा गया, लेकिन बाद को यह भ्रम दूर हो गया और टेलरवाद का प्रचार अधिक होने लगा।

(२) मध्य युग—इस काल मे प्रत्येक देश ने वैज्ञानिक प्रबन्ध को अपने अपने देश की विशेष परिस्थितियो के अनुसार सुधार करके अपनाने का प्रयत्न किया, क्योकि अमेरिकी सिद्धान्त सब जगह समान रूप से लागू नहीं किये जा सकते थे। पहले तो इसका प्रचार स्टील के कारखानो मे और फिर उत्पादन के अन्य क्षेत्रो, व्यापार, वितरण, इमारत बनाने, खान खोदने व अन्य उद्योगो मे भी होने लगा।

(३) तृतीय युग—इस युग मे वैज्ञानिक प्रबन्ध से सम्बन्धित विभिन्न प्रयोगो का समन्वय किया गया और तान्त्रिक शिक्षा प्राप्त लोगो व साधारण जनता मे वैज्ञानिक प्रबन्ध का अधिक से अधिक प्रचार किया गया। वैज्ञानिक प्रबन्ध के उद्देश्य, क्षेत्र एव सिद्धान्तो की शुद्ध सुनिश्चित व्याख्या इसी युग मे की गई। सगठन

सम्बन्धी अनुसन्धान विस्तृत पैमाने पर किये गये तथा व्यापारिक क्रियाओ और जन-सेवाओ मे भी इसका विस्तार किया गया।

औद्योगिक प्रबन्ध की दिशा मे आधुनिक प्रवृत्तियां—

यद्यपि वैज्ञानिक प्रबन्ध से सम्बन्धित टेलर के सिद्धान्त आज भी अत्यन्त लोकप्रिय हैं, किन्तु फिर भी लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि केवल वैज्ञानिक प्रबन्ध ही समस्त औद्योगिक बुराइयो की संजीवनी नही हो सकता। औद्योगिक प्रबन्ध के क्षेत्र मे आजकल अनेक नवीन प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। जार्ज फिली पेट्टी (George Fili Petti) के शब्दो मे आधुनिक औद्योगिक संगठन की प्रमुख प्रवृत्तियां निम्न हैं :—

(१) मानसिक क्रान्ति—यद्यपि मानसिक क्रान्ति वैज्ञानिक प्रबन्ध का एक प्रमुख लक्षण है, किन्तु आजकल इस पर बहुत अधिक बल दिया जा रहा है। अनेक विद्वानो का यहां तक कहना है कि विवेकीकरण अथवा वैज्ञानिक प्रबन्ध से सम्बन्धित कोई भी योजना तब तक सफल नही हो सकती, जब तक कि श्रम तथा पूंजी अपनी मानसिक प्रवृत्तियां नही बदलते। सेवायोजको तथा सेवायुक्त के बीच पिता पुत्र का व्यवहार होना चाहिए। श्रमिको को समझना चाहिये कि वैज्ञानिक प्रबन्ध की योजना उनके अहित मे नहीं है, वरन् इसमे उनकी कार्यक्षमता बढेगी, वस्तु के उत्पादन व्यय कम होगे व किस्म सुधरेगी। ऐसा होने मे मांग बढेगी और परिणामस्वरूप उनको अधिक रोजगार व वेतन मिलेगा। इसी प्रकार मालिको को भी यह समझना चाहिए कि श्रमिक उद्योग के अनिवार्य अङ्ग हैं तथा उनकी सुख-सुविधाओ का ध्यान रखना उनका पुनीत कर्त्तव्य है। आजकल लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि वैज्ञानिक प्रबन्ध योजना को तब ही सफल बनाया जा सकता है जबकि श्रमिको के दृष्टिकोण मे और साथ ही मालिको के दृष्टिकोण मे भी क्रान्तिकारी परिवर्तन होकर सद्भावना बढे।

(२) प्रबन्ध मे विशिष्टीकरण—आजकल प्रबन्ध के क्षेत्र मे भी विशिष्टीकरण का सिद्धान्त लागू किया जाने लगा है तथा समन्वय और नियन्त्रण की, जो कि प्रबन्ध के मुख्य कार्य है, अब विशेष शिक्षा दी जाने लगी है।

(३) औद्योगिक प्रबन्ध एक सामाजिक समस्या है—अब औद्योगिक प्रबन्ध की समस्या केवल व्यक्तिगत इकाई से ही सम्बन्ध नही रखती, वरन् यह एक सामाजिक समस्या हो गई है। अब प्रबन्ध का कार्य वंशानुक्रमिक न होकर योग्यतानुसार किया जाने लगा है।

(४) सामाजिक समस्याओ का अध्ययन अनिवार्य—श्रमिको का उचित नेतृत्व करने के लिए अब यह अनिवार्य समझा जाने लगा है कि प्रबन्धको को सामाजिक समस्याओं का पूर्ण ज्ञान हो। अतः उन्हे इस क्षेत्र की विशेष शिक्षा दी जानी चाहिये।

(५) उद्योगो का समाजीकरण अनिवार्य है—उद्योग अब व्यक्तिगत लाभ

के लिए न होकर सामाजिक कल्याण के साधन के रूप में कार्य करेंगे। अतएव यह धारणा बलवती होती जा रही है कि उद्योगों का समाजीकरण होना चाहिए तथा उन पर एक विशेष वर्ग का नियन्त्रण न होकर समस्त समाज का नियन्त्रण होना चाहिए।

(६) **औद्योगिक लोकतन्त्रवाद का विस्तार**—उद्योगों के प्रबन्ध को लोकतन्त्रीय आधार पर चलाने के लिए लोगों में सेवा की भावना होना आवश्यक है।

(७) **अन्य क्षेत्रों में वैज्ञानिक प्रबन्ध का उपयोग**—आजकल वैज्ञानिक प्रबन्ध का सिद्धान्त केवल उद्योगों की चहारदीवारियों तक ही सीमित नहीं रहा, वरन् अन्य क्षेत्रों में भी इसे लागू किया जा रहा है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के मूल सिद्धान्त—

टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

(I) कार्य सम्बन्धी अनुमान—

वैज्ञानिक प्रबन्ध का मूलभूत सिद्धान्त इस बात का ज्ञान है कि एक प्रथम श्रेणी के श्रमिक को उचित परिस्थितियों में कितना काम करना चाहिये। 'कार्य सम्बन्धी अनुमान' (Task idea) के बिना यह नहीं मालूम किया जा सकता कि श्रमिक प्रमापित उत्पादन से कम कार्य कर रहा है या अधिक। एक श्रमजीवी कितना कार्य कर सकता है, इसकी योजना बड़ी सावधानी के साथ प्रयोगों द्वारा निश्चित की जाती है। उदाहरण के लिए, पहले बीथिलहेम स्टील कम्पनी में एक श्रमिक औसतन १२½ टन कच्चा लोहा लादता था, लेकिन टेलर ने वैज्ञानिक पद्धतियों द्वारा अध्ययन करके यह सिद्ध कर दिया कि एक प्रथम श्रेणी के श्रमिक को प्रति दिन ४७½—४८ टन तक माल लादना चाहिये।

(II) प्रयोग—

बिना प्रयोग (Experiment) के वैज्ञानिक आधार बन ही नहीं सकता। प्रयोग के द्वारा श्रमजीवियों की विभिन्न क्रियाओं की जाँच की जाती है तथा उनका विश्लेषण किया जाता है, जिससे उनमें सुधार करने और कार्यक्षमता को बढ़ाने की सम्भावना का ज्ञान हो। श्री टेलर के अनुसार कार्य का ठीक-ठीक अनुमान करने के लिए तीन प्रकार के प्रयोग करना चाहिये :—

(१) *समय अध्ययन*—समय के सम्बन्ध में यह अध्ययन किया जाता है कि श्रमिकों द्वारा की जाने वाली प्रत्येक प्रकार की क्रिया में कितना समय लगता है।

इसके लिए टेलर ने 'स्टॉप वाच (Stop Watch) का प्रयोग किया। उसने समस्त क्रिया को कई भागो मे बाँट लिया और फिर प्रत्येक विभाग मे लगने वाला समय नोट किया। इस प्रयोग मे आपरेटर अपनी घडी तथा चार्ट लेकर ऐसे स्थान पर बैठता है, जहाँ से वह मजदूरो को देख सके परन्तु मजदूर उसे न देख सकें। आपरेटर प्रत्येक क्रिया मे लगने वाले समय को चार्ट पर नोट करता जाता है। उदाहरणार्थ, यदि कच्चा लोहा गाडी मे लादने के समय का अध्ययन करना हो, तो इस क्रिया के निम्न भाग किये जा सकते हैं—(i) लोहे को जमीन से उठाने मे लगने वाला समय, (ii) लोहे को लेकर गाडी तक जाने मे लगने वाला समय, (iii) लोहे को गाडी मे फेंकने वाला समय, और (iv) खाली हाथ वापस आने मे लगने वाला समय।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के मूल सिद्धान्त

(i) कार्य सम्बन्धी अनुमान।
(ii) प्रयोग—समय अध्ययन, गति अध्ययन व थकावट अध्ययन।
(iii) श्रमिकों का चुनाव एव उनकी शिक्षा।
(iv) कार्य का युक्तिपूर्ण वितरण।
(v) वस्तुओं का युक्तिपूर्ण चुनाव।
(vi) नवीनतम उन्नत मशीनरी एव उपकरण का प्रयोग।
(vii) कारखाने का स्वास्थ्यप्रद वातावरण।
(viii) योजना बनाना।
(ix) ऋण सगठन।
(x) प्रमापीकरण।
(xi) प्रेरणात्मक कारण।
(xii) परिव्यय लेखाकर्म पद्धति।
(xiii) मानसिक क्रान्ति।

(२) गति अध्ययन—किसी कार्य को करने की सर्वश्रेष्ठ रीति का पता लगाना 'गति अध्ययन' (Motion Study) कहलाता है। प्रत्येक कार्य को करने मे श्रमिक को अपने हाथ-पैर हिलाने-डुलाने पडते हैं। शरीर का यह हिलना-डुलना जितना अधिक होगा, उतना ही श्रम (Fatigue) श्रमजीवी को होगा तथा समय भी उतना ही अधिक लगेगा। अतः वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा काम करने की ऐसी विधि अपनानी चाहिये, जिससे शरीर मे कम से कम हरकत हो। उदाहरणार्थ, श्री गिलब्रेथ ने यह अनुभव किया कि एक राज को एक ईंट दीवार मे रखने के लिए लगभग १८ बार हरकत करनी पडती है। अत. उसने ईंट लगाने के तरीको मे निम्न सुधार करके 'हरकतो' (Movements) को घटा कर ५ और कुछ मे तो केवल २ कर दिया—(i) उसने कुछ अनावश्यक हरकतो का बिलकुल बन्द कर दिया, (ii) उसने दीवार जोडने के ऐसे साधारण यन्त्रो का अविष्कार किया जिससे कारीगर को अपना शरीर कम से कम हिलाना-डुलाना पडे, और (iii) उसने राजो को वैज्ञानिक विधियो मे काम करने की शिक्षा दी। उसने उन्हे ऐसी ट्रेनिंग दी, जिससे कि वे एक हाथ से ईंट और दूसरे हाथ से गारा बराबर लेकर एक साथ रख सकते थे।

(३) थकावट अध्ययन—लगातार काम करने से श्रमजीवी थक जाते हैं

और उनकी कार्यक्षमता भी कम हो जाती है। अतः टेलर ने प्रत्येक क्रिया को सूक्ष्म रूप से अध्ययन करके यह मालूम किया कि उसमे थकान कब और कैसे लगती है तथा उसे क्योंकर दूर किया जाय ? थकान को दो प्रकार से कम किया जा सकता है :—प्रथम, काम के बीच आराम की व्यवस्था करके और दूसरे, बोझ की उचित मात्रा का नियन्त्रण करके। इसका ठीक-ठीक निर्णय प्रयोग द्वारा प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध मे किया जा सकता है।

(III) श्रमिकों का चुनाव एवं उनकी शिक्षा—

अधिकतम कार्यक्षमता प्राप्त करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि श्रमिको की नियुक्ति वैज्ञानिक आधार पर हो। टेलर के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति कार्य को नही कर सकता। उसने अच्छे कारीगर को 'प्रथम श्रेणी का कारीगर' कहा है। प्रथम श्रेणी के कारीगर के विषय मे टेलर महोदय ने दो विशेषताये बताई हैं :—

(i) **कर्मचारी को वही काम देना चाहिये, जिसके लिये शारीरिक एव मानसिक दृष्टि से वह उपयुक्त हो।** इसके लिए यह अनिवार्य नही है कि श्रमिक असाधारण कोटि के व्यक्ति हो। साधारण लोगो मे भी, जो जिस काम के लिये अधिक उपयुक्त हो उसे वही काम सौंपना चाहिए। टेलर के शब्दो मे, 'श्रमजीवियो' के चुनाव से यह तात्पर्य नही है कि बहुत ही विशेष योग्यता वाले लोग लिये जाय। इसका आशय तो यह है कि बहुत ही सामान्य व्यक्तियो मे से ऐसे लोग चुन लिये जायें, जो उस काम क लिये विशेष रूप से उपयुक्त हो। बिथेलहैम के स्टील के कारखानो मे कच्चा लोहा भरने के लिए टेलर ने ७५ श्रमजीवियो के काम का प्रति-दिन निरीक्षण किया और अन्त म उसे ४ व्यक्ति ऐसे मिले, जो १२½ टन के बजाय ४७ टन लोहा रोज भर सकें।

(ii) **कर्मचारियो मे अधिक वेतन के लिए अधिक काम करने का उत्साह होता है।** *टेलर के शब्दो मे, 'प्रथम श्रेणी के कर्मचारी' अधिकतम गति पर काम* करने को न केवल तैयार हो जाते है वरन् उन्हे इसमे प्रसन्नता का अनुभव होता है, *बशर्ते उन्हें ३०% से १००% तक अधिक वेतन दिया जाय।*

सक्षेप मे, कर्मचारियो का चुनाव करते समय उनकी योग्यता तथा काम करने की इच्छा दोनो का ही ध्यान रखना चाहिये। जो व्यक्ति किसी विशेष काम के अनुपयुक्त हो, उनको केवल वही कार्य देना चाहिये, जिसके लिये वे उपयुक्त हो और यदि ये कारखाने के किसी भी काम के लिए उपयुक्त न हो, तो उन्हे निकाल देना चाहिए।

कितने ही वैज्ञानिक आधार पर श्रमिको की नियुक्ति क्यो न की गई हो, किन्तु जब तक उसे काम करने से सम्बन्धित शिक्षा न दी जायगी, तब तक वह कुशलता से कार्य नही कर सकता। अत. तात्रिक एव यांत्रिक शिक्षा का भी समुचित आयोजन होना चाहिए। स्वय टेलर के शब्दो मे, 'यदि कोई कर्मचारी सौंपे हुये कार्य को न कर सके, तो कोई सुयोग्य शिक्षक उसे सिखलाये कि कार्य कैसे करना चाहिए।" विदेशो मे विशेषकर अमेरिका मे, तात्रिक शिक्षा के लिये 'उद्योग मे ही शिक्षा देने की प्रथा

(Training Within the Industry) का प्रयोग हो रहा है, जो भारत के लिए अनुकरणीय है।

(IV) कार्य का युक्तिपूर्ण वितरण—

श्रमिकों की नियुक्ति एवं उनकी शिक्षा के बाद दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि श्रमिकों में उनकी योग्यता और कार्यक्षमता के अनुसार ही काम को बाँटना चाहिए। यह काम भी प्रत्येक श्रमिक की तात्रिक (Technical), शारीरिक एवं मानसिक योग्यता को ध्यान में रखकर करना चाहिए, जिससे श्रमिक भी प्रसन्न रहें और उद्योग को अधिकाधिक कार्यक्षमता का लाभ हो सके।

(V) वस्तुओं का युक्तिपूर्ण चुनाव एवं उपयोग—

श्रमिकों की कार्यक्षमता काफी सीमा तक उस सामग्री पर भी निर्भर करती है, जो उनको काम करने के लिये दी जाती है। यदि उपयोग में आने वाला कच्चा माल अच्छी श्रेणी का है, तो श्रमिक भी कम समय में सुन्दर वस्तु का उत्पादन करने में समर्थ हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त वस्तुओं का उपयोग करने की पद्धति भी निश्चित होनी चाहिए, जिससे काम करते समय उनका अपव्यय न हो। वस्तुओं के उपयोग सम्बन्धी नये-नये प्रयोग करते रहना चाहिए तथा प्रयोग सिद्ध पद्धति से ही उनका उपयोग करें।

(VI) नवीनतम उन्नत मशीनरी एवं उपकरण का प्रयोग—

वर्तमान मशीन युग में श्रमिकों की कार्यक्षमता उन यन्त्रों पर भी निर्भर करती है, जो उनको काम करने के लिए दिये जाते हैं, अतः यह आवश्यक है कि वे नवीनतम और उन्नत मशीनरी का प्रयोग करें। वैज्ञानिक प्रबन्ध वैज्ञानिक यन्त्रीकरण से बहुत कुछ सम्बन्धित है। यह भी सम्भव है कि प्रत्येक नई मशीन हितकर न हो, अतएव बड़ी सावधानी से यन्त्रों का चुनाव करना चाहिये। इस सम्बन्ध में प्रयोगों की बड़ी आवश्यकता है। यन्त्रों की कार्यक्षमता बनाये रखने के लिए समय-समय पर उनकी मरम्मत करानी चाहिये और आवश्यकतानुसार यन्त्र के पुर्जों को बदलते रहना चाहिये। यह भी आवश्यक है कि यन्त्रों के उपयोग पर निरीक्षण रखा जाय। निरीक्षक को यह देखना चाहिए कि यन्त्रों का प्रयोग वैज्ञानिक रीति से हो रहा है, अन्यथा अच्छे से अच्छे यन्त्र का विनाश हो सकता है। श्रमजीवी को भी इस दिशा में सचेत रहना चाहिए।

(VII) कारखाने का स्वास्थ्यप्रद वातावरण—

कारखाने के सामान्य वातावरण का भी उत्पादनक्षमता पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। यदि कारखाने का वातावरण स्वास्थ्यप्रद एवं आनन्दप्रद है, तो श्रमिकों को कार्य भी भार रूप प्रतीत न होगा। वातावरण को स्वास्थ्यप्रद बनाने के लिये निम्न सुविधाओं का होना आवश्यक है—काम करने के लिये पर्याप्त स्थान, झरोखे, रोशनदान व्यवस्था तथा आवश्यकतानुसार तापक्रम में परिवर्तन करने का आयोजन, जल-

पान-गृह, वाचनालय, शिशु-गृह, स्त्री-कार्यकर्त्ताओ तथा बालको के लिये सुविधायें आदि ।

(VIII) योजना—

वैज्ञानिक प्रबन्ध की आठवी विशेषता प्रत्येक काम के लिए एक विशेष योजना का होना है । इस हेतु *यह नितान्त आवश्यक है कि प्रत्येक उद्योग मे एक योजना* विभाग हो । दूसरे दिन क्या काम होगा, इस बात का पहले से ही नियोजन हो जाना चाहिए। यही नही, एक अमुक श्रमजीवी को क्या करना है, इस हेतु भी नियत लिखित आदेश होने चाहिए। प्रत्येक कारीगर की एक छोटो आलमारी (Pigeon-hole Almirah) होती है । प्रातः काल जब एक श्रमिक काम पर आता है, तो उसे अपने खाने मे दो कागज रखे हुए मिलते हैं—एक मे यह लिखा होता है कि उसे क्या काम करना है और उसे किन यन्त्रो की आवश्यकता होगी और वे कहाँ उपलब्ध होगे और दूसरे कागज पर उसके द्वारा किये हुए कार्य का ब्यौरा दिया होता है तथा यह भी लिखा होता है कि उसने कितना वेतन कमा लिया है । जिस प्रकार शक्ति-गृह मे बैठा हुआ आपरेटर *यह जानता है कि कहाँ बिजली चालू है* और कहाँ बुझी है, उसी प्रकार योजना विभाग के विभिन्न नक्शो और चार्टों से यह स्पष्ट पता लग जाता है कि अमुक श्रमजीवी कहा तथा क्या कार्य कर रहा है, इत्यादि । श्री टेलर के मतानुसार योजना विभाग के निम्न कार्य होते हैं :—

(i) कारखाने द्वारा लिये हुए प्रत्येक कार्य की पूर्ण विवेचना करना ।
(ii) कम्पनी मे होने वाले प्रत्येक काम तथा उसको विभिन्न क्रियाओ मे लगने वाले समय का अध्ययन करना ।
(iii) *कारखाने के पास कितना कच्चा माल, स्टोर, विभिन्न मशीने आदि हैं* उसका पूर्ण विवरण ।
(iv) बिक्री विभाग मे प्राप्त होने वाले प्रत्येक आदेश (Order) का अध्ययन करना तथा आदेश की पूर्ति के हेतु तैयारी करना ।
(v) प्रत्येक वस्तु के निर्माण मे लगने वाले व्यय की विवेचना करना ।
(vi) प्रत्येक श्रमिक की मजदूरी का निर्णय करना ।
(vii) *सूचना विभाग का सचालन करना ।*
(viii)प्रमापित यन्त्रो और औजारो की व्यवस्था करना ।
(ix) प्रमापित उत्पादन विधियो का निर्धारण एव उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था करना ।
(x) सदेशवाहन विभाजन का सचालन करना ।
(xi) रोजगार के दफ्तर का प्रबन्ध करना ।
(xii) *उन्नति तथा सुधार सम्बन्धी योजनाएँ तैयार करना ,*
(xiii)कारखाने की समस्त क्रियाओ पर नियन्त्रण रखना ।

(IX) श्रम संगठन—

श्रम संगठन के प्ररूप—

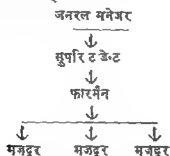
सगठन के तीन मुख्य प्रारूप हैं :—

(i) वैभागिक सगठन,

(ii) कर्मचारी सगठन, एव

(iii) क्रियात्मक सगठन ।

(i) वैभागिक या सैनिक सङ्गठन (Departmental or Military Organisation)—इसमे कार्य का विभाजन स्वतन्त्र विभागों मे किया जाता है। प्रत्येक विभाग एक स्वतन्त्र अधिकारी के अन्तर्गत होता है और वह अपने विभाग की समस्त बातो के लिए उत्तरदायी होता है। वैभागिक सगठन की यही विशेषता है कि सब विभागों मे एक काम प्रधान कर्मचारी को सौंप दिया जाता है, जो उस कार्य का विशेषज्ञ होता है, जबकि दूसरा काम किसी दूसरे कर्मचारी की देख-रेख मे दिया जाता है और इसी प्रकार अन्य कार्य भी भिन्न-भिन्न कर्मचारियों को सौंप दिये जाते है। प्रत्येक विभाग के कर्मचारी अपने विभागाधिकारी के प्रति उत्तरदायी होते है, जैसे श्रमजीवी फोरमैन के प्रति उत्तरदायी होते हैं, फोरमैन सुपरिन्टेन्डेन्ट के प्रति और सुपरिण्टण्डेण्ट जनरल मैनेजर के प्रति। उत्तरदायित्व का यह विभाजन निम्न चार्ट द्वारा भी प्रदर्शित किया जा सकता है—



क्षेत्र—यह प्रणाली निम्नलिखित स्थानों पर सफलतापूर्वक अपनाई जा सकती है—

(१) जहाँ कारोबार अपेक्षतया थोडा हो और आधीन कर्मचारी तथा मजदूरी बहुत अधिक न हो, (२) जहाँ बहुत से उपक्रम आसानी से या सरलतापूर्वक निर्देशित किये जाते है, अर्थात् काम प्राय रोजाना के ढंग का हो, (३) जहाँ मशीनरी पूर्णत. स्वचालित हो, जिसके कारण फारमैन को बुद्धि लगाने की आवश्यकता नही, और (४) जहाँ श्रम और प्रबन्ध की आपसी समस्यायें हल करना कठिन नही।

लाभ—इस प्रणाली के मुख्य लाभ ये हैं (१) यह चलने मे सरल है, (२) यह मितव्ययी और कार्यसाधक है, क्योंकि इसमे जल्दी, निश्चित और कार्यसाधक समजन

हो जाता है, क्योंकि विभाग सम्बन्धी सब कार्य एक आदमी के हाथ मे हैं। (३) यह कार्यों की पूर्ति की जिम्मेदारी सुनिश्चित रीति से कुछ व्यक्तियो पर डालती है।

दोष—जो उद्योग मजदूरो की होशियारी और योग्यता पर निर्भर होना है वह इस प्रणाली को नही अपना सकता। उदाहरण के लिये, वह उद्योग जिसमे एक-रूपकर काम होता है, जैसे मोटर निर्माण। क्योंकि इस प्रणाली का सरल रूप और काम को एक आदमी के हाथ मे इकट्ठा कर देने की इसकी प्रवृत्ति उसे इस काम के लिये उपयुक्त नही रहने देती, इसलिये इस पद्धति की निम्नलिखित हानियाँ हैं :—

(१) यह प्रबंध की एकतन्त्रीय प्रणाली पर आधारित है और इसलिए कारोबार एक आदमी के मनमाने फैसलो के आधीन हो जाता है।

(२) काम किसी वैज्ञानिक योजना के अनुसार बाँटने के बजाय मैनेजर की समझ के अनुसार बाँट दिया जावेगा।

(३) यह प्रगति को और कारखाने के अच्छी तरह काम करने को रोकती है।

(४) फोरमैनो को इतना काम करना होता है कि वे सुधार की ओर उतनी जल्दी ध्यान नही दे सकते, जितनी जल्दी देना चाहिए।

(५) इसमे अच्छे कर्मचारियो को इनाम देने और निकम्मे को सजा देने का कोई उपाय नही है।

(६) इसमे अपनो के पक्षपात को बढावा मिलने की सम्भावना है। तरक्की खुशामद के आधार पर होने लगती है और नौकरी की सुरक्षा तभी हो पाती है जब जी हुजूरी की जाय।

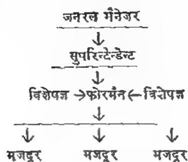
(७) बडी कम्पनियो मे इसे लागू करने से प्रबंध मे बहुत गड़बडी हुए बिना नही रह सकती और आजकल उत्पादन बडे पैमाने पर होता है।

प्रोफेसर सारजेन्ट फ्लोरेन्स ने इस प्रणाली की सहज अदक्षताओ को तीन शीर्षको के नीचे इकट्ठा किया है :—

(क) सही जानकारी प्राप्त कर सकने और उसके अनुसार कार्य करने मे विफलता, (ख) लाल फीता (Red tapism) और तानाशाही तथा (ग) विशेषज्ञो की कुशलता का अभाव।

(ii) कर्मचारी सगठन (Line and Staff Type Organisation)—वैभागिक संगठन की पद्धति के दोष दूर करने के लिये कर्मचारी पद्धति का निर्माण हुआ। इस प्रकार के सगठन मे भी काम का विभाजन स्वतन्त्र विभागो मे किया जाता है और उत्तरदायित्व का विभाजन भी लम्बरूप मे ही होता है, किन्तु इस पद्धति की विशेषता यह होती है कि कार्यक्षमता की वृद्धि एवं सहकारिता स्थापित करने के लिये प्रत्येक विभाग मे तान्त्रिक एवं व्यापारिक विशेषज्ञ होते हैं, जो आवश्यकतानुसार विभागाधिकारियो को सलाह देते रहते है। उदाहरण के लिये, विक्रय-विभाग का एक विक्रय-विशेषज्ञ होगा, जो कि विक्रय विभाग के अधिकारी को विक्रय किस प्रकार एवं कौन से बाजारो मे किया जाय, इस सम्बन्ध मे सलाह देगा तथा नये नये बाजारो की

खोज करने की विधि भी बताएगा और 'विज्ञापन-पद्धति मे मार्ग-दर्शन करेगा। इन विशेषज्ञों को आदेश देने का अधिकार नही होगा, यह कार्य तो वैभागिक अधिकारी का ही होना है। इसमे उत्तरदायित्व का विभाजन इस प्रकार होता है :—



व्यावसायिक जगत मे कर्मचारी सगठन का जन्म इसी कारण हुआ है कि विभागीय प्रबधक उत्पादन और विक्रय नियन्त्रण के साधारण काम करते हुए उसी का अनुसधान, विचार और योजनाकरण नही कर सकते थे। परिणामतः अनुसधान, प्रमापीकरण तथा सलाह देने का काम, अर्थात् विशेषज्ञ का कार्य निर्माण तथा विक्रय की दैनिक क्रियाओ से बिल्कुल पृथक कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि 'सोचने' और 'करने' मे स्पष्ट भेद हो गया। 'स्टाफ' सोचने वाला और 'लाइन' करने वाला हो गया। इस बात पर बल देना उचित होगा कि स्टाफ कार्य और लाइन कार्य एक दूसरे के साथ सहयोग से चलने वाले तथा समकक्ष कार्य है। यह प्रणाली मानव प्राणियो मे वर्गीकरण करने वाले प्रमुख घटको मे से है। एक ओर तो काम करने वाले व्यक्ति है और विचारक है, जो 'क्यो और कैसे' से अधिक सम्बन्ध रखते है।

(iii) क्रियात्मक संगठन (Functional Organisation)—डाक्टर टेलर के अनुसार क्रियात्मक सगठन की पद्धति मे प्रबध का विभाजन इस प्रकार किया जाता है कि उप-निरीक्षक से नीचे प्रत्येक व्यक्ति को यथासम्भव क्रियाएँ करनी पडे। जहाँ तक सम्भव होता है, प्रबध के प्रत्येक व्यक्ति का कार्य केवल एक प्रमुख क्रिया तक ही सीमित रहता है। सगठन की इस पद्धति का मुख्य लक्षण यह है कि प्रत्येक श्रमिक का प्रबधक से केवल अधिकारी द्वारा ही सम्बन्ध रहता है, जो उसे विभिन्न क्रियाओ को करने के लिये आवश्यक आदेश देता है। इस पद्धति मे निम्नलिखित आठ अधिकारी होते है, जो अपना-अपना विशेष कार्य करते है :—

(अ) टोली नायक	(उ) कार्यक्रम-लिपिक
(आ) गति नायक	(ऊ) आदेशक या सूचना पत्रकर्त्ता
(इ) निरीक्षक	(ए) समय तथा परिव्यय लिपिक
(ई) जीर्णोद्धार नायक	(ऐ) अनुशासक

(अ) टोली नायक (Gang Boss)—सरदार अथवा टोली नायक इस विषय की पूर्ण तैयारी करता है कि प्रत्येक श्रमिक को अपना काम पहले किस योजना के अनुसार करना पड़ेगा। वह यह भी देखता है कि कार्य की पूर्ति के हेतु प्रत्येक श्रमिक के पास आवश्यक सामग्री, यन्त्र, उपकरण इत्यादि है अथवा नहीं। कभी कभी वह उस रीति का भी प्रदर्शन करता है जिसके अनुसार श्रमिको को काम करना चाहिए।

(आ) गति नायक (Speed Boss)—गति नायक यह देखता है कि प्रत्येक श्रमजीवी सूचना-पत्र के अनुसार कार्य कर रहा है या नही और उसकी कार्य करने की गति तथा पद्धति उचित है अथवा नहीं। टोली नायक की ही भांति गति नायक भी कभी-कभी इस बात का प्रदर्शन करता है कि कम समय मे काम किस प्रकार किया जाता है।

(इ) निरीक्षक (Inspector)—निरीक्षक का मुख्य कार्य निर्मित वस्तुओं की किस्म की जाँच करना होता है।

(ई) जीर्णोद्धार नायक (Repair Boss)—जीर्णोद्धार नायक यह देखता है कि यन्त्र उपकरणादि का व्यवस्थित उपयोग हो रहा है अथवा नहीं। यन्त्रों की रक्षा, सफाई तथा समय समय पर उनकी दुरुस्ती करना भी इसी का कार्य होता है। वह इस बात का भी निरीक्षण करता है कि मशीनरी मे समुचित रूप से तेल दिया जाता है या नही।

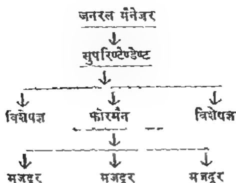
(उ) कार्य क्रम लिपिक (The Route Clerk)—यह व्यक्ति श्रमिको को दी जाने वाली सूचनाओं एवं आदेशो की सूची बनाता है। विभिन्न क्रियाओं के नायकों की भी यह सूची बनाता है। प्रत्येक श्रमिक एवं यन्त्रो से किस क्रम मे काम लेना चाहिये, इस सम्बन्ध मे प्रबन्धक उसे आदेश देता है।

(ऊ) सूचना-पत्र कर्त्ता (Instruction Card Man)—योजना विभाग के उपयोग के लिए यह व्यक्ति आदेश-पत्र तैयार करता है। इसी आदेश-पत्र के आधार पर योजना विभाग विभिन्न नायको को उनके कार्य क्रम सम्बन्धी आदेश देता है जिसमे वह किस प्रकार से किन यन्त्रो पर अथवा किन उपकरणो मे कार्य करेगा, इस बात का पूर्ण विवरण होता है।

(ए) समय तथा परिव्यय लिपिक (Time & Cost Clerk)—यह व्यक्ति समय एवं मूल्य सम्बन्धी समुचित लेख (Record) करने के लिए उत्तरदायी होता है।

(ऐ) अनुशासक (Shop Disciplinarian)—अनुशासक प्रत्येक विभाग के श्रमिको के अनुशासन के लिए उत्तरदायी होता है। वह उनकी अनुपस्थिति, विलम्ब आदि के लिए उचित अनुशासन की कार्यवाही करता है तथा श्रमिको के पारितोषण-निर्धारण मे भी सहायता पहुँचाता है। कारखाने मे शान्तिमय वातावरण बनाए रखने का उत्तरदायित्व भी इसी पर होता है।

इसमे उत्तरदायित्व का विभाजन निम्न ढङ्ग से होता है :—



इस प्रकार उक्त पद्धति मे प्रत्येक नायक अपने निश्चित एवं सीमित कार्य के लिए उत्तरदायी होता है, अतः प्रत्येक नायक की शिक्षा मे भी अधिक समय नही लगता। सीमित उत्तरदायित्व होने के कारण वह अधिक कार्यक्षम भी हो सकता है। इस पद्धति का एक दोष यह है कि इसमे अनेक अधिकारी (Bosses) होते है, जिससे श्रमिक भ्रम मे पड़ जाते हैं। कभी-कभी तो असन्तुष्ट होकर वे विद्रोह भी कर बैठते हैं।

लाभ—क्रियात्मक सगठन के बहुत से लाभ हैं :—

(१) आदमी अपना सारा समय एक काम करने मे लगाता है, इसके परिणामस्वरूप विशेषीकरण और दक्षता पैदा होती है।
(२) प्रत्येक व्यक्ति अपनी अधिक से अधिक कोशिश करता है, क्योंकि वह अपनी अधिकतम योग्यताओ के अनुसार चलता है।
(३) इसमे मजदूर को अपने काम के बारे मे सब तरफ से अध्ययन का और सुधार सुझाने का अवसर मिलता है।
(४) यह संगठन की वृद्धि मे रुकावट नही डालता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने विशेष क्षेत्र मे उन्नति करता है। उदाहरण के लिए, क्रेता ४० चीजें खरीदे या ४०,०००, उसे इससे कुछ मतलब नही। उसे तो एक काम करना है और एक ही काम पर नियन्त्रण रखना है।
(५) विवेकीकरण द्वारा बहुत बड़े उत्पादन मे सहायता करता है।

दोष—इसके दोष ये है :—

(१) नियन्त्रण की प्रक्रियाओ की दृष्टि से यह भ्रम मे डालने वाली है। यदि इस योजना को बहुत आगे तक बढाया जाये, तो सब गड़बड़ हो जाये।
(२) इसमे एक ही काम पर कई अधिकारी हो जाते है और सुनिश्चितता व जिम्मेदारी का अभाव होने लगता है।

(३) इसमे अनुदेश-पत्र भरने और स्व आदेशो तथा विस्तृत बातो को लिखने मे लिखाई का काम बहुत हो जाता है।

(४) यह बोझीली है और अमल मे लाने मे कठिन है, क्योकि यह नियन्त्रण का अधिक विभाजन कर देती है।

(५) यह काम सरलता से समजन नही होने देती और इसकी सरलता मुख्यतः प्रतिभाशाली नेतृत्व पर निर्भर है, जो आधुनिक व्यवसाय मे हमेशा नही मिल पाता।

(x) प्रमापीकरण—

वैज्ञानिक प्रबन्ध का एक प्रमुख लक्षण प्रमापीकरण है। प्राचीन एव परम्परागत पद्धतियो के अन्तर्गत श्रमजीवियो को इस बात की स्वतन्त्रता रहती है कि वे अपनी सुविधानुसार काम की विधियो का चुनाव करे। परन्तु वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत कोई भी बात कर्मचारियो के ऊपर नही छोडी जाती। उनको केवल श्रेष्ठ व प्रमापित किस्म का माल व मशीने ही नही दी जाती, वरन् काम करने की प्रमापित विधियो का भी निर्माण किया जाता है। प्रमापित विधियो से तात्पर्य उन विधियो का है जिनके द्वारा न्यूनतम परिश्रम से अधिक से अधिक मात्रा मे काम किया जा सके। प्रयोग की कसौटी पर कसने के बाद इन विधियो को निर्धारित किया जाता है। वैज्ञानिक प्रबंध का यह मूलभूत सिद्धान्त है कि अधिक काम करने के लिए अधिक शक्ति ही आवश्यक नही है, वरन् काम करने की श्रेष्ठतम विधि का होना भी नितान्त आवश्यक है। प्रमापित विधियो के अभाव मे शक्ति तथा समय दोनो का अपव्यय होता है। टेलर के मतानुसार कर्मचारी स्वय श्रेष्ठ विधि का निर्धारण नही कर सकता। अतः विशेषज्ञो को उचित प्रयोगो द्वारा प्रमापित विधियाँ निकालनी चाहिए तथा उन्ही के मतानुसार श्रमजीवियो से काम कराना चाहिए।

(xi) प्रेरणात्मक भृत्ति पद्धति—

नियत मजदूरी पाने वाले अधिकाश लोग यह सोचते है कि 'काम उतना ही करना चाहिये जिससे कि नौकरी बनी रहे।' नियत मजदूरी पद्धति मे अधिक कार्य व कुशलता से काम करने की उत्कण्ठा मर जाती है, क्योकि अधिक कार्य करने पर भी मजदूरी पर कोई प्रभाव नही पडता। श्री टेलर ने इस बात का गम्भीर अध्ययन किया और अधिक कार्यक्षमता तथा अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए श्रमिको को पारितोषिक का प्रलोभन देने के तत्त्व को वैज्ञानिक प्रबन्ध मे महत्त्व दिया। उन्होने बतलाया कि अधिक काम करने के लिए कर्मचारियो को प्रोत्साहित करने के हेतु पहली शर्त यह है कि उन्हे अधिक काम का अधिक वेतन दिया जाय। यह वेतन श्रमिक के काम की मात्रा तथा किस्म के अनुसार होना चाहिए। दूसरे, अच्छे काम का पुरस्कार भी तुरन्त ही मिलना चाहिए तथा उसे यह स्पष्टत ज्ञात हो जाय कि श्रेष्ठ एव अधिक कुशल काम करने के कारण ही उसके वेतन मे, अन्य श्रमिको की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई है। वर्ष के अन्त मे पारितोषण देने मे उसका सारा स्वाद व मिठास जाता रहता है।

यही कारण है कि वार्षिक बोनस की प्रणाली अधिक सफल नहीं हुई। टेलर के कथनानुसार, "धीरे-धीरे आराम के साथ काम करने में जो सुख मिलता है, उसका आकर्षण, परिश्रम करके छः माह बाद सबके साथ साथ पुरस्कार पाने की सम्भावना से कहीं अधिक तीव्र होता है।" इसी उद्देश्य से टेलर ने मजदूरी देने की नवीन पद्धति—The Differential Rate System—का प्रतिपादन किया, जिसके अनुसार प्रमापिक समय में काम समाप्त करने वाले श्रमिक को अधिक मजदूरी मिलती है तथा उससे अधिक समय लेने वाले श्रमिक को कम।

यही नहीं, ठीक ठीक काम न करने पर कर्मचारियों को निम्नलिखित दण्ड दिए जा सकते हैं :—

(i) उसका वेतन कम किया जा सकता है।

(ii) कुछ समय के लिए उसे काम से अलग किया जा सकता है।

(iii) उस पर जुर्माना किया जा सकता है। और

(iv) उसकी सेवा-विवरण-पुस्तिका (Service Book) में इस आशय का रिमार्क लिखा जा सकता है कि अमुक कर्मचारी ने ठीक से काम नहीं किया तथा जब ऐसे रिमार्कों की संख्या एक निश्चित संख्या से अधिक हो जाय, तो उपर्युक्त तीन विधियों में से किसी एक या अधिक का उपयोग किया जा सकता है।

टेलर के मतानुसार, अर्थ दन्ड की दशा में दो बातों का ध्यान रखना चाहिये—प्रथम, यह कि जुर्माना करते समय निष्पक्षता तथा उत्तम न्याय का ध्यान रहे तथा दूसरे, अर्थ-दण्ड की राशि बाद में किसी न किसी रूप में कर्मचारी को वापिस कर दी जाय, अन्यथा असहयोग की आशंका रहेगी।

(xii) परिव्यय लेखा-कर्म पद्धति—

वैज्ञानिक प्रबन्ध में प्रमाप एवं कार्यक्षमता की जाँच के लिए परिव्यय लेखा-कर्म पद्धति का समुचित आयोजन होना नितान्त आवश्यक है। आजकल तो अग्रिम-आदेश भी आते हैं। इनके लिये भी परिव्यय का अनुमान लगाना आवश्यक होता है। इस कार्य हेतु परिव्यय-लेखा कर्म विशेष नियुक्त करने चाहिए, जो परिव्यय निकाल एवं उस पर नियन्त्रण रख, जिससे विभिन्न क्रियाओं में वस्तुओं का अपव्यय अथवा यन्त्रादि का दुरुपयोग न हो तथा समय का सदुपयोग हो।

(xiii) मानसिक क्रान्ति—

वैज्ञानिक प्रबंध का मूल उद्देश्य उत्पादन क्रियाओं को इस प्रकार संगठित करना है कि श्रमिकों की उत्पादनशीलता अधिक से अधिक हो जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक उपाय किए जाते हैं। प्रयोग द्वारा कार्य करने की सर्वोत्तम विधि निकाली जाती है। कार्य को अनेक उप-क्रियाओं में बाँटा जाता है। श्रमिक को वही उप-क्रिया करने को दी जाती है, जिसके लिए वह योग्य होता है। उसे नवीनतम् औजार दिये जाते हैं, अच्छा कच्चा माल एवं अन्य सामग्रियाँ दी जाती हैं, समय-समय पर उसके प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की जाती है। सम्पूर्ण क्रियाओं को इस प्रकार

संगठित करने का प्रयत्न किया जाता है कि श्रम एवं सामग्री का न्यूनतम अपव्यय हो। इसके लिए कुशल निरीक्षक रखे जाते हैं और उपरिव्ययों का उचित लेखा रखा जाता है।

लेकिन यह सब करते हुये भी सम्भव है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध का उद्देश्य पूर्ण न हो, क्योंकि इन सब बातों के अतिरिक्त एक अन्य शक्ति भी उद्देश्य की सफलता को प्रभावित करती है और यह शक्ति है काम कराने वाले और करने वालों के मध्य पारस्परिक सद्भावना का होना। भले ही कितनी अच्छी सामग्री और नवीन यन्त्रों का चुनाव किया जाये और क्रियाओं का कितना ही सुन्दर संगठन हो, यदि श्रमिकों के मन में कर्तव्य बुद्धि जागृत नहीं हुई तो सारा परिश्रम वृथा जायगा, अतः यह आवश्यक है कि श्रमिक अपना कार्य मन लगा कर करें। दुर्भाग्यवश आज श्रमिकों के मन में ऐसी भावना का अभाव है। उनको सन्देह है कि मालिकों के उक्त कार्यों में उनके विदोहन की कोई चाल काम कर रही है—सम्भवतः वे उनसे अधिक से अधिक काम लेना चाहते हैं या श्रमिकों की छँटनी करना चाहते हैं। इस सन्देह की भावना के कारण वे मालिकों के साथ सहयोग नहीं करते, पद पद पर वैज्ञानिक प्रबंध के प्रयत्नों का विरोध करते हैं और उनको कार्यान्वित करने में जी चुराते हैं। फलस्वरूप वैज्ञानिक प्रबंध के उद्देश्य अपूर्ण रह जाते हैं।

मालिकों का दृष्टिकोण भी सही नहीं कहा जा सकता है। जब वे वैज्ञानिक प्रबंध की योजना को कार्यान्वित करने का विचार करते हैं तो उनके हृदय में अपना लाभ द्विगुणित करने की भावना ही बलवती रहती है उद्योग के सामान्य हित या श्रमिकों के लाभ की भावना उनके हृदय में नहीं होती। स्वार्थ की भावना बलवती होने से वैज्ञानिक प्रबंध के प्रयत्नों को व्यावहारिक रूप देते समय उनका व्यवहार दोषयुक्त हो जाता है। वे श्रमिकों के विरोध को समझने का प्रयत्न नहीं करते। वे उनकी दुर्बलताओं का और उनके हितों का वास्तविक महत्त्व आँकने में असमर्थ रहते हैं और परिणामस्वरूप श्रमिकों का सहयोग प्राप्त नहीं कर पाते, जिससे अनेक प्रयत्नों के विपरीत भी उनका उद्देश्य केवल अंशतः ही पूरा हो पाता है।

अतः स्पष्ट है कि वैज्ञानिक प्रबंध की योजना को तब ही सफल बनाया जा सकता है जबकि श्रमिकों के दृष्टिकोण में और साथ ही मालिकों के दृष्टिकोण में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन होकर सद्भावना बढ़े। तब ही पारस्परिक सहयोग बढ़ कर वैज्ञानिक प्रबन्ध का उद्देश्य पूर्ण होगा। श्रमिकों को भी समझना चाहिये कि वैज्ञानिक प्रबन्ध की योजना उनके अहित में नहीं है, अपितु इसके फलस्वरूप उनकी कार्यक्षमता बढ़ेगी, वस्तु के उत्पादन व्यय कम होंगे और किस्म सुधरेगी। ऐसा होने से माँग बढ़ेगी और परिणामस्वरूप उनको अधिक रोजगार और अधिक वेतन मिलेगा। मालिकों को भी श्रमिकों का दृष्टिकोण सामने रखना चाहिये। उनको चाहिये कि वे उनके कष्टों को दूर करने का प्रयत्न करें, योजना को उन्हें भली प्रकार समझा दें और

उनको पर्याप्त वेतन दें, ताकि उनकी आवश्यक आवश्यकतायें समुचित रूप से पूरी हो सकें और कार्यक्षमता बढ़ने पर उनको अधिक मजदूरी का आश्वासन दें।

दोनों पक्षों के दृष्टिकोण में ऐसा परिवर्तन होने पर ही वैज्ञानिक प्रबंध का उद्देश्य पूर्ण हो सकता है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के तीन अन्य उल्लेखनीय प्रवर्तक

(I) फ्रेंक गिलब्रेथ (Frank Gilbreth)—श्री गिलब्रेथ, टेलर के समकालीन थे। इन्होंने राजगीरी (Masonry) का काम किया था, अतः इनके अधिकांश प्रयोग ईंटों को यथोचित रीति से जोड़ने से ही सम्बन्ध रखते हैं। सन् १९०६ में इन्होंने एक पुस्तक भी लिखी, जिसका नाम है—Brick Laying System। इस पुस्तक में गिलब्रेथ महोदय ने गति के अध्ययन पर अधिक बल दिया है। उनका यह अनुभव था कि अगर किसी श्रमजीवी से पहले दिन ही वैज्ञानिक व प्रमापिक विधि से काम करने के लिये कहा जाय, तो सम्भवतः वह घबड़ा जायगा और जल्दबाजी में बहुत अधिक हरकतें करेगा व शीघ्र थक भी जायगा। अतः पहिले वह कर्मचारियों को काम करने का ढंग बताता था और फिर न्यूनतम हरकत के साथ काम करने के लिए आदेश देता था। इस प्रकार श्रमजीवी स्वयं कम से कम हरकत के साथ काम करने के अभ्यस्त हो जाते थे। श्री गिलब्रेथ के मतानुसार उत्पादन की प्रमापिक विधियाँ नियत व स्थिर नहीं हैं, समय एवं विज्ञान की प्रगति के साथ उनमें भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है।

समय व गति अध्ययन की दिशा में तो गिलब्रेथ के प्रयोग टेलर से भी अधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं। उसने प्रत्येक कारीगर के सम्मुख एक घड़ी लगा दी, जिसमें मिनट की सुई बहुत धीरे-धीरे घूमती थी। तत्पश्चात् मूवी कैमरे (Movie Camera) द्वारा प्रत्येक हरकत का फोटो लिया जाता था। इस फोटो में प्रत्येक हरकत के साथ उसमें लगने वाला समय भी नोट हो जाता था। इसे Micro motion System कहते हैं। इन फोटो के तुलनात्मक अध्ययन से काम की प्रमापित गति का निर्धारण बड़ी सरलता के साथ किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त उसने कर्मचारियों की उंगलियों में छोटे-छोटे बल्ब लगा दिए, जो बारी-बारी से जलते और बुझते थे। निश्चित समय पर बल्बों के जलने व बुझने से समय का पता आसानी से लग जाता था।

(II) एच० एमर्सन (H. Emerson)—टेलर के समकालीन वैज्ञानिक प्रबन्ध के प्रवर्तकों में श्री एमर्सन का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने श्रमजीवियों की कार्यक्षमता की वृद्धि के हेतु १२ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निकाले थे, जो टेलर पद्धति से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। हाँ, इन दोनों में प्रमुख अन्तर यह है कि टेलर ने तो क्रियात्मक संगठन पर बल दिया, परन्तु एमर्सन ने लम्बवत् तथा कर्मचारी संगठन (Line and Staff Organisation) को अधिक श्रेष्ठ बताया।

(III) हेनरी एल० गॉंट (Henry L Gantt)—श्री गॉंट, टेलर के समकालीन थे तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध के सम्बन्ध मे इनके विचार टेलर से बहुत कुछ मिलते-जुलते थे। हाँ, ये दोनो महानुभाव निम्नलिखित बातो के सम्बन्ध मे एकमत नही थे :—

(१) विशेषज्ञो का अधिकार क्षेत्र—श्री टेलर के मतानुसार विशेषज्ञो को अपने-अपने क्षेत्र मे पूर्ण अधिकार होना चाहिए और प्रबन्धकर्त्ताओ को उनके आदेशो का अक्षरश. पालन करना चाहिये। विशेषज्ञो की सिफारिश मे वे हेर फेर नही कर सकते। परन्तु इसके विपरीत, गॉंट का यह मत था कि विशेषज्ञो का काम केवल सिफारिश करना या राय देना है, उसके अनुसार कार्य करना अथवा न करना प्रबन्धक का काम है। विशेषज्ञो के आदेशानुसार कार्य करना प्रबन्धको के लिए अनिवार्य नही होना चाहिए।

(२) स्टेन्डर्ड उत्पादन—टेलर द्वारा निर्धारित 'प्रमापित उत्पादन का एक निश्चित माप था। उससे कम उत्पादन मे उसे सन्तोष नही होता था। गॉंट इस मत के पक्ष मे नही था। उसके मतानुसार उत्पादन धीरे धीरे बढाया जा सकता है। वह कहता था—"यदि किसी काम को तुम पहले की अपेक्षा १० प्रतिशत अच्छा कर सकते हो तो करो, जब तुम दुबारा काम करोगे, तो शनै-शनै और भी सुधार होगा।"

(३) मजदूरी देने की प्रणाली—गॉंट ने टेलर की पारितोषक देने की प्रणाली की आलोचना की तथा अपनी निजी पद्धति प्रतिपादित की, जिसकी विस्तृत विवेचना हम एक अगले अध्याय मे करेंगे।

STANDARD QUESTIONS

1 "It is said that just as a row of machine guns and other weapons of war is not an army similarly a collection of machines is not industry For both the most important factor is man." Explain this, and discuss the relative importance of man, materials, markets machines and management for the success of an industrial or business concern.

2. "The principal object of management should be to secure the maximum prosperity for the employers coupled with the maximum prosperity for each employee' Discuss the statement.

3 "The climax of good management has not been reached until there is throughout the whole firm the spirit of sport comment on this

4. What do you understand by Scientific Management." Explain clearly the salient features underlying it.

5 What do you understand by Scientific Management ? Is it different from rationalisation ? Explain clearly

6 Scientific Management involves in its essence a complete mental revolution on the part of the workmen and an equally complete mental revolution on the part of those on the management side Examine this statement critically.

7 What is meant by Scientific Management ? Explain its principal features

8 What were the causes that have lead to Scientific approach in Management problems ? What has been its effect ?

9 Discuss clearly the modern tendencies in Industrial Management.

10 Compare and contrast the three types of organisation and discuss their merits and demerits

11 Please try brief notes on—

(i) Frank Gilbreth,

(ii) H Emerson,

(iii) Henry Gautt, and

(iv) Objectives of Planning Management.

अध्याय ७

वैज्ञानिक प्रबन्ध के गुण एवं दोष

(Merits & Demerits of Scientific Management)

वैज्ञानिक प्रबन्ध के गुण

वैज्ञानिक प्रबन्ध के गुणो का विवरण इस प्रकार है :—

(I) उत्पादको की दृष्टि से लाभ—

(१) न्यूनतम श्रम परिव्यय—वैज्ञानिक प्रबन्ध मे सेवायोजको को अधिक कार्यक्षम श्रमिको की आवश्यकता नही पडती, क्योकि प्राय: प्रत्येक पदार्थ का (सामग्री, यन्त्र इत्यादि) प्रमापीकरण हो जाने से, एक साधारण श्रमिक भी, शिक्षा के उपरान्त उस कार्य को बडी कुशलता से कर सकता है। फलस्वरूप श्रम-परिव्यय भी कम हो जाते हैं।

(२) *श्रमिको से अधिकतम काम ले सकना*—*वैज्ञानिक प्रबन्ध पद्धति* के द्वारा श्रमिको से भी अधिक से अधिक कार्य लिया जा सकता है, क्योकि:—

(i) साधारण योग्यता के श्रमिक मे भी एक ही कार्य करते-करते निपुणता आ जाती है। वह कठिन तथा बारीक कामो को भी करना सीख जाता है।

(ii) उच्च श्रेणी के सुन्दर यन्त्रो, उत्पादन की वैज्ञानिक रीतियो और *योजना विभाग की सुन्दर योजनाओ के द्वारा भी श्रमिको की कार्य*-क्षमता बढ जाती है, जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन मे वृद्धि होती है।

(३) श्रम विभाजन के लाभ—विभागीय सगठन के अन्तर्गत श्रम-विभाग की व्यवस्था के द्वारा भी सेवायोजको को श्रम-विभाजन सम्बन्धी अनेक लाभ प्राप्त होते हैं।

(४) उत्पादन व्यय मे कमी—उत्पादन की प्रत्येक क्रिया का समुचित निरीक्षण होने से समय एव वस्तुओ का अपव्यय नही होता, जिससे उपरी व्यय कम होते है तथा उत्पादन-मूल्य घटता है।

बीथलहेम स्टील कम्पनी (जिसमे टेलर महोदय ने स्वय वैज्ञानिक प्रबन्ध की योजना लागू की) मे निम्नलिखित आँकडे इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं :—

विवरण	पुरानी प्रणाली के अन्तर्गत	नवीन प्रणाली के अन्तर्गत
श्रम जीवियो की सख्या ...	४००–६००	१४० टन
प्रति श्रमिक लोहा लादने की तादाद ...	१६ टन	५६ टन
प्रति श्रमिक दैनिक आय	१ १५ डालर	१'८८ डालर
प्रति टन (२,२४० पौंड) लोहा उठाने की लागत	०'०७२ डालर	०'०३३ डालर

(५) माल की किस्म मे सुधार—उचित निरीक्षण के कारण जो भी वस्तु तैयार होती है, वह अच्छे किस्म की होती है ।

(६) औद्योगिक अशान्ति का अन्त—टेलर का यह अनुभव है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध की योजना के अन्तर्गत सस्था तथा उद्योग मे सदैव शान्ति रहती है श्रम व पूँजी के बीच झगडे नही होते , अत. हडतालो व तालेबदियो का अन्त हो जाता है । इसका कारण यह है कि 'मानसिक क्रान्ति' के परिणामस्वरूप पूँजी व श्रम के बीच पिता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तथा दोनो के हित परस्पर बँध जाते हैं । बीथलहेम स्टील कम्पनी मे नई प्रणाली लागू होने के पश्चात् एक भी हडताल नही हुई । काम मे ढिलाई बिल्कुल बन्द हो गई, क्योकि उसका कोई कारण ही नही रहा । वेतन मे इतनी वृद्धि कर दी गई कि वेतन वृद्धि को लेकर झगड की कोई सम्भावना ही न रही । सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह हुई कि श्रमिक व सेवायोजक चक्की के पाट के समान, एक दूसरे के बिल्कुल निकट आ गए । दोनो पक्षो के बीच निकटतम सहयोग तथा लगातार व्यक्तिगत सम्पर्क रहने से असन्तोष तथा झगडे बिल्कुल बन्द हो गए ।

(II) श्रमिको की दृष्टि से लाभ—

वैज्ञानिक प्रबन्ध की योजना से श्रमजीवियो को निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं :—

(१) काम का युक्तिपूर्ण वितरण—प्रत्येक श्रमिक को वही कार्य दिया जाता है, जिसके लिए वह अधिक उपयुक्त है । श्रमिक को उसकी मानसिक प्रवृत्ति एव रुचि के अनुसार कार्य दिया जाता है, जिससे उसे कार्य करने मे आनन्द का अनुभव होता है तथा असन्तोष की भावना नही रहती ।

(२) औद्योगिक प्रशिक्षण की चिन्ता से विमुक्त—श्रमिको को अपने औद्योगिक प्रशिक्षण की चिन्ता नही करनी पडती, क्योकि सेवायोजक इसका उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं ।

(३) वेतन मे वृद्धि—श्रमिको के वेतन मे ३०% से लेकर १००% तक वृद्धि हो जाती है।

(१) उत्पादको की दृष्टि से लाभ
(१) न्यूनतम श्रम परिव्यय।
(२) श्रमिको से काम अधिकतम ले सकना।
(३) श्रम विभाजन के लाभ।
(४) उत्पादन-व्यय मे कमी।
(५) माल की किस्म मे सुधार।
(६) औद्योगिक अशान्ति का अन्त।

(२) श्रमिको की दृष्टि से लाभ
(१) काम का युक्तिपूर्ण वितरण।
(२) औद्योगिक प्रशिक्षण की चिन्ता से विमुक्ति।
(३) वेतन मे वृद्धि।
(४) उच्चतर जीवन-स्तर।
(५) कार्यक्षमता मे वृद्धि।
(६) समय की बचत।
(७) अतिरिक्त पारितोषण।
(८) मानसिक क्रान्ति।

(३) उपभोक्ताओ को लाभ
(१) सस्ती व अच्छी वस्तुएँ मिलना।
(२) रहन-सहन के स्तर मे वृद्धि।

(४) देश को लाभ
(१) औद्योगिक शान्ति को बढावा।
(२) उत्पादन मे वृद्धि।

(४) उन्नतर जीवन-स्तर—वेतन मे वृद्धि के परिणामस्वरूप श्रमजीवियो का जीवन-स्तर भी ऊँचा हो जाता है। शराब पीना, जुआ खेलना आदि बुरी आदतें दूर हो जाती हैं तथा उनका सामान्य दृष्टिकोण ही वैज्ञानिक हो जाता है। अपने प्रति स्वाभिमान की भावना जागृत हो जाती है।

(५) कार्यक्षमता मे वृद्धि—श्रमिको की कार्यक्षमता भी बढ जाती है, क्योकि उन्हे सर्वोत्तम रीति से काम करना बताया जाता है।

(६) समय की बचत—वैज्ञानिक विधियो द्वारा काम होने के कारण काम का समय भी कम हो जाता है और अधिक श्रमिक कम से कम समय मे अधिक से अधिक काम करने मे समर्थ हो जाते हैं।

(७) अतिरिक्त पारितोषण—यदि श्रमिक निश्चित अवधि के भीतर कार्य पूरा कर लेते हैं, तो उन्हे अतिरिक्त पारितोषण मिलता है।

(८) मानसिक क्रान्ति—श्रम एव पूँजी के दृष्टिकोण मे परिवर्तन होता है, क्योकि वे परस्पर सहयोग से कार्य करते हैं। इससे औद्योगिक क्रान्ति को प्रोत्साहन मिलता है। प्रत्येक श्रमिक को इस बात का गर्व होता है कि प्रबन्धकर्त्ता उसका विशेष ध्यान रखता है। उन्हे इस बात का सदैव विश्वास रहता है कि किसी कठिनाई की दशा मे प्रबन्धकर्त्ता उनकी सहायता अवश्य करेंगे। ऐसे आश्वासन के परिणाम बड़े चमत्कारिक होते हैं।

श्रमिको को लाभ का उदाहरण—साइमण्ड्स रोलिंग मशीन कम्पनी, अमेरिका ने वैज्ञानिक प्रबन्ध की योजना लागू करने का निम्नलिखित परिणाम निकाला :—

(i) जिस कार्य को पहले १२० महिलाएं करती थी, उसके लिए अब केवल ३५ महिलाओं की आवश्यकता रह गई।

(ii) पहले प्रति लड़की का औसत वेतन ३½ से ४½ डालर प्रति सप्ताह था, किन्तु अब बढ़कर ६½ डालर से ९ डालर तक हो गया।

(iii) काम करने के घण्टे भी १०½ प्रति दिन के स्थान पर केवल ८½ प्रति दिन रह गए। शनिवार को आधे दिन की छुट्टी भी मिलने लगी।

(iv) काम की किस्म व परिशुद्धता (Accuracy) में भी पहले की अपेक्षा एक तिहाई वृद्धि हुई।

(III) उपभोक्ताओं को लाभ—

वैज्ञानिक प्रबन्ध की योजनाओं के परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं को तिहरा लाभ होने लगा—

(१) उनकी क्रय शक्ति बढ गई, क्योंकि अब उन्हें सस्ती चीजें मिलने लगी।

(२) उनको श्रेष्ठ किस्म की वस्तुयें उपलब्ध होने लगी।

(३) उनका उपभोग स्तर बढने के साथ-साथ रहन-सहन का स्तर भी बढने लगा।

(IV) देश को लाभ—

वैज्ञानिक प्रबन्ध की योजनाओं से समस्त राष्ट्र लाभान्वित होता है। जिस देश में सस्ती व अच्छी चीज बनें, औद्योगिक शान्ति रहे, उद्योगों में उत्पादन व्यय कम हो, आदि, वह क्यों आर्थिक प्रगति नहीं करेगा ? टामसन (Thompson) के शब्दों में, "वैज्ञानिक प्रबन्ध ने घाटे पर चलने वाले कारखानों को लाभ दिलाया, जो लाभ पर चल रहे थे, उनका लाभ बढाया तथा इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि उसका समाज पर बहुत गहरा प्रभाव पडा।"

वैज्ञानिक प्रबन्ध के दोष

वैज्ञानिक प्रबन्ध के विरोध में—

वैज्ञानिक प्रबन्ध के ऊपर जितने भी गुण गाए जाते हैं, ये वास्तव में केवल सैद्धान्तिक ही हैं, व्यावहारिक नहीं। सच बात तो यह है कि टेलरवाद (Taylorism) को कहीं भी सफलता नहीं मिली। इस समस्या को गम्भीरता से अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध की सफलता के मार्ग में तीन प्रधान रुकावटें हैं :—

(अ) प्रमापीकरण की असम्भवता,

(ब) श्रमिकों का विरोध, और

(स) सेवायोजकों का विरोध।

(अ) प्रमापीकरण की असम्भवता—वैज्ञानिक प्रबन्ध के लिए प्रमापीकरण अत्यन्त आवश्यक होता है, किन्तु वास्तव में यह बड़ा कठिन कार्य है, अतएव जब तक

दृढता से कार्य नही किया जाता, सफलता नही मिल सकती। वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत श्रमिको की मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार उनका चुनाव करना पडता है, प्रमाणित वस्तुओ का एव यंत्रो का चुनाव करना पडता है, उत्पादन की प्रत्येक क्रिया मे समानता लाई जाती है, इत्यादि। इन कार्यों के लिये प्रयोग की आवश्यकता होती है, जा कि अत्यन्त कठिन एव खतरनाक पद्धति है, क्योकि यदि प्रत्येक बात के लिए प्रयोग किए जायेंगे तो कारखाना एक कारखाना न रह प्रयोगशाला बन जाएगा, जिसमे वस्तुओ पर प्रयोग होगे, श्रमिको पर प्रयोग होंगे, यत्रो पर प्रयोग होगे, इत्यादि। यही कारण है कि प्रमापीकरण की प्रत्यक्ष असम्भवता के कारण वैज्ञानिक प्रबन्ध कही सफल न हो सका।

श्रमिको का विरोध—

वैज्ञानिक प्रबन्ध की असफलता का दूसरा कारण है श्रमिको की ओर से इसका घोर विरोध। इस विरोध के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं —

(i) श्रमिको की कार्य-क्षमता बढाने के लिए एव अधिक से अधिक उत्पादन लेने के लिए, उनमे अधिक कार्य की अपेक्षा की जाती है। घोर परिश्रम करने के कारण उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी कारखाने के अस्वास्थ्यमय वातावरण के कारण भी उनको हानि उठानी पडती है।*

(ii) कार्य के प्रमापीकरण के फलस्वरूप जो श्रमिक एक निश्चित कार्यक्षमता से कार्य नही करता, वह या तो निकाल दिया जाता है अथवा उसको कम मजदूरी दी जाती है।

(iii) अधिक कार्य के लिए अधिक पारितोषण का प्रलोभन भी अन्य श्रमिको की समानता मे नही होता, क्योकि प्रत्येक श्रमिक की कार्य-क्षमता भिन्न होती है और अतिरिक्त मजदूरी कार्यक्षमता के अनुसार ही दी जाती है, जिसका निर्धारण भी उत्पादक ही करते हैं। परिणामस्वरूप श्रमजीवियो मे एकता की भावना नही रहती।

(iv) वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत श्रमिक का अलग अलग व्यवहार देखा जाता है। इससे उनमे सगठन की प्रवृत्ति मन्द पड जाती है।

(v) मशीनो के अधिक प्रयोग के कारण श्रमिको को काम करने मे अधिक आनन्द नही आता। वे कार्य विशेष का केवल एक भाग ही करते हैं, अत. पूर्ण कार्य करने मे जो गर्व होता है, उसका वे अनुभव नही कर पाते। श्रमिको की स्वतन्त्र बुद्धि, विचारशीलता, कार्यक्षमता आदि के विकास लिए कोई स्थान नही रहता।

(vi) यत्रीकरण एव विशिष्टीकरण के कारण हाथ की कला का अन्त ही

---

* 'If men are caused to work at such a rate that their vigour diminishes they will in their life time do less work then they would have had they worked at slower and less exhausting pace and both the industry which employs them and the community in which they live will suffer accordingly.'

—F. E. Cardullo—*Harvard Business Studies*, Page 88.

हो जाता है। उत्पादन की समस्त कला एव उसके साधन सारे मिल मालिकों के हाथ मे आ जाते हैं। इस अधिक शक्ति के कारण वे श्रमिकों के हितो का ध्यान नही रखते, वरन् उनको हानि ही पहुचा सकते है। इससे एकता की भावना दुर्बल हो जाती है और पारस्परिक सहयोग नही रहता।

(vii) अधिक उत्पादन से होने वाले लाभ का अधिकाश भाग भी उद्योगपतियो की ही जेब मे जाता है। यह अधिक उत्पादन वास्तव मे श्रमिकों के त्याग तथा अतिरिक्त श्रम के कारण होता है, अतएव इसके द्वारा होने वाले लाभ पर श्रमजीवियो का ही अधिकार होना चाहिए। किन्तु वैज्ञानिक प्रबन्ध में इसका कोई आयोजन नही है, यही विरोध का कारण बन जाता है।

(viii) श्रमजीवी वैज्ञानिक प्रबन्ध को चालाकी से भरी अपने चूसने की नई पद्धति समझते है। जब श्रमिक अधिक उत्पादनशील हो जाते हैं तथा जब उत्पादन एक निश्चित मात्रा से ज्यादा होने लगता है, तो पूँजीपति मजदूरी की दर कम कर देते हैं। इसमे श्रमिकों की मानसिक शक्ति पर बुरा प्रभाव पडता है और कभी-कभी तो वे काम टालने लगते हैं।

(ix) श्रमिक सघो की दृष्टि से भी यह पद्धति हानिकर है, क्योंकि यह श्रमजीवियो को विभिन्न श्रेणियो मे विभाजित करती है। इससे उनमें एकता की भावना नही रहती। उपर्युक्त कारणो से वैज्ञानिक प्रबन्ध का घोर विरोध किया गया और यह पद्धति कही भी विशेष सफल न हुई।*

सेवायोजक का विरोध—

सेवायोजकों की दृष्टि से भी वैज्ञानिक प्रबन्ध की पद्धति विशेष लाभदायक नही होती, क्योंकि :—

(1) यह पद्धति बडी खर्चीली है। कार्यक्षमता एव उत्पादन की वृद्धि के लिए निरीक्षण की आवश्यकता होती है। एक पृथक योजना विभाग खोला जाता है, अनेक विशेषज्ञ रखने पडते है, इत्यादि। ये उत्पादन मे सहायक नही होते, वरन् भार रूप प्रतीत होते हैं (विशेषकर आर्थिक मन्दी के युग मे)।

---

* 'Dr. C S Myers commenting on Taylorism writes as below ".. . is unscientific because obviously no accurate information is available upon which the amounts to be deducted for the allowances made, can be based. It is anti social as it aims at excluding as far as possible the average workman. It is unpsychological since it is a measure of rate of work obtained under abnormal conditions and in circumstances that cannot fail to arouse an undesirable mental atmosphere throughout the factory"

—"*Industrial Psychology*."

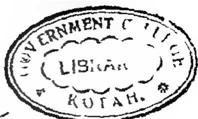
(ii) वैज्ञानिक प्रबन्ध में प्रयोग भी अत्यन्त आवश्यक होता है। वस्तु, श्रम एवं यन्त्रादि के विषय में प्रयोग किये जाते हैं। इससे भी उत्पादन व्यय बढ़ता है, क्योंकि प्रयोग का व्यय भी उत्पादन-मूल्य में सम्मिलित करना पड़ता है। जब कभी नवीन आविष्कार हो जाता है और यन्त्र पद्धति में कुछ परिवर्तन करने की जरूरत पड़ती है, तो व्यय और बढ़ जाता है।

(iii) नवीन यन्त्रादि के पुन. सयापन (Replacement) में भी अधिक व्यय होते हैं।

किन्तु लाभ हानि के सन्तुलन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उक्त धारणाएँ भ्रम-मूलक हैं। जहाँ भी वैज्ञानिक प्रबन्ध के प्रयत्न असफल हुए, वहाँ पद्धति का कोई दोष नहीं, त्रुटि तो वास्तव में उत्पादकों की है। यदि प्रमापीकरण के बिना सफलता की आशा करें, तो यह कैसे सम्भव है? अत. टेलरवाद को पुनर्जीवित करने के लिए पद्धति के विरुद्ध विरोध कम करने का एवं प्रमापीकरण का आधार लेकर दृढ़ता से कार्य करना चाहिए, तभी सफलता सम्भव हो सकती है। होक्सी (Hoxie) का यह कथन सर्वदा सत्य है कि—"टेलर का सिद्धान्त काफी सीमा तक काम लेने में अज्ञान के स्थान पर ज्ञान का प्रचार करता है तथा मालिक और नौकर दोनों को अनुचित माँग करने से रोक सकता है, परन्तु स्वार्थी लोगों द्वारा इसका दुरुपयोग भी किया जा सकता है।"

STANDARD QUESTIONS

1. "The most obvious advantages of scientific management is the additional output that follows a more intensive and better directed division of labour and fuller utilization of plant and capital resources' Comment fully upon this statement.
2. Discuss the effect of scientific management on wages and cost of production. Give suitable illustrations.



अध्याय ८

संयोग की परिभाषा एवं इसके गुण-दोष

(Definition, Merits & Demerits of Combinations)

अठारहवीं शताब्दी में यथेच्छकारिता की नीति का बोलबाला—

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में इङ्गलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के बाद समस्त औद्योगिक जगत में पूँजीवाद का बोलबाला था। वह 'यथेच्छकारिता' (Laissez Faire) का युग था। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार व्यवसाय व उद्योग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। उद्योग अथवा व्यवसाय के किसी भी क्षेत्र में राज्य का लेशमात्र भी हस्तक्षेप न था। आर्थिक क्षेत्र में भी किसी प्रकार का राजकीय नियन्त्रण न था। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यापारिक एवं औद्योगिक क्षेत्र में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' यह कहावत पूर्णतः लागू होती थी। स्पर्धा पूर्णतया स्वतन्त्र व खुली हुई थी। प्रत्येक धनी व्यवसायी जो योग्य अथवा चालाक था, वह अन्य साथियों को उस व्यवसाय क्षेत्र से स्वतन्त्र स्पर्धा की आड़ में बड़ी सरलता से निकाल सकता था। इस स्वतन्त्र-व्यापार नीति का आविष्कर्ता एडम स्मिथ था, परन्तु क्रमशः मुक्त व्यापार नीति के दुष्परिणाम लोगों को प्रतीत होने लगे।

यह प्रतिस्पर्धा धीरे-धीरे ऐसी विषम स्थितियों में पहुँचने लगी कि कमजोरों का गला निरर्थक ही काटा जाने लगा। पूँजीपतियों ने श्रमिक वर्ग को वेतन कम देना प्रारम्भ कर दिया तथा न्यूनतम व्ययों पर उत्पादन करने लगे। लोग पूँजीवाद के अन्य दोषों को भी अनुभव करने लगे। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि जब तक सम्पूर्ण देश में आर्थिक समानता एवं स्वतन्त्रता न होगी, तब तक मुक्त-व्यापार की नीति यशस्वी नहीं हो सकती। जिस देश में एक ओर महान गरीबी और दूसरी ओर ऐश्वर्यशाली अमीरी विराजमान हो वहाँ मुक्त-व्यापार तथा स्वतन्त्र-स्पर्धा की नीति कदापि सफल नहीं हो सकती। सीमित क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा कोई बुरी चीज नहीं है, किन्तु जब वह उन विषम परिस्थितियों में पहुँच जाती है, जिसमें केवल 'गला काट स्पर्धा' (Cut throat Competition) द्वारा अन्य उत्पादकों को उस क्षेत्र से बाहर निकालना ही एकमात्र ध्येय रहता है तो ऐसी स्पर्धा को हितकर नहीं कहा जा सकता। उससे जनता को मूल्य की कमी से कुछ काल के लिए जो लाभ प्रतीत होता है, वह वास्तव में क्षणिक होता है, क्योंकि कमजोर उत्पादकों को उत्पादन क्षेत्र व

विक्रय क्षेत्र से निकाल देने के उपरान्त, वे शक्तिशाली उत्पादक तथा विक्रेता अपनी वस्तुओं के मनमाने दाम मांगने लगते हैं और इस प्रकार जनता को निर्दयता से लूटते हैं। अन्त में, ऐसी परिस्थिति आ जाती है कि सम्पूर्ण व्यवसाय किंचित उत्पादकों के हाथ में आ जाता है और आर्थिक स्वतन्त्रता के जो स्वप्न यथेच्छकारिता नीति के अन्तर्गत देखने की कल्पना की थी, वह सब उलट जाती है और उसके स्थान पर विदोहन (Exploitation) का नग्न नृत्य होने लगता है।

गला काट प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने के लिये किये गये उपाय—

अतः १९वीं शताब्दी के अन्त में इस गला-काट प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने के लिए अनेक योजनायें बनाई गईं, जिनमें आवागमन के सुधार, संयुक्त कम्पनियों का विस्तार तथा नवीन व्यापारिक संस्थाओं का निर्माण प्रमुख हैं। इन प्रयत्नों से भी पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं मिली, तब व्यापारिक जगत का ध्यान इस नियम की ओर आकर्षित हुआ कि—"प्रतिस्पर्धा से संयोग को जन्म मिलता है" (Competition begets Combination) अर्थात् उस समय की समस्त योजनाओं को विभिन्न प्रकार के संयोगों का रूप देने का प्रयत्न किया गया। यही नहीं, व्यापारिक संगठन तथा औद्योगिक शासन व्यवस्था को सुदृढ बनाने के लिये विभिन्न व्यापार-संस्थाओं में अथवा एक ही उद्योग की विभिन्न शाखाओं में संघीय (Guild) पद्धति पर समझौते होने लगे, जिन्होंने आगे चलकर संयोगों को प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार की प्राथमिक संस्था विक्रय नियन्त्रण (Limitation of vend) के लिए न्यूकेसल (इङ्गलैण्ड) में बनाई गई, जिसमें कोयले का विक्रय निश्चित मूल्यों पर किया जाता था।

संयोग आन्दोलन क्यों
(Causes encouraging Combination)

संयोग आन्दोलन को उत्पन्न करने वाले कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार हैं:—

(१) परिकाल्पनिक लाभ का आकर्षण—१९वीं शताब्दी के अन्त में प्राचीन पद्धति पर परिकाल्पनिक लाभों के लिए कोई अवसर न रहा था। शोषण भी क्रमशः कम हो रहा था, अतः अधिक पूँजी तथा अधिक मजदूरी लगाकर लाभ कमाने की इच्छा से उत्पादकों ने 'संयोगों' की शरण ली। उन्होंने स्वयं उद्योगों का नियन्त्रण करके नवीन 'संयोग' स्थापित किए।

(२) प्रतिस्पर्धा—सन् १८८० के लगभग प्रतिस्पर्धा ने औद्योगिक क्षेत्र में तीव्र रूप धारण किया। उत्पादन भी प्रायः छोटी मात्रा में किया जाता था, जिसमें हानि की सम्भावना भी कम थी, किन्तु बाजारों के विस्तार के साथ-साथ बड़ी मात्रा में उत्पादन होने लगा तथा अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा के दोषों का भी लोग अनुभव करने लगे। यह प्रतिस्पर्धा इतनी तीव्र थी कि व्यापार से किसी को भी लाभ नहीं होता था, अत्यधिक उत्पादन भी हो जाता था तथा उत्पादक व्यापारिक क्षेत्र में एक दूसरे का गला

काटने के लिए तैयार थे।[1] यह प्रतिस्पर्धा इङ्गलैण्ड में सन् १८७५-९५ की अवधि मे अधिक तीव्र हो गई थी, जबकि व्यापार मे लाभ की अपेक्षा हानि होना ही एक साधारण बात थी।[2] इस प्रकार की विषम परिस्थितियो से किसी को लाभ न होता देख कुछ योग्य व अनुभवी व्यक्तियो ने अपना ध्यान 'सयोग' की ओर आकर्षित किया, अर्थात् प्रतिस्पर्धा ने सयोग को जन्म दिया।

(३) आवागमन के साधनो मे वृद्धि तथा सुधार—आवागमन के साधनो मे वृद्धि एव सुधार के कारण बाजार का क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया। व्यापारियों को विभिन्न प्रकार की सुविधाये मिलने लगी, जिससे बडी मात्रा मे वस्तुओ का संग्रह तथा विक्रय होने लगा। यही नही, उत्पादन के क्षेत्र मे भी अनेक आविष्कार हुए, जिसके लिए पूँजी तथा सुदृढ व्यापारिक सगठन की आवश्यकता थी, अत विस्तृत व्यापार क्षेत्र के लिए व्यापारिक पार्षदो (Business Associations) का निर्माण होने लगा एव उद्योगो के परस्पर सयोग के लिए प्रस्ताव आने लगे, जिससे विभिन्न उत्पादको एव व्यापारियो की व्यवस्था तथा निर्देशन से लाभ उठाया जा सके।

(४) बडी मात्रा मे उत्पादन से लाभ का आकर्षण—परिकाल्पनिक लाभ के आकर्षण तथा आवागमन के साधनो मे वृद्धि ने बडी मात्रा मे उत्पादन को प्रोत्साहन दिया। एक से अधिक उत्पादक मिलकर सामूहिक रूप मे सयोग निर्माण करके बडी मात्रा मे उत्पादन कार्य करने से होने वाली मितव्ययितायो (Economies) का लाभ उठाने की चेष्टा करने लगे। मुख्यतया उत्पादन क्षेत्र मे अधशासन का क्रमागत वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns) लागू होता है, अत. सदैव बडी मात्रा मे उत्पादन करने म उत्पादन परिव्यय कम रहता है और उत्पादको को विशेष लाभ मिलने की सम्भावना रहती है।

(५) प्रशुल्क नीति—विभिन्न राष्ट्रो द्वारा अपनाई गई प्रशुल्क नीति ने भी सयोग-आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया। पारस्परिक गला काट-प्रतिस्पर्धा से बचने तथा राष्ट्रीय उद्योगो को सरक्षण प्रदान करने के लिए विभिन्न राष्ट्रीय शासनो ने ऐसी नीति अपनाई कि जिसमे विदेशी माल उनके देश मे अधिक कीमती हो गया अथवा उस माल की मात्रा सकुचित हो गई, क्योकि कोटा पद्धति (Quota System) के अन्तर्गत वह माल केवल सीमित मात्रा मे ही देश के अन्दर आने दिया जाता था।

(६) संयुक्त स्कन्ध-व्यवसाय—संयुक्त स्कन्ध उद्योगो की वृद्धि के परिणामस्वरूप भी सयोग आन्दोलन को अनेक सुविधायें मिली, क्योकि सयुक्त-स्कन्ध वाली अभिकर्तृत्व सस्थाओ द्वारा केवल थोडे से व्यक्ति ही अधिकाश व्यापारिक सगठनो का नियन्त्रण कर सकते थे। इस प्रकार सयुक्त-स्कन्ध प्रमण्डलो के निर्माण के परिणामस्वरूप औद्योगिक समन्वय सम्भव हुआ, जिसके द्वारा सयोग का निर्माण सरल होगया।

---

1. "Business Organisation"—Haney
2. "Evolution of Industrial Organisation" Shields, page 80.

इस प्रकार औद्योगिक समन्वय के हेतु जो संयोग निर्माण होते है, उन्हे सघारी मडल कहते है।

(७) पूंजी की आवश्यकता—बडे-बडे व्यवसायो को सुचारु रूप से चलाने के लिए अधिक पूंजी, असामान्य योग्यता, महत्त्वाकाक्षा तथा प्रभावी व्यक्तित्व की आवश्यकता पडती है। उतनी पूंजी, एकत्रित करना प्रत्येक उपक्रम के लिए सम्भव नही होता। फिर उक्त आवश्यकताएँ व्यापारिक एव औद्योगिक विस्तार के साथ सीमित हो जाती है, जिनकी पूर्ति के लिए भी व्यापारिक तथा औद्योगिक सयोगो का निर्माण किया जाता है। तीव्र प्रतिस्पर्धा के कारण वैयक्तिक प्रभुत्व व्यापार के विस्तार के साथ कम हो जाता है, अत. उस विषम प्रतिस्पर्धा मे बचने के लिए यह उचित समझा जाता है कि उन सब उपक्रमो के बीच ऐसा कोई पारस्परिक समझौता हो, जिसके द्वारा वे अपने अपने क्षेत्र मे किसी दूसरे के हस्तक्षेप के बिना सुचारु रूप से कार्य करते रहे। इस प्रकार शिथिल सयोग (Loose Combinations) हमारे यहाँ भी अधिकता से पाये जाते है।

(८) औद्योगिक एवं तान्त्रिक परिस्थिति—औद्योगिक एव तान्त्रिक परिस्थितियो के कारण भी सयोग आन्दोलन को काफी बल मिला। आधुनिक व्यापारिक विश्व की आवश्यकताएँ विभिन्न हैं, उनकी माँग की पूर्ति करने के लिए बड़ी-बडी निर्माण शालाओ व उत्पादन-शालाओ की आवश्यकता पडती है। यातायात तथा सन्देशवाहन के उन्नत साधनो ने इन उत्पादनशालाओं का क्षेत्र बहुत विस्तृत बना दिया है। इस परिस्थिति ने वैज्ञानिको को ऐसे-ऐसे नूतन अनुसन्धान करने के लिए विवश कर दिया, जिनकी सहायता से बड़े पैमाने पर वस्तुओ का उत्पादन सभव हो गया। इस प्रकार औद्योगिक एव तान्त्रिक परिस्थितियो के कारण भी औद्योगिक सयोगो का निर्माण हुआ तथा विश्व-व्यापक विपणि अस्तित्व के कारण यह सम्भव हो गया कि कोई भी एक उद्योग अपना व्यापार चालू रखे अत. विभिन्न व्यापारो को परस्पर सयोगो मे आना अनिवार्य हो गया।

(९) व्यापार-चक्रो का प्रभाव—तेजी और मन्दी (Boom and Depression) वर्तमान अर्थ-व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण है। इन व्यापार चक्रों के कारण भी बडे बडे सयोगो का निर्माण हुआ। व्यापार चक्रो के कारण मन्दी के समय उद्योग आर्थिक सकट मे फँस जाते है और कभी-कभी उनका विलीयन हो जाता है। इसके विपरीत तेजी के युग मे नूतन उद्योगो को भी प्रोत्साहन मिलता है। इस समय सभी प्रकार के व्यापार क्षेत्र मे आते है, चाहे वे व्यापारिक कार्यक्षमता रखते हो अथवा नही। मन्दी के युग मे ऐसे नूतन उद्योगो को या तो अपना व्यापार बन्द करना पडता है अथवा सीमित करना पडता है। उनकी नौका मँझदार मे फँस जाती है, जिसको पार लगाने के लिए सयोग की शरण ग्रहण करते है। इस प्रकार मे पारस्परिक विरोध और स्पर्धा को दूर करके पारस्परिक लाभ और समृद्धि के हेतु विभिन्न प्रकार के सयोग निर्माण कर लेते है।

(१०) युद्ध-कालीन प्रभाव—युद्ध-काल में वस्तुओं की माँग दो विभिन्न दिशाओं में आती है—सैनिक आवश्यकताएँ और जन-साधारण की आवश्यकताएँ, जो पूर्ववत: रहती हैं। बढ़ी हुई माँग को पूरा करने के लिये अधिक उत्पादन की आवश्यकता होती है, किन्तु उत्पादन कार्य में अचानक इतनी उन्नति एक साथ नहीं हो सकती। मुद्रा-प्रसार के कारण वस्तुओं के मूल्य चढ़ जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रीय सरकार संयोग निर्माण करने के लिये उत्तेजना देती है, जिससे मजदूरी, उत्पादन, माँग एवं पूर्ति का नियमन हो सके तथा काम करने की परिस्थितियों पर नियन्त्रण रख सकें। इसका अपने देश में उपयुक्त उदाहरण उत्तर-प्रदेश का सुगर सिन्डीकेट लिमीटेड है।

(११) वैज्ञानीकरण की आवश्यकता—छोटे-छोटे उद्योगों में वैज्ञानीकरण के प्रयोग भी सम्भव नहीं हैं, अत: औद्योगिक वैज्ञानीकरण करने के लिये तथा उसकी मितव्ययिता का लाभ उठाने की दृष्टि से संयोग का निर्माण होने लगा।

(१२) युद्धोपरान्त-परिस्थिति—युद्ध के बाद प्राय: वस्तुओं के दाम गिर जाते हैं, उद्योग नष्ट प्राय: हो जाते हैं अथवा उनका विकेन्द्रीयकरण हो जाता है, बेकारी को प्रोत्साहन मिलता है तथा विभिन्न राष्ट्र औद्योगिक प्रगति के लिए अधिक मात्रा में संरक्षण कर लगाते हैं। ऐसी परिस्थिति में भी उद्योगों को संयोग की आवश्यकता प्रतीत होती है, जिससे वे अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना सकें। विस्थापित विपणियों को पुन: प्रस्थापित कर सकें एवं औद्योगिक कलेवर को मजबूत बनाकर नष्ट प्राय: उद्योगों को जीवन दान दें।

संयोग की परिभाषा एवं उद्देश्य

संयोग की परिभाषा—

जब किसी उद्योग या व्यवसाय में विभिन्न इकाइयाँ किसी सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ अंशों में अपने व्यक्तिगत हितों का बलिदान करते हुए एक सूत्र में बँधती हैं तो इस प्रकार के बने संगठन को 'संयोग' (Combination) कहते हैं। औद्योगिक संयोग आपस में लड़ने वाले बच्चों की माँ की तरह होता है। इसमें भिन्न-भिन्न छोटे-बड़े तथा आपस में प्रतिस्पर्धा करने वाले व्यापारियों अथवा उत्पादन-कर्त्ताओं को एकत्रित किया जाता है तथा एक-दूसरे के सहयोग और सहायता से एक दूसरे को हानि पहुँचा कर नहीं, परन्तु एक दूसरे के कार्य को बँटाते हुए सबके हित में काम किया जाता है। यदि संयोग के सदस्य स्वेच्छा एवं ईमानदारी से कार्य करते हैं तो वह संयोग स्थाई तथा सुदृढ़ होता है और अपने सदस्यों की प्रगति के लिए चमत्कारिक कार्य करता है, अन्यथा ऐसा न होने पर प्रारम्भ में ही नष्ट हो जाता है।

संयोग के उद्देश्य—

संयोग का निर्माण प्रधानत: निम्न उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु किया जाता है—

(१) विषम प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन करने तथा संयोग में समाविष्ट (Merged) उद्योगों में परस्पर सहायता एवं सहकार्य की भावना का निर्माण करना।

(२) सदस्य उद्योगों में उत्पादन, वितरण, क्रय तथा विक्रय पद्धतियों के केन्द्रीयकरण से उनके व्यय में कमी करना तथा उनको पर्याप्त लाभ प्रदान करना।

(३) प्रत्येक सदस्य उद्योग के आर्थिक एवं औद्योगिक साधनों के केन्द्रीयकरण से सम्पूर्ण उद्योग का आर्थिक कलेवर सुदृढ़ बनाना।

(४) प्रत्येक सदस्य उद्योग के प्रबन्ध एवं नियन्त्रण के केन्द्रीयकरण से न्यूनतम व्यय में कार्यक्षम एवं समुचित प्रबन्ध तथा नियन्त्रण सुविधायें प्रदान करना।

(५) बड़े पैमाने पर उत्पादन एवं औद्योगिक विवेकीकरण के लाभ प्रदान करना।

(६) प्रत्येक सदस्य की विनियोगित पूँजी पर समुचित प्रत्याय (Return) देना।

वृहत व्यापार (Big Business)—

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रायः व्यापारीगण संयोग का निर्माण करते हैं। अमेरिका में सहयोग का दूसरा नाम 'वृहत व्यापार' (Big Business) भी है। इसका तात्पर्य आर्थिक साधनों तथा समान व्यापारों का कुछ व्यक्तियों के हाथ में एकत्रीकरण हो जाने से है। व्यक्तियों की ही भाँति कुछ व्यापार जन्म से ही विशाल रूप वाले होते हैं, कुछ क्रमशः बड़प्पन प्राप्त करते हैं और कुछ पर बड़प्पन बरबस लादा जाता है। यदि कोई कम्पनी बहुत अधिक पूँजी से प्रारम्भ की जाती है तो वह जन्म से ही बड़ी कहलाती है, जैसे—पंजाब नेशनल बैंक लिमिटेड। यदि कोई व्यापार उत्तम प्रबन्ध तथा उत्पादित वस्तु की लगातार माँग बढ़ने से धीरे धीरे उन्नति करता है, तो कहेंगे कि उसने क्रमशः प्रगति की, जैसे टाटा का लोहा एवं स्पात का कारखाना। यदि कोई संस्था अन्य संस्थाओं को क्रय कर लेती है तो कहेंगे कि बड़प्पन उस पर लादा गया, जैसे—ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन लिमिटेड।

संयोग के लाभ एवं हानियाँ
(Advantages & Disadvantages of Combination)

संयोग के लाभ—

संयोग से प्राप्त होने वाले लाभ विशेषतः उनके स्वरूप पर निर्भर हैं, अर्थात् जिस ढङ्ग से संयोग का निर्माण किया गया हो, उस ढङ्ग पर निर्भर रहते हैं। संयोग से प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन होता है तथा सहयोग एवं सहकारिता की भावना को बढ़ावा मिलता है। इससे वृहत्-परिमाण उत्पादन पद्धति के लाभ तो होते ही हैं किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य विशेष लाभ भी होते हैं, जो निम्नलिखित हैं :—

(१) उत्पादन मितव्ययिता—संयोग के निर्माण से सदस्य उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति (जैसे, कच्चे माल की खरीद, मशीनरी के हिस्सों आदि की खरीद, श्रम का क्रय, यातायात इत्यादि) बड़ी सुगमता से तथा कम व्यय पर सुलभ हो जाती है। इसमें मध्यस्थ (Intermediaries) की आवश्यकता नहीं पड़ती तथा वस्तु के स्रोतों पर भी नियन्त्रण रहता है, अतः मध्यस्थों का किसी प्रकार का वेतन भी नहीं

देना पडता, जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन-व्यय भी कम हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त सयोग की दशा मे विभिन्न उद्योगो की क्रियाओं का प्रमापीकरण किया जा सकता है, उत्पादन मे सस्ते से सस्ते मूल्य पर कार्य हो सकता है। यही नही, प्रत्येक सदस्य संस्था का समस्त स्थान घेरने की अपेक्षा किसी विशेष भाग मे ही कार्य कराया जा सकता है, जिसमे स्थान की बचत होती है। अपव्यय मे काफी मितव्ययिता हो जाती है और कुशलता मे वृद्धि होती है। इसी प्रकार माँग के अनुसार पूर्ति का समायोजन भी किया जा सकता हैं। जो कारखाने आर्थिक दृष्टि से उचित कार्य करने के निमित्त स्थापित होते है उनका पूर्णत. उपयोग हो जाता है और जो अनुचित एव अनुपयुक्त प्रतीत होते है, उन्हे बन्द कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त सयोग की दशा मे अधिक व्यय वाला, किन्तु अधिक कौशलपूर्ण यन्त्रादि भी सरलता से क्रय किया जा सकता है।

(२) अर्थ मे मितव्ययिता—जब अनेक सस्थाए आपस मे मिल जाती हैं तो उनकी आर्थिक स्थिति भी सुदृढ और उनकी कार्यशील पूँजी पहले की अपेक्षा अधिक हो जाती है, अत. सयोग द्वारा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति बडी सुगमता से की जा सकती है। इसके लिए न तो अधिक व्यय होना है और न अधिक आपत्तियाँ ही उठानी पडती हैं।

(३) प्रबन्ध एव व्यवस्था मे मितव्ययिता—सयोग से सबसे बड़ा लाभ प्रबन्ध एव व्यवस्था मे मितव्ययिता होना है। सचालको, प्रबन्धको तथा साधारण कर्मचारियो की आवश्यकता पहले की अपेक्षा बहुत कम हो जाती है। सदस्य उद्योगो की आवश्यकतानुसार केवल अनुभवी एवं योग्य प्रबन्धक अथवा सचालक रखे जा सकते हैं तथा उनकी कार्यक्षमता के अनुसार कार्य-विभाजन किया जा सकता है। यही नही, तान्त्रिक सलाहकारो को भी नियुक्त किया जा सकता है, जिसकी नियुक्ति प्रत्येक सदस्य को अन्यथा सम्भव न होती। इस प्रकार कार्य के प्रवर्तन एव उन्नति के लिए योग्य एव अनुभवी लोग इन सयोगो के ही कारण प्राप्त हो जाते हैं, जिनकी नियुक्ति मे भी पर्याप्त मितव्ययिता हो जाती है।

(४) वितरण व्यय मे मितव्ययिता—सयोग के कारण विज्ञापन-व्यय मे मितव्ययिता होती है, क्योंकि यदि सभी उद्योग अलग-अलग रहते हैं तो उन्हे अपनी वस्तुओं के आकर्षण के लिए अलग अलग विज्ञापन करना पडता है, परन्तु सयोग हो जाने से सामूहिक रूप मे विज्ञापन किया जा सकता है, जिसमे व्यय मे मितव्ययिता होती है। इसके अतिरिक्त विज्ञापन के नवीनतम तथा सुन्दर से सुन्दर ढङ्ग भी प्रयोग मे लाये जा सकते हैं। इस प्रकार अनेक सदस्य सस्थाओं के मध्य से प्रतिस्पर्धा की भावना का उन्मूलन कर दिया जाता है। दूसरे, सयोग के कारण वस्तुओं के वितरण के लिए यातायात-व्यय मे मितव्ययिता हो जाती है, क्योंकि यातायात-सस्थाओं से वाहन सम्बन्धी सुविधाजनक समझौता किया जा सकता है। भ्रमण-कर्ताओं तथा विक्रेताओं के रखने मे भी मितव्ययिता हो जाती है। प्रत्येक कारखाने को माल को

पूर्ति के हेतु पृथक-पृथक क्षेत्र नियुक्त कर दिए जाते हैं। इससे यातायात-व्यय में और भी कमी हो जाती है।



(५) विक्रय मूल्य का निर्धारण—विक्रय-सम्बन्धी प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन होने के कारण वस्तुओं का मूल्य प्रायः उचित रहता है। इससे उपभोक्ताओं को विशेष लाभ होता है, क्योंकि उन्हें उचित मूल्य पर वस्तुएं सुगमता से मिल जाती हैं।

(६) व्यापारिक एवं तान्त्रिक ज्ञान का विनिमय—संयोग के फलस्वरूप प्रत्येक सदस्य उद्योग को एक दूसरे के व्यापारिक भेद (Trade Secrets) का उचित उपयोग करने का अवसर मिलता है। इस प्रकार कुशल एवं उपयुक्त कार्य-प्रणाली का उपयोग सामूहिक रूप से सभी उद्योगों के लाभार्थ किया जाता है। इसके अतिरिक्त औद्योगिक अनुसन्धान के लिए भी पर्याप्त सुविधायें प्राप्त हो जाती हैं।

संयोग से हानियां—

उपर्युक्त लाभ होते हुए भी संयोग से निम्नलिखित हानियां होती हैं :—

(१) व्यवस्था में शिथिलता—संयोग निर्माण करने से औद्योगिक संगठन का प्रायः विस्तार हो जाता है और परिणामस्वरूप प्रबन्ध एवं व्यवस्था में शिथिलता आ जाती है तथा कार्यक्षमता घट जाती है। "गत १०० वर्ष के औद्योगिक परिवर्तन से यह बात प्रमाणित होती है कि उद्योगों के प्रबन्ध एवं शासन की अपेक्षा यान्त्रिक

प्रगति शीघ्र गति से हुई है। .... जहाँ तक औद्योगिक शक्ति के केन्द्रीयकरण का सम्बन्ध है, उसका अपयश व्यापारिक योग्यता की पूर्ति न होने से होता है।*

(२) एकाधिकार—सयोग व्यापारिक क्षेत्र मे एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं और फिर उस क्षेत्र मे अन्य प्रतिस्पर्धियो को नही आने देते। इसमे उपभोक्ताओ एव समाज को हानि होती है। जब व्यापारिक क्षत्र मे कोई प्रतिद्वन्द्वी नही रहता तो सयोगिक सस्थाएँ एकाधिकृत मूल्य (Monopolistic Prices) लेती हैं और बिचारे उपभोक्ताओ को मुँह मागा दाम देना पडता है।

(३) साहस का अभाव—सयोग निर्माण, वैयक्तिक साहस एव अनुसन्धान-वृद्धि के लिए बाधक होते हैं, क्योकि सदस्य उद्योग मे अगर कोई ऐसे व्यक्ति हो जो यन्त्रादि मे अच्छे अन्वेषण एव अनुसन्धान कर सकें तो वे उन्हे करने के लिए कभी तैयार नही होते, क्योकि वे जानते हैं कि उनके परिश्रम का फल केवल उन्हे न मिलकर समस्त सयोग को प्राप्त होगा, अत: उनमे साहस का सर्वथा अभाव पाया जाता है।

(४) अत्यधिक पूँजी होना—सयोग में पूँजी की अधिकता होना स्वाभाविक है, क्योकि सयोगो के सभी स्वामी अधिकतर अच्छे पूँजीपति होते हैं। परिणामस्वरूप, अत्यधिक पूँजी से होने वाली समस्त बुराइयाँ उसके अन्तर्गत पाई जाती हैं। कभी-कभी तो इनके सचालकगण सट्टे तथा जुए आदि मे फँस जाते हैं, जिससे बाद मे विनियोक्ताओ तथा अशधारियो को हानि उठानी पड़ती है।

(५) श्रमिको को आपत्ति—श्रमिको के रोजगार, छँटनी आदि के सम्बन्ध मे भी सयोगो का नियन्त्रण रहता है, जो सदैव औद्योगिक दृष्टि से ही किया जाता है, जिसमे श्रमिको के हित एव रक्षा का ध्यान नही रखा जाता है।

(६) आय का असमान वितरण—बड़े-बड़े सयोगो के निर्माण से पूँजी एव उद्योगो से होने वाली आय का केन्द्रीयकरण हो जाता है। राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा भाग कतिपय व्यक्तियो के हाथ मे चला जाता है, जो अपनी इच्छानुसार आय का वितरण करते हैं, जिसमे श्रमिकों की हानि के साथ-साथ राष्ट्रीय हानि भी पर्याप्त मात्रा मे होती है।

(७) भ्रष्टाचार—पूँजी अधिक होने के कारण अपने इच्छित हेतु की पूर्ति के लिए सयोग राज्य कर्मचारियो को घूस आदि देकर राजनैतिक एव शासकीय भ्रष्टाचार फैलाते हैं। इस प्रकार कभी-कभी ये निजी लाभ के लिए जनता के हितो का ध्यान न रखते हुए कार्य करते हैं।

अत: औद्योगिक सयोगो की हानियो को दूर करने के लिए पाश्चात्य देशो मे नये-नये सनियम बनाये गये हैं, जिससे इनकी असामाजिक प्रवृत्तियो को रोका जा सके जैसे—'संयोग विरोधी अधिनियम', 'शरमन लॉ' आदि। कुछ अर्थशास्त्रियो का ऐसा

---

* American Economic Association (1904, page 199), From Evolution of Industrial Organisation by Shields

सुझाव है कि जब सयोग पूर्ण एकाधिकार स्तर पर पहुँच जाये तो उसका राष्ट्रीयकरण हो जाना चाहिए।

STANDARD QUESTIONS

1. Indicate the chief reasons for the modern tendency towards amalgamation of business undertaking Point out the effects *of su h amalgamation*
2. What is 'Big Business", and why do business tend to become big ? It is said that some business are born great some achieve greatness and some have greatness thrust upon them Discuss this statement with Indian conditions



अध्याय ६

संयोग के प्रकार एवं प्ररूप

(Kinds & Forms of Combinations)

सयोगो के प्रकार

सयोग तीन प्रकार के होते हैं —

(I) क्षैतिज अथवा समतल सयोग (Horizontal Combination)।
(II) उदग्र अथवा लम्बरूप सयोग (*Vertical Combination*)।
(III) चक्रित सयोग (Circular Combination)।

(I) क्षैतिज अथवा समतल सयोग

परिभाषा एव हेतु —

इ हे व्यापारिक सयोग' भी कहते है, क्योकि ये विशेषत व्यापारिक क्षेत्र मे ही पाये जाते हैं। क्षैतिज सयोग का निर्माण अधिकतर विभिन्न उत्पादको व निर्माण-

कर्त्ताओं द्वारा बनाई हुई एक ही वस्तु को बाजार में उचित मूल्य में बेचने के हेतु किया जाता है। प्रत्येक औद्योगिक इकाई का उत्पादन कार्य व सगठन पूर्ववत् ही चलता रहता है। उनके बीच केवल एक ऐसा समझौता हो जाता है कि उनका प्रबन्ध-व्यय कम हो जाय और उत्पादित वस्तु सरलतापूर्वक बेची जा सके। इस सयोग का मुख्य उद्देश्य यह है कि अत्यधिक मात्रा मे वस्तुओं का उत्पादन करके अपव्यय को बचाया जाय। कभी-कभी ऐसे सयोग अन्य सयोगो के साथ भी इस प्रकार का समझौता कर लेते हैं, जिससे वे अपनी आर्थिक स्थिति और भी सुदृढ़ बना लेते हैं तथा बाजार पर अपना एकाधिकार जमा लेते हैं। विपणि पर एकाधिकार के कारण ये उत्पादन पर नियन्त्रण कर सकते हैं तथा वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण में भी समर्थ हो जाते हैं।

विशेषता तथा लाभ—

(i) क्षैतिज सयोग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये पारस्परिक-विरोधी-स्पर्धा को जड़ मे उखाड़ देते हैं। जो भी स्पर्धा शेष रह जाती है, उसे हम उचित व लाभप्रद (Healthy) कह सकते हैं और उनसे जनता को विशेषतया लाभ ही पहुँचता है। (ii) सयोग मे सम्मिलित विभिन्न इकाइयाँ आवश्यकतानुसार उत्पादन शक्ति को घटा अथवा बढ़ा सकती हैं। (iii) कारखाने मे काम के घण्टे घटाकर व वस्तुओं का मूल्य समान निश्चित करके तथा सबके माल के विक्रय के हेतु एक विक्रय सगठन (Mutual Sales Organisation) स्थापित कर बड़ी सरलता से आवश्यकतानुसार परिवर्तन व सशोधन करके बाजार मे उत्पादित वस्तु विशेष की माँग से अधिक नहीं होने देते। (iv) क्षैतिज सयोग उन तान्त्रिक विशेषज्ञों की सेवाओं का उपयोग कर सकते हैं, जिन्हें साधारणत प्रत्येक इकाई पृथक रूप से नियुक्त नहीं कर सकती थी। (v) प्रत्येक इकाई अनुसन्धान का भी प्रबन्ध कर सकती है।

अवगुण—

इतने गुणो के होते हुए भी इस प्रकार के सयोगो मे कुछ अवगुण भी हैं —(i) सबसे बड़ा दोष जो भारतवर्ष मे प्रधानत. देखने में आता है, वह यह है कि उत्पादित वस्तुओं को निश्चित रूप से बेचने का उत्तरदायित्व कोई नहीं लेता। (ii) सामूहिक शक्ति के एकीकरण के कारण वे इतने प्रभावशील हो जाते हैं कि जनता से मनमाने दाम लेकर असहाय जनता का बलिष्ठ हाथों से खूब शोषण करते हैं, किन्तु ये दोष उसी दशा में होते हैं जब वे उत्पादन एव उपभोग विपणि पर अपना एकाधिकार प्रस्थापित कर अन्य उत्पादकों को (जो सयोग के सदस्य नहीं होते) उद्योग क्षेत्र से उन्मूलन करने मे सफल हो जाते हैं।

उदाहरण—

क्षैतिज सयोग का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'दी एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनी लिमिटेड' है। वास्तव में 'दी इण्डियन सीमेंट मैन्यूफैक्चर्स एसोसियेशन' तथा 'एसोसियटेड सीमेन्ट मार्केटिंग ऑर्गेनाईजेशन' का सम्मिलित रूप है। अन्य उद्योगो ने अभी क्षैतिज सयोग की ओर ध्यान नहीं दिया है, क्योंकि युद्धकालीन परिस्थिति के कारण उत्पादन के

विक्रय मे उन्हें असुविधाये अभी अनुभव नही हुई है। दूसरे, अभी भारत मे उद्योगो का उत्पादन भी इतना अधिक नही हुआ है कि जिससे नवीन विपणियो की खोज की जा सके।

(II) उदग्र या लम्बरूप संयोग

परिभाषा—

इन्हे 'औद्योगिक सयोग' भी कहते है। क्योकि ये अधिकाशतः औद्योगिक जगत में पाये जाते हैं। इस प्रकार के सयोग मे अनेक प्रकार के उद्योगो का समावेश होता है। इनमे विभिन्न उद्योगो का समावेश इस प्रकार होता है कि जिससे उत्पादन के प्रारम्भ की सीढी से अन्तिम सीढी तक के सभी उद्योग आ जायँ। उदाहरण के लिये, अगर मोटरगाडियो के उत्पादन का काम है तो उसमे निम्न अवस्थायें हो सकती है :—(अ) इञ्जन का निर्माण, (ब) डिब्बे का निर्माण, (स) रबड के ट्यूब टायर व पहियो का निर्माण, (द) काँच का सामान, (इ) गद्दियो का निर्माण इत्यादि। यदि मोटर-गाडियो के उत्पादन की इन विभिन्न अवस्थाओ का सामान्जस्य हो जाय तो ऐसे सयोग को लम्बरूप सयोग कहेंगे, अतः यह स्पष्ट है कि उत्पादन की प्रारम्भिक अवस्था से अन्तिम अवस्था तक पहुँचने के लिए जितने भी मध्यस्थ उद्योग होंगे, उन सब उद्योगो का यह एक सगठन होना है, इसलिये ऐसे संयोग को उदग्र सधिग्रथन (Vertical Integration) भी कहते है।

लम्बरूप संयोग के हेतु—

लम्बरूप सयोग निम्न उद्देश्यो से बनाये जाते है :—

(१) विभिन्न अवस्था वाले उद्योगो के एकसूत्रीकरण से उत्पादन की विभिन्न क्रियाओ मे होने वाले अपव्यय को कम करना।

(२) क्रय-विक्रय, यातायात एव विज्ञापन मे होने वाले व्यय को कम करना।

(३) सयोग मे आने वाले विभिन्न उद्योगो की क्रियाओ के सुव्यवस्थित एकसूत्रीकरण से प्रत्येक सदस्य उद्योग के लाभ बाँटना।

(४) उद्योगो के उत्पादन सम्बन्धी एकसूत्रीकरण से प्रत्येक सदस्य उद्योग के आन्तरिक व्यवस्था सम्बन्धी व्यय को कम करना।

लम्बरूप संयोग के लाभ—

(१) इस प्रकार के सयोग से प्रबन्ध व्यय मे मितव्ययिता होती है और सग्रह, विक्रय, आनयित वस्तुओ के क्रय तथा यातायात इत्यादि विभिन्न क्षेत्रो मे बचत होती है।

(२) उद्योग मे आने वाली आर्थिक तेजी अथवा मन्दी का परिणाम सयोग से सम्बन्धित इकाइयो के उत्तरोत्तर विकास पर विशेष प्रभाव नहीं डाल सकता।

(३) प्रत्येक सदस्य उद्योग के लिए आवश्यक कच्चा माल भी उसे अपनी

निचली अवस्था के उद्योग से मिलता रहेगा। केवल सबसे निचली अवस्था वाले उद्योग को ही कच्चा माल प्राप्त करना पड़ेगा।

(४) संयोग मे आने वाले सभी कारखाने एक उद्योग की विभिन्न क्रिया करते है, जिससे क्रियाओ का विशेषीकरण हो कर उद्योग की कार्यक्षमता एव उत्पादनशीलता बढ जाती है।

(५) कच्चे माल की खरीद, निर्मित माल की बिक्री, विज्ञापन आदि उपर्युक्त मितव्ययिताओ की वजह से उद्योग का लाभ बढ जाता है।

लम्बरूप संयोग के दोष—

(१) क्षैतिज अथवा समतल संयोगो की भाँति इसमे औद्योगिक अनुसन्धान के लिए कम अवसर होता है, जिससे औद्योगिक कार्यक्षमता बढाने का अवसर इस संयोग मे नहीं मिलता।

(२) सबसे बडा दोष यह है कि इन विभिन्न अङ्गो मे से एक भी अङ्ग यदि किसी प्रकार भी शिथिल पड जाय या विस्थापित (Dislocate) हो जाये तो उस उदग्र संयोग की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था शिथिल तथा छिन्न भिन्न हो जाती है। यह बात क्षैतिज संयोग मे नही होती।

(३) उदग्र संयोगो के बहु-परिमाण उत्पादन से होने वाले लाभ भी उपलब्ध नही होते, क्योंकि इनमे सदस्य उद्योग का स्वरूप समान न होते हुए भिन्न होता है।

(४) ऐसे संयोग पूर्ण होते हुए भी अन्य उद्योगों से होने वाली प्रतिस्पर्धा को टाल नही सकते हैं।

उदाहरणार्थ, पुस्तक प्रकाशन मण्डल के लिए मुद्रणालय, कागज के कारखाने, लुग्दी बनाने के कारखाने आदि का संयोग अथवा ऐसा शक्कर व्यवसाय जिसमे कच्चे माल की पूर्ति, गुड का शुद्धिकरण, रैक्टीफाइड स्प्रिट बनाने का कारखाना, आदि सभी का समावेश हो।

(III) चक्रित संयोग

परिभाषा—

चक्रित संयोग आत्म निर्भरता प्राप्त करने के उद्देश्य से तथा बड़े-बड़े उद्योगों को नियन्त्रण मे रखने की लालसा से निर्मित किए जाते हैं। इन्हें पूरक (Complimentary) संयोग भी कहते हैं और इनके निर्माण मे उपर्युक्त नियमो मे से कोई भी मान्य नहीं है। भारतवर्ष मे ऐसे संयोग अधिकता से पाये जाते है, क्योकि यहाँ के औद्योगिक विकास मे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ का विशेष हाथ रहा है एव उन्होने विभिन्न व्यवसायो को अपने नियन्त्रण मे कर लिया है। इस प्रकार एक ही प्रबन्ध अभिकर्त्ता की देख रेख मे कुछ वस्त्रोद्योग, शक्कर उद्योग, जूट-मिलें इत्यादि कारखाने हो तो ऐसे संयोग को 'चक्रित संयोग' कहेंगे।

विशेषता—

चक्रित सयोग मुख्यतया आकस्मिक होते हैं अथवा वे व्यापारिक जगत मे प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओ की शक्ति प्राप्ति की लालसा के प्रतीक होते है। बडे-बडे पूँजीपतियो को विभिन्न उद्योगो पर नियन्त्रण रखने की लालसा होती है और इसी लालसा से प्रेरित होकर वे अपना हाथ विभिन्न उद्योगो मे फैलाते चले जाते हैं। भारतवर्ष मे चक्रित सयोग के निम्न उदाहरण हैं :—बिरला ब्रादर्स लिमिटेड, जे० के० ग्रुप, मार्टिन एण्ड कम्पनी, बेग सदरलैंड, एण्ड्रयू यूल एण्ड कम्पनी इत्यादि।

संयोग निर्माण करने के ढङ्ग
(Methods of Creating Combination)

सयोग निर्माण करने के तीन मुख्य ढङ्ग है :—

(१) सम्मिश्रण द्वारा—जब दो अथवा दो से अधिक व्यवसाय एक-दूसरे से मिल जाते हैं तो नवीन व्यवसाय सयोग का रूप धारण कर लेते है। सम्मिश्रण मे कम्पनियो के वैयक्तिक अस्तित्व का सर्वथा ह्रास हो जाता है और एक नई कम्पनी चालू हो जाती है। इसको 'सम्मिश्रण' कहते है, किन्तु जब एक कम्पनी अन्य अनेक कम्पनियो को हजम कर लेती है तो उसे विलीयन (Absorption) कहते हैं। अमेरिका मे सम्मिश्रण तथा विलीयन को क्रमशः सघनन तथा समावेशन (Consolidation & Merger) कहते है।

(२) सघारी प्रमण्डल द्वारा—इस प्रकार के सयोग मे बहुत सी कम्पनियाँ जो पहले से अलग-अलग व्यापार करती रहती है, अपने मे से अधिकांश अशो को किसी 'सघारी' प्रमण्डल को बेच देती है। यह आवश्यक नही है कि सघारी कम्पनी कोई नवीन कम्पनी ही हो। सघारी कम्पनी के अन्तर्गत जो सहायक कम्पनियाँ होती हैं, वे प्राय. अपने निजी नाम द्वारा ही व्यापार किया करती है। उनका नियन्त्रण सघारी प्रमण्डल द्वारा होता है। कम्पनी अधिनियम की धारा २ (२) के अनुसार कोई भी कम्पनी, जो किसी अन्य कम्पनी के अशो का प्रत्यक्ष अथवा किसी मनोनीत व्यक्ति द्वारा सघारी है, तथा—

(अ) ऐसे लिए हुए अश निर्गमित अश पूजी के ५०% से अधिक है तथा उन्हे ऐसे प्रमण्डल द्वारा ऋण की प्रतिभूतियो के रूप मे नही लिया गया है, जिसका व्यापार ही ऋण प्रदान करना है, अथवा

(आ) लिए हुए अश ऐसे है जिनको ५०% से अधिक मताधिकार सुलभ हैं, अथवा

(इ) उस कम्पनी को अन्य कम्पनियो के अधिकांश सचालको की नियुक्ति करने का अधिकार है तो ऐसी कम्पनी को सघारी अथवा सूत्रधारी कम्पनी और अन्य कम्पनियो को सहायक कम्पनी कहेंगे।

सघारी प्रमण्डलो की उत्पत्ति प्रारम्भ मे १९वी शताब्दी के अन्त मे अमेरिका मे हुई है। इस प्रकार के सयोग भारत मे भी पाये जाते है। यहाँ के मुख्य-मुख्य व्यवसाय,

निर्माण गृह व उद्योग मुख्यतया कतिपय व्यक्तियों तथा संयुक्त हिन्दू परिवारों के हाथ में हैं। ये लोग बहुधा एक बड़ा शक्तिशाली संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल स्थापित करके उसे संघारी प्रमण्डल का रूप देते हैं।

(३) सामूहिक प्रबन्ध द्वारा—इस प्रकार संयोग अधिक लोचदार (Elastic) होता है। ऐसे संयोग में विभिन्न कम्पनियाँ पूर्णतः अलग रहती हैं, किन्तु उन सब पर एक सामूहिक नियन्त्रण रहता है। हमारे देश में प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की प्रणाली के कारण इस प्रकार का संयोग होना एक विशेषता है। यहाँ ऐसा देखने में आता है कि प्रबन्ध अभिकर्ताओं की एक बड़ी संस्था प्राय विभिन्न प्रकार की कम्पनियों का नियन्त्रण करती है और ये कम्पनियाँ बिना किसी प्रकार का वास्तविक संयोग प्राप्त किये हुये ही क्रय, विक्रय, विज्ञापन, बाजार आदि की सुविधायें प्राप्त कर लेती हैं।

संयोगों के प्ररूप
(Forms of Combinations)

संयोगों का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। भिन्न-भिन्न देशों में संयोगों का विकास विभिन्न परिस्थितियों में हुआ। मिस्र देश के जोसिफ नामक एक अन्न नियन्त्रणकर्त्ता ने खाद्य सामग्री का एक ऐसा शक्तिशाली संयोग स्थापित किया था, जो बाद में विश्व के अनेक भागों में प्रभावशाली सिद्ध हुआ। १८वीं शताब्दी में विक्रय नियन्त्रण के द्वारा विक्रय एवं मूल्यों का परस्पर समझौते द्वारा निर्धारण किया जाता था। तत्पश्चात् उन्नत औद्योगिक राष्ट्रों में देश, काल एवं आर्थिक परिस्थिति के अनुसार तथा औद्योगिक आवश्यकतानुसार संयोगों की प्रवृत्ति बढ़ी और इन आवश्यकताओं के अनुसार ही विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार के संयोगों का निर्माण हुआ। संयोगों को उनके आकार-प्रकार की दृष्टि से अनेक नाम दिये जाते हैं, जैसे—

(I) व्यापारिक पार्षद (Trade Associations),
(II) उत्पादक पार्षद (The Cartels),
(III) प्रन्यास (Trusts),
(IV) पूँजीपति संघ (Rings)
(V) गोष्ठियाँ (Conventions),
(VI) कोण (Corners),
(VII) संघ (Pool),
(VIII) संघारी प्रमण्डल (Holding Company),
(IX) संयोग (Combinations)।

अब हम संयोग के प्रमुख प्ररूपों का विवेचन करेंगे।

(I) व्यापारिक पार्षद
(Trade Associations)

निर्माण विधि—

इस प्रकार के पार्षद विशेषतः व्यापारिक क्षेत्र मे मिलते हैं। किसी विशेष क्षेत्र अथवा जाति के व्यवसायी मिलकर अपनी इच्छा से पारस्परिक हितो को ध्यान मे रखते हुए एक सरल तथा ढीली प्रकृति का सयोग बना लेते हैं। इस प्रकार के पार्षद का निर्माण करने के लिए किसी प्रकार की वैधानिक कार्यवाही नही करनी पडती। ये मुख्यतया व्यक्तिगत विश्वास तथा वचन-बद्धता (Gentlemen's Promises) पर निर्भर रहते हैं।

पार्षद को नियमित रूप से चालू रखने के लिए तथा सदस्यता के हेतु सदस्यो को प्रवेश के समय प्रवेश-शुल्क एव प्रति वर्ष वार्षिक शुल्क देना पडता है। यह शुल्क समान रूप से प्रत्येक सदस्य से लिया जाता है अथवा प्रत्येक सदस्य सार्थ अथवा उद्योग की पूँजी के अनुसार अथवा उनकी वार्षिक बिक्री के अनुपात मे निश्चित किया जाता है।

पार्षद का निर्माण जाति अथवा प्रदेश के आधार पर हो सकता है। जातिगत आधार का मुख्य उदाहरण है, 'मारवाडी चैम्बर ऑफ कॉमर्स' और प्रादेशिक आधार का उदाहरण है, 'बॉम्बे मिल ऑनर्स एसोसियेशन'।

पार्षदो के उद्देश्य—

(१) आवश्यकतानुसार उत्पादन पर नियन्त्रण रखना, अर्थात् असाधारण व युद्धकालीन परिस्थितियो मे उत्पादन को सीमित करना।

(२) मन्दी के समय मे, जब सदस्य सार्थो की उत्पादन शक्ति जनसाधारण की मांग से अधिक हो तो प्रत्येक सदस्य सार्थ को उत्पादन कम करने के लिये निश्चित योजना के अन्तर्गत विवश करना।

(३) विज्ञापन-व्यय मे मितव्ययिता लाने की दृष्टि से सामूहिक-विज्ञापन आन्दोलन करना।

(४) औद्योगिक प्रगति के लिये एव उत्पादन मे मितव्ययिता लाने के उद्देश्य से अनुसन्धानशालाओ का सामूहिक व्यय से आयोजन करना।

(५) स्वस्थ-प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन देना।

(६) सूचना विभाग स्थापित करना और उसके द्वारा सभी सदस्यो को लाभ पहुँचाना।

(७) विक्रय की शर्तें, व्यापारिक साख एव अपहार देने की शर्तें, श्रम प्रदाय अथवा माल के पैकिंग एव इस सम्बन्धी सदस्यो से किसी प्रकार का समझौता करना एव इस सम्बन्ध मे उन्हे विशेष सुविधायें प्रदान करना।

इन पार्षदो के कार्य-सचालन के लिए एक कार्यवाह (Secretary) होता है।

सदस्य-सार्थों के प्रबन्धकों में से एक कार्यकारिणी (Executive) बनाई जाती है, जिसके सदस्य लगभग २, ३ अथवा ५ वर्ष के लिए साधारण सदस्यों में से चुन जाते हैं। कार्यकारिणी का एक सभापति (President) भी होता है और वह तान्त्रिक सलाहकार तथा कार्यवाहक की सहायता से पार्षद का कार्य करता है।

भारतवर्ष में पार्षदों का अभाव नहीं है। अनेक पार्षद विभिन्न क्षेत्रों में सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं, जैसे—'ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसियेशन', 'दी इण्डियन जूट मिल्स एसोसियेशन' इत्यादि। यहाँ दो केन्द्रीय चेम्बर भी हैं :—

(i) एसोसिएटेड चैम्बर ऑफ कॉमर्स, जो मुख्यतया विदेशी व्यापारियों द्वारा सचालित व नियन्त्रित है।

(ii) दी फैडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज। ये दोनों केन्द्रीय चैम्बर भारतवर्ष के प्राय सभी छोटे-बड़े चैम्बरों को अपनी सदस्यता में ले चुके हैं। इनका प्रधान उद्देश्य भारतीय व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योग को उचित संरक्षण प्रदान करना तथा देश के उद्योगों का विकास उचित मात्रा में करने के लिये सहायता देना है।

(II) उत्पादक संघ
(Cartels)

परिभाषा—

समान व्यवसाय में लगे हुए विभिन्न स्वतन्त्र व्यवसायी जब अपनी इच्छा से तथा विपणि पर एकाधिकार प्राप्त करने के उद्देश्य से एक पारस्परिक अनुबन्ध में बँध जाते हैं तो उत्पादक संघ अथवा 'कार्टेल' बन जाता है। डाक्टर इसे के अनुसार '— "उत्पादक संघ स्वतन्त्र व्यवसायियों का एक पार्षद है, जो उत्पादन, विपणि-क्रय, मूल्य निर्धारण अथवा व्यापारिक शर्तों के सम्बन्ध में उत्तरदायित्व का भार सदस्यों पर रखता है तथा स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा के विरुद्ध विपणि को प्रभावित करता है।"† जब ये संघ साधारण विक्रय संगठन स्थापित करते हैं, तो इन्हें 'व्यापारी संघ' (Syndicates) कहते हैं। उत्पादक संघ बहुधा राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं। जर्मनी उत्पादक संघों की जन्म-भूमि है। जर्मनी, आस्ट्रिया, बेल्जियम इत्यादि योरोपीय देशों में ही ये अधिकता से मिलते हैं। जर्मनी तथा आस्ट्रिया में तो कच्चा लोहा, इस्पात तथा अन्य धातुओं की निर्मित वस्तुओं का संगठन करने वाले शक्तिशाली उत्पादक-संघ भी मिलते हैं। कार्टेल उत्पादकों का एक शिथिल संयोग होता है। इनकी

---

† "An association of independent undertaking which enforces obligations as to the treatment of output, market purchase, price calculations of trade terms and, therfore, serves to influence the market against the working of free competition".—Dr. Issay —Combines and Rationalization in Germany—D. Warriner.

शिथिलता का सबसे बडा प्रमाण यह है कि यह बड़ी शीघ्रता से स्थापित हो जाता है और शीघ्रता से टूट भी जाता है। इनमे न तो किसी व्यवसाय के उपर संघ का नियन्त्रण ही रहता है और न प्रत्येक प्रमण्डल के लाभ की कोई मर्यादा ही निश्चित की जाती है, किन्तु केवल इतना प्रतिबन्ध रहता है कि कोई सदस्य सघ द्वारा निश्चित मूल्यो से कम पर अपनी वस्तुएँ नही बेचेगा।

मुख्य लक्षण—

उत्पादक-सघ के तीन प्रमुख लक्षण है :—

(अ) एक ही व्यवसाय मे लगे हुए विभिन्न व्यवसायी कार्टेल बना सकते है।

(ब) उत्पादन एव विक्रय के सम्बन्ध मे ये परस्पर स्वेच्छा से अनुबन्ध करते हैं।

(स) उनका सयोग बनाने का मुख्य लक्ष्य 'विपणि एकाधिकार' प्राप्त करना होता है।

निर्माण क्यों हुआ ?—

कार्टेल प्रायः 'सकट के उत्पाद' (Children of Distress) कहलाते हैं, क्योंकि जब उन्मुक्त रूप से प्रतिस्पर्द्धा चारो ओर फैलने लगती है, तब समस्त औद्योगिक व्यवसायो का विनाश होना प्रारम्भ हो जाता है। प्रतिस्पर्द्धा केवल मूल्यो तक ही सीमित नही रहती, किन्तु कभी-कभी वस्तुओ के गुण एवं रूप पर भी प्रभाव डालती है। परिणामस्वरूप, अत्यधिक उत्पादन होने लगता है, यहाँ तक कि उन समस्त वस्तुओ का बाजार मे बिकना असम्भव हो जाता है। इस मनोवृत्ति पर नियन्त्रण करने के अभिप्राय से उत्पादक-सघो का निर्माण किया गया है।

उत्पादक-संघो की अर्थ-पूर्ति—

उत्पादक-सघो के लिए आवश्यक पूँजी सदस्यो से ही प्राप्त की जा सकती है। प्रत्येक सदस्य प्रमण्डल को उसके उत्पादन के अनुसार कुछ निश्चित कोटा सघ की पूर्ति के लिये देना होता है। सदस्यो को कार्टेल द्वारा निर्धारित नियमो को स्वेच्छा से मानना पडता है, किन्तु वह उत्पादन एव विक्रय के अतिरिक्त अपने व्यवसाय की अन्तर्व्यवस्था के सम्बन्ध मे पूर्णरूपेण स्वतन्त्र रहता है। उत्पादन कोटा निश्चित करने व समान मूल्य निर्धारित करने का पूर्ण अधिकार कार्टेल को होता है। सघ के नियमों का पूर्णतः पालन हो रहा है अथवा नही, इस बात को देखने के लिये कार्टेल निरीक्षको (Inspectors) की नियुक्ति करता है।

कार्टेल के प्ररूप—

उत्पादक सघो के प्रमुख प्ररूप इस प्रकार है :—

(१) मूल्य निर्धारण कार्टेल—इनका मुख्य लक्ष्य यह होता है कि कोई भी सदस्य-प्रमण्डल कार्टेल द्वारा निर्धारित मूल्य से कम मूल्य पर अपनी वस्तुयें न बेचे। आवश्यक्तानुसार समय समय पर मूल्य मे परिवर्तन भी किये जाते हैं, किन्तु सब आवश्यक आदेश कार्टेल द्वारा ही सदस्यो को दिये जाते हैं।

(२) शर्त निर्धारण कार्टेल—इस प्रकार के सघ साधारण विक्रय सम्बन्धी शर्ते निर्धारित करते हैं, जैसे—अपहार की दर, साख की मर्यादा एवं अवधि, वस्तुओं के पैकिंग व बीमा कराने सम्बन्धी शर्ते इत्यादि।

(३) प्रदेश निर्धारक कार्टेल—इसके द्वारा प्रत्येक सदस्य प्रमण्डल के लिए निश्चित विपणि निर्धारित कर दिये जाते हैं और कोई भी सदस्य अन्य किसी सदस्य के निर्धारित किए हुए विपणि-क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर सकता, इसलिये कभी-कभी इन्हें 'विपणि पूल' भी कहते हैं।

(४) कोटा निर्धारक कार्टेल—जब उत्पादन अधिक और माग कम होती है, तब वस्तुओं का उत्पादन सीमित करने के लिए उत्पादन-कोटा निर्धारित कर दिया जाता है। प्रत्येक सदस्य-प्रमण्डल की उत्पादन शक्ति के अनुपातानुसार उत्पादन कोटा निश्चित किया जाता है।

(५) गुण निर्धारक कार्टेल—इस प्रकार के सघ अपने सदस्यों को प्रत्येक वस्तु के उत्पादन का प्रमाप निश्चित कर देते हैं और उसी प्रमाप के अनुसार वस्तुओं के मूल्य निर्धारित किये जाते हैं।

(६) अभिषद्—कुछ जर्मन लेखकों के अनुसार कार्टेल और अभिषद् (Syndicates) में अन्तर है। उनके अनुसार, जबकि प्रथम प्रकार का सयोग मूल्य-निर्धारण, उत्पादन-नियमन, विपणि नियोजन करता है तो अभिषद् केवल सदस्यों के विपणन के हेतु एक विक्रय-सगठन का निर्माण करता है, जिससे उनकी वस्तुओं का मितव्ययिता से विक्रय हो सके, किन्तु अधिकांश लेखकों के मतानुसार अभिषद् कार्टेल का ही एक प्ररूप है। अभिषदों का निर्माण बहुधा निम्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है:—

(अ) मांग का प्रत्येक सदस्य को समुचित वितरण।

(ब) पूर्ति का प्रत्येक सदस्य को समान एवं समुचित वितरण।

(स) वस्तु विशेष से प्राप्त लाभ से प्रत्येक सदस्य प्रमण्डल को समुचित लाभांश देना।

उत्पादक संघों के लाभ—

(१) प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन—किसी भी प्रकार के बाहरी एवं अनिवार्य नियन्त्रण की अपेक्षा स्वयं नियमित तथा ऐच्छिक नियन्त्रण सदैव प्रभावशाली होता है। इस दृष्टि से कार्टेल निर्माणकर्त्ताओं की विषम प्रतिस्पर्धा को उन्मूलन करने में सफल हुए हैं। इनसे उत्पादनकर्त्ताओं में परस्पर सहयोग तथा मेल की भावना बढ़ती है।

(२) उपभोक्ताओं को लाभ—उत्पादक सघ जन साधारण की मांगों का भी ध्यान रखते हैं, क्योंकि इनके द्वारा निश्चित किये हुए मूल्य प्राय: सामाजिक व न्यायोचित होते हैं।

(३) मध्यस्थों का विलोपन—निर्माणकर्त्ताओं तथा उपभोक्ताओं के बीच

जो मध्यस्थो की कडी होती है उसे कार्टेल्स अलग करने का प्रयत्न करते हैं। यही नही ये निजी विक्रयशालायें खोलकर जनता की आवश्यकताओ को पूर्ण करने का प्रयत्न करते है। इस प्रकार जनता को वस्तुए सस्ते दामो पर उपलब्ध होने लगती है।

(४) उत्पादन तन्त्र मे विकास—समान उत्पादको का सयोग होने से उत्पादन तन्त्र (Technique of Production) मे भी सुधार होता है। उत्पादक वस्तुओ के प्रमापीकरण की ओर ध्यान देते हैं, अत नए नए अन्वेषणो को प्रोत्साहन मिलता है।

उत्पादन-सघ से हानियाँ—

(१) शोषण—उत्पादक सघ पूँजीपतियो का समूह होता है अत यह पूँजीवादी नीति अपनाता है तथा जनता के शोषण से अपना पेट भरना चाहता है। जिन क्षेत्रो मे उन्हे एकाधिकार मिल जाता है, वहा वे उपभोक्ताओ से मनमाने दाम वसूल करते हैं।

(२) उत्पादक सघो को विदेशी राष्ट्रो की प्रतिस्पर्धा से भय बना रहता है, परिणाम स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादक सघो का निर्माण होता है जो राजनैतिक दृष्टि से अवाछनीय होते हैं क्योकि उनके निर्माण से यह सम्भव होता है कि आर्थिक अशक्त राष्ट्र के उत्पादन पर आर्थिक सुदृढ राष्ट्र नियन्त्रण करे।

कार्टेल्स की वर्तमान नीति—

उत्पादक सघो ने राष्ट्रीय क्षेत्रो मे प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन किया है जिससे उन्हे जो ख्याति मिली उसने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्टेल्स का निर्माण करने को प्रोत्साहन दिया। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्टेल्स के निर्माण की प्रवृत्ति का बोलबाला है। अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल्स की सख्या जो प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व ११४ थी, वह द्वितीय युद्ध पूर्वकाल तक १७५ हो गई है। ये सघ आवश्यक वस्तुओ के उत्पादन एव विक्रय पर नियन्त्रण कर रहे है तथा अधिकाधिक नियन्त्रण एव लाभ प्राप्त करने की लालसा सन् १९४५ के बाद से अधिक प्रभावी रूप से कार्य कर रही है।

गत कुछ वर्षों से उत्पादक सघो की आर्थिक एव व्यापारिक नीति मे बहुत सुधार हुआ है। अब ये केवल निजी लाभ की ओर ही ध्यान न देकर जनता के सार्वजनिक हितो का भी ध्यान रखते है। वस्तुओ की किस्म मे उन्नति तथा उचित मूल्य के निर्धारण मे उन्होने अच्छी ख्याति पाई है। बहुत सा माल जो पहले व्यर्थ चला जाता था अब नष्ट नही होने दिया जाता है। मध्यस्थो की कडी भी छोटी होती जा रही है। उत्पादन पद्धति मे भी अनेक सुधार हुए है तथा अन्वेषण हो रहे हैं।

उत्पादक-सघो की कठिनाइयाँ—

कार्टेल्स को निम्नलिखित कारणो से आपत्तियो का सामना करना पडा है —

(१) सदस्यो का विश्वासघात—उत्पादक सघो का अस्तित्व केवल सदस्यो के परस्पर विश्वास पर निर्भर रहता है, अत यदि कोई सदस्य सघ से विश्वासघात करता है तो सघ उसके विरुद्ध कोई वैधानिक कार्यवाही नही कर सकता और जब ऐसे

विश्वासघाती सदस्यों की संख्या बढ़ती है तो संघ का ही अस्तित्व डावाँडोल होने लगता है। व्यवहार में ऐसे अनेक सदस्य होते हैं जो संघ के नियमों का अक्षरशः पालन नहीं करते। परिणामस्वरूप संघों का विनाश हो जाता है।

(२) अस्तित्व की अवधि के कारण—ऐसे संघों का निर्माण बहुधा विशेष परिस्थिति में तथा निश्चित अवधि के लिए होता है, जिसके व्यतीत होने पर संघ का अस्तित्व रहेगा अथवा नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

(३) बाहरी लोगों के कारण—उत्पादक संघों को चिरस्थायी बनाने के लिए तथा प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन एवं मूल्यों का उचित स्तर स्थापित करने के लिए यह आवश्यक होता है कि उनमें एक ही वस्तु के अधिक से अधिक निर्माता सदस्यता प्राप्त करें, परन्तु यदि ऐसा न हो तो संघ कमजोर हो जाता है तथा उसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता है।

(४) नवीन विकास के कारण—उत्पादक-संघों में बहुधा इतनी शक्ति नहीं होती कि वे नए उद्योगों के विकास को रोक सकें। जब नए-नए उद्योग स्थापित हो जाते हैं तो वे इन संघों को ही समाप्त कर डालते हैं।

(५) असन्तुष्ट सदस्यों के कारण—उत्पादक संघों के अधिकांश कार्य सदस्य प्रमण्डलों की व्यक्तिगत रुचि पर अंकुश रखते हैं, अतः प्रत्येक सदस्य अपने वैयक्तिक के विकास में इन्हें बाधक समझता है। जब कोई औद्योगिक व्यवसाय अपनी सुव्यवस्था करके उत्पादन को बढ़ाना चाहता है तो ये संघ अपने नियमों के कारण उन्हें उन्नति नहीं करने देते, जिसके कारण वे प्रायः इनसे असन्तुष्ट रहते हैं।

उपर्युक्त पाँच कारणों से ही उत्पादक संघों का अस्तित्व विशेषतः चिरकालीन नहीं रहता।

(III) प्रन्यास
(Trusts)

उत्पत्ति—

व्यापारिक संयोग का यह रूप सर्व प्रथम सन् १८७२ में स्टेण्डर्ड ऑयल कम्पनी द्वारा स्टेण्डर्ड ऑयल ट्रस्ट के रूप में सम्मुख आया। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ट्रस्ट्स की जन्मभूमि है। १९वीं शताब्दी के अन्त में, जब अमेरिका की अनेक रियासतों में संयोग आन्दोलन के विरुद्ध कदम उठाए जा रहे थे, उस समय वहाँ की 'मैसाचैस्ट्स' (Massachusetts) नामक रियासत में ट्रस्ट नामक संयोग की नींव पड़ी और इसी के आधार पर उन प्रन्यासों को 'मैसाचैस्ट्स' प्रन्यास कहते हैं।

परिभाषा—

'ट्रस्ट' शब्द का मूल अर्थ है 'विश्वास' (Confidence), अतएव जब कभी कोई सम्पत्ति किसी अन्य व्यक्ति के हाथों यह विश्वास करके सौंप दी जाती है कि वह उसका किसी अन्य निर्दिष्ट व्यक्ति के लिए अथवा किसी ऐसे उद्देश्य विशेष के लिए जो धर्मार्थ हो, प्रयोग करेगा तो इस प्रकार संरक्षण में रखी हुई सम्पत्ति का ट्रस्ट अथवा

प्रन्यास मे रखी कहगे । इस प्रकार के धार्मिक, शिक्षा सम्बन्धी तथा धर्मार्थ (Charitable) प्रन्यास भारतवर्ष मे भी अनेक हैं । आजकल 'प्रन्यास' का प्रयोग 'सयोग' के अर्थ मे भी किया जाता है, जिसका अभिप्राय पूँजी का सगठन तथा वस्तुओ की पूर्ति एव उनके मूल्य पर शक्तिशाली नियत्रण करना होता है । इन्हे 'सयोग प्रन्यास' भी कहते है और वे किसी निश्चित हेतु की पूर्ति के लिए बनाए जाते हैं । श्री रॉबर्टसन* के अनुसार इस प्रकार के सयोग-प्रन्यास मे— "विभिन्न कम्पनियो के स्कन्धधारी अपने स्कन्ध प्रन्यासियो (Trustees) को हस्तान्तरित करते हैं, जिसके बदले मे उन्हे प्रन्यास-प्रमाण-पत्र (Trust Certificate) दिया जाता है, जिस पर मूल अशधारियो को लाभाश प्राप्त करने का अधिकार होता है तथा प्रन्यासियो को उन कम्पनियों के प्रबन्ध का अधिकार मिलता है ।" ये प्रन्यास प्रमण्डलो की सम्पूर्ण व्यापारिक एवं औद्योगिक नीति का नियोजन करते हैं । जो व्यक्ति प्रन्यास नियन्त्रण के लिए विश्वास-पात्र समझे जाते है एव जिन्हे उत्तरदायित्व सौपा जाता है, उस व्यक्ति समूह को प्रन्यास सभा (Board of Trustees) कहते हैं ।

प्रन्यास के प्ररूप—

प्रन्यासो के ट्रस्टीज को जो विभिन्न प्रकार के अधिकार दिये जाते हैं, उनके अनुसार ही प्रन्यासो के विभिन्न प्ररूप होते हैं, जिनमे से मुख्य इस प्रकार है :—

(१) मैसाचैस्ट्स प्रन्यास—इसका जन्म अमेरिका की नाम्नी रियासत मे हुआ था । यह अपूर्ण सघनन का एक नया प्ररूप था । इसमे प्रत्येक प्रमण्डल का पृथक अस्तित्व रहते हुए अशधारियो के सम्पूर्ण अशो का हस्तातरण कुछ चुने हुए प्रन्यासो को दे दिया जाता था, जो विभिन्न प्रन्यास-प्रमण्डलो की व्यवस्था का नियन्त्रण करते थे ।

(२) स्थाई या इकाई प्रन्यास - इनका उदय सर्वप्रथम सन् १९३१-३२ मे अमेरिका मे हुआ । उस समय मन्दी की परिस्थिति से विवश होकर लगभग ६० करोड डालरो की पूँजी के स्थायी-प्रन्यास स्थापित किये गये । इनमे प्रन्यास की पूँजी केवल कुछ निर्धारित विशेष उद्योगो मे ही विनियोजित की जाती है । इनकी अवधि निश्चित रहती है और अवधि के उपरान्त इनको बेच दिया जाता है । इस प्रकार स्थायी प्रन्यास स्वय स्थायी नही होते । उनको स्थायी केवल इस अर्थ मे कहते है कि जो कुछ रुपया विनियोजित किया जाता है, वह कुछ निश्चित प्रमण्डलो को ही किया जाता है और जब तक प्रन्यास अपना कारोबार करता रहता है, उस समय तक विनियोजन मे कोई रूपान्तर नही किया जाता ।

(३) मताधिकारी प्रन्यास—इस प्रकार के प्रन्यासो मे किसी भी प्रमण्डल के बहुसख्यक अशधारी अपने अशो का हस्तातरण प्रन्यासियो को करते है और यह हस्तान्तरण केवल मतदान तक ही सीमित रहता है । अशो का मताधिकार हस्तान्तरण

---

* The Control of Industry Robertson.

केवल कुछ निश्चित अवधि के लिए ही किया जाता है और अवधि समाप्त होने पर अंश पुनः मूल अंशधारियों को प्राप्त हो जाते हैं।

(४) विनियोग प्रन्यास—ऐसे प्रन्यास प्रमण्डल अधिनियम के अन्तर्गत बनाये जाते हैं तथा अपने अंशों एवं ऋण-पत्रों के निर्गमन से प्राप्त पूंजी को विभिन्न उद्योगों के अंश आदि खरीदने में विनियोग करते हैं। इस प्रकार ये विभिन्न उद्योगों के अंश तथा ऋण पत्रों का क्रय-विक्रय करते रहते हैं और इसमें जो ब्याज तथा लाभांश मिलता रहता है, उनमें से अपने अंशधारियों को लाभांश तथा ऋण-पत्र-धारियों को ब्याज देते हैं। इन्हें प्रबन्ध-प्रन्यास (Management Trust) भी कहते हैं।

(IV) संघ
(Pool)

परिभाषा—

श्री हैने के अनुसार—'पूल' "व्यापारिक संगठन का वह प्ररूप है, जो व्यापारिक इकाइयों के संघन से बनाया जाता है। इसके सदस्य 'मूल्य' के ऊपर कुछ सीमा तक नियन्त्रण करने का प्रयत्न करते हैं तथा निर्धारित मूल्य में पारस्परिक संगठन के लिए कुछ अंश सम्मिलित करके उस समूह का अभिभाजन इकाइयों में करते है।"* यह सयोगो का सबसे विकसित प्ररूप है। संघ और उत्पादक संघ में मुख्य अन्तर यह है कि संघ में उत्पादक संघ की भाँति विक्रय संगठन का निर्माण नहीं किया जाता।

संघ-निर्माणकर्त्ता का प्रधान लक्ष्य विपणि पर एकाधिकार स्थापित करना नहीं होता। वे तो केवल वस्तु के निर्धारण में कुछ सीमा तक नियन्त्रण रखने का प्रयास करते हैं। मूल्य नियन्त्रण की दो मुख्य रीतियाँ हैं :—माँग बढ़ा कर अथवा (२) पूर्ति घटा कर।

संघों का स्वरूप स्थायी भी हो सकता है और अल्पकालीन भी। अल्पकालीन संघों का निर्माण विशेषत. परिकाल्पनिक व्यवहारों के लिए किया जाता है और उनसे होने वाले हानि-लाभ का वितरण सदस्यों में समानता अथवा समझौते के अनुसार किया जाता है। इसी आधार पर औद्योगिक जगत में औद्योगिक संघ बनाए जाते हैं, जिनका उद्देश्य उत्पादक संघों की भाँति विपणि पर एकाधिकार स्थापित करना नहीं, वरन् मूल्य-नियन्त्रण होता है। निश्चित मूल्य पर प्रत्येक सदस्य अपनी निर्मित वस्तुएं

---

* 'Pool' has been defined by Sri Haney as "A form of business organisation established through federation of business units whose members seek a degree of control over prices by combining some factors in the price making process in a common aggregate and apportioning the aggregate among the units." Business Organisation and Combination by Haney.

बेच सकता है। कभी-कभी प्रत्येक सदस्य का विपणि क्षेत्र भी निश्चित कर दिया जाता है, फिर उस क्षेत्र मे अन्य सदस्य अपने माल को नही बेच सकते। प्रत्येक औद्योगिक इकाई, जो एक सघ की सदस्य है, कुछ विषयो को छोड़कर, शेष सब विषयो मे पूर्ण स्वतन्त्र होती है। जिन विषयो पर प्रत्येक सदस्य को सघ के नियमो का अक्षरशः पालन करना पड़ता है, वे ये है :—

(अ) मूल्य-निर्धारण।

(ब) विक्रय सम्बन्धी नियम।

(स) विज्ञापन विधियाँ।

(द) अपहार।

(इ) माल की सुपुर्दगी इत्यादि।

पूल के प्ररूप—

समझौते की शर्तों के अनुसार सघ के विभिन्न प्ररूप होते हैं, जो विशेषतः निम्न है :—

(१) मूल्य सघ—इस प्रकार के सघ समान मूल्य निर्धारण पर विशेष जोर देते है और बिक्री व्यवस्था, विज्ञापन, अपहार, साख की अवधि आदि सम्बन्धी आयोजन मे भी एकता लाने का प्रयत्न करते हैं। कभी-कभी विभिन्न विपणि-क्षेत्रो के अनुसार एक ही वस्तु के विभिन्न मूल्य निश्चित किये जाते है।

(२) प्रादेशिक सघ—इस प्रकार के सघ भिन्न-भिन्न उत्पादको के लिए भिन्न-भिन्न प्रदेश निश्चित कर देते है और फिर अन्य उत्पादक दूसरे के क्षेत्र मे हस्तक्षेप नही कर सकते। वे अपने-अपने क्षेत्र मे उचित मूल्य पर सघ द्वारा निर्धारित मूल्य पर विक्रय करते रहते है।

(३) उत्पादन सघ—इनका मुख्य लक्ष्य उत्पादन को सीमित करना होता अत्यधिक उत्पादन की दशा मे ऐसा किया जाता है। ये सघ प्रत्येक इकाई के लिए उत्पादन कोटा निश्चित कर देते हैं तथा उस माल के विक्रय हेतु मूल्य भी निश्चित कर देते हैं। समय-समय पर सघ जनता की माँग का अनुमान लगाता है और उसी माँग के आधार पर प्रत्येक सदस्य प्रमण्डल की उत्पादन-शक्ति तथा उसकी कार्यशील पूँजी को ध्यान म रखते हुए उन सबके लिए उचित कोटा निश्चित करता है।

(४) आय अथवा लाभ सघ—आय सघ मे सम्पूर्ण सदस्य-प्रमण्डलो की उत्पादित वस्तुओ के विक्रय से प्राप्त हुई पूर्ण धन राशि एक ही विक्रय सगठन के लेखे मे जमा कर ली जाती है अर्थात् उन सब सदस्यो का विक्रय केवल एक ही विक्रय सस्था द्वारा किया जाता है। प्रत्येक सदस्य अपने निश्चित कोटे के अनुसार उत्पादित माल विक्रय सगठन को बेचने के लिए देता है। माल के विक्रय के पश्चात् जो आय बचती है उसमे से विक्रय व्यय तथा सघ के अन्य आवश्यक व्यय निकालकर घटाकर जो लाभ शेष रहे, उसको निश्चित अनुपात मे बाँट दिया जाता है।

(५) पेटेन्ट सघ—इस प्रकार के सघ विभिन सस्थाओ मे उनके पेटेन्ट अधि-

कार प्राप्त करके धीरे धीरे अधिक से अधिक क्षेत्र अपने नियन्त्रण मे लेने का प्रयत्न करते हैं। अमेरिका मे जी० ई० सी० (General Electric Co.) ने एक नई संस्था 'रेडियो कॉरपोरेशन ऑफ अमेरिका' खोलकर लगभग ४,००० पेटेंट अधिकार अनेक कम्पनियो से प्राप्त किये हैं।

(६) निर्यात सघ—इस प्रकार के सघ केवल विदेशी बाजारो मे विदेशियो के साथ सफल प्रतिस्पर्धा करने की दृष्टि से एक देश का निर्यात व्यापार बढाने के लिए निर्माण किये जाते हैं।

(७) कृषि सघ—इस प्रकार के सघो का मुख्य लक्ष्य उपभोक्ताओ की माँग के अनुसार अथवा उनकी आवश्यकतानुसार कृषि उत्पादन का विक्रय करना होता है। कृषि की प्रगति की दृष्टि से इस प्रकार के सघ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। भारतवर्ष मे भी इनको अपनाया जा सकता है।

(V) संधारी अथवा सूत्रधारी प्रमण्डल
(Holding Company)

सघारी प्रमण्डल की परिभाषा हम पीछे दे चुके हैं। इनके निम्न विभिन्न प्ररूप होते हैं:—

(१) प्रमुख सघारी प्रमन्डल (Primary Holding Company)—यह प्रमण्डल सब सहायक प्रमण्डलो मे प्रमुख होता है और किसी भी अन्य प्रमण्डल के नियन्त्रण मे नही होता।

(२) मध्यस्थ सघारी प्रमण्डल (Intermediate or Subholding Company)—इसका प्रबन्ध एक अन्य बडे प्रमुख सघारी प्रमण्डल द्वारा होता है, इसलिए यह प्रमुख सघारी प्रमण्डल के सम्मुख सह प्रमण्डल अथवा केवल मध्यस्थ प्रमण्डल कहलाने का अधिकारी है।

(३) सम्पन्नशाली सघारी प्रमण्डल (Offspring Holding Company)—इसका निर्माण उस समय से होता है जब अन्य सहायक प्रमण्डल बन जाते हैं।

(४) अर्थ सघारी प्रमण्डल (Finance Holding Company)—यह सहायक प्रमण्डलो के लिए धन उपलब्ध करता है और इस दृष्टि से यह एक विनियोग प्रन्यास है। अर्थ सघारी प्रमण्डल का लाभ मुख्यत ब्याज और सहायक प्रमण्डलो के लाभो मे से प्राप्त लाभांश पर अवलम्बित होता है।

(५) जनक सघारी प्रमण्डल (Patent Holding Company)—यह वह प्रमण्डल है, जिसका निर्माण पहले होता है और बाद मे वह क्रमशः अपने सहायक प्रमण्डलो का निर्माण करता है।

(६) स्वामित्व सघारी प्रमण्डल (Proprietory Holding Company—यह प्रमण्डल अपने सहायक प्रमण्डलो की सम्पूर्ण पूँजी को अपने अधिकार मे रखता है।

(७) सचालक सधारी प्रमण्डल (Operative Holding Company)—इसके सचालक अपने सहायक प्रमण्डलो म विशेष रुचि रखते है एव उनकी व्यवस्था का सचालन करते है तथा उत्पादन आदि पर नियन्त्रण रखते है।

(८) शुद्ध सघारी प्रमण्डल (Pure Holding Company)—इस प्रकार का सधारी प्रमण्डल विभिन्न सहायक प्रमण्डलो के स्कन्ध का कुछ न कुछ भाग क्रय कर लेता है, किन्तु उनक प्रबन्धक उन प्रत्येक सहायक प्रमण्डलो के आन्तरिक प्रबन्ध मे कोई विशेष भाग नही लेते।

बारकपुर कोल कम्पनी लिमिटेड तथा एसोसिएटेड सीमेण्ट कम्पनी लिमिटेड सधारी प्रमण्डलो के उदाहरण हैं।

संधारी प्रमण्डलो के लाभ—

(१) सर्व प्रथम लाभ तो यह है कि इनका निर्माण प्रमण्डल अधिनियम के अन्तर्गत होता है, अत इनका अस्तित्व स्थायी एव वैधानिक हो जाता है। अन्य सयोगो मे यह बात नही है, क्योकि उनका निर्माण मौखिक अथवा अनुबन्धात्मक होता है।

(२) अनेक प्रमण्डलो के सम्मेलन से सधारी प्रमण्डल के आन्तरिक व्ययो मे बहुत कमी हो जाती है। निरथक व्यय नही करने पडते। विज्ञापन आदि मे भी मितव्ययिता हो जाती है।

(३) सधारी प्रमण्डलों के निर्माण से प्रत्येक सहायक प्रमण्डल का वैधानिक अस्तित्व पृथक रहता है, जिससे आय-कर सम्बन्धी मिलने वाले लाभ मिलते रहते हैं।

(४) सधारी प्रमण्डलो को साधारण प्रमण्डलो की अपेक्षा पूंजी एकत्र करने मे काफी सरलता होती है।

(५) सधारी प्रमण्डल का निर्माण अत्यन्त सरल होता है। इसके लिये सदस्य प्रमण्डलो की अनुमति लेने की आवश्यकता नही पडती, क्योकि प्राय सभी कम्पनियो के अश खुले बाजार मे बिकते हैं, जो सरलता से खरीदे जा सकते हैं।

(६) प्रबन्ध विषयक व्यय मे भी काफी मितव्ययिता हो जाती है। केन्द्रीय नियन्त्रण अनेक स्थलो पर व्यय मे बचत करा देता है।

(७) प्रत्येक सदस्य मण्डल को सुयोग्य विशेषज्ञ मिल जाते है, अत उनकी कार्य-कुशलता मे वृद्धि होती है।

(८) न्यास अथवा कार्टेल्स की अपेक्षा सधारी प्रमण्डलो का महत्त्व इसलिए भी है, क्योकि ये अपने सहायक नियन्त्रित प्रमण्डलों को अनेक कार्यों के लिए अभिकर्ता नियुक्त कर देते है। इस प्रकार बहुत से विक्रेताओ के चगुल से बच जाते हैं तथा उन सबकी नीति पर एक ही केन्द्रीय नियन्त्रण रहने से लगभग सबकी बाह्य दृष्टि समान रहती है।

संधारी प्रमण्डलो की हानियाँ—

(१) सधारी प्रमण्डलो के विरुद्ध पहला आक्षेप यह है कि वर्तमान औद्योगिक विकास साहसी व्यक्तियो के नियन्त्रण मे न रहते हुये केवल कतिपय पूंजीपतियो के

समूह के नियन्त्रण मे चला जाता है। इससे नियन्त्रण का विकेन्द्रीयकरण हो जाता है, जो अनेक दृष्टियो से हानिकारक भी है, तभी राष्ट्रीय हित के सर्वथा विरुद्ध है।

(२) सधारी प्रमण्डलो के सचालकगण अधिकतर निजी लाभ की दृष्टि से पूँजीवाद के सिद्धान्तो एव तर्क के अनुसार कार्य करते हैं, जिसमे देश मे दो या विभिन्न वर्गों का निर्माण होकर समाज क्रान्ति की ओर अग्रसर हो जाता है।

(३) सधारी प्रमण्डल अपने सहायक प्रमण्डलो के बीच इस चालाकी से छल साधन (Manipulation) करते हैं कि जिससे विनियोगको को बडी हानि उठानी पडती है।

(४) सहायक प्रमण्डलो से होने वाले लाभ का अधिकांश भाग (Lion's share of profit) अशधारियो की अपेक्षा प्रबन्धको की जेब म जाता है, क्योकि वे तरलित स्कन्धो (Watered stocks) की बिक्री से अधिक लाभ कमाते हैं।

बम्बई शेयर होल्डर्स एसोसिएशन के अनुसन्धान के अनुसार शुद्ध लाभ का वितरण इस प्रकार से होता है—

प्रमण्डल सख्या	उद्योग	प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ का लाभाश	अशधारियो का लाभाश
३६	सूती वस्त्र उद्योग,बम्बई	३८ ८%	४६·२७%
२२	,, ,, ,, अहमदाबाद	७० ५%	३१·००%
१६	जूट उद्योग	३६·६%	७६·००%
१४	कलकत्ता	५४·२%	७३·२०%

(५) सधारी प्रमण्डलो के पूँजी-आधिक्य से भी विनियोगको का शोषण होने की सम्भावना रहती है।

(६) सधारी प्रमण्डल प्राय असामाजिक प्रवृत्ति वाले होते हैं, क्योकि एक ही सधारी कम्पनी के नियन्त्रण म अनेक सहायक कम्पनियाँ रहती हैं, जो अपने सुदृढ आर्थिक साधनो से उस क्षेत्र म स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा करने वाले व्यक्ति या व्यवसाय का कुचल डालती है तथा अपनी वस्तुओ को मनमाने मूल्य पर बेचती हैं।

(VI) समावेशन, सम्मिश्रण एवं सविलियन
(Merger, Amalgamation & Absorption)

समावेशन, सम्मिश्रण एव सविलीयन के लिय एक शब्द है 'पूर्ण सघनन' (Complete consolidation), जिसका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। सघनन के निम्न लाभ हैं :—

संघनन के लाभ—

(१) सघनित प्रमण्डलो मे पारस्परिक वैमनस्य की भावना नही रहती, अपितु उनम समानता तथा एकरूपता आ जाती है, जिसमे नियन्त्रण सुदृढ हो जाता है।

(२) प्रबन्ध एव व्यवस्था का केन्द्रीयकरण हो जाता है, जिससे प्रबन्ध व्यय मे मितव्ययिता आ जाती है, प्रमण्डल के लाभो मे वृद्धि होती है।

(३) सघनित प्रमण्डलों को बडी मात्रा म उत्पादन के लाभ मिलते है एव क्रय-विक्रय आदि सगठन के केन्द्रीयकरण होने से मितव्ययिता होती है।

(४) अनुसन्धान तथा अन्वेषण के लिय क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, जिससे उत्पादन मे वृद्धि होती है।

(५) तान्त्रिक विशेषज्ञो की सेवायें सुविधा तथा सरलता से प्राप्त की जा सकती है।

संघनन की हानियाँ—

(१) प्रमण्डलो का पृथक अस्तित्व न रहने के कारण उनकी पृथक ख्याति, स्थान, विपणि क्षेत्र आदि का लाभ सघनन से प्राप्त नही होता है।

(२) इनका निर्माण करने के लिए वैधानिक कार्यवाही की आवश्यकता पडती है, जिससे इनका सगठन गोपनीय रह सकता है।

(३) सघनन बडा होने की दशा मे नियन्त्रण एव प्रबन्ध अक्षम होने की सम्भावना रहती है और उत्पादन व्यय मे भी मितव्ययिता नही रहती।

STANDARD QUESTIONS

1. (a) Discuss the nature, objects and economies of vertical and horizontal combinations in industry.
   (b) How do you account for the slow appearance of combinations in Indian Industry ?
2 "Combination by giving rise to monopoly harm the interests of consumers . Combinations by reducing costs offer goods and services at lower prices to consumers Reconcile these views
3. What are the chief causes that lead to combination in industry and trade ? Illustrate your answer from Indian conditions
4 Give the main classification of business combinations Illustrate your answer from Indian conditions.
5 Discriminate clearly between Trusts and Cartels and explain the conditions which favoured the growth of trusts in the U S A and cartels in Germany
6 Define clearly 'Vertical and 'Horizontal combination, with reference to their existence in two principal Indian industries

Distinguish between a 'Cartel' and a 'Trust' bringing out their main features.

7. What is a Trust ? How many kinds of trusts are there ? How does trust differ form a holding company ?

8. What do you understand by a 'Cartel' ? Explain its functions and objects. How does it differs form a trust ?

अध्याय १०

भारतीय उद्योगों में संयोग आन्दोलन

(Combination Movememt in Indian Industries)

भारत में आन्दोलन धीमा क्यों ?

पाश्चात्य देशो की अपेक्षा भारतवर्ष मे सयोग आन्दोलन अत्यन्त मन्द गति से बढ रहा है। इसकी धीमी प्रगति के निम्न कारण हैं :—

भारत मे संयोग आन्दोलन धीमा होने के ६ कारण
(१) भारतीय उद्योगपतियो की वैयक्तिक भावना।
(२) प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति।
(३) औद्योगिक दृष्टि से पिछडा होना।
(४) कुछ उद्योगो का वृहत् आकार।
(५) विदेशी प्रतिस्पर्धा।
(६) राष्ट्र की आर्थिक एवं औद्योगिक नीति।

(१) भारतीय उद्योगपतियो की वैयक्तिक भावना—भारतीय व्यापारी प्रारम्भ से ही वैयक्तिक भावना को अपनाते चले आ रहे है, अत. सयोग की दिशा मे अभी तक उन्होंने जो भी प्रयत्न किए ह उनमे सफलता नही मिली। भारतीय उद्योगपति अधिकतर निजी लाभ की दृष्टि से कार्य करते हैं। उनके हृदय मे सामाजिक तथा सामूहिक हित के लिए कोई स्थान नही है। लाभ होने की दशा मे वे समस्त लाभ का उपयोग स्वय करना चाहते है। ऐसी भावना सयोग के सर्वथा विरुद्ध है। हाँ, गत कुछ दिनो मे वे सहकारिता का पाठ अवश्य पढने लग है और औद्योगिक क्षेत्र मे कुछ महत्वपूर्ण सयोगो की स्थापना भी हुई है।

(२) प्रबन्ध अभिकर्ता पद्धति—भारतवर्ष मे मुख्यतः प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ की उपस्थिति ने सयोग आदोलन को जड नही पकडने दिया। उनकी आर्थिक तथा व्यापारिक स्थिति के सुदृढ होने के कारण, वे जिन व्यापारो को आरम्भ करते हैं उनके सयोग करने में वे आत्म सम्मान का हनन समझते हैं। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा तथा वैमनस्य के कारण भी वे दूसरो के साथ सम्मिलित होना हेय समझते हैं। प्रबन्ध-अभिकर्त्ता पद्धति द्वारा भी सामूहिक प्रबन्ध होने के कारण सयोग के समान मितव्ययिता उद्योगपतियो को प्राप्त हो जाती है, अत. वे सयोग की आवश्यकता नही समझते।

(३) औद्योगिक दृष्टि से पिछडा होना—औद्योगिक विकास की दृष्टि से अन्य उन्नतिशील देशो की अपेक्षा भारत अभी बहुत पिछडा हुआ है। प्रथम विश्व युद्ध ने हमारे यहाँ की ब्रिटिश सरकार को भारत के औद्योगिक विकास के लिए प्रेरित किया और द्वितीय महासमर मे हमारे उद्योगो को विशेष प्रोत्साहन मिला, किन्तु अभी तक देश की प्राकृतिक सम्पदा को दृष्टि मे रखते हुए किंचित उद्योगो को छोड कर समस्त उद्योग अभी परिवर्तन की स्थिति मे ही हैं। कुछ अपवादो को छोड कर भारत मे उद्योगो को अभी वह अवस्था प्राप्त नही हुई, जिससे कि उनको सयोग मे सम्मिलित किया जाय तथा प्रभावशाली नियन्त्रण मे रखा जाय।

(४) कुछ उद्योगो का वृहत् आकार—भारत मे कुछ उद्योग, जैसे—लोह एव स्पात उद्योग, कुछ राजकीय उद्योग आदि पहले से ही इतने बडे आकार पर प्रारम्भ किये गये है कि अब नवीन सस्थाओ को उनमे मिलाना अत्यन्त कठिन है। दूसरे, उनमे प्रतिद्वन्दिता करने वाली सस्थाये भी भारत मे नही हैं।

(५) विदेशी प्रतिस्पर्धा—विदेशी प्रतिस्पर्धा ने भी सयोग आन्दोलन की गति को रोका है। सन् १९२१ के पूर्व भारत सरकार की प्रशुल्क नीति भी असन्तोषजनक थी, जिसने प्रोत्साहन की अपेक्षा सयोग के मार्ग मे अनेक कठिनाइया उत्पन्न कर दी।

(६) राष्ट्र की आर्थिक एव औद्योगिक नीति—छठवें, भारत सरकार की आर्थिक नीति भी सयोग प्रवृत्तियो की ओर उदासीन रही है। जर्मनी मे राज्य ने सयोग आन्दोलन को सक्रिय प्रोत्साहन दिया तथा वहाँ कुछ सयोग राजकीय प्रभाव डालकर स्थापित किये गय, किन्तु इसके विरुद्ध अमेरिका म सयोगो को रोकने के लिए नियम बनाये गये। ग्रेट ब्रिटेन तथा भारत की सरकारें अभी तक किसी प्रकार के हस्तक्षेप के विरुद्ध रही। हाँ, गत कुछ वर्षो से अवश्य सयोगो के विरुद्ध आन्दोलन चल रहा है एव उद्योगो मे नियन्त्रण के केन्द्रीयकरण के विरुद्ध आवाज उठाई जा रही है। कुछ लोगो का मत है कि प्रबन्ध अभिकर्तृत्व प्रणाली, जिसके आधार पर भी कुछ सयोग स्थापित हुए हैं तथा हो सकते हैं, को जड से उखाड देना चाहिए। इस विचार-धारा ने भी सयोग आन्दोलन की गति को धीमा कर दिया है।

उद्योगसार आन्दोलन की वर्तमान स्थिति

वर्तमान समय मे सयोग आन्दोलन की गति कुछ प्रबल हो गई है, किन्तु

सयोग निर्माण की प्रवृत्ति बड़ी मात्रा मे उत्पादन की अपेक्षा वृहत् सगठनो की ओर विशेष पाई जाती है। अब हम भारतीय उद्योगो मे होने वाले सयोग आन्दोलन का विवेचन करेंगे :—

(१) सीमेंट उद्योग—

क्षैतिज पद्धति का सबसे बड़ा एव महत्त्वपूर्ण सयोग सीमेंट व्यवसाय मे हुआ, जिसमे अनेक सीमेंट कम्पनियो का सविलीयन हुआ। भारतीय सीमेंट उद्योग मे सयोग की दिशा मे प्रयत्न सर्वप्रथम सन् १९२५ मे किये गये, जब इस उद्योग को सरक्षण प्रदान नही किया गया। वास्तव मे सरकार का इस उद्योग के प्रति असन्तोषप्रद व्यवहार तथा विदेशी प्रतिस्पर्धा ही सयोग का कारण बना। प्रतिद्वन्द्विता के युग मे अनेक सीमेन्ट कारखाने नष्ट हो रहे थे और शेष का जीवन भी सङ्कटमय था। परिणामस्वरूप सन् १९२६ मे 'इण्डियन सीमेन्ट मेन्यूफैक्चरर्स एसोसियेशन' का निर्माण किया गया। इसके बाद सन् १९३० मे सीमेन्ट का वितरण एव विक्रय नियन्त्रित करने के हेतु 'सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी' का निर्माण किया गया। इसको 'कार्टेल' अथवा 'सिण्डीकेट' भी कह सकते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश वह प्रयत्न असफल रहा, अत. सन् १९३७ मे इन दोनो के सम्मिश्रण से 'एसोसिएटेड सीमेन्ट कम्पनी' (A. C. C.) का निर्माण किया गया। इसमे ११ सीमेंट कम्पनियो का सविलीयन हुआ, जिनमे कटनी सीमेंट कम्पनी लि०, इण्डियन सीमेन्ट क० लि०, दी सी० पी० सीमेन्ट क० लि०, दी कोयम्बटूर सीमेन्ट क० लि०, इत्यादि प्रमुख थी। तत्पश्चात् इस बड़े सयोग के भी प्रतिस्पर्धी (Competitor) के रूप मे डालमिया सम्मुख आये और पुनः विषम प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हो गई।

सन् १९४१ मे एक दूसरा कदम उठाया गया और डालमिया कम्पनियो के समूह तथा ए० सी० सी० के समूह म एक समझौता हुआ, जिससे आन्तरिक प्रतिस्पर्धा पर और भी अधिक नियन्त्रण लगा दिया गया। समझौते के अनुसार बाजार बाँट दिये गये। फिर द्वितीय महायुद्ध न सीमेन्ट उद्योग का रूप बदल दिया। अत्यधिक उत्पादन के स्थान पर सीमेन्ट की कमी हो गई। आज भी 'उत्पादन क्षमता का बढाना' सीमेन्ट उद्योग के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या है। २० जनवरी सन् १९५० को ए० सी० सी० की १३वी वार्षिक मीटिंग मे कम्पनी के सभापति के भाषण से यह बात स्पष्ट है।*

(२) शक्कर उद्योग—

भारतीय शक्कर उद्योग मे सम्वरूप सयोग के दर्शन होते हैं। गत २०-२२ वर्षों में इस उद्योग की उन्नति बड़ी शीघ्रता से हुई है और तभी से शक्कर के उत्पादन पर नियन्त्रण के हेतु एक केन्द्रीय सस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई। सन् १९३५ म यह सख्या १३० तक पहुँच गई। इसका प्रधान कारण उद्योग को सरक्षण मिलना था, किन्तु

---

* "Who Owns India" by Asoka Mehta.

इस शीघ्र विकास से उद्योग की उन्नति मे कुछ कमजोरियाँ आ गई। सन् १९३० मे भारत मे केवल २७ शक्कर के कारखाने थे। स्पर्द्धा को रोकने के लिए 'सुगर मार्केटिंग बोर्ड' का निर्माण किया गया, किन्तु व्यक्तिगत कारखानो की उदासीनता और अपेक्षा के कारण यह सगठन अपने उद्देश्यो मे असफल रहा। जुलाई सन् १९३७ मे 'सुगर सिन्डीकेट' का निर्माण किया गया, जिसके प्रयत्नस्वरूप मूल्य निर्धारण मे काफी सफलता मिली।

सन् १९३९ तक इस सिण्डीकेट ने बडी सफलतापूर्वक कार्य किया, किन्तु फिर द्वितीय महासमर आरम्भ होने से शक्कर का उत्पादन अत्यधिक होने लगा। सिण्डीकेट ने अधिक ऊँचे मूल्य निर्धारित किये थे, अतएव उसे विवश होकर सन् १९४० मे मूल्य घटाने पडे। सन् १९४२ मे समस्त भारतीय शक्कर उद्योग पर नियन्त्रण के हेतु सद्प्रयत्न किये गये। केन्द्रीय शक्कर सलाहकार बोर्ड की दिल्ली में एक सभा की गई। सन् १९४३ के बाद 'कन्ट्रोल' के कारण सुगर सिन्डीकेट अपने कार्य से विरत रहा और उत्पादन तथा वितरण पर सरकार का अपेक्षाकृत अधिक कडा नियन्त्रण रहा। सन् १९४७ के बाद पुनः सुगर सिन्डीकेट सक्रिय कार्य करने लगा। सन् १९४९ मे भारतीय ससद मे सुगर सिन्डीकेट तथा शक्कर उद्योग के विषय मे राजकीय नीति की कडी आलोचना की गई और सुगर सिन्डीकेट को समाप्त करने का निश्चय कर लिया गया।

(३) जूट उद्योग—

भारत के सभी उद्योगो मे जूट उद्योग सबसे अधिक सगठित उद्योग है और इस उद्योग के अन्तर्गत जितनी भी कम्पनियाँ है, व प्रायः सभी सहयोग से कार्य करती है। सन् १८८३ मे ही भारतीय जूट मिल्स एसोसियेशन का निर्माण किया गया था। इसको हम यदि उत्पादन-सङ्घ (Output Pool) अथवा 'कार्टेल' कहे तो अनुचित न होगा। तान्त्रिक विकास तथा अनुसन्धान को इस सघ ने विशेष प्रोत्साहन दिया। यही नही, शोध कार्य के हेतु इसने आर्थिक सहायता प्रदान की। जूट उद्योग की उत्पादन क्षमता का ९५% भाग इसी सघ के अन्तर्गत है, जिसने अनेक सराहनीय कार्य किये हैं। गिरते हुए मूल्यों और माँग का सामना करने के लिये सन् १९२९ मे मिलें ५४ घण्टे कार्य करने के लिए राजी हो गई, सन् १९३० मे तीन सप्ताह तक कार्य की पूर्ण रोक रही। द्वितीय महायुद्ध के समय जूट मिलो ने ४५ घण्टे प्रति सप्ताह कार्य किया। कभी-कभी माह में एक सप्ताह तक मिलें बन्द रही।

मई सन् १९५२ मे १०% करघो को सील बन्द कर दिया गया। भारत के बँटवारे के बाद इस उद्योग के बुरे दिन आये। अनेक मिलो को हानि उठानी पडी, किन्तु पारस्परिक सहयोग के कारण उद्योग अपने पैरो पर खडा रहा। इस आपत्ति के समय में भी जूट मिल एसोसियेशन ने उद्योग की बडी सेवा की।

(४) सूती उद्योग—

भारतीय सूती वस्त्र उद्योग मे औद्योगिक इकाइयो की सख्या इतनी अधिक

(४०० मिलो से भी ज्यादा) है कि सयोग एक कठिन समस्या है, किन्तु फिर भी कुछ महत्वपूर्ण सयोग स्थापित हुए हैं। उदाहरण के लिए, बॉकिघम कर्नाटिक मिल्स वास्तव मे तीन वस्त्र-मिलो का सयोग है। बम्बई तथा ग्रहमदाबाद मे प्रबन्ध ग्रभिकर्त्ताग्रो के प्रयत्नस्वरूप ग्रनेक ग्राधिक सयोग स्थापित हुए हैं। लकाशायर कॉटन कॉरपोरेशन के ग्राधार पर सन् १६३० मे ३४ वस्त्र मिलो के सयोग का एक प्रस्ताव रखा गया था, किन्तु यह प्रयत्न ग्रसफल रहा। ग्रपने देश म कुछ व्यापारिक सघ है जैसे—बॉम्बे मिल-मालिक सघ इत्यादि, किन्तु वे किसी का नियन्त्रण नही करते। गत वर्षों मे जितने भी सम्मिश्रण या सविलीयन हुये, वे प्राय सभी प्रबन्ध-ग्रभिकर्त्ताग्रो द्वारा किये गए ग्रौर उनका स्वरूप स्पष्ट रूप से न तो क्षैतिज है ग्रौर न लम्ब ग्रपितु उन्हे चक्रिन या मिश्रित सयोग कह सकते हैं, क्योकि उनमे विभिन्न प्रकार के ग्रौद्योगिक प्रमण्डलों का सम्मिश्रण हुग्रा है। उदाहरण के लिये, सन् १६२० मे निम्नलिखित ६ कम्पनियो को लेने के लिये ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन की स्थापना की गई :—कानपुर वूलन मिल्स, कानपुर कॉटन मिल्स, न्यू ईगटन वूलन, मिल्स, नार्थ-वेस्ट टैनरी, कपूर एलन एण्ड कम्पनी तथा एम्पायर इजीनियरिंग कम्पनी। बी० ग्राई० सी० (B. I. C) के ग्रन्तर्गत फ्लेक्स, लाल इमली तथा काकोमी भी है।

सन् १६४८ के बाद से तो इसका क्षेत्र ग्रौर भी विस्तृत हो गया है, क्योकि बेग सदरलैण्ड कम्पनी मे भी ग्रब बी० ग्राई० सी० का काफी हाथ है, ग्रत. ग्रप्रत्यक्ष रूप से ग्रनेक प्रमण्डल इस कॉरपारेशन के ग्रन्तगत हैं।

(५) लौह एव स्पात उद्योग –

लौह एव स्पात उद्योग के क्षेत्र म ग्रथवा यो कह कि भारत के ग्रौद्योगिक इतिहास के क्षेत्र म सबसे महत्वपूर्ण सयोग इण्डियन ग्रायरन स्टील कम्पनी लिमिटेड तथा स्टील कॉरपोरेशन ग्राफ बगाल लिमिटड का है, जो 'IISCO SCOB Merger' के नाम से विख्यात है। यह सयुतीकरण कम्पनी ग्रधिनियम के ग्रन्तर्गत नहीं वरन् प्रेसीडेन्ट के एक विशेष ग्रध्यादेश द्वारा जनवरी सन् १६५३ मे हुग्रा। इस सयुतीकरण के कारण इस प्रकार है .—

दिसम्बर सन् १६३६ मे इण्डियन ग्रायरन एण्ड स्टील कम्पनी ने बङ्गाल ग्रायरन कम्पनी का व्यापार खरीद लिया ग्रौर इसमे बङ्गाल ग्रायरन कम्पनी का ग्रपनी तीन-चौथाई पूँजी व इण्डियन ग्रायरन स्टील कम्पनी को एक चौथाई ग्रशलिखित करनी पड़ी थी। स्टील विभाग खालन के लिए यह उचित नही समझा गया कि इण्डियन ग्रायरन एण्ड स्टील कम्पनी लिमिटड के शेयरहोल्डरा से पुन पूँजी दन व लिय कहा जाय, जिसकी ग्रावश्यकता लगभग ५ करोड र० की थी, ग्रत सन् १६३७ म स्टील कारपारशन ग्राफ बङ्गाल के नाम म एक नई इकाई स्थापित की गई, जिसमे इण्डियन ग्रायरन एण्ड स्टील कम्पनी लिमिटेड के पास ग्राधी इक्विटी कपिटल थी। विचार यह था कि किसी दिन दोनो कम्पनियो को एक इकाई म गठित कर दिया जायगा। युद्धोत्तर काल म जब युद्धकालीन मूल्य-नियन्त्रण हटा लिए गये ग्रौर प्रशुल्क

बोर्ड ने नये मूल्य निर्धारित कर दिये तो यह अनुभव किया गया कि यदि उक्त दोनो कम्पनियो का एकीकरण हो जाय तो दोनो ही संस्थायें लाभान्वित होगी। तत्पश्चात् प्रत्येक टैरिफ बोर्ड ने भी यही सिफारिश की और सरकार ने भी दोनो कम्पनियो को इस दिशा मे विचार करने के लिये कहा। टैरिफ कमीशन एव इससे पूर्व टैरिफ बोर्ड ने लोह एव स्पात के लिये मूल्य (Retention Prices) की गणना करने के लिए जो ढङ्ग अपनाये थे उनके कारण दोनो कम्पनियो को एक सम्मिश्रित इकाई की तुलना मे हानि उठानी पड़ती थी, किन्तु दोनो कम्पनियो के एकीकरण से यह हानि नही होती।

इसके अतिरिक्त जब उत्पादन के विस्तार के लिए भारी मात्रा मे प्लाण्ट आयात करने के हेतु विदेशी विनिमय की आवश्यकता हुई तो सरकार ने इन्टरनैशनल बैंक फार रिकन्स्ट्रक्शन एण्ड डेवलेपमेंट के समक्ष प्रार्थना की। बैंक ने प्रत्युत्तर मे देश की औद्योगिक सभावनाओं की जाँच के लिए टेक्नीकल मिशन भेजा, जिसने उक्त दोनो इकाइयो का निरीक्षण किया और यह सिफारिश की कि भारत मे लोहे एव स्पात का उत्पादन बढाने का सस्ता और शीघ्रगामी साधन इन दोनो कम्पनियो को सम्मिश्रित करके विकास करना है। बैंक ने भारत सरकार को सूचित किया कि वह इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी लिमिटेड को विकास के लिए १५ करोड रु० कर्ज देने के लिये तैयार है, बशर्ते इन दोनो कम्पनियो का एकीकरण हो जाय, अतः भारत सरकार ने परिस्थिति की आवश्यकता को अनुभव करते हुए आर्डीनेंस द्वारा एकीकरण की घोषणा की। यदि सामान्य ढग से एकीकरण कराया जाता तो उसमे अनावश्यक देर लगती, जिससे आर्थिक सहायता नही मिल पाती और विकास कार्यक्रम पूरा नही हो पाता।

सम्मिश्रित कम्पनी का भविष्य बडा उज्जवल है। टैरिफ कमीशन द्वारा मूल्य गणना की विधि के फलस्वरूप होने वाली हानि तो दूर हो ही जावेगी, साथ ही सम्मिश्रित कम्पनी अधिक निपुणता एव मितव्ययिता से कार्य कर सकेगी। उदाहरण के लिए, अब प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को दुहरा पारिश्रमिक नही देना पडेगा। सम्मिश्रित कम्पनी ने जो विकास कार्यक्रम बनाया है उसके लिए इसे बैंक से एव सरकार से *सुविधाजनक शर्तो पर आर्थिक सहायता मिल सकेगी।*

(६) कोयला उद्योग—

कोयले के उद्योग मे अनेक सयोग हुए। दी न्यू बीरभूम कोल कम्पनी ने अनेक कोयला खान-उद्योगो का सम्मिश्रण किया। सन् १९३७ मे कोल-जाँच समिति ने भी सम्मिश्रण पर जोर दिया। इस प्रकार सम्मिश्रणात्मक सयोग की आवश्यकता कोयले के खान-व्यवसाय मे अधिक है, जिसमे वे प्रमण्डलो के लघु परिमाण होने के कारण उत्पादन की दृष्टि से अक्षम है।

भारत में कुछ विशेष संयोगो के उदाहरण

(१) संघ (Pool) प्रारूपी सयोग—

'सघ' प्ररूप के सयोग का सबसे अच्छा भारतीय उदाहरण हमारा कागज

उद्योग है, जो एक प्रवन्ध सगठन है। इण्डियन पेपर मेकर्स एसोसियेशन के अन्तर्गत अनेक कागज मिलें सम्मिलित हैं। यह सघ कागज का मूल्य निर्धारित करता है तथा प्रान्तीय एवं केन्द्रीय सरकारों से कागज के सम्बन्ध मे अनुबन्ध करता है कि कौनसी मिल किसको कितना कागज देगी। इस प्रकार मूल्य सघ (Price pool) का उदाहरण हमारे यहाँ के तेल व्यवसाय मे मिलता है, जिसमे ब्रिटिश-बर्मा पैट्रोलियम क०, आसाम ऑयल क०, दी रायल डचशैल ग्रूप तथा बर्मा ऑयल कम्पनी सदस्य हैं और मिट्टी के तेल का सदस्यो द्वारा विक्रय एवं सदस्य प्रमण्डलो से क्रय किस प्रकार होगा, यह निर्धारण करना है। इण्डियन जूट मिल एसोसियेशन ने उत्पादन सघ (Production pool) का रूप ले लिया है। सन् १९२१ से यह एसोसियेशन जूट उत्पादन, काम के घन्टों की कमी, कुछ मिलो की तालाबन्दी, पालियो पर नियन्त्रण आदि का कार्य सफलता से कर रहा है। बाजार सघ (Marketing pool) डालमिया तथा एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनी के समझौते के बाद स्पष्ट हुआ है, जिसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि दोनों मे से कोई भी एक दूसरे के क्षेत्र मे व्यापार नही करेगा। इससे उनकी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन होगा।

(२) संधारी कम्पनियाँ (Holding Companies)—

सधारी कम्पनियो का निर्माण भारत में विशेषतः सन् १९१३ से प्रारम्भ हुआ। ऐसे प्रमण्डल विभिन्न प्रमण्डलो की व्यापारिक नीति एवं प्रबन्ध पर नियन्त्रण के हेतु उनके अंश खरीद लेते हैं। यह कार्य उस समय विशेष रूप से पाया जाता है, जब विभिन्न कम्पनियाँ एक ही प्रबन्ध अभिकर्त्ता के अन्तर्गत कार्य करती हैं। भारत के विभिन्न व्यवसायो मे धन लगाने के लिए उन पर नियन्त्रण स्थापित करने के उद्देश्य से पर्याप्त मात्रा मे विनियोग प्रन्यास स्थापित हुए हैं, किन्तु शक्तिशाली प्रबन्ध अभिकर्ताओ के कारण उनका नियन्त्रण अधिक प्रभावशाली नही दिखाई देता है।

बीमा तथा बैंकिंग के क्षेत्र मे बैंकिंग की अपेक्षा बीमा कम्पनियो की स्थिति अच्छी है, विशेषकर निम्न कम्पनियो की - फ्री इण्डिया जनरल इन्श्योरैंस क० लि० कानपुर, आर्यन इन्श्योरेंस क० लि० कलकत्ता, फैडरल इण्डिया इन्श्योरेंस क० लि० दिल्ली आदि। बैंकिंग कम्पनियो के सम्मिश्रण के लिये पर्याप्त क्षेत्र है, इससे उनकी कार्यक्षमता बढेगी तथा मितव्ययिता होगी। अभी देश मे ऐसी अनेक छोटी बैंकिंग कम्पनियाँ हैं, जिनका सम्मिश्रण या सविलीयन राष्ट्र के हित मे अनिवार्य है, जिससे वे अपने विदेशी प्रतिस्पर्धियों के साथ विशेषतः विदेशी विनिमय बैंकों से टक्कर ले सकें।

व्यापारिक पार्षद एवं चेम्बर ऑफ कॉमर्स —

यहाँ व्यापारिक पार्षदो के विषय मे दो शब्द लिखना अनावश्यक न होंगे। इन पार्षदों का प्रधान उद्देश्य किसी व्यापार विशेष के हितो की रक्षा करना तथा उसकी उन्नति करना है। चेम्बर ऑफ कॉमर्स भी व्यापारिक पार्षद ही है, जो व्यापारियो की, निर्माताओ की तथा अर्थ-प्रदायकों की स्वेच्छा से सीमित प्रमण्डल के रूप मे सगठित

किये जाते हैं। इनका भी मुख्य उद्देश्य व्यापार के लिए समान सिद्धान्तों का अवलम्बन तथा सदस्यों को व्यापारिक सुविधायें देने के लिए नियम बनाना होता है। इसके अतिरिक्त ये अपने सदस्यों को व्यापारिक सूचनायें तथा आवश्यक सलाह भी देते रहते हैं, परस्पर झगड़ों का निर्णय भी देते हैं एवं आवश्यकतानुसार वैधानिक एवं तान्त्रिक माहिती भी प्रदान करते हैं। सदस्यों को व्यापारिक सुविधायें देने के लिए ये सरकार के पास व्यापारियों की ओर से प्रतिनिधि मण्डल भी भेजते हैं। उक्त उद्देश्य का प्रथम भारतीय संगठन कलकत्ते में सन् १८८७ में 'कलकत्ता नेशनल चेम्बर ऑफ कॉमर्स' के नाम से स्थापित किया गया था। भारत के प्रायः प्रत्येक बड़े औद्योगिक नगर में अब ऐसे पार्षद स्थापित हो गये हैं, जिनमें मारवाड़ी चेम्बर ऑफ कॉमर्स, बम्बई, इण्डियन चेम्बर ऑफ कॉमर्स, कलकत्ता, इण्डियन मर्चेन्ट चेम्बर ब्यूरो ऑफ बॉम्बे तथा दी उ० प्र० चेम्बर ऑफ कॉमर्स प्रमुख हैं।

(४) नौवहन चक्र तथा सम्मेलन—

इनके अतिरिक्त भारत में बाजार का विभाजन कुछ अन्य क्षेत्रों में भी किया गया है। ये क्षेत्र नौवहन-चक्र तथा सम्मेलन (Shipping Rings and Conferences) कहलाते हैं। ये चक्र पारस्परिक समझौते के आधार पर किये जाते हैं। ऐसा ही समझौता ब्रिटिश इण्डिया स्टीम नेवीगेशन क० लि० तथा सिंधिया स्टीम नेवीगेशन क० लि० में हुआ है। इस प्रकार के समझौते अन्तर्देशीय नौवहन क्षेत्र में भी विभिन्न नौवहन प्रमण्डलों के बीच हुए हैं। ये समस्त चक्र प्रायः देश के आन्तरिक भागों से जूट को तटवर्ती बाजारों तक ले जाने के लिए स्थापित किये गये हैं। ये कम्पनियाँ समझौते के अनुसार इन्डियन जूट मिल्स एसोसियेशन तथा कलकत्ता बेल्ट जूट एसोसियेशन के सदस्यों के लिए जलमार्ग से जूट लाने की पूर्णतया अधिकारिणी हैं।

(५) भारतीय उद्योगों में आर्थिक तथा प्रबन्ध संयोग—

'सामुदायिक हित संयोग' (Community Interest Combinations) से अभिप्राय उस संस्था का है, जिसके द्वारा दो या दो से अधिक कम्पनियों में, जिनके शेयरों का स्वामित्व सीमित व्यक्ति के हाथों में हो, सुखद सम्बन्धों की स्थापना की जाती है। इन संस्थाओं के चुने हुए व्यक्ति परस्पर प्रतिद्वन्द्विता मिटाने तथा सामान्य हितों की रक्षा के लिए एक संचालक मण्डल के रूप में कार्य करते हैं। ऐसे संयोगों को साधारणतः तीन भागों में बाँटा जा सकता है—पारिवारिक, नागरिक एवं अधिकोषिक। पारिवारिक समुदाय (Family Community Interest) का प्रचलन पाश्चात्य देशों में पाया जाता है, जैसे—अमेरिका में रॉक फेलर, मेलन, ड्यूपोण्ड आदि। कुछ कम्पनियों के स्कन्ध दूसरी कम्पनियों को बेच देने से या हस्तान्तरित कर देने से या उपहार-स्वरूप दे देने से इनका विकास हुआ। नागरिक समुदायों (Local Community Interest) का नगरों में बड़े-बड़े बैंक, उद्योग धन्धे तथा व्यापारिक संस्थाओं के एक ही संचालकों के होने से सामुदायिक हित रक्षक संस्थाओं का जन्म

हुआ। इस प्रकार इन अलग-अलग कम्पनियो के सचालक एक दूसरी कम्पनी के सचालन मे योग देते हैं। अधिकोषो के समुदायिक सगठन (Banking Community Intere t) परस्पर प्रतियोगिता को मिटाने के उद्देश्य से स्थापित किय गये हैं। इन सगठनो के द्वारा नई प्रतिभूतियो के निर्गमन तथा प्रत्येक क्षेत्र मे व्यापार करने मे प्रतिद्वन्द्विता न करने का समझौता करते हैं। कोई भी प्रतिभूति इन सस्थाओ के बाहर नहीं बेची जा सकती। सरकार भी अपनी प्रतिभूतियाँ इन्ही सघो को देती है। ये सस्थायें अश निर्गमन करने वाली सस्थाओ के सचालको का चुनाव करके उनकी आर्थिक गतिविधि पर नियन्त्रण करती हैं।

भारतवर्ष मे जो भी क्षैतिज अथवा उदग्र सयोग है, उन्हे औद्योगिक सयोग की अपेक्षा आर्थिक सयोग कहना ही अधिक उचित होगा, क्योंकि आर्थिक व्यवस्था की दृष्टि से प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ न सयोग को अपनाया है। प्राय ऐसा देखने मे आता है कि एक प्रबन्ध अभिकर्त्ता के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की अनेक इकाइयाँ हैं और परिणामस्वरूप हमारे उद्योगो का केन्द्रीयकरण किंचित व्यक्तियो के हाथो मे हो गया है। कपड़ा उद्योग के ४५८ मिलो का ¾ भाग लगभग ३० प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ के हाथ मे है। अहमदाबाद की कुल मिलो का ⅔ केवल १८ परिवारों के हाथ मे है। इसी प्रकार सन् १९४९ मे जूट की ८५ मिलो मे से ३३ मिलें ४ प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ के हाथो मे थी तथा १६६ चीनी मिलो मे से ५१ का प्रबन्ध १६ प्रबन्ध अभिकर्त्ता करते हैं, जिनमे से डालमियाँ, नारग व थापर २१ मिलो का नियन्त्रण करते है। कोयले की ६० कम्पनियो का प्रबन्ध १४ प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ के हाथ मे है, जिनमे से ३० का प्रबन्ध केवल ४ प्रबन्ध अभिकर्त्ता करते है। इसी प्रकार चाय की १२० कम्पनियाँ ११ प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ के आधीन है, जिनमे से ९६ केवल ६ प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ के हाथ मे हैं तथा ३ प्रबन्ध अभिकर्त्ता क्रमश २५, ११ और १८ कम्पनियो का प्रबन्ध करते हैं। ऐसोसियेटेड सीमेन्ट कम्पनीज आज प्राय. देश के अधिकाश सीमेन्ट उत्पादन का नियन्त्रण करती है। लोहे मे ५०% उत्पादन केवल दो सस्थाओ के आधीन है—मार्टिन ब्यूरो एण्ड कम्पनी तथा टाटा इन्डस्ट्रीज लिमिटेड। माचिस के उद्योग मे 'स्वेडिस ट्रस्ट' एकाधिकार प्राप्त किय हुये हैं और उसने वेस्टर्न इण्डिया मैंच फैक्टरी के अन्तर्गत बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, उत्तर-प्रदेश तथा पजाब मे अपनी फैक्टरियाँ खोली हुई हैं।

भारतवर्ष मे प्रबन्ध अभिकर्त्ता लगभग ७०० औद्योगिक कम्पनियो का नियन्त्रण करते हैं, जिनमें से ५० कम्पनियाँ बबस एण्ड्यूल तथा मैकलॉड के आधीन है। डालमिया लगभग ५० कम्पनियो का नियन्त्रण करते हैं। जुग्गीमल कमलापति ४५ कम्पनियो का, थासर्स ३२, बर्ड एण्ड कम्पनी २३, जे० पी० श्रीवास्तव १० प्रकार के उद्योगो का। विल्लिक इन्डस्ट्रीज लिमिटेड पटियाला सीमेंट कम्पनी लिमिटेड तथा ए० सी० सी० के मैनेजिंग एजेंट होने के साथ-साथ १० प्रकार के उद्योगो का भी नियन्त्रण करती है। रामकुमार अग्रवाल एण्ड ब्रादर्स लगभग १३ प्रकार के उद्योगो

का नियन्त्रण करते है। ए० वी० थामस एण्ड कम्पनी लिमिटेड लगभग १५ कम्पनियो का नियन्त्रण करती है। इसी प्रकार टाटा एण्ड सन्स लिमिटेड ने लोहे एव स्पात, बिजली, तेल के कारखाने, साबुन के कारखाने, कपडे की मिलें, इजीनियरिंग कारखाने, होटल, वनस्पति कारखाने, बीमा कम्पनियाँ, बैंक, एयरवेज आदि उद्योगो का नियन्त्रण किया है। इसी प्रकार बिडला ब्रादर्स ने कपडा, चीनी, कागज, साइकिल, मोटर, जहाज आदि उद्योगो के नियन्त्रण के साथ-साथ बैंक, बीमा, एयरवेज आदि ३० कम्पनियो का प्रबन्ध अपने हाथ मे ले लिया है। जे० के० तथा डालमिया आटा, साबुन, तेल, इजीनियरिङ्ग, रासायनिक, कपास, जूट, ऊन, चीनी, एयरवेज आदि उद्योगो का नियन्त्रण कर रहे है। इसके अतिरिक्त उन्होने बीमा कम्पनियो, विनियोग सघ, बैंक तथा विनियोग कम्पनियो का निर्माण भी किया है।

एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि औद्योगिक तथा आर्थिक प्रमण्डलो पर नियन्त्रण के अतिरिक्त भारतीय प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का प्रेस (Pre s) पर भी अधिकार है। प्रायः प्रत्येक प्रबन्ध अभिकर्त्ता के नियन्त्रण मे एक न एक प्रमुख समाचार पत्र भी है, जिसके द्वारा जनता पर भी वे अपना नियन्त्रण रखते है। उदाहरण के लिए, बिरला का 'हिन्दुस्तान टाइम्स,' 'लीडर', डालमियाँ का 'नवभारत टाइम्स'; जे० के० का जे० के० रिव्यू', टाटा का 'टाटा रिव्यू' इत्यादि।

यही नही, कम्पनियो के सचालन मे भी घोर केन्द्रीयकरण (Interlocking of Directorates) है।[1] देश के समस्त उद्योगो के सञ्चालन की बागडोर वास्तव मे चोटी के २० व्यक्तियो के हाथो मे है। ऐसा अनुमान है कि भारत की ५०० प्रमुख औद्योगिक इकाइया पर २,००० सञ्चालको का प्रबन्ध है, किन्तु इन २,००० सञ्चालको के पद पर केवल ८५० व्यक्ति कार्य कर रहे है। इनमे से १,००० पदो पर केवल ७० व्यक्ति काय कर रहे है और शेष १,००० पर ७८० व्यक्ति। चोटी पर केवल १० व्यक्ति हैं, जो ३०० सञ्चालक-पदो का भार अपने ऊपर लिये हुए है। अग्र तालिका[2] से स्पष्ट है :—

८५० व्यक्ति २,००० सचालक पद ग्रहण किये है—औसत २ ३३
७० व्यक्ति १,००० सचालक पद ग्रहण किये है—औसत १४·२८
१० व्यक्ति ३०० सचालक पद ग्रहण किये है—औसत ३०

---

1. "The effective Directors of one trust holds directorships in many a concern managed by other trusts And that 'courtsey' is reciprocated In the world of capital, the captain themselves are ambassadors at one another's courts! . The top twenty men hold in their hands the significant threads of power."
—"Who Owns India"—Ashoka Mehta, Page 36-37.

2. Who Owns India by Ashoka Mehta, Page 17.

वर्तमान युग मे यह भी प्रवृत्ति देखने मे आती है कि भारतीय उद्योगपति विदेशी सस्थाओ तथा हितो का क्रय कर रहे हैं, अतएव भारतीय सचालको की सख्या दिन पर दिन बढती जा रही है। यह प्रवृत्ति विशेषत स्वतन्त्रता के उपरान्त राष्ट्रीय भावनाओ की प्रबलताओ के कारण हुई।[1] इस तालिका[2] से यह प्रवृत्ति स्पष्ट है।

कम्पनियो की सख्या तथा प्रकार		सन् १९३९ मे सचालका की सख्या		सन् १९४९ मे सचालको की सख्या	
		भारतीय	यूरोपियन	भारतीय	यूरोपियन
१० कोल	कम्पनीज	....	३४	१७	२८
११ कोल	"	१६	२६	३२	२५
१३ जूट	"		४९	११	४४
२१ जूट	"	३५	५२	६३	३५
३ इन्जीनियरिंग	"		६	३	११
४ इन्जीनियरिंग	"	८	११	१५	८
१४ अन्य	"	.	५३	३०	३७
६ अन्य	,	६	१९	१८	१६

ऐसे भी अनेक उदाहरण है, जहाँ एक व्यक्ति ४०-४० कम्पनियों का सचालक है। उदाहरण के लिए, श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ५१ विभिन्न कम्पनियो के सचालक है।

कम्पनी अधिनियम सन् १९५६ ने प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ द्वारा अन्तर्वद्ध विदेशनालयो और अन्तर्वद्ध स्वहितो की बढती हुई प्रवृत्ति को रोकने का यत्न किया है। भविष्य मे व्यक्ति को ही सचालक बनने दिया जायेगा और उसे २० से अधिक लोक कम्पनियो का सचालक नही बनने दिया जायेगा। इसी प्रकार कोई प्रबन्ध अभिकर्त्ता १० से अधिक कम्पनियो का प्रबन्ध अभिकर्त्ता नही हो सकेगा। इसके अतिरिक्त, प्रबन्ध अभिकर्त्ता सचालको की कुल सख्या ५ से अधिक होने पर १ और अधिक सचालक नियुक्त कर सकेगा।

विदेशी सम्बन्ध एवं बड़े व्यापार की प्रवृत्ति

एक ओर तो हमने देखा कि सचालको का भारतीयकरण हो रहा है, किन्तु दूसरी ओर ऐसा भी देखने मे आता है कि भारतीय उद्योगपति विदेशी उद्योगपतियो के

1 The Daily Express wrote in 1945. "Indians recently grown rich and powerful due to inflationary conditions and profits from war contracts are attempting to buy out British interests" See the Eastern Economist, dated August 24, 1945.

2 Capital Annual No 1949.

साथ साझेदारी कर रहे है। सन् १९४५ मे भारतीय उद्योगपतियो का जब से एक मिशन ब्रिटेन गया तब से यह प्रवृत्ति विशेष दिखलाई पडती है। सन् १९४५ मे सर्व प्रथम भारत तथा ब्रिटिश की साझेदारी मे 'नफील्ड बिरला' (मोटर्स लि०) के नाम से सामने आई। ईस्टर्न इकॉनॉमिस्ट (४ जनवरी सन् १९४६) ने इस साझेदारी को 'आर्थिक सयोग' का नाम दिया। इसके बाद और भी ऐसी अनेक साझेदारियाँ स्थापित हुई। कारो तथा ट्रकम के निर्माण के हेतु अशोक मोटर्स लि० ने ऑमटिन मोटर्स के साथ साझेदारी की। वस्त्र निर्माण मशीनरी के निर्माण के हेतु बिरला ब्रादर्स ने ब्रिटेन की वेवकॉक एण्ड विलकाक्स नामक फर्म के साथ समझौता किया है। २५ लाख रु० अश पूजी के साथ बी० एम० ए० साइकिल कम्पनी की भी एक शाखा भारत मे खोली गई है। इसमे १,००,००० रु० की विदेशी पूँजी लगी हुई है। हरकुलिस कम्पनी तथा रेले कम्पनी की भी ऐसी योजनायें हैं। रासायन उद्योग के क्षेत्र मे भी आई० सी० आई० तथा टाटा के बीच एक समझौता हुआ है। I. C. I. एक शक्तिशाली ब्रिटिश एकाधिकृत सस्था है। सिल्क उद्योग के क्षेत्र म भी सिर सिल्क लि० तथा लैंन्सिल की कुछ ब्रिटिश फर्मों के बीच समझौता हुआ है। हैदराबाद कन्स-ट्रक्शन लि० उसके प्रबन्ध अभिकर्त्ता हैं। बम्बई की किलरोस्कर नामक इजीनियरिंग सस्था ने ब्रिटिश ऑयल इन्जिन्स लि० के साथ तथा ब्रिटिश इलैक्ट्रीकल इन्जीनियरिंग कम्पनी एव पैरी एण्ड कम्पनी के साथ गठबन्धन कर लिया है। इसी प्रकार भारत-अमेरिका के बीच भी कुछ समझौते हुए हैं। उदाहरण के लिए, बालचन्द हीराचन्द ने क्रिसलर कॉरपोरेशन के साथ समझौता करके सन १९४५ मे प्रीमियर ऑटोमोबायल वर्क्स की स्थापना की। श्री ठाकुरदास तथा श्रोफ द्वारा स्थापित 'नेशनल रैयन कार-पोरेशन लि०' का भी 'स्केनन्ड्रा रेयन कॉरपोरेशन' तथा 'लॉकवुडे ग्रीन एण्ड क० अमेरिका' के साथ सम्बन्ध है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक विदेशी सस्थाओ की 'Rupee Subsidiaries' स्थापित की गई है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत मे कम्पनियो के नियन्त्रण तथा अर्थ-व्यवस्था का एक बडी सीमा तक केन्द्रीयकरण हो रहा है। इसके कारण साधारण अशधारियो तथा उद्योगपतियो को आगे बढने का अवसर नही मिलता। इन उद्योगो मे श्रमिको को भी यथोचित लाभ नही होता, क्योकि लाभ का अधिकाश भाग इनकी जेबो मे चला जाता है। प्रबन्ध अभिकर्त्तागण कम्पनियो की अर्थ व्यवस्था को इस प्रकार निर्बल कर देते हैं कि उनको हमेशा इनकी ओर ताकना पडता है। प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ तथा बडी कम्पनियो के आर्थिक लाभ का अनुमान उनके द्वारा दिये जाने वाले आय कर से लगाया जा सकता है। सरकार के वार्षिक राजस्व का ५०% इन्ही लोगो के द्वारा दिया जाता है। उन्होने बडी सीमा तक हमारे राजनैतिक वाता-वरण को भी अपने शिकजे मे कस लिया है।

यह सच है कि भारत का विशाल क्षेत्र, कच्चे माल की बहुतायत और आर्थिक पिछडेपन को देखते हुए औद्योगिक एकाधिकार या आर्थिक एकीकरण के अभी भय-

कर रूप धारण करने की आशंका नहीं है। देश में अभी तक प्रायः सभी क्षेत्रों में प्रतियोगिता के लिए पूर्ण सुविधा है, क्योंकि मध्यम श्रेणी के उद्योग भी देश में प्रबल हैं और विशाल उद्योगों में श्रमिकों की संख्या इतनी अधिक है जितनी कि इन छोटे-छोटे उद्योगों में है। देश में बेकारी की समस्या भी अभी तक पूर्ण रूप से नहीं सुलझ पाई है। एकाधिकार की अन्य बुराइयों का जैसे—छोटे उद्योगपतियों पर दबाव, ऊँची दरें, कानून का दुरुपयोग, क्रेताओं की स्वतन्त्रता का अपहरण, नवीन विकसित साधनों पर रोक आदि नहीं आ पाई हैं किन्तु यदि मान लिया जाय की देश में एकाधिकार की भयंकर स्थिति नहीं है तो भी यह मानना पड़ेगा कि उसकी प्रवृत्ति स्पष्ट है, इसलिए इस प्रवृत्ति को रोकना जनतन्त्रवादी सिद्धान्तों की रक्षा के लिए आवश्यक है। नया कम्पनी अधिनियम इस उद्देश्य की पूर्ति में सफल होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

STANDARD QUESTIONS

1. How do you account for the slow appearance of Combination in Indian Industries
2. Examine the trend towards amalgamation and mergers in India and discuss the causes of such combinations
3. Write a short essay on Combination Movement in Indian industries
4. Trace briefly the growth of combination of Indian Industries What do you know about Big Business Deals negotiated with foreign industrialists after 1945
5. What do you understand by 'Community Interests'? What are its various forms? Write a note on Community Interest in India
6. Give a detailed account of the IISCo SCOB Merger which was effected in India on Ist January 1953
7. Write a lucid essay on Managerial Integration in India. What are the provisions of the Indian Companie's Act, 1956 for preventing the concentration of economic power in the hands of a few persons?

अध्याय ११

वैयक्तिक संस्थाओं का अर्थ-प्रबन्धन

"पूँजी आधुनिक व्यापारिक तथा औद्योगिक संस्थाओं का जीवन है।"

प्रस्तावना—

किसी भी व्यापार को, चाहे वह अल्प परिमाण पर हो अथवा बहु-परिमाण पर, प्रारम्भ करने एव भविष्य मे उसके विस्तार के लिये पूँजी की आवश्यकता होती है। पूँजी के बिना कोई व्यापार चल नही सकता। यह आधुनिक व्यापारिक तथा औद्योगिक संस्थाओं की जीवन है। पूँजी की ही कमी के कारण बहुत सी औद्योगिक संस्थायें असफल हो जाती है तथा व्यापार भी शिथिल हो जाता है।

व्यापारिक सस्थाओ का स्वरूप विशेषकर दो प्रकार का होता है—(अ) वैयक्तिक व्यापारिक सस्थायें और (ब) अवैयक्तिक व्यापारिक सस्थाये या कम्पनियाँ। इन दोनो व्यापारिक स्वरूपो मे अर्थ पूर्ति के भिन्न-भिन्न स्रोत हैं।

वैयक्तिक संस्थाओ का अर्थ-प्रबन्धन—

किसी भी भाँति का उद्योग प्रारम्भ किया जाय, प्रवर्तक को बडी सावधानी से पहले इस बात को समझ लेना चाहिए कि कितना उसे निर्माण करना है और कैसे उसका विक्रय होगा, तब ही वह आवश्यक पूँजी की मात्रा का निर्णय करे। आवश्यक पूँजी यदि प्रभागो मे प्राप्त की जा सकती है तो उसमे मितव्ययिता हो सकेगी, क्योकि समस्त पूँजी की एकदम तो आवश्यकता पडती नही, परन्तु ऐसी दशा मे समय-समय पर कहाँ से पूँजी प्राप्त की जावेगी, यह निश्चित हो जाना चाहिए, अन्यथा फिर बाद मे कठिनाई पडेगी। पूँजी प्राप्त करने के अनेक साधनो का आलोचनात्मक विवरण निम्न प्रकार है —

(१) निजी साधन—सस्था के स्वामी या प्रोप्राइटर गण अपने निजी साधनो से ही पूँजी प्राप्त कर सकते हैं। यह बडा सन्तोषजनक साधन है, क्योकि इसमे पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। दूसरो का भी सस्था मे विश्वास बढता है और फिर अतिरिक्त पूँजी प्राप्त करना भी सरल रहता है। कुछ बातें इस विषय म स्मरणीय है। स्वामीगण कही इस सीमा तक पूँजी नही लगा दें कि यदि लाभ प्राप्त होने मे देर हो तो पूँजी वापिस लेनी पडे। सस्था की प्रारम्भिक सफलता के जोश मे आकर एकदम परिमाण बढा देना हानिकारक हो सकता है, क्योकि भविष्य मे आशायें फलीभूत नहीं

हुई तो परिणाम मे घाटा हो सकता है। उत्तम बात तो यह होगी कि वह धीरे-धीरे विकसित की जाये। सस्था जैसे-जैसे विकसित होगी, वैसे-वैसे उसे अधिकाधिक चल एव अचल पूँजियो की आवश्यकता होगी। उचित तो यह होगा कि लाभ के कुछ भाग को सस्था मे ही अतिरिक्त पूँजी के रूप मे लगा दिया जाय। ऐसा करने से उनका ही स्वामित्व बना रह सकेगा।

(२) मित्रो और सम्बन्धियो से ऋण—यदि स्वामीगण स्वयं इतने धनी नही कि उद्योग की बढती हुई पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताओ को स्वय पूर्ण कर सकें, तो उन्हे बाहरी ऋण के इस साधन की व्यवस्था करनी होगी। मित्रो और नातेदारो (और मुनीम एव कर्मचारियो) से उनका धन धरोहर के रूप मे, निश्चित ब्याज अथवा लाभ के भाग के बदले मे, निश्चित समय के लिए अथवा निश्चित तिथि बीतने या किन्ही विशेष घटनाओ के होने पर वापिसी की शर्त पर लिया जा सकता है।

(३) भागिता के द्वारा आर्थिक सहायता—यदि उद्योग बराबर बढता रहे तो अतिरिक्त पूँजी के प्रबन्ध का एक स्थायी साधन किसी अच्छे स्वभाव वाले, योग्य एव धनाढ्य व्यक्ति को साभेदारी मे लेना भी हो सकता है। इस प्रकार कई साभेदार बनाये जा सकते हैं और बिना ब्याज दिये सहज मे ही अतिरिक्त पूँजी का प्रबन्ध हो सकता है। साथ मे प्रबन्ध आदि सम्बन्धी अन्य लाभ भी उठाये जा सकते हैं।

(४) अधिकोषण से ऋण—आवश्यकता पडने पर बैंको से भी रुपया उधार लिया जा सकता है। ये बैंक प्राय कर्मवाहक पूँजी (Working Capital) के लिए ही ऋण प्रदान करते हैं, स्थायी पूँजी (Fixed Capital) के लिए नही। वे ऋण देने से पहले सस्था की आर्थिक अवस्था का, उसके हिसाब एव चिट्ठे की जाँच करके तथा अपने निजी गुप्त साधनो द्वारा पता लगाते है और यह निश्चय करते हैं कि कितना धन उधार दिया जा सकता है। वे ऋण के लिए (प्रायः २५% या ३०% अथवा अधिक) प्रतिभूतियाँ भी माँगते है और ऋण की अवधि उस अवस्था मे ही बढाने के लिये तैयार होते है, जबकि सस्था का कार्य सन्तोषजनक चल रहा हो। अधिकोषो के ब्याज की दर भी काफी ऊँची रहती है। आर्थिक व्यस्तता के दिनो मे तो दर और भी बढ जाती है। ऋण लेते समय सस्था को कुछ प्रारम्भिक कार्यवाही भी करनी पडती है, जिसमे कि सीधे-सादे भारतीय, उद्योगपति कठिनाई अनुभव करते हैं। किंचित बडे नगरो को छोडकर, अन्य स्थानो मे बैंक हैं भी नही। इस कारण इस साधन से अधिक लाभ नही उठाया जा सका है, परन्तु बैंक सम्बन्धी सुविधाओ के बढने के साथ-साथ स्थिति बदल रही हैं। हमारे देश मे औद्योगिक अधिकोषो का तो नाम भी नही है और जो हैं भी वे स्थायी पूँजी नही देते—केवल कार्यवाहक पूँजी ही प्रदान करते हैं और वह भी अनेक कठिनाइयो के बाद तथा ऊँची ब्याज की दर पर।

(५) हुण्डी—आवश्यक पूँजी कितनी हो ?—यह अर्थ प्रबन्धन का भारत मे सबसे अधिक प्रचलित एव प्राचीन ढग है। हुण्डियो के द्वारा सरलता से महाजनो, बैंको एव अन्य विनियोग के इच्छुको से थोडे समय के लिए धन प्राप्त किया जा सकता

है। ब्याज भी बहुत उचित होता है। हाँ, देने वाले पक्ष को स्वीकार करने वाले पक्ष से निजी जान-पहिचान एव ग्रार्थिक ग्रवस्था से पूर्ण जानकारी होनी चाहिए।

STANDARD QUESTION

1. Write an essay on the financial problems of proprietory concerns

———

अध्याय १२

अवैयक्तिक संस्थाओं का अर्थ-प्रबन्धन

"एक आदर्श पूंजी का कलेवर वह है जिसमे विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों से सम्बन्धित लाभांश, मतदान, पूंजी का भुगतान आदि के अधिकार विभिन्न प्रकार के विनियोगकों के लिए अधिक आकर्षक हो—न तो अति पूंजीकरण हो और न अल्प पूंजीकरण ही हो, वरन् आवश्यकता के लिए समुचित पूंजीकरण हो।"

अवैयक्तिक संस्थाओं में कम्पनी की लोकप्रियता—

अवैयक्तिक संस्थाओ मे मुख्यत. कम्पनी-स्वरूप अधिक लोकप्रिय है। बड़े-बड़े उद्योगो का सगठन अधिकाशतः कम्पनी के आधार पर ही होना है, क्योंकि अधिक मात्रा मे पूंजी प्राप्त करने का यही सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसके कई कारण है :—(i) सीमित प्रमण्डलो मे लगने वाली पूंजी छोटे-छोटे अशो मे विभाजित होती है और प्रत्येक अश का दायित्व सीमित होता है, अतएव साधारण जनता भी सुगमता से उनका क्रय कर सकती है। स्कन्ध विपणि (Stock Exchange) ने अशो के क्रय-विक्रय के प्रश्न को और भी सरल कर दिया है। (ii) दूसरे, विनियोगको को भी अपनी पूंजी विभिन्न कम्पनियो मे लगाने की सुविधा होती है, अतएव यदि किसी एक कम्पनी का कारोबार ठप्प हो जाय तो विनियोगको की सारी पूंजी नष्ट नही होती। (iii) तीसरे, विभिन्न प्रकार के अश विभिन्न प्रकृति एव प्रवृत्ति के विनियोगको के लिए विनियोग का अच्छा

साधन होते हैं। इसी हेतु कम्पनी अपनी पूँजी विभिन्न साधनों से सुगमता से प्राप्त कर सकती है।

आवश्यक पूँजी कितनी हो ?—

कुल आवश्यक पूँजी की गणना दो विधियों से की जा सकती है—पहली, अनुमान विधि और दूसरी, तुलना विधि। अनुमान विधि के अनुसार प्रारम्भिक अनुसन्धान सम्बन्धी व्यय, स्थाई सम्पत्तियों, कार्यशील पूँजी आदि का अनुमान कर लिया जाता है। तुलना विधि के अन्तर्गत प्रस्तावित कम्पनी के सम आकार तथा सम-परिस्थिति के कुछ व्यवसायों का पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है और उनके आँकड़ों के आधार पर नये व्यवसाय की पूँजी का अनुमान लगाया जाता है।

किसी कम्पनी को निम्न उद्देश्यों के लिये तीन प्रकार की पूँजी की आवश्यकता हो सकती है :—

(१) स्थाई पूँजी (Fixed or Block Capital)—स्थाई पूँजी स्थाई सम्पत्ति, जैसे—मशीन, भूमि, यन्त्र, इमारत इत्यादि, प्राप्त करने तथा प्रारम्भिक व्ययों के लिये आवश्यक होती है। यह पूँजी कम्पनी में स्थाई रूप से रहती है और इसे इच्छानुसार वापिस नहीं लिया जा सकता। इसके बिना कोई भी कम्पनी अपना कार्य प्रारम्भ नहीं कर सकती, इसलिए इसे स्थाई पूँजी कहते हैं।

स्थाई सम्पत्तियाँ खरीदने के लिए आवश्यक पूँजी की राशि, उद्योग की प्रकृति, उत्पादन-कार्य की सम्पादन विधि, इन कार्यों के सम्पादन की मात्रा पर निर्भर करती है। यदि योजना सार्वजनिक उपयोगिता, जैसे रेल्वे की किस्म की है, तो स्थाई सम्पत्तियों में विनियोग की जाने वाली पूँजी की एक बहुत बड़ी राशि की आवश्यकता होगी। यदि किसी वस्तु का निर्माण करना है तो वस्तु की इकाई के परिमाण के अनुसार स्थाई पूँजी की छोटी राशि की आवश्यकता होगी। इकाई जितनी बड़ी होगी, पूँजी उतनी अधिक होगी और इकाई जितनी छोटी होगी, पूँजी भी उतनी कम होगी। पूँजी को प्रभावित करने वाला तीसरा मुख्य घटक यह है कि क्या व्यवसायी केवल विक्रेता होगा अथवा विक्रेता एवं निर्माता दोनों ही ? यदि व्यवसायी केवल विक्रेता है तो स्थाई पूँजी की शायद ही आवश्यकता पड़े, परन्तु यदि व्यवसायी विक्रय और निर्माण दोनों ही काम करता है तो ऐसी परिस्थिति में स्थाई सम्पत्ति के लिए एक बड़ी राशि की आवश्यकता होगी, जो उत्पादन वस्तु की प्रकृति तथा आकार द्वारा निर्धारित होगी। उत्पादन की रीति का भी स्थाई पूँजी पर प्रभाव पड़ता है। उत्पादन की गई विधियाँ हो सकती हैं, जैसे पुरानी मशीनों की सहायता से निर्माण करना, प्लान्ट का क्रय तथा पट्टा किया जा सकता है, माल का निर्माण करने के लिए अनुबन्ध किया जा सकता है इत्यादि। स्थाई सम्पत्तियाँ खरीदने के लिए जिस पूँजी की आवश्यकता होती है वह दीर्घकालीन पूँजी है और प्राय: अंश पूँजी, जन निक्षेप तथा ऋण-पत्र निर्गमन के द्वारा सञ्चित की जा सकती है।

(२) कार्यशील पूँजी (Working Capital)—कार्यशील पूँजी अस्थाई सम्पत्ति (जैसे, कच्चा माल खरीदने, उसे निर्मित करने, माल के विक्रय सम्बन्धी व्यय, विज्ञापनादि) प्राप्त करने के लिए जरूरी होती है। कार्यशील पूँजी के भी दो भाग हैं—(क) नियमित कार्यशील पूँजी और (ख) मौसमी कार्यशील पूँजी। नियमित रूप से लगने वाली कार्यशील पूँजी के लिये पहले से ही नियोजन होना चाहिये। इसके लिये स्थायी प्रबन्ध होना उत्तम है। कार्यशील पूँजी की मौसमी आवश्यकताओं के लिये भी बैंक इत्यादि से ऋण लिया जा सकता है।

जहाँ तक सम्भव हो, कार्यशील पूँजी की गणना पहले ही कर ली जाय, जिसमे कुल आवश्यक पूँजी की व्यवस्था करने मे सुविधा रहे। इस सम्बन्ध मे कोई ऐसा मान्य सूत्र नही है, जो सभी अवस्थाओं मे लागू किया जा सके, केवल अनुमान से ही काम लिया जा सकता है। प्रारम्भ मे यह कहा जा सकता है कि यातायात तथा अन्य उद्योगो मे, जिनमे दायित्वो की अपेक्षा सम्पत्तियाँ अधिक नही होती, कार्यशील पूँजी नही होती। उनमे परिचालन पूँजी या व्यय (Operating Expenses) होते है। निर्माणी उद्योगो मे प्रायः यह माना जाता है कि सम्पत्तियो एव दायित्वो के बीच अनुपात १०० व ६५ या १०० व ८० से कम नही होना चाहिये, किन्तु ये अनुपात स्थाई मापदण्ड नही हो सकते। ये केवल पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं। कुछ व्यवसायो मे कार्यशील पूँजी का अनुपात अन्य व्यवसायो की अपेक्षा बहुत अधिक होता है। उदाहरणार्थ, एक फुटकर व्यवसाय मे विभिन्न वस्तुओं के सग्रह के लिए अधिक कार्यशील पूँजी की आवश्यकता पडेगी, यद्यपि इसकी स्थाई पूँजी के लिए केवल फर्नीचर की ही आवश्यकता पडेगी। बिजली तथा टेलीफोन कम्पनियो मे कार्यशील पूँजी न होने से भी काम चल सकता है, क्योकि ये कम्पनियाँ अपने ग्राहकों से अग्रिम व्यय वसूल कर लेती है, जिसमे से चालू व्यय चुकाये जा सकते है। बैंको को अनिवार्यतः अपनी सम्पूर्ण सम्पत्तियाँ ऐसे रूप मे रखनी पडती है, जिसमे वे क्षण मात्र की सूचना पर रोकड मे बदली जा सके।

कार्यशील पूँजी का अनुमान लगाने मे जिन व्यावहारिक बातों पर विचार करना चाहिये वे निम्नांकित हैं :—

(अ) निर्माण काल की अवधि।

(आ) कुल विक्रय।

(इ) क्रय और विक्रय की शर्तें।

(ई) कार्यशील सम्पत्तियो को रोकड मे परिवर्तित करने की सुविधाएँ।

(उ) व्यवसाय मे मौसमी परिवर्तन।

(अ) निर्माण काल की अवधि—उस कम्पनी को जो ऐसा माल बनाती है जिसके निर्माण मे लम्बी अवधि लगती है, इस बात के लिये बाध्य होना पडेगा कि वह कच्चा माल खरीदे, श्रमिकों को मजदूरी दे, निर्माण सम्बन्धी अन्य प्रासगिक व्यय चुकावे और माल बिकने का इन्तजार करे। इस प्रकार केवल निर्माण की प्रक्रियाओं

मे बहुत बडी रकम फँस जायगी। इसके अतिरिक्त लम्बी अवधि वाली निर्माण-क्रियाओ मे कीमतो के घटने-बढने का जोखम भी रहता है, जिसके कारण अपेक्षित लाभ मे कमी आ सकती है या वह बिल्कुल ही समाप्त हो सकता है, अत. कार्यशील पूँजी पर्याप्त होनी चाहिए, ताकि कम्पनी अपनी कठिनाइयो पर विजय पा सके। उदाहरण के लिये, चर्म निर्माता कम्पनी के पास हमेशा कच्चे चमडे तथा निर्माण के विभिन्न स्तरो पर तैयार चमडे का स्टॉक रहता है। उपभोक्ता की रुचि मे परिवर्तन होने पर उसे बहुत बडी हानि उठानी पड सकती है। इसके विपरीत बेकरी का उदाहरण लीजिए। यह रात भर मे अपना माल बना लेती है और प्रात. बेच देती है, अतः माग मे परिवर्तन होने पर रोटी बनाने वाले हो थोडे समय मे इस परिवर्तन के अनुकूल अपने को बना सकते हैं। इस प्रकार निर्माण की अवधि कार्यशील पूँजी के निर्धारण मे बडा हाथ रखती है।

(आ) कुल विक्रय—दूसरा घटक कार्यशील पूँजी की वापिसी या 'टर्नओवर' है। 'टर्नओवर' से अभिप्राय उस अक का है जो यह बतलाता है कि विनियोग की हुई रकम का, जो कार्यशील सम्पत्तियो मे लगाई गई है, वर्ष मे कितनी बार व्यापार हुआ है या वह रकम कितनी बार वापिस हुई। यह प्राय. सबका अनुभव है कि टर्नओवर जितना ही बडा होगा उतनी ही बडी मात्रा मे एक निश्चित कार्यशील पूँजी से व्यवसाय किया जा सकेगा। उदाहरण के लिए, एक फुटकर भण्डार ऐसे माल की बिक्री कर रहा है, जिसकी पर्याप्त माग है और स्टॉक करते ही बिक्री हो जाती है तो कुल बिक्री काफी बडी होगी। इसके विपरीत यदि बिक्री अनियमित और धीरे-धीरे होती है तो स्टॉक मे विनियुक्त पूँजी अवश्य बडी होगी। इस प्रकार टर्नओवर माग पर निर्भर है। टर्नओवर की दुतता को निर्धारित करने वाला दूसरा तत्त्व फर्म की विक्रय-नीति है। एक सुनिश्चित विक्रय-नीति, जो इस बात का प्रयत्न करती है कि शीघ्रता से स्टॉक की निकासी हो, व्यापारी और निर्माता, दोनो ही के लिए आवश्यक है। यदि विक्रय प्रयत्न इस उद्देश्य से निर्दिष्ट किए जाते है कि स्टॉक की बिक्री शीघ्र हो, जैसे—आवश्यकता होने पर कीमत मे छूट कर देना, असाधारण विक्रय व्यय करना तो टर्नओवर की दर ऊँची होगी। उस व्यवसाय मे यह नीची होगी, जिसमे निश्चित विक्रय नीति नही है।

(इ) क्रय-विक्रय की शर्तें—यदि कोई संस्था सब वस्तुएँ नकद खरीदती है और उधार बेचती है तो उसे उतनी कार्यशील पूँजी चाहिए जो कि माल के पूरे स्टॉक को खरीदने तथा उस माल को भी खरीदने के लिये पर्याप्त हो जो बेच दिया गया हो, किन्तु जिसकी कीमत प्राप्त नहीं हो पाई है। इसके विपरीत, यदि कोई संस्था काफी समय के लिए माल उधार खरीदती है और बिक्री नकद करती है तो उसको सम्पूर्ण स्टॉक के लिए भी तात्कालिक पूँजी नही चाहिए और वह अपना दायित्व विक्रय धन से चुका देगी। व्यवहार मे माल की खरीद और बिक्री आंशिक रूप मे उधार

होती है। उधार की अवधि जितनी लम्बी होगी, कार्यशील पूँजी-राशि उतनी ही बड़ी होगी।

(ई) **कार्यशील सम्पत्तियों का नगदी में रूपान्तर**—उस कम्पनी के लिये जिसके पास तरल कार्यशील सम्पत्तियाँ पर्याप्त मात्रा में हैं, कार्यशील पूँजी होना आवश्यक नहीं है। चालू सम्पत्तियाँ उनको कहते जिन्हें थोड़े समय में या सरलतापूर्वक नकदी में रूपान्तरित किया जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि कुल चालू सम्पत्तियाँ चालू दायित्वों से काफी अधिक रखना आवश्यक है। यदि कम्पनी की चालू सम्पत्तियों को तेजी से नगदी में रूपान्तरित किया जा सकता है तो चालू दायित्वों के बीच अनुपात उतना ही कम रखा जा सकता है अर्थात् व्यवसाय के लिये कार्यशील पूँजी की मात्रा उतनी कम होगी।

(उ) **मौसमी परिवर्तनों के लिये आवश्यक कार्यशील पूँजी**—प्रायः एक मौसम से दूसरे मौसम में व्यवसाय की मात्रा तथा स्वरूप में परिवर्तन आते रहते हैं, अत. कुछ व्यवसायों (जैसे चीनी, बिनौला, तेल) में निर्मित माल बड़ी मात्रा में निर्मित करने होंगे और मौसम के बाद तक रखने होंगे अथवा एक मौसम में कच्चे माल का पर्याप्त स्टॉक खरीदा जाय और बाकी महीनों में धीरे-धीरे उनको इस्तेमाल किया जाय। इस तरह वर्ष के कुछ महीनों में अन्य महीनों की अपेक्षा बहुत अधिक कार्यशील सम्पत्तियों में धन को फँसा कर रखा जायेगा। इस कठिनाई से बचने के लिए कुछ कम्पनियाँ माल का स्टॉक उत्तरोत्तर बढ़ाने के साथ उत्तरोत्तर बड़ी मात्रा में बैंक से कर्ज ले लेती हैं और बिक्री के मौसम में अदा कर देती हैं।

(ऊ) **विकास पूँजी (Development Capital)**—पर्याप्त कार्यशील पूँजी की व्यवस्था के अतिरिक्त यदि कम्पनी विद्यमान है तो उसके सुधार एवं विकास के लिये भी पूँजी की आवश्यकता हो सकती है। यदि व्यवसाय को जीवित रखना है तो प्लान्ट एवं मशीनरी तथा अन्य सभी स्थाई सम्पत्तियों की मरम्मत एवं उनकी देखभाल सदैव होती रहनी चाहिए।

स्थायी तथा कार्यशील पूँजी का अनुपात—

स्थायी तथा कार्यशील पूँजी के बीच अनुपात उद्योग की प्रकृति तथा निर्माण की अवधि पर निर्भर करता है। उत्पादन प्रक्रिया जितनी घुमावदार होगी, स्थायी पूँजी तथा कार्यशील पूँजी के बीच का अनुपात उतना ही बड़ा होगा। इस प्रकार यह अनुपात उद्योग विशेष के साथ बदलता रहता है।

पूँजीकरण (Capitalisation)—

पूँजीकरण शब्द से आशय किसी उद्योग द्वारा निर्गमित अंशों, ऋण-पत्रों, बन्ध-पत्रों आदि की कुल संख्या से है। एक कम्पनी द्वारा निर्गमित विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियाँ 'पूँजीकरण' का ही प्रतिनिधित्व करती है। पूँजी का आयोजन ऐसा होना चाहिए कि वह न तो आवश्यकता से अधिक हो और न उसका अभाव ही रहे।

कम्पनी की कार्यक्षमता एवं मितव्ययिता की दृष्टि से पूँजी का आधिक्य एवं पूँजी का अभाव दोनों ही हानिकर हैं।

अति पूँजीकरण (Over Capitalization) उस दशा में कहा जाता है जबकि कम्पनी की अर्जन शक्ति कम हो और उसमें आवश्यकता से अधिक पूँजी लगा दी गई हो। दूसरे शब्दों में, जो अंश निर्गमित किये गये हैं उनकी राशि वास्तविक आवश्यकता से बहुत अधिक है और परिणामस्वरूप लाभांश की दर इतनी कम है कि अंश सम मूल्य पर नहीं बिकते। ऐसी स्थिति प्रायः परिकाल्पनिक या सट्टेबाजी की प्रकृति के व्यवसायों में होती है। अति पूँजीकरण प्रायः निम्न दशाओं में हो सकता है :—

(१) यदि कोई कम्पनी आवश्यकता से अधिक पूँजी का निर्गमन करती है और उसका पूरी तरह लाभ नहीं उठा पाती।

(२) यदि किसी कम्पनी को उधार लिए गये धन पर अत्यधिक ऊँची दर से ब्याज देना पड़ता है तो यह ऊँची दर का ब्याज लाभ में बहुत कमी कर देगा।

(३) यदि कोई कम्पनी तेजी के दिनों में नये कारखाने बनाती है अथवा पुराने कारखान विकसित करती है तो उसे अति पूँजीकरण के राग से ग्रस्त होना पड़ता है, क्योंकि उसे सम्पत्तियों को बहुत अधिक मूल्य पर खरीदना पड़ता है, जिसका परिणाम यह होता है कि पूँजी की मात्रा अधिक हो जाती है। उत्पादन आरम्भ होते-होते मन्दी आ जाती है, जिसमें मूल्य स्तर गिर जाता है। मन्दी के समय में सम्पत्तियों को 'मूल-मूल्य' पर ही रखा जा सकता है, यद्यपि उनकी कीमत उससे बहुत कम रह जाती है। कम्पनी की अर्जनक्षमता भी गिर जाती है, जिसके कारण लाभांश में पर्याप्त गिरावट हो जाती है और अंश-मूल्य भी कम हो जाते हैं।

(४) यदि कोई कम्पनी विभिन्न सम्पत्तियों पर बहुत अधिक खर्च करती है, मूल्यवान मशीनें तथा उपकरण को खरीदती है और इधर उत्पादन उतना नहीं होता कि व्यय निकाला जा सके तो परिणामतः परिचालन व्यय बढ़ जाते हैं और अंशधारियों को कम लाभांश मिलता है।

अति पूँजीकरण के दोष—

'अति पूँजीकरण' कम्पनी और अंशधारियों को निम्न रूप से हानि पहुँचा सकता है :—

(१) जिस कम्पनी के अंश अंकित मूल्य से कम में बिकते हैं, उसकी साख में गिरावट हो जाती है और परिणामतः भविष्य में अतिरिक्त पूँजी प्राप्त करना उसके लिये दुर्लभ हो जाता है।

(२) अति-पूँजीकरण की दशा में सुरक्षा की एक भ्रान्तमूलक धारणा पैदा हो जाती है, क्योंकि अनार्जित लाभांश देकर समृद्धि का प्रदर्शन मात्र किया जाता है।

(३) अनुचित रीतियो से लाभ को बढा हुआ दिखाया जाता है अथवा लाभ के अभाव को छिपाया जाता है।

(४) मूल्य ह्रास आदि के लिए पर्याप्त व्यवस्था नही हो पाती। इन सब बातो से दक्षता मे गिरावट आती है तथा उत्पादित वस्तुओ के गुण मे ह्रास होता है, यद्यपि उनके मूल्य मे वृद्धि होती है।

(५) अशधारियो की दृष्टि से पूँजी तथा आय की हानि होगी। जब अति पूँजीकरण द्वारा कम्पनी का निर्माण होता है तो अनेक लोग कम्पनी की वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ होने हुए भी अश खरीद लेते हैं और वे अक्सर ऊँचे मूल्य पर खरीदते हैं, किन्तु जब उन्हें वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है तो वे पछताते हैं। यदि वे अशो को बेचते हैं तो उन्हे काफी हानि होती है, क्योकि वे कम मूल्य पर बिकते हैं और यदि वे अशो को पास रखते है तो उन्हे लाभाश नाममात्र को ही मिलता है।

(६) अति पूँजीकृत कम्पनी के अश ऋण के हेतु श्रेष्ठ प्रतिभूति नही समझे जाते, क्योकि ऐसे अशो की कीमत अस्थिर रहती है और इसमे सट्टेबाजी की प्रवृत्ति होती है।

(७) कम्पनी के पुनर्संङ्गठन का भार, जो अति पूँजीकरण की दशा मे प्रायः निश्चित ही है, अशधारियो के कन्धो पर पडता है और उन्हें बडी कठिनाई से अपनी विनियोगित पूजी पर मामूली आय प्राप्त होती है।

(८) श्रमिको को भी हानि की सम्भावना है, क्योकि उन्हे पर्याप्त मजदूरी व कल्याण सम्बन्धी सुविधाय यह कह कर नही दी जाती कि लाभ कम हुआ है।

(९) अति-पूँजीकरण की बात जब प्रचलित होती है तो इसमे अनिश्चितता का वातावरण पैदा हो जाता है। ऐसे वातावरण से विवेकहीन सट्टेबाजी को और भी प्रोत्साहन मिलता है।

(१०) समाज की दृष्टि से कीमतो मे वृद्धि तथा गुण मे गिरावट के अतिरिक्त अति-पूँजीकरण से देश के प्रसाधनो का दुरुपयोग होता है।

(११) उपयुक्त दोषो से सम्भव है कि औद्योगिक विनियोगो से लोगो का विश्वास ही हट जाय।

'अल्प पूँजीकरण' (Under Capitalisation) भी अति पूँजीकरण की ही भाति दूषित है। यदि व्यवसाय मे आवश्यकता से कम पूँजी लगी है तो इसे अल्प-पूँजीकरण कहेगे। अल्प-पूँजीकरण प्राय ऐसी परिस्थिति मे होता है जब उद्योग उन्नति नही करते और प्रवर्तक पर्याप्त पूँजी आकर्षित करने मे असमर्थ होते हैं। किसी व्यवसाय मे अल्प पूँजीकरण होने के विविध कारणो म से एक कारण यह भी है कि प्रवर्तक पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताओ का ठीक ठीक अनुमान नही लगा पाते। वे थोडी

ही पूँजी से व्यापार प्रारम्भ कर देते हैं, जिसका दुखद परिणाम यह होता है कि कुछ अवधि के बाद ही स्वोमा के पैर लडखडाने लगते है और वह समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि भारतीय कम्पनी अधिनियम सन् १९५६ म न्यूनतम प्राथिन पूँजी की व्यवस्था की गई है, जिसका अश आवन्टन के पूर्व प्राप्त हो जाना अनिवार्य है।

सक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि एक आदर्श पूँजी का कलेवर वह है जिसमें विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियो से सम्बन्धित लाभाश, मतदान, पूँजी का भुगतान आदि के अधिकार विभिन्न प्रकार के विनियोगकर्ता के लिए अधिक आकर्षक हो। न तो अति पूँजीकरण हो और न अल्प पूँजीकरण ही हो, वरन् आवश्यकता के लिए 'समुचित पूँजीकरण' हो।

पूँजी के कलेवर का स्वरूप—

व्यापार को प्रारम्भ करने के लिए आवश्यक पूँजी की मात्रा का अनुमान लगाने के बाद प्रवर्तक को यह विचारना चाहिए कि वह पूँजी कहाँ से एकत्रित की जाय। आवश्यक पूँजी अश व ऋण-पत्रो के निर्गमन तथा जनता से निक्षेप लेकर प्राप्त की जा सकती है। कौन से अश का निर्गमन किया जाय ? क्या ऋण-पत्र एव जनता से निक्षेप द्वारा पूँजी प्राप्त की जाय ? यदि हाँ, तो किस सीमा तक इस स्रोत से पूँजी प्राप्त की जाय ? इस प्रश्न के उत्तर मे निम्नलिखित सिद्धान्तो से बडी सहायता मिलेगी —

(१) कम्पनी के व्यापार का स्वरूप—पूँजी के स्वरूप को निश्चित करते समय कम्पनी के व्यापार का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक होता है, क्योंकि जिस कम्पनी को इतना विश्वास है कि उसके व्यापार से अवश्य लाभ होगा अथवा जिन कम्पनियों की आमदनी निश्चित है (जैसे जूट मिल, शक्कर की मिलें इत्यादि), उनके लिए अधिमान अशो (Preference Shares) का निर्गमन हितकर होगा, क्योंकि वे उन पर निश्चित लाभ दे सकते हैं। इसी प्रकार जिस कम्पनी की सम्पत्ति तरल है, अर्थात् जिसे सुगमता से बेचा जा सकता है तथा जिसके व्यापार का स्वरूप ऐसा है कि लाभ मे अधिक परिवर्तन होने की सम्भावना नही है तो ऐसी दशा मे वह कम्पनी ऋण-पत्र निर्गमित कर सकती है। जो भी कम्पनी अधिमान अशो अथवा ऋण-पत्र का निर्गमन करना चाहती है, उसे परिकाल्पनिक प्रकृति (Speculative Nature) वाले व्यापार मे अधिक भाग नही लेना चाहिए। जो व्यापार अधिक जोखिम उठाने वाला होता है अथवा जिसकी आय निश्चित नही होती, उसकी पूँजी का अधिकांश भाग साधारण अशो के रूप मे होना चाहिए।

(२) विनियोक्ताओ की आवश्यकतायें—विनियोगक विभिन्न रुचि एव विभिन्न आर्थिक अवस्था वाले होते हैं, अतएव अश एव ऋण पत्र सबकी रुचि तथा आर्थिक अवस्था के अनुकूल होने चाहिए। कुछ विनियोगक अधिक चौकन्ने होते हैं, कुछ कम होते हैं और कुछ साहसी मनोवृत्ति के होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विनियोक्ताओ के पास विनियोग के लिए पर्याप्त धन रहता है, जिसे वे सुगमतापूर्वक लगा

भी सकते हैं, जबकि कुछ लोगो के पास अधिक धन न होकर केवल आय का थोडा सा भाग ही लगाने के लिये शेष रहता है और उसका विनियोग करते समय भी वे दस बार सोचते हैं। इस प्रकार विनियोक्ताओं मे स्वभाव एव आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त अन्तर होता है। इसी कारण उनके विभिन्न स्वभाव एव उनकी भिन्न-भिन्न आर्थिक दशाओं को देखकर कम्पनियाँ भी विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियाँ निर्गमित करती है और उनकी आवश्यकताओं के अनुसार ही उनके लेने के लिए प्रस्ताव किया करती है।

(३) मुद्रा मण्डी की दशा—पूँजी-कलेवर निश्चित करते समय मुद्रा-मण्डी की स्थिति का भी ध्यान रखना चाहिए। यदि मन्दी का समय है, तो ऋण-पत्र निर्गमित करना हितकर न होगा, क्योकि इसमे कम ब्याज देना होगा, किन्तु तेजी के समय मे, जबकि अधिकता के साथ जनता के पास रुपया होता है तथा जिसे अंशो मे लगाने के लिए वह स्वाभाविक इच्छुक होती है, अंशो का निर्गमन ही लाभदायक होगा, क्योकि ऐसी परिस्थिति मे वे प्रव्याजि (Premiums) पर भी स्वीकार कर लिए जायेंगे।

(४) नियन्त्रण की अभिलाषा—यदि प्रवर्तक अथवा प्रबन्ध-अभिकर्ता व्यापार का नियन्त्रण अपने ही हाथ रखना चाहते है तो प्राय: ऐसी प्रतिभूतियाँ निर्गमित की जाती है, जिनसे अधिक सुविधायें हो, क्योकि कुछ विनियोगक इन विशेष सुविधाओं के लिए अपना मताधिकार त्यागने को प्रस्तुत हो जायेंगे, अतः अधिक मताधिकार वाले अधिक अंशो को क्रय करके प्रवर्तक कम्पनी के व्यापार पर अपना नियन्त्रण रखते है।

(५) पूँजी का मूल्य—पूँजी का कलेवर ऐसा होना चाहिए कि जिससे उसके बदले मे जो मूल्य चुकाना पडे, वह कम से कम हो। मितव्ययिता का उद्देश्य विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियो के निर्गमन के द्वारा सम्भव हो सकता है, क्योकि विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियो पर विभिन्न राशि लाभांश तथा ब्याज के रूप मे दी जाती है। उदाहरण के लिए, साधारण एवं स्थगित अंशो पर लाभांश क्रमशः सबसे अधिक मिलता है, अधिमान अथवा पूर्वाधिकार अंशो का लाभांश निश्चित राशि मे होता है और ऋण-पत्रो पर ब्याज भी नियमित रूप से एक निश्चित राशि मे दिया जाता है। पूर्वाधिकार अंशो तथा ऋण-पत्रो पर लाभांश एव ब्याज कम्पनी को लाभ न होने की दशा मे भी देना पडता है, किन्तु साधारण तथा स्थगित अंशो के विषय मे ऐसा नही होता, अत मितव्ययिता की दृष्टि से विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियो द्वारा पूँजी का प्रबन्ध करना लाभदायक होता है।

(६) पूँजी कलेवर की लोच—पूँजी का कलेवर ऐसा होना चाहिए कि जिससे भविष्य मे बाधायें उपस्थित न हो। यद्यपि तात्कालिक अर्थ प्रबन्धन महत्त्वपूर्ण है तो भी भविष्य की आवश्यकताओं को भुला देना अनुचित होगा। जब कम्पनी का कार्य-क्षेत्र बढता है अथवा जब निर्गमित किए हुए ऋण-पत्र निष्क्रमण योग्य (Redeemable) हो जाते है तो नवीन पूँजी की आवश्यकता होती है, अतः किसी भी समय

आवश्यकता पड़ने पर अतिरिक्त पूँजी प्राप्त की जा सके, इसलिये अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) सदैव आवश्यकता से अधिक रखनी चाहिए। इसी प्रकार पूँजी प्राप्त करने के लिए यथासम्भव शोध्य अधिमान अंश (Redeemable Preference Shares) भी निर्गमित करने चाहिए, जिससे उनका भुगतान निष्क्रिय पूँजी से करना सम्भव हो। अच्छे प्रमण्डल अपने ऋण-पत्रों को प्रारम्भ में निर्गमित न करके उन्हें किसी आवश्यकता के समय के लिए उठा रखते हैं।

(७) पूँजी-मिलान का अनुपात—पूँजी-मिलान का आशय यह है कि विभिन्न प्रतिभूतियों के कुल मूल्य का सम्पूर्ण पूँजी से कुछ निश्चित सम्बन्ध होता है। अगर सम्पूर्ण पूँजी के अनुपात में साधारण अंश कम निर्गमित किए जायें तो ऐसा कहते हैं कि साधारण अंशों का अधिक मिलान (High Gear ratio) हुआ है और यदि साधारण अंश सम्पूर्ण पूँजी के अनुपात में अधिक हों तो ऐसा कहा जाता है कि साधारण अंशों का निम्न मिलान (Low Gear-ratio) है। साधारण अंशों एवं अन्य प्रतिभूतियों द्वारा प्राप्त की हुई पूँजियों में परस्पर समुचित अनुपात होना चाहिए, क्योंकि यदि कुल पूँजी की तुलना में साधारण अंश पूँजी कम है तो साधारण अंश बड़े परिकल्पी (Speculative) रहेंगे और जिन दशाओं में प्रमण्डल साधारण अंशों पर लाभ देने में असमर्थ रहेगा, पूर्वाधिकार और साधारण अंशों की कीमतें गिर जायेंगी एवं प्रमण्डल की साख भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगी।

(८) पारस्परिक अधिकार—पूँजी-कलेवर बना लेने के उपरान्त प्रवर्तक को यह भी देखना चाहिए कि विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों पर जो मताधिकार हैं, वे समुचित एवं न्यायसंगत हैं। पूर्वाधिकार अंशों तथा ऋण-पत्रों सम्बन्धी आय की दर का निश्चय सदैव उनके निगमन के समय बाजार में भी उसी प्रकार की अन्य प्रतिभूतियों का अध्ययन करने के पश्चात् करना चाहिए।

STANDARD QUESTIONS

1. What do you understand by the terms 'Fixed' and 'Working' Capital ? Point out the factors which are to be considered while estimating the capital requirements of a public company
2. Critically examine over and under capitalisation
3. What is an 'Ideal' Capital Plan ? Point out the factors which a promoter must take into account while chalking out the capital structure of a public limited company.

अध्याय १३

पूँजी प्राप्त करने के साधन

" 'अभिगोपन' अंशों को जनता के सामने रखने के पूर्व किया जाने वाला वह अनुबन्ध है, जिसमें समझौते के अनुसार कमीशन के बदले अभिगोपक ऐसे सब अंशों को, जो जनता द्वारा न लिए जायं, स्वयं लेने के लिए तथा आवण्टन कराने के लिए समझौता करता है।"

प्रारम्भिक—

आवश्यक पूंजी निजी साधनों से अथवा जनता के अभिदानों के रूप में प्राप्त की जा सकती है। इस दूसरे उपाय की दशा में प्रविवरण के द्वारा आवश्यक पूँजी के लिए जनता को निमन्त्रित किया जाता है। विभिन्न ढङ्ग, जिनमें एक लोक-सीमित प्रमण्डल आवश्यक अर्थ का प्रबन्ध करता है, निम्नलिखित हैं :—

स्थायी पूँजी—

(I) अंश निर्गमन द्वारा।
(II) ऋण-पत्र निर्गमन द्वारा।

कार्यशील पूँजी—

(III) जन-निक्षेप अथवा जनता की धरोहर द्वारा।
(IV) बैंक से ऋण लेकर।
(V) अपनी आय का पुनः विनियोग करके।
(VI) प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं से ऋण लेकर।
(VII) विशिष्ट अर्थ संस्थाओं से ऋण लेकर।

(I) अंश निर्गमन (Issue of Shares)

अंश पत्रों द्वारा प्राप्त की जाने वाली पूँजी की मात्रा प्रमण्डल के पार्षद सीमानियम द्वारा निर्धारित की जाती है। प्रमण्डल के पार्षद अन्तर्नियम पूँजी को विभिन्न भाँति के अंशों में विभाजित करते हैं। अंशों की दो श्रेणियाँ होती हैं :—

(क) पूर्वाधिकार अंश, (ख) साधारण अंश और स्थगित अंश। इनके अतिरिक्त उनके कुछ रूपान्तर भी होते हैं। विभिन्न श्रेणियों के अधिकार कम्पनी के पार्षद सीमानियम अथवा अन्तर्नियम में दिये होते हैं।

(क) पूर्वाधिकार अंश—

अन्य प्रकार के अंशो की अपेक्षा पूर्वाधिकार अंशधारियो को पूँजी तथा लाभांश सम्बन्धी कुछ पूर्वाधिकार प्राप्त होते हैं, इसी कारण उन्हे पूर्वाधिकार अथवा अधिमान अंश कहते हैं। ऐसे अंशधारियो के लाभ एवं अधिकार निम्नलिखित हैं —

(१) लाभांश पर पूर्वाधिकार—पूर्वाधिकार अंशधारियो को लाभांश का एक निश्चित भाग पाने का पूर्वाधिकार होता है अर्थात् लाभांश वितरण के समय ऐसे अंशधारी 'Q' मे सबसे आगे होते हैं। इन लोगो को लाभांश देने के उपरान्त ही अन्य अंशधारियो का नम्बर आता है। लाभांश का अर्द्ध वार्षिक अथवा वार्षिक भुगतान किया जा सकता है तथा इन अंशो का लाभांश आय कर से मुक्त हो सकता है अथवा आय कर सहित, यह बात अन्तर्नियमो के आदेशो पर निर्भर होती है। साधारणत: आय कर काट करके ही लाभांश दिया जाता है।

पूर्वाधिकार अंशो पर लाभांश संचयी अथवा असंचयी (Cumulative or Non cumulative) हो सकता है। अगर पूर्वाधिकार अंश का लाभांश संचयी होता है तो इसका आशय यह है कि लाभांश का पूर्णत भुगतान न होने की दशा मे, अन्य अंशधारियो को उस लाभ मे से वितरण करने से पहले पूर्वाधिकार अंशधारियो को समस्त लाभांश चुकाना पड़ता है। उनके निश्चित लाभांश मे से जो शेष रहता है, उसका संचय होता है और पर्याप्त लाभ होने पर पहले उनको पिछला बकाया चुकाया जाता है और तत्पश्चात् औरो की चिन्ता की जाती है परन्तु जब लाभांश असंचयी होता है तो वह प्रति वर्ष चुका दिया जाता है। अगर कम्पनी को किसी वर्ष लाभ नही होता तो असंचयी लाभांशधारियो को लाभांश की राशि आगामी वर्षों मे नही दी जाती और ऐसे लोग इससे वंचित हो जाते है।

(२) पूँजी का पुनर्भुगतान—कम्पनी के समापन की दशा मे पूर्वाधिकार अंशधारियो की पूँजी भी अन्य अंशो की अपेक्षा पहले चुकाई जाती है। यह अधिकार अन्तर्नियमो मे स्पष्ट आदेश होने पर ही मिल सकता है।

(३) आधिक्य लाभ एवं सम्पत्ति मे भाग लेना—कभी-कभी जब कम्पनी अधिक परिकाल्पनिक व्यापार मे व्यस्त रहती है तो पूर्वाधिकार अंशधारियो को लाभांश का निश्चित भाग तो मिलता ही है किन्तु इसके अतिरिक्त यदि अन्य अंशधारियो को लाभांश देने के उपरान्त कुछ शेष बचे तो उसका स्वाद लेने का अधिकार भी पूर्वाधिकार अंशधारियो को होता है। जिन अंशो को यह अधिकार होता है उन्हे संचयी-भागयुक्त पूर्वाधिकार अंश (Cumulative Participating Preference Shares) कहते हैं।

(४) साधारण सभा के अधिकार—पूर्वाधिकार अंशधारियो के साधारण सभा सम्बन्धी अधिकार कम्पनी के अन्तर्नियमो मे दिये होते हैं। इनको अधिकतर साधारण अंशधारियो की ही भाँति मताधिकार होता है, किन्तु जब तक लाभांश का

वितरण नही होता, उस समय तक इसके मताधिकारो को सीमित कर दिया जाता है।

(५) सचालको के नियुक्ति सम्बन्धी अधिकार—पूर्वाधिकार अशो को अधिक आकर्षक बनाने के लिए कभी कभी इन्हे कम्पनी के एक या अधिक सचालक नियुक्त करने का भी अधिकार दे दिया जाता है।

(६) परिवर्तन सम्बन्धी अधिकार—आकर्षक बनाने के ही उद्देश्य से पूर्वाधिकार अशधारियो को कभी-कभी यह भी अधिकार होता है कि वे अपने अशो को दूसरी श्रेणी के अशो (जैसे, साधारण अथवा स्थगित अश) मे एक निर्दिष्ट समय के भीतर परिणित कर लें। यह अधिकार प्राय· विमोचनशील पूर्वाधिकार अशो (Redeemable Preference Shares) को ही दिया जाता है।

(७) प्रत्याभूति सम्बन्धी अधिकार—एक कम्पनी के निर्गमित अधिमान अश दूसरी कम्पनी द्वारा लाभाश तथा पूँजी का पुनर्भुगतान करने के लिए प्रत्याभूति (Guaranteed) होते है, जैसे—'अ' कम्पनी के अशो पर 'बिरला' कम्पनी गारन्टी दे। ये अश अपने विनियोक्ताओ को अतिरिक्त जमानत भी प्रदान करते हैं।

(८) विमोचन सम्बन्धी अधिकार—विमोचनशील अथवा शोध्य अधिमान अशो का भुगतान किसी निश्चित समय अथवा अवधि की सूचना देने के बाद करने का अधिकार कम्पनी को होता है। इन अशो का निर्गमन निम्नलिखित परिस्थितियो मे किया जा सकता है :—

(अ) जब कम्पनी अपने लाभो को पूँजीकृत (Capitalise) करने के उद्देश्य से 'बोनस' अशो का निर्गमन करना चाहती है, उस समय ऐसे अशो का निर्गमन किया जा सकता है और अतिरिक्त लाभ होने पर उनका भुगतान भी हो सकता है।

(आ) जब कम्पनी स्थायी रूप से पूँजी न चाहते हुए केवल अस्थायी पूँजी का आयोजन करती है।

(इ) जब कम्पनी को अधिक पूँजी की आवश्यकता पूरी करने के लिए ऊँची दर पर ब्याज देना पड़ता है और उस ब्याज दर के गिरने की सम्भावना होती है तो पूर्वाधिकार अशो का निर्गमन हितकर होगा, क्योकि आगे उनका निम्न दर वाले अशो मे परिवर्तन किया जा सकता है।

इन अशो को आकर्षक बनाने के लिए इनका भुगतान प्रव्याजि (Premium) पर किया जाता है। दूसरे, विमोचनशील पूर्वाधिकार अशधारियो को यह भी आश्वासन दिया जाता है कि उनकी पूँजी का भुगतान अश-निर्गमन करते समय निश्चित की हुई दर पर किया जायगा। इनका भुगतान तभी हो सकता है जब ये पूर्ण-दत्त (Fully paid) हो, परन्तु किसी भी दशा मे इनका भुगतान या तो लाभ से होना चाहिए अथवा इन अशो के भुगतान के लिए दूसरे किसी प्रकार के अशो के निर्गमन से जो पूँजी आए उसमे होना चाहिये अथवा कम्पनी के समापन की दशा मे कम्पनी के विक्रय मूल्य से किया जा सकता है (नए कम्पनी अधिनियम की धारा ८०)।

(ख) साधारण अंश (Ordinary Shares)—

साधारण अंश ऐसे अंशो को कहते हैं, जिन पर लाभांश तथा समापन के समय पूँजी की वापिसी पूर्वाधिकार अंशो के भुगतान के बाद की जाती है। यदि किसी कम्पनी मे स्थगित अंश न हो तो पूर्वाधिकार अंशो पर निश्चित लाभांश चुकाने के बाद जो कुछ भी लाभ शेष रहता है, उस समस्त लाभ के यही अधिकारी होते हैं। ये अंश भी कई प्रकार के होते है, जैसे—"श्रेणी 'अ' साधारण अंश, श्रेणी 'ब' साधारण अंश", इत्यादि। इन श्रेणियो का विभाजन उनके साथ लाभांश तथा पूँजी के भुगतान की शर्तो के अनुसार होता है। इन अंशो पर लाभांश तो अधिक मिलता ही रहता है, किन्तु अंशधारियो की पूँजी का अधिमूल्यन (Appreciation) भी होता है।

जिन अंशो के अधिकारियो को अधिमान अंशधारियो के अधिकार की पूर्ति होने के उपरान्त तथा लाभांश के लिए साधारण अंशो का श्रेणी-विभाजन होने से पूर्व असचयी निश्चित लाभांश पाने का अधिकार होता है, उन्हे 'अधिमान साधारण अंश' (Preferred Ordinary Shares) कहते है। जो कम्पनी अधिमान अंश निर्गमित नही करती, उसके अधिमान साधारण अंशो की स्थिति अधिमान अंशो की ही भाँति होती है।

स्थगित अंश—

स्थगित अंशो से आशय ऐसे अंशो का है जिन पर अन्य सभी प्रकार के अंशो को लाभांश देने के बाद अगर लाभ शेष रहता है तो लाभांश दिया जाता है। साधारणतया ये सख्या मे बहुत थोड़े तथा अंकित मूल्य मे भी कम मूल्य वाले होते हैं, किन्तु इनके मत सम्बन्धी अधिकार, अन्य अंशो की अपेक्षा, बहुत अधिक होते है, अत इन अंशो पर सबसे ज्यादा लाभांश दिया जाता है। इन अंशो का क्रय अधिकतर पारिवारिक प्रवृत्ति के लोग ही करते है, जैसे—कम्पनी के प्रवर्तक, प्रबन्ध-अभिकर्त्ता अथवा उनके सम्बन्धी या मित्र, इसीलिए कभी कभी इन अंशो को प्रवर्तक अंश (Founder's Shares) अथवा प्रबन्धक अंश (Management Shares) भी कहते हैं। नये कम्पनी अधिनियम मे अब उनके लिए कोई स्थान नही है।

अंशों के लाभ एवं हानियाँ

कम्पनी की दृष्टि से लाभ—

(१) कम्पनी को अपनी सम्पत्ति पर बिना किसी प्रकार का भार डाले स्थायी पूँजी प्राप्त हो जाती है, अस्तु यदि प्रमण्डल आवश्यक समझे तो ऋण द्वारा आवश्यकता के समय अतिरिक्त अर्थ का भी प्रबन्ध कर सकता है।

(२) अंश पर लाभांश उसी दशा मे दिये जाते है, जब पर्याप्त लाभ होता है, अन्यथा लाभांश देना अनिवार्य नही होता। अधिक लाभ होने की

दशा मे अंशो के निर्गमन से अधिक पूँजी प्राप्त की जा सकती है। अंशो को प्रव्याजि पर निर्गमित कर पूँजी लाभ भी कमाया जा सकता है।

(३) कम्पनी अपने जीवन काल मे अंश पूँजी वापिस करने के लिए बाध्य नही होती, परन्तु इसके लिए विमोचनशील अधिमान अंश अपवाद है, जिसका भुगतान कम्पनी अधिनियम की धाराय ५५ से ६६ तथा १०५ (बी) के अनुसार ही होगा।

(४) विभिन्न प्रकार के अंशो के निर्गमन से पूँजी की कीमत भी कम रहती है, अत मितव्ययिता की यह सुन्दर रीति है।

(५) कम्पनी की व्यवस्था की बागडोर समुचित व्यक्तियो के हाथ मे रखने की दृष्टि से विभिन्न अंशो के मताधिकार इस प्रकार आयोजित किए जा सकते हैं कि जिससे वह उद्देश्य पूरा हो।

विनियोगी की दृष्टि से लाभ—

(१) अंशधारियो को लाभांश के रूप मे अधिक आय मिलती है।

(२) अंशधारियो को मताधिकार भी होते है, जिससे वे कम्पनी की व्यवस्था मे भाग ले सकते हैं।

कम्पनी की दृष्टि से हानियाँ—

(१) साधारण अंशो पर अनुपातत अधिक लाभांश देना पडता है।

(२) यदि अधिकृत पूँजी बढानी हो अथवा विशेष अधिकारो वाले अंश निर्गमित करने हो तो पहिले अधिकांश अंशधारियो की सम्मति प्राप्त करनी पडती है। यह कार्य सदैव सरल नही होता है।

(३) अगर अंशो के अधिकारो मे कुछ परिवर्तन करना हो तो कम्पनी ऐसे अंशधारियो की सम्मति के बिना जिनके अधिकार प्रभावित होते है, उनके अधिकारो मे परिवर्तन नही कर सकती।

(४) अधिक लाभ की दशा मे पूर्वाधिकार अंशो के अलावा अन्य अंशो का विपणि मूल्य बढ जाता है।

(५) अंशधारी बदलते रहते हैं और नए अंशधारी कम्पनी की वर्तमान नीति को बदलने अथवा प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं।

विनियोगको की दृष्टि से हानियाँ—

(१) पूर्वाधिकार अंशो के अलावा अन्य अंशो मे आय का स्थायित्व नही होता।

(२) अंशो मे विनियोजित राशि, कम्पनी के समापन की दशा मे, डूब जाने की सम्भावना होती है।

(II) ऋण-पत्र निर्गमन (Issue of Debentures)

बढते हुए व्यापार की पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए

कभी-कभी कम्पनियों को ऋण लेने की आवश्यकता पड़ जाती है। दीर्घकालीन ऋण की प्राप्ति अधिकांशतः बन्ध (Bonds) तथा ऋण-पत्रों द्वारा की जाती है। ऋण-पत्र एक प्रकार का अनुबन्धात्मक प्रलेख होता है, जिसके द्वारा ऋण प्राप्त किया जाता है तथा जिसमें मूलधन का भुगतान न होने तक किसी निश्चित सामयिक अवधि में प्रतिशत ब्याज देने की प्रतिज्ञा होती है। कम्पनी के सीमानियम में जब तक ऋण लेने का अधिकार नहीं होता, ऋण-पत्रों का निर्गमन नहीं किया जा सकता। प्रायः कम्पनी के सीमानियम अथवा पार्षद अन्तर्नियम में ऋण लेने की सीमा का भी स्पष्ट उल्लेख होता है। ऋण लेने का अधिकार स्पष्ट हो सकता है अथवा गर्भित, किन्तु गर्भित अधिकार व्यापारिक कम्पनियों को नहीं होता है। कम्पनी अधिनियम की धारा १०३ के अनुसार जब तक किसी कम्पनी को व्यापार प्रारम्भ करने का प्रमाण-पत्र नहीं मिल जाता तब तक वह ऋण-पत्र आदि निर्गमित नहीं कर सकती।

कम्पनी के पार्षद-अन्तर्नियमों में यह स्पष्ट लिखा रहता है कि ऋण लेने का अधिकार कम्पनी को अपनी व्यापक सभा द्वारा प्राप्त है अथवा वह अधिकार संचालकों को दिया हुआ है। प्रायः संचालकगण ही एक सीमा तक ऋण लेने के अधिकारी होते हैं। वह सीमा कम्पनी की स्वीकृति के बिना बढ़ाई भी नहीं जा सकती। ऋण-पत्रों का निर्गमन अंशों की भांति समता पर (at par) या प्रव्याजि पर (at a premium) अथवा छूट पर (at a discount) किया जाता है। ऋण-पत्रों का निर्गमन अंशों की ही भाँति प्रविवरण द्वारा किया जाता है, जिसमें कम्पनी अधिनियम की धारा ९३ के अनुसार कम्पनी तथा ऋण-पत्र सम्बन्धी समस्त सूचनायें रहती हैं।

ऋण प्राप्त करने के लिए कम्पनी को अपनी सम्पत्ति जमानत अथवा बन्धक के रूप में रखनी पड़ती है। अगर ऋण-पत्रों का निर्गमन कम्पनी की सम्पत्ति को बिना जमानत अथवा बन्धक के रूप में रखते हुए किया गया है तो ऐसे ऋण-पत्रों को नग्न ऋण-पत्र (Nacked Debentures) कहते हैं। नग्न-ऋण-पत्र के लिए दूसरा पर्यायवाची है 'अरक्षित ऋण-पत्र'। अगर कम्पनी की सम्पत्ति जमानत के रूप में रखी जाती है तो सम्पत्ति का बन्धक भी दो प्रकार का होता है—(१) स्थायी सम्पत्ति का बन्धक और (२) चल-सम्पत्ति का बन्धक। जिन ऋण-पत्रों के लिए कम्पनी की स्थायी सम्पत्ति जमानत के रूप में रखी जाती है, उन्हें 'स्थायी ऋण-पत्र' (Fixed Debentures) कहते हैं और जो चल सम्पत्ति के बन्धक पर निर्गमित होते हैं और यदि उनका बन्धक अनिश्चित एवं अस्थायी होता है तो वे 'चल-बन्धक-ऋण पत्र' (Floating Mortgage Debentures) कहलाते हैं। स्थायी ऋण-पत्रों से सम्बन्धित सम्पत्ति का विक्रय नहीं किया जा सकता और न वह पुनः बन्धक के रूप में ही रखी जा सकती है, किन्तु चल-ऋण-पत्रों की सम्पत्ति कम्पनी अपने दैनिक व्यापार के लिए उसी प्रकार प्रयोग में ला सकती है, जैसे कि उसका उपयोग पहिले होता था। हाँ, समापन के समय अवश्य इन ऋण पत्रधारियों को ऐसी सम्पत्ति में भुगतान लेने का अधिकार होता है।

कभी-कभी कम्पनियों को ऋण लेने की आवश्यकता पड़ जाती है। दीर्घकालीन ऋण की प्राप्ति अधिकांशतः बन्ध (Bonds) तथा ऋण-पत्रों द्वारा की जाती है। ऋण-पत्र एक प्रकार का अनुबन्धात्मक प्रलेख होता है, जिसके द्वारा ऋण प्राप्त किया जाता है तथा जिसमें मूलधन का भुगतान न होने तक किसी निश्चित सामयिक अवधि में प्रतिशत ब्याज देने की प्रतिज्ञा होती है। कम्पनी के सीमानियम में जब तक ऋण लेने का अधिकार नहीं होता, ऋण-पत्रों का निर्गमन नहीं किया जा सकता। प्रायः कम्पनी के सीमानियम अथवा पार्षद अन्तर्नियम में ऋण लेने की सीमा का भी स्पष्ट उल्लेख होता है। ऋण लेने का अधिकार स्पष्ट हो सकता है अथवा गर्भित, किन्तु गर्भित अधिकार व्यापारिक कम्पनियों को नहीं होता है। कम्पनी अधिनियम की धारा १०३ के अनुसार जब तक किसी कम्पनी को व्यापार प्रारम्भ करने का प्रमाण-पत्र नहीं मिल जाता तब तक वह ऋण-पत्र आदि निर्गमित नहीं कर सकती।

कम्पनी के पार्षद-अन्तर्नियमों में यह स्पष्ट लिखा रहता है कि ऋण लेने का अधिकार कम्पनी को अपनी व्यापक सभा द्वारा प्राप्त है अथवा वह अधिकार संचालकों को दिया हुआ है। प्रायः संचालकगण ही एक सीमा तक ऋण लेने के अधिकारी होते हैं। वह सीमा कम्पनी की स्वीकृति के बिना बढ़ाई भी नहीं जा सकती। ऋण-पत्रों का निर्गमन अंशों की भांति समता पर (at par) या अब्बाज पर (at a premium) अथवा छूट पर (at a discount) किया जाता है। ऋण-पत्रों का निर्गमन अंशों की ही भाँति प्रविवरण द्वारा किया जाता है, जिसमें कम्पनी अधिनियम की धारा ९३ के अनुसार कम्पनी तथा ऋण-पत्र सम्बन्धी समस्त सूचनायें रहती हैं।

ऋण प्राप्त करने के लिए कम्पनी को अपनी सम्पत्ति जमानत अथवा बन्धक के रूप में रखनी पड़ती है। अगर ऋण-पत्रों का निर्गमन कम्पनी की सम्पत्ति को बिना जमानत अथवा बन्धक के रूप में रखते हुए किया गया है तो ऐसे ऋण-पत्रों को नग्न ऋण-पत्र (Nacked Debentures) कहते हैं। नग्न-ऋण-पत्र के लिए दूसरा पर्यायवाची है 'अरक्षित ऋण-पत्र'। अगर कम्पनी की सम्पत्ति जमानत के रूप में रखी जाती है तो सम्पत्ति का बन्धक भी दो प्रकार का होना है—(१) स्थायी सम्पत्ति का बन्धक और (२) चल-सम्पत्ति का बन्धक। जिन ऋण-पत्रों के लिए कम्पनी की स्थायी सम्पत्ति जमानत के रूप में रखी जाती है, उन्हें 'स्थायी ऋण-पत्र' (Fixed Debentures) कहते हैं और जो चल सम्पत्ति के बन्धक पर निर्गमित होते हैं और यदि उनका बन्धक अनिश्चित एवं अस्थायी होता है तो वे 'चल-बन्धक-ऋण पत्र' (Floating Mortgage Debentures) कहलाते हैं। स्थायी ऋण-पत्रों से सम्बन्धित सम्पत्ति का विक्रय नहीं किया जा सकता और न वह पुनः बन्धक के रूप में ही रखी जा सकती है, किन्तु चल-ऋण-पत्रों की सम्पत्ति कम्पनी अपने दैनिक व्यापार के लिए उसी प्रकार प्रयोग में ला सकती है, जैसे कि उसका उपयोग पहिले होता था। हाँ, समापन के समय अवश्य इन ऋण पत्रधारियों को ऐसी सम्पत्ति में भुगतान लेने का अधिकार होता है।

दशा मे अशो के निर्गमन से अधिक पूँजी प्राप्त की जा सकती है। अशो को प्रव्याजि पर निर्गमित कर पूँजी लाभ भी कमाया जा सकता है।

(३) कम्पनी अपने जीवन काल मे अश पूँजी वापिस करने के लिए बाध्य नही होती, परन्तु इसके लिए *विमोचनशील अधिमान अश अपवाद है,* जिसका भुगतान कम्पनी अधिनियम की धाराय ५५ से ६६ तथा १०५ (बी) के अनुसार ही होगा।

(४) विभिन्न प्रकार के अशो के निर्गमन से पूँजी की कीमत भी कम रहती है, अत मितव्ययिता की यह सुन्दर रीति है।

(५) कम्पनी की व्यवस्था की बागडोर समुचित व्यक्तियो के हाथ मे रखने की दृष्टि से विभिन्न अशो के मताधिकार इस प्रकार आयोजित किए जा सकते है कि जिससे वह उद्देश्य पूर्ण हो।

विनियोगी की दृष्टि से लाभ—

(१) अशधारियो को लाभाश के रूप मे अधिक आय मिलती है।

(२) अशधारियो को मताधिकार भी होते है, जिसमे वे कम्पनी की व्यवस्था मे भाग ले सकते हैं।

कम्पनी की दृष्टि से हानियाँ—

(१) साधारण अशो पर अनुपातत अधिक लाभाश देना पडता है।

(२) यदि अधिकृत पूँजी बढानी हो अथवा विशेष अधिकारो वाले अश निर्गमित करने हो तो पहिले अधिकाश अशधारियो की सम्मति प्राप्त करनी पडती है। यह कार्य सदैव सरल नही होता है।

(३) मगर अशो के अधिकारो मे कुछ परिवर्तन करना हो तो कम्पनी ऐसे अशधारियो की सम्मति के बिना जिनके अधिकार प्रभावित होते है, उनके अधिकारो मे परिवर्तन नही कर सकती।

(४) अधिक लाभ की दशा मे पूर्वाधिकार अशो के अलावा अन्य अशो का विपणि मूल्य बढ जाता है।

(५) अशधारी बदलते रहते हैं और नए अशधारी कम्पनी की वर्तमान नीति को बदलने अथवा प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं।

विनियोगको की दृष्टि से हानियाँ—

(१) पूर्वाधिकार अशो के अलावा अन्य अशो मे आय का स्थायित्व नही होता।

(२) अशो मे विनियोगित राशि, कम्पनी के समापन की दशा मे, डूब जाने की सम्भावना होती है।

(II) ऋण-पत्र निर्गमन (Issue of Debentures)

बढते हुए व्यापार की पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए

कभी-कभी कम्पनियों को ऋण लेने की आवश्यकता पड़ जाती है। दीर्घकालीन ऋण की प्राप्ति अधिकांशतः बन्ध (Bonds) तथा ऋण-पत्रों द्वारा की जाती है। ऋण-पत्र एक प्रकार का अनुबन्धात्मक प्रलेख होता है, जिसके द्वारा ऋण प्राप्त किया जाता है तथा जिसमे मूलधन का भुगतान न होने तक किसी निश्चित सामयिक अवधि मे प्रतिशत ब्याज देने की प्रतिज्ञा होती है। कम्पनी के सीमानियम में जब तक ऋण लेने का अधिकार नहीं होता, ऋण-पत्रों का निर्गमन नहीं किया जा सकता। प्रायः कम्पनी के सीमानियम अथवा पार्षद अन्तर्नियम में ऋण लेने की सीमा का भी स्पष्ट उल्लेख होता है। ऋण लेने का अधिकार स्पष्ट हो सकता है अथवा गर्भित, किन्तु गर्भित अधिकार व्यापारिक कम्पनियों को नहीं होता है। कम्पनी अधिनियम की धारा १०३ के अनुसार जब तक किसी कम्पनी को व्यापार प्रारम्भ करने का प्रमाण-पत्र नहीं मिल जाता तब तक वह ऋण-पत्र आदि निर्गमित नहीं कर सकती।

कम्पनी के पार्षद-अन्तर्नियमों में यह स्पष्ट लिखा रहता है कि ऋण लेने का अधिकार कम्पनी को अपनी व्यापक सभा द्वारा प्राप्त है अथवा वह अधिकार संचालकों को दिया हुआ है। प्रायः संचालकगण ही एक सीमा तक ऋण लेने के अधिकारी होते हैं। वह सीमा कम्पनी की स्वीकृति के बिना बढ़ाई भी नहीं जा सकती। ऋण-पत्रों का निर्गमन अंशों की भाँति समता पर (at par) या प्रव्याजि पर (at a premium) अथवा छूट पर (at a discount) किया जाता है। ऋण-पत्रों का निर्गमन अंशों की ही भाँति प्रविवरण द्वारा किया जाता है, जिसमें कम्पनी अधिनियम की धारा ९३ के अनुसार कम्पनी तथा ऋण पत्र सम्बन्धी समस्त सूचनायें रहती हैं।

ऋण प्राप्त करने के लिए कम्पनी को अपनी सम्पत्ति जमानत अथवा बन्धक के रूप में रखनी पड़ती है। अगर ऋण-पत्रों का निर्गमन कम्पनी की सम्पत्ति को बिना जमानत अथवा बन्धक के रूप में रखे हुए किया गया है तो ऐसे ऋण-पत्रों को नग्न ऋण-पत्र (Nacked Debentures) कहते हैं। नग्न-ऋण-पत्र के लिए दूसरा पर्यायवाची है 'अरक्षित ऋण-पत्र'। अगर कम्पनी की सम्पत्ति जमानत के रूप में रखी जाती है तो सम्पत्ति का बन्धक भी दो प्रकार का होता है—(१) स्थायी सम्पत्ति का बन्धक और (२) चल सम्पत्ति का बन्धक। जिन ऋण-पत्रों के लिए कम्पनी की स्थायी सम्पत्ति जमानत के रूप में रखी जाती है, उन्हें 'स्थायी ऋण-पत्र' (Fixed Debentures) कहते हैं और जो चल सम्पत्ति के बन्धक पर निर्गमित होते हैं और यदि उसका बन्धक अनिश्चित एवं अस्थायी होता है तो वे 'चल-बन्धक-ऋण पत्र' (Floating Mortgage Debentures) कहलाते हैं। स्थायी ऋण-पत्रों से सम्बन्धित सम्पत्ति का विक्रय नहीं किया जा सकता और न वह पुनः बन्धक के रूप में ही रखी जा सकती है, किन्तु चल-ऋण-पत्रों की सम्पत्ति कम्पनी अपने दैनिक व्यापार के लिए उसी प्रकार प्रयोग में ला सकती है, जैसे कि उसका उपयोग पहिले होता था। हाँ, समापन के समय अवश्य इन ऋण पत्रधारियों को ऐसी सम्पत्ति से भुगतान लेने का अधिकार होता है।

जब कोई कम्पनी धन प्राप्त करने के लिए ऋण-पत्रो का निर्गमन सर्वसाधारण जनता मे करती है तो उन ऋण-पत्रधारियो के लिए अनिवार्य रूप से प्रन्यास-लेख (Trust Deed) तैयार कराये जाते हैं। इनके द्वारा एक अथवा अधिक प्रन्यासी (Trustees) नियुक्त कर दिए जाते हैं, जो ऋण-पत्रधारियो के हितो की रक्षा करते हैं।

ऋण-पत्र अनेक प्रकार के होते हैं। वाहक अथवा रजिस्टर्ड ऋण-पत्र (Registered Debentures) उन्हे कहते हैं कि जिनके धारणकर्त्ता का नाम कम्पनी के ऋण-पत्र रजिस्टर मे लिखा जाता है। इसका निर्गमन प्रायः मुद्रा-मण्डी की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए तथा व्यवहार मे सुविधा प्रदान करने के लिए किया जाता है। एक वाहक ऋण-पत्र पारस्परिक व्यापारिक समझौते पर निर्गमित किया जाता है और इसका हस्तान्तरण किसी भी समय किया जा सकता है तथा इसका कोई भी धारणकर्त्ता इस ऋण-पत्र का ब्याज एव भुगतान प्राप्त कर सकता है। इसको क्रय करने के लिए किसी प्रकार के लिखित हस्तान्तरण की आवश्यकता नही होती।

ऋण-पत्र विमोचनशील (Redeemable) अथवा अविमोचनशील (Irredeemable) हो सकते है, जिनका भुगतान समापन के अतिरिक्त नही होता और न ऋण-पत्रधारी ही उन पर भुगतान माँग सकते हैं। ऐसे ऋण-पत्रो को अविमोचनशील अथवा अविनाशी या सदैव रहने वाले ऋण-पत्र कहते हैं। जिन ऋण-पत्रो का भुगतान किसी निश्चित अवधि के बाद अथवा आगामी वर्षों मे भागो मे किया जा सकता है उन्ह विमोचनशील ऋण-पत्र कहते हैं। ऋण पत्रो पर ब्याज निश्चित दर पर देना होगा, चाहे कम्पनी को लाभ हो अथवा न हो। इसी प्रकार इनका भुगतान अङ्कित मूल्य, छूट अथवा प्रव्याजि पर निर्गमन की शर्तों के अनुसार किया जाता है।

ऋण-पत्रो से लाभ एवं हानि—

प्रमण्डल की दृष्टि से लाभ—

(१) इनक द्वारा उन रूढिवादी व्यक्तियो से पर्याप्त पूँजी प्राप्त की जा सकती है जो बिना अधिक जोखिम उठाये निश्चित आय चाहते हैं।

(२) यह भय कि अधिक मात्रा म अश निर्गमित किये जाने से उन पर लाभाश की दर गिर जायगी, नही रहता, क्योकि ऋण पूँजी के लिए कुछ लाभ निश्चित ब्याज के नाम पृथक किये जाने के बाद शेष को अशधारियो के लिए रखा जा सकता है।

(३) अशा के निर्गमन की अपक्षा यह साधन मितव्ययी भी है, क्योकि इस प्रकार का ऋण यदि अन्य रीति से लिया जाय तो अधिक ब्याज देना पडता है, किन्तु ऋण-पत्रो पर निश्चित रूप से कम ब्याज चुकाया जाता है।

(४) ऋण-पत्रो के निर्गमन से कम्पनी को निश्चित रूप से एव निश्चित

अवधि के लिए ऋण मिल जाता है तथा ऋण प्राप्त करने के लिए अन्य अनिश्चित साधनो पर, जैसे बैंक आदि पर निर्भर नही रहना पड़ता।

(५) विमोचनशील ऋण-पत्रो पर प्राप्त की हुई पूँजी शोध प्रणीवि (Sinking Fund) व्यवस्था के अन्तर्गत वार्षिक भुगतानो द्वारा लौटाई जा सकती है, इसलिये लाभ-हानि खाते पर ब्याज का भार निरन्तर कम होते रहने से अंशधारियो को भले ही आकस्मिक लाभ की दशा न रहे, उतना ही अथवा बढता हुआ लाभांश दिया जा सकता है।

विनियोगकों को लाभ—

(१) विनियोगकों को ऋण-पत्रो पर निश्चित दर मे ब्याज मिलता है, चाहे कम्पनी को लाभ हो अथवा हानि, अतएव ऋण-पत्रधारियो की आय निश्चित रहती है।

(२) सुरक्षा की दृष्टि से भी यह सर्व श्रेष्ठ है, क्योकि साधारणतः ऋण-पत्रो पर कम्पनी की सम्पत्ति बन्धक के रूप मे रहती है तथा कम्पनी के समापन के समय भी ऋण-पत्रधारी कम्पनी के सुरक्षित लेनदार (Secured Creditors) होते हैं।

कम्पनी की दृष्टि से हानियां—

(१) सम्पत्ति पर उनका प्रकरण (Charge) रहने से कम्पनी की साख द्रव्य बाजार मे गिर जाती है।

(२) ऋण पत्रो पर ब्याज देना अनिवार्य होता है, चाहे लाभ हो अथवा न हो।

(३) कम्पनी के प्रगतिशील न होने की दशा मे उसे ऋण-पत्रो के निर्गमन के अतिरिक्त पूँजी प्राप्त करना असम्भव हो जाता है।

(४) ऋण-पत्रधारियो को ब्याज का भुगतान न होने पर ये चाहे तो कम्पनी का समापन न्यायालय को आवेदन-पत्र देकर करा सकते है, जिससे इनका अस्थिरत्व कम्पनी अस्तित्व को भी खतरे में डाल सकता है।

विनियोगको की दृष्टि से हानियां—

(१) उन्हें निश्चित दर से केवल ब्याज ही मिलता है तथा लाभांश मे वे भाग नही ले सकते।

(२) ऋण-पत्रधारियो को मत देने का भी अधिकार नहीं होता, अतः कम्पनी की व्यवस्था मे भाग नही ले सकते और न वे कम्पनी की नीति का ही किसी प्रकार से नियन्त्रण कर सकते है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि ऋण-पत्र दीर्घकालीन अर्थ प्रबन्धन के अच्छे साधन हैं, क्योकि उनमें व्यय कम करना पड़ता है, परन्तु स्मरण रहे कि इस साधन

का वे ही प्रमण्डल प्रयोग कर सक्ते है जिनकी आय इतनी पर्याप्त एव नियमित है कि ऋण-पत्रो पर निर्धारित ब्याज दिया जा सकता है और जिनके पास प्रतिभूति स्वरूप देने के लिए पर्याप्त ठोस सम्पत्तियाँ हैं। प्रायः दो प्रकार के उद्योग ऋण-पत्रो का औचित्यपूर्ण निर्गमन कर सकते है—प्रथम, वे जिनकी सम्पत्ति विशेषोपयोगी प्रकृति की नही है, अथवा वर्तमान उद्योग से दूसरे उपयोगो मे परिवर्तित की जा सकती है। दूसरे, वे जिनमे यद्यपि सम्पत्ति विशेषोपयोगी प्रकृति की है, किन्तु स्थायी आय के उचित साधन हैं, जैसे—रेलवे, ट्राम्वे आदि उद्योग। ऋण पत्रो द्वारा अधिक पूँजी प्राप्त नही करनी चाहिये, क्योंकि निरन्तर अधिक ब्याज देने का भार औद्योगिक संस्था के जीवन के लिए भी खतरनाक है। यह भी आवश्यक है कि ऋण पत्र पर ब्याज, भुगतान एव अन्य दूसरी शर्तें उचित हो।

भारत मे ऋण-पत्र अप्रिय क्यो (Why are Debentures Unpopular in India) ?—

(१) स्वतन्त्र बाजार का अभाव—ऋण-पत्रो के लिए हमारे देश मे अन्य देशो की भाँति स्वतन्त्र बाजार नही है। भारतीय विनियोगक तब तक अपना धन किसी उद्योग मे नही लगाते जब तक उन्हे लाभ का पूर्ण आश्वासन नही होता। वे प्रायः भूमि-क्रय मे अथवा कृषि-कार्य मे रुपया लगाना अधिक उपयुक्त समझते है। यही कारण है कि निश्चित लाभ या ब्याज वाले ऋण-पत्र भी उन्हे आकर्षित नही करते।

फिर भारतीय ऋण-पत्र अधिक ऊँचे अधिमान के होते हैं, इसलिए साधारण विनियोगक की पहुँच के बाहर हैं। बीमा कम्पनियाँ बीमा अधिनियम की धारा २७ के कारण औद्योगिक ऋण-पत्रो का क्रय नही कर सकतीं। भारतीय बैंक भी इस विषय मे स्टेट बैंक की नीति का अनुसरण करती है तथा विनियोग प्रन्यासो (Investment Trusts) का तो अभी उदय ही हुआ है, इसलिए वे औद्योगिक व्यवसायो मे धन विनियोग करने मे असमर्थ रहते है।

ऋण पत्रो पर तथा उनके हस्तान्तरण पर मुद्राक-कर भी अधिक देना पडता है, जिससे ऋण पत्रो का हस्तान्तरण स्वतन्त्र रूप से नही हो सकता। उदाहरणार्थ, बम्बई मे पृष्ठांकित होकर अथवा अन्य किसी प्रलेख द्वारा हस्तान्तरित होने वाले ऋण-पत्रो पर ७ रु० ८ आ० प्रति हजार रुपया मुद्राङ्क कर (Stamp Duty) लिया जाता है। प्रत्येक हस्तान्तरण पर इतना ही और अतिरिक्त शुल्क लगता है। वाहक ऋण-पत्रो पर निर्गमन के समय ही १५ रु० प्रारम्भिक शुल्क लगता है। ये कम्पनी के लिए अत्यन्त भार रूप है। इसके साथ ही विनियोक्ताओ को भी प्रत्येक हस्तान्तरण पर काफी व्यय देना पडता है, इसलिए भी जनता विनियोग के ऐसे खर्चीले साधन को अपनाना नही चाहती।

इसके अतिरिक्त ऋण-पत्रो का कम सख्या मे निर्गमन होना भी उनके स्वतन्त्र बाजार होने मे बाधक है। अभी तक केवल जूट मिलो के ऋण-पत्रो को छोड कर अन्य सभी कम्पनियो के ऋण-पत्र जनता तक पहुँच ही नही पाये है, क्योंकि जैसे ही उनका

निर्गमन होता है वैसे ही कतिपय धनी लोग उन्हें खरीद लेते हैं। यहाँ यह कहना अनावश्यक न होगा कि टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के ६० लाख रुपये के सम्पूर्ण ऋण पत्र मध्य-भारत के राजप्रमुख ने ही खरीद लिए थे।

यह तो ऊपर संकेत कर चुके हैं कि भारतीय ऋण-पत्र अधिक मूल्य वाले होते हैं, जैसे—५००), १,०००), १०,०००) के इत्यादि, अतएव सर्व साधारण जनता की पहुँच के बाहर होते हैं।

(२) बैंकों की प्रवृत्ति—ऋण-पत्रों की लोकप्रियता में बैंकों का व्यवहार भी अधिक बाधक हुआ है। ऋण-पत्र निर्गमित करने वाले प्रमण्डल भी भारतीय बैंकों की दृष्टि में गिर जाते हैं और उन्हें फिर वे साख-सुविधायें प्रदान नहीं करते जैसी अन्य दिशाओं में करते हैं, क्योंकि कम्पनी की सम्पत्ति पर ऋण-पत्रों का पहला प्रवरण होता है, इसलिए बैंक द्वारा लिए हुए ऋण के लिए प्रतिभूति कम रहती है।

(३) निर्गमन की अनाकर्षक शर्तें—भारतीय ऋण-पत्रों में वे विशेषतायें नहीं होतीं, जिनसे जनता स्वयं लालायित होकर उन्हें खरीदने के लिए दौड़े। भारतीय विनियोगकों को उनकी विभिन्न रुचियों के अनुकूल विभिन्न विशेषता वाले ऋण-पत्र उपलब्ध नहीं हैं। अन्य देशों में ऋण-पत्र विभिन्न आकर्षक सुविधाओं वाले होते हैं, जैसे—वहाँ कुछ ऋण-पत्र प्रत्याभूनित होते हैं कुछ के लिए भुगतान होने पर अधिक प्रव्याजि देने का प्रलोभन दिया जाता है, कुछ ऋण-पत्रधारियों को एक या अधिक संचालक नियुक्त करने का अधिकार होता है तथा कुछ ऋण-पत्र ऐसे होते हैं जो साधारण अंशों को रियायती दर पर खरीद सकते हैं, किन्तु भारत में जहाँ मुद्रा-मण्डी भी सुसंगठित नहीं है, वहाँ यह नितान्त आवश्यक है कि ऋण-पत्र के निर्गमन की शर्तें उदार एवं आकर्षक हों।

(४) राजकीय अर्थनीति में उदारता का अभाव—ऋण-पत्रों की अप्रियता का कारण यह भी है कि यहाँ सरकार की सार्वजनिक अर्थ एवं प्रशुल्क नीति उदार नहीं रही। भारत में विदेशी शासन की नीति यहाँ के उद्योग धन्धों को विदेशी स्पर्धा से पर्याप्त और उचित संरक्षण प्रदान नहीं कर सकी। जब कभी कोई उद्योग प्रारम्भ हुआ, भारतीय विनियोगक निश्चित लाभ अथवा सफलता के आश्वासन के अभाव में उसमें पूँजी लगाने में हिचकते रहे। संरक्षण के प्रश्न के अतिरिक्त अन्य भी कई चीजें हैं, जो उद्योगों में पूँजी के प्रवाह को रोकती रही हैं, जैसे—उत्पादन करों का लगाना, उपभोग की वस्तुओं के सम्बन्ध में अराष्ट्रीय आयात नीति का अनुसरण करना, इत्यादि। ये बातें ऐसी हैं कि जिनसे यहाँ का औद्योगिक व्यापार प्रगतिशील नहीं होता और फिर न यहाँ के विनियोक्ता ऋण-पत्रों में धन लगाना उचित ही समझते हैं।

(५) अत्यधिक निर्गमन व्यय—ऋण-पत्रों के निर्गमन में व्यय भी बहुत पड़ता है। निर्गमन करते समय ही ब्याज की दर भी निश्चित कर दी जाती है। अभी तक ५ से ६ प्रतिशत तक यह ब्याज की दर प्रचलित है। भारत में इन पर भारी

ब्याज के अतिरिक्त, जिसकी दर केवल प्रमण्डल की साख पर ही नही वरन् निर्गमन के समय, निर्गमन की मात्रा तथा अभिगोपन की ख्याति पर भी निर्भर करती है, प्रारम्भिक वैधानिक एव मुद्राक व्यय व अभिगोपन-कमीशन भी देने पडते हैं, अतः कभी-कभी तो ऋण पत्र निर्गमन मे इतना अधिक व्यय हो जाता है कि कम्पनी उनका निर्गमन करना भी उचित नही समझती ।

(६) सलाह देने वाली सस्थाओ का अभाव—भारतवर्ष मे ऐसी कोई मान्य सस्था नही है जहाँ विनियोगक ऋण-पत्रो के विषय मे आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकें । बैंक अवश्य अपने ग्राहको को इस विषय मे उचित सम्मति प्रदान करती है, पर दुर्भाग्य से भारत मे आज भी ऐसे नगर हैं जहाँ बैंक नही है । स्कन्ध विनिमय विपणि (Stock Exchanges) भी केवल बन्दरगाह के शहरो मे ही है, अतएव दूर-दूर तक फैले हुए विनियोगको को इनके विश्वसनीय एव स्वीकृत सदस्यो से सम्पर्क स्थापित करने के बहुत थोडे अवसर है ।

इन कारणो से भारतीय कम्पनियो मे ऋण-पत्रो का निर्गमन अधिक प्रचलित नही है । सन् १९२७-२८ मे भारत की कुल औद्योगिक पूजी का १६% भाग पूर्वाधिकार अशो म, ७५% साधारण अशो मे तथा शेष ९% ऋण-पत्रो के रूप मे प्राप्त किया गया था ।*

औद्योगिक प्रतिभूतियों का अभिगोपन
(Underwriting of Corporate Securities)

अभिगोपन की परिभाषा एवं इसकी ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि—

श्री गर्स्टेनबर्ग (Gerstenberg) के अनुसार अभिगोपन अशो को जनता के सामने रखने के पूर्व किया जाने वाला वह अनुबन्ध है जिसमे समझौते के अनुसार कमीशन के बदले अभिगोपक ऐसे सब अशो का जो जनता द्वारा न लिए जायँ, स्वय लेने के लिये तथा आबन्टन कराने के लिए समझौता करता है ।

अभिगोपन की प्रवृत्ति का उदय १७वी शताब्दी मे जलयात्रा करने के कारण हुआ । उस समय लन्दन के प्रसिद्ध जलयान व्यापारी अधिकतर 'लाइड्स काफी हाउस' म व्यापार का आदान-प्रदान करने के लिए एकत्रित हुआ करते थे । कुछ समय बाद जलयान यात्रा की जोखिम का अन्य व्यापारियो मे विभाजन करने की प्रथा चली । इस नवीन प्रथा के अनुसार एक अनुबन्ध किया जाता था, जिसमें यह स्पष्ट लिखा होता था कि—(१) कितनी हानि का कौन भागी होगा तथा (२) कितने लाभ का कौन कितना लेगा ? ऐसे अनुबन्ध म भाग लेन वाले लोग अनुबन्ध के नीचे अपना नाम लिख देते थे । नाम नीचे लिखने की प्रथा के कारण इस पद्धति का नाम भी आगे चल कर Underwriting, अर्थात् अभिगोपन काय हो गया । हानि न होन की दशा मे जो कमीशन मिलता था उसे सब मिलकर आपस मे बाँट लेते थे ।

---

* "Industrial Enterprise in India" by N b g p ld...

प्रतिभूतियो के सम्बन्ध मे अभिगोपन शब्द का प्रयोग श्री मस्टेनबर्ग की व्याख्या के अनुसार ही होता है, जिसमे अभिगोपक कुछ निश्चित अंश बेचने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है। इस उत्तरदायित्व के लिए उसे कमीशन मिलता है, जिसे 'अभिगोपन परिव्यय' (Underwriting Commission) कहते हैं। अभिगोपन दो प्रकार का होता है। एक तो वह जिसमे अभिगोपक न बिकी हुई शेष प्रतिभूतियां को स्वयं क्रय करने का वचन देता है और दूसरा वह जिसमे वे कुल निर्गमन को प्रारम्भ में ही क्रय कर लेते है। क्रय की हुई प्रतिभूतियों को बाद मे सुअवसर देखकर वे जनता को बेच देते हैं और इस प्रकार लाभ भी कमाते हैं, अत. अभिगोपक के रहने से प्रमण्डल को अपनी प्रतिभूतियो के बिकने का पूर्ण विश्वास हो जाता है।

भारत मे अभिगोपन कार्य—

भारतवर्ष मे अभिगोपन पद्धति अधिक उन्नत दशा म नही है, क्योंकि :—

(१) अभिगोपन संस्थाओं का अभाव—अन्य औद्योगिक देशो म, विशेषकर इङ्गलैंड तथा अमरीका मे, अभिगोपन के कार्य के लिए विशेष संस्थाएं हैं, जैसे—निर्गमन गृह (Issue Houses), विनियोग प्रन्यास, विनियोग बैंक इत्यादि। ये संस्थाये औद्योगिक प्रतिभूतियो का अभिगोपन ही करती है, किन्तु हमारे देश मे प्रतिभूतिया के अभिगोपन के लिए ऐसी विशेष संस्थाये नही है। हाँ, गत कुछ वर्षों से अवश्य भारत में भी अभिगोपन का कार्य करने के लिए कुछ संस्थायें स्थापित की गई हैं, जैसे—इन्वेस्टमेन्ट कॉरपोरेशन ऑफ इण्डिया लिमिटेड, हिन्दुस्तान इन्वेस्टमेन्ट कॉरपोरेशन कलकत्ता, इन्वेस्टमेन्ट इण्डस्ट्रियल कॉरपोरेशन इत्यादि। इनके अतिरिक्त, कुछ मध्यस्थ (Brokers) भी भारत मे अभिगोपन का कार्य करते है, जैसे—सर्व श्री बाटलीवाला एण्ड कम्पनी, बम्बई, श्री नारायणदास खण्डेलवाल, सर्वश्री रीडवर्ड एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, सर्व श्री जीवनलाल पुरतापशी, बम्बई इत्यादि। मद्रास मे भी राइट एण्ड कम्पनी, कोठारी एण्ड सन्स, न्यूटन एण्ड कम्पनी तथा दलाल एण्ड कम्पनी अभिगोपन के कार्य को करते है। भारत म अभिगोपन सम्बन्धी विशेष संस्थाओं के अभाव का प्रमुख कारण यह है कि इस देश मे संयुक्त-स्कन्ध-व्यवसाय का अभी श्रीगणेश ही हुआ है। दूसरे, अभी तक विनियोग मुख्यत: उच्च श्रेणी के धनिकों से आते थे, जिनम मध्यम वर्ग को कोई स्थान नही था। आज भी इस स्थिति मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ है। आज आवश्यकता इस बात की है कि ये संस्थाये विनियोग साधनो को अपनी नीति द्वारा सुदृढ तथा सुरक्षित बनावें, जिससे मध्यम वर्ग के लोग भी इनमे अपनी राशि का विनियोग कर सकें।

(२) प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति—प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति भी अभिगोपन की उन्नति म बाधक हुई है। कोई भी अभिगोपक किसी कम्पनी की प्रतिभूतिया के अभिगोपन से पूर्व कम्पनी की आर्थिक परिस्थिति तथा व्यवस्था की जाँच करना चाहेगा, परन्तु भारतीय प्रबन्ध अभिकर्त्ता इस बात को पसन्द नही करते, क्योंकि निजी आर्थिक साधन उपलब्ध होने के कारण इस कार्य को वे स्वयं कर लेते हैं।

फिर, प्रबन्ध अभिकर्त्ता स्वय ही इतने योग्य होते हैं कि वे अभिगोपन कराये बिना ही अपनी पूँजी योजना को सफल बना लेते है। उनकी निजी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी है तथा उनको अपने ऊपर भी इतना प्रबल विश्वास है कि वे निश्चित अश पूँजी के अतिरिक्त जनता की पूँजी का अत्यधिक भाग एकत्रित कर सकते हैं।

(३) अपेक्षाकृत अधिक जोखिम—भारतवर्ष मे अन्य देशो की अपेक्षा अभिगोपन करने मे अधिक जोखिम उठानी पडती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि *यहाँ लगातार कम्पनियो के असफल होने के कारण प्रमण्डल की प्रतिभूतियो मे जनता* का विश्वास नही जमता। सुसगठित एव सुसस्थापित कम्पनियो को अपनी प्रतिभूतियो के अभिगोपन की आवश्यकता ही प्रतीत नही होती। जो कम्पनियाँ सुसचालित एव सुसस्थापित नही होती, उनकी प्रतिभूतियो के निगमन मे धोखा अधिक होता है, अतएव ऐसी प्रतिभूतियो का अभिगोपन करने के लिए कोई भी आगे नही बढता।

उपर्युक्त बाधाओ के होने पर भी अभिगोपन पद्धति का भारत मे क्रमश विकास हो रहा है। हमारे देश म अभिगोपन पद्धति के विकास का श्रेय श्री टाटा को है, जिन्होने सन् १९३७ मे सर्व प्रथम इस प्रथा का 'इन्वेस्टमेन्ट कारपोरेशन ग्राफ इन्डिया, लिमिटेड के निमाण से श्रीगणेश किया। सेन्ट्रल बक ने भी वेस्टन इण्डिया मैच कम्पनी के ३१,८६,२०० रु० की प्रतिभूतियो का अभिगोपन किया। इसके अतिरिक्त अन्य किसी बैंक का ध्यान अभी तक इस दिशा मे नही गया है। जनवरी सन १९५६ से जून सन् १९६० तक अभिगोपन की दिशा में किए हुए कार्यों का आभास निम्न तालिका से लगाया जा सकता है —

नवीन प्रतिभूतियो के अभिगोपन का ब्यौरा

(लाख रुपयो मे)

वर्ष	प्रतिभूति की प्रकृति	अभिगोपित प्रतिभूतियो की सख्या	प्रतिभूतियो की मात्रा	जनता के सम्मुख प्रस्तुत राशि	अभिगोपित राशि
१९५६	समता अश	५	२२०	१२०	९२
	पूर्वाधिकार	६	१७४	१४१	११७
	ऋणपत्र	१	२	२	२
	कुल	१२	३९६	२६३	२११
१९५७	समता अश	६	४१८	३३४	३३४
	पूर्वाधिकार	३	३३	३१	३१
	ऋण पत्र				
	कुल	९	४५१	३६५	३६५

१९ ८	समता अंश	४	२७३	१६२	१४९
	पूर्वाधिकार	४	१३८	१७८	१६८
	ऋणपत्र	५	४५८	४५८	४५८
	कुल	१३	९१२	८०२	७७५
१९५९	समता अंश	६	५६९	३७५	२६०
	पूर्वाधिकार	१०	४४३	४११	४०५
	ऋणपत्र	४	३९८	३८३	३९२
	कुल	२०	१४१०	११६९	१०५७
१९६०	समता अंश	८	९८४	८६३	४६३
(जनवरी	पूर्वाधिकार	३	३१६	२९८	२७३
जून)	ऋणपत्र	३	३७६	३१६	३७६
	कुल	१४	१६७६	११३७	११११२
कुल योग	समता अंश	२९	२४६७	१४५८	१२९८
	पूर्वाधिकार	२६	११५४	१०५९	९९४
	ऋणपत्र	१३	१२३४	१२१९	१२२८
	कुल	६८	४८४५	३७३६	३५२०

अभिगोपन से लाभ—

(१) कम्पनी को इस बात की चिन्ता नही करनी पड़ती कि उसकी प्रतिभूतियाँ कब तक व कैसे बिकेंगी। वह इस ओर से बिल्कुल निश्चित होकर अपना कार्य निरवरोध प्रारम्भ कर सकती है तथा पूँजी के अभाव मे किसी प्रकार विलम्ब नही होता। नवीन प्रमण्डलो को भी अपना कार्य प्रारम्भ करने मे लाभ होता है।

(२) प्रतिभूतियाँ न बिकने की दशा मे साख गिरने के भय से उन्हे मुक्ति मिल जाती है, क्योंकि अभिगोपक शेष प्रतिभूतियो को स्वय ही चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं।

(३) अभिगोपक अपने बहुमूल्य अनुभव का लाभ प्रमण्डलो को प्रतिभूतियो की किस्म, विशेष सुविधायें एव उनके मूल्य निर्धारण करने मे प्रदान करते हैं।

(४) अभिगोपन से नये प्रमण्डलो को ही नही, वरन् संस्थापित प्रमण्डलो को

भी लाभ होता है। उदाहरणार्थ, ऋण पत्रो के भुगतान के समय यदि पर्याप्त राशि कम्पनी के पास न हो तो नये प्रकार की प्रतिभूतियो के निर्गमन से यह कार्य सम्भव हो सकता है तथा उनके अभिगोपन करने म य सहयोग दे सकते हैं। इसी प्रकार कम्पनी के पुनर्सङ्गठन, पुनर्निर्माण आदि के समय भी नई प्रतिभूतियो का निर्गमन इनके सहयोग से सुगमतापूर्वक हो सकता है।

(५) अभिगोपन से प्रतिभूतियो का वितरण क्षेत्र भी विस्तृत हो जाता है, क्योंकि अभिगोपक विभिन्न कम्पनियो की विभिन्न प्रतिभूतियो का अभिगोपन करते हैं और उन्हे वे उसी स्थान पर बेचते हैं जहाँ वे सुगमता से खरीदी जा सकें। इसी उद्देश्य से कभी कभी प्रतिभूतियाँ प्रभागो मे बेची जाती हैं, जिससे उनको जनता सुविधा से खरीद सके। ऐसा करने से पूँजी विपणि पर अच्छा प्रभाव पडता है तथा विनियोग के लिए पर्याप्त मात्रा मे पूँजी प्राप्त हो जाती है।

(६) अभिगोपक विनियोगो को अपने प्रमण्डल की छानबीन से प्रमण्डल के उज्ज्वल भविष्य से प्रभावित करते हैं तथा उसके अंशो को सफल रीति से बेच देते है।

(७) विनियोगक की दृष्टि से भी अभिगोपन लाभदायक है, क्योकि प्रतिभूतियाँ न बिकने की दशा मे उनको जो हानि उठानी पडती, उसमे वे मुक्त हो जाते है। अभिगोपन वास्तव मे इस बात का प्रमाण है कि प्रमण्डल का भविष्य आशाप्रद है, क्योकि तभी कोई अभिगोपक इस उत्तरदायित्व को स्वीकार करेगा।

अभिगोपन से हानि—

यदि अभिगोपको की आर्थिक स्थिति अच्छी है तो अभिगोपन पद्धति से किसी भी प्रकार की हानि की सम्भावना नही रहती, क्योकि बडी छानबीन के पश्चात् वे अभिगोपन का उत्तरदायित्व अपने सिर पर लेते हैं, अतएव जो आक्षेप उनके विरुद्ध किए जाते है (जैसे, अधिक कमीशन लेना अथवा अंशो के अभिगोपन मे यह समझना कि कम्पनी निर्बल एव दोषपूर्ण है) वे वास्तविक न होते हुए काल्पनिक है।

(III) जन-निक्षेप

(Puplic Deposits)

भारतीय कम्पनियो की अर्थ पूर्ति के लिए जन-निक्षेप स्वीकार करना भी इस देश के औद्योगिक अर्थ व्यवस्था की एक अनोखी विशेषता रही है। जनता द्वारा कम्पनियो मे निक्षेप इसलिए रखे जाते थे कि बैंकिंग विकास की प्रारम्भिक स्थिति मे जनता का विश्वास बैंको मे इतना नही था जितना कि कम्पनियो मे। अर्थ पूर्ति की यह पद्धति बम्बई और अहमदाबाद की सूती वस्त्र मिल कम्पनियो मे अधिकता मे पाई जाती है,

जिनकी कुल पूँजी का क्रमश. ११% तथा ३६% जन निक्षेपो से आते थे।* ... यह है कि जिन लोगो ने इन स्थानो मे उद्योग प्रारम्भ किए व महाजन आदि थे, जिनमे जनता का बडा विश्वास था, इसलिए वे अपनी बचत की राशि उन्हे ब्याज पर सौंप देते थे। एक बडा आकर्षण तो उन्हे (जमा करने वालो को) प्रबन्ध अभिकर्त्तृत्व वर्तन मे भाग मिलने का था। यदि प्रबन्ध अभिकर्त्तागण अच्छी ख्याति के हुए तो वे केवल ब्याज पर ही निक्षेप प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार प्राप्त की हुई पूँजी की लागत ऋण-पत्रो पर प्राप्त की हुई पूँजी से कही अधिक मितव्ययी बैठती है और सबसे बडी बात तो यह है कि किसी प्रकार का प्रभार इसमे उदय नही होता, क्योकि निक्षेपको को अन्य अल्पकालीन ऋणदाताओ के समान अधिकार होते हैं। बम्बई राज्य के प्रमण्डल केवल अपनी कार्यशील पूँजी का भाग ही नही, वरन् विस्तार एव विकासयोजनाओ की अर्थ पूर्ति भी जन निक्षेपो के द्वारा करते है। निम्नलिखित आँकडो से स्पष्ट है कि अहमदाबाद का सूती वस्त्र व्यवसाय जन निक्षेपो पर काफी सीमा तक निर्भर है :—

पूँजी का स्रोत	कुल पूँजी का प्रतिशत	
	बम्बई	अहमदाबाद
अंश पूँजी	(१२१४ ला० रु०) ४१%	३१% (३४० ला० रु०)
ऋण-पत्र	(२३८ ला० रु०) १०%	१% (८ ला० रु०)
प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ से	(५३२ ला० रु०) २१%	२४% (२६४ ला० रु०)
जन-निक्षेपो से	(२७३ ला० रु०) ११%	३६% (४२६ ला० रु०)
बैंको से	(२२६ ला० रु०) ६%	४% (४२ ला० रु०)

उपर्युक्त आँकडो से यह स्पष्ट है कि बम्बई का वस्त्र-व्यवसाय जन निक्षेपो पर कम अनुपात मे निर्भर रहता है। भारत के अन्य औद्योगिक केन्द्रो मे यह पद्धति नही पाई जाती है।

जन निक्षेपो की ब्याज की दर कम्पनियो एव प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ की साख एव स्थायित्व की दृष्टि से भिन्न-भिन्न कम्पनियो मे भिन्न-भिन्न होती है। शुरू मे निक्षेप ६ से १२ माह की अवधि के लिए रखे जाते थे, किन्तु बाद मे उनका नवकरण होता रहता था। साधारणत ब्याज की दर ४½% से ६½% तक रहती है। जिन कम्पनियो की साख अच्छी होती है वे कम ब्याज पर भी निक्षेप आकर्षित करने मे सफल हो जाते हैं, किन्तु मन्दी के समय निक्षेप कम हो जाते है।

निक्षेपो से लाभ एव हानि—

प्रमण्डल को लाभ—

(१) अंशो अथवा ऋण पत्रो के निर्गमन मे परिव्यय एव कई वैधानिक

* Report of the Central Banking Enquiry Committee, 1931.

कार्यवाहियाँ करनी पडती हैं, किंतु निक्षेपो की प्राप्ति एव उनका शोधन एक सीधी सादी बात है।

(२) निक्षेप के रूप मे धन प्राप्त करने के कारण अश पूँजी कम रखी जा सकती है। परिणामस्वरूप अशधारियो को ऊँचे लाभाश दिए जा सकते हैं।

(३) यदि जन-निक्षेप लम्बी अवधि के लिए हो तो कम्पनी को ऋण-पत्र निर्गमन करने की आवश्यकता नही रहती । जन-निक्षेप ही ऐसी दशा मे ऋण-पत्र का काम निकाल देते हैं। सबसे बडा लाभ तो यह होता है कि कम्पनी को अपनी सम्पत्ति रहन अथवा बन्धक के रूप मे नही रखनी पडती, क्योंकि निक्षेपो के लिए इनकी कोई आवश्यकता नही पडती।

(४) कम्पनी की पूँजी-कलेवर लोचदार (Elastic) रहता है, क्योंकि वह निक्षेप लेने के कारण बन्धक आदि से मुक्त रहती है। यदि उसमे पूँजी की अधिकता हो जाती है तो अधिक निक्षेप लेना या वर्तमान निक्षेप का नवकरण अस्वीकार कर सकती है। दूसरे, आवश्यकता के समय पूँजी बढाने के लिए ऋण आदि का भी निर्गमन सुगमता से किया जा सकता है।

(५) अगर कम्पनी को अधिक लाभ हो रहे है तो लाभाश न बढते हुए लाभो का कुछ भाग सचित कोष मे रखा जा सकता है, जिससे उसकी भावी विस्तार योजनाओ को बिना नवीन पूँजी के कार्यान्वित किया जा सकता है।

निक्षेपको को लाभ—

निक्षेपको को वे ही लाभ होते हैं जो ऋण-पत्रधारियो को होते है। एक बात यह अवश्य है कि ऋण-पत्रधारियो की भाँति निक्षेपको को अपने विनियोग की सुरक्षा नही रहती। प्रमण्डल के समापन की दशा मे ये निक्षेपक कम्पनी के अरक्षित-लेनदार (Unsecured Creditors) की स्थिति मे होते है।

निक्षेपों से हानियाँ—

(१) निक्षेपो की सबसे बडी हानि यह है कि मन्दी अथवा आपत्ति के समय म जनता भयभीत होकर उनका वापिस माँग लेती है और ऐसी परिस्थिति मे कम्पनी को बडी हानि उठानी पडती है तथा अर्थ सकट का सामना करना पडता है, अतएव इन्हे कभी-कभी 'अच्छे समय का साथी" कहा जाता है। ये आवश्यकता के समय के साथी (Friends in need) नही है और इसीलिए पूर्णत. इन पर निभर नही रहा जा सकता।

(२) सरलता एव न्यून ब्याज पर ऋण प्राप्त किये जाने की सुविधा से परिकाल्पनिक व्यापार (Speculation) को प्रोत्साहन मिलता है।

इसी मे कम्पनियाँ अति व्यवसाय के प्रलोभन में फँस जाती हैं, जिससे कम्पनियों एव निक्षेपको तथा अंशधारियो, सभी को हानि उठानी पड़ती है।

(३) जब अल्पकालीन निक्षेप स्थाई एव दीर्घकालीन कार्यों मे लगा दिये जाते हैं, तो सम्भव है कि कम्पनी उनका दायित्व-तिथि (Due-Date) पर शोधन न कर सके। ऐसी दशा मे प्रमण्डल की साख गिर जायगी। जनता शकाकुल हो उठेगी और फिर अंशो अथवा बैंको मे भी निक्षेप के रूप मे अपना धन विनियोग करने मे हिचकेगी।

(४) इस साधन के कारण अच्छी औद्योगिक प्रतिभूतियों की साधारण विनियोग के लिए कमी हो जाती है।

यद्यपि कुछ प्रमण्डलो ने इस साधन द्वारा अर्थ-पूर्ति करके हानि उठाई है, फिर भी अधिकाश प्रमण्डल इससे लाभान्वित भी हुए है। वास्तव मे साधन की सफलता प्रमण्डल के प्रबन्धको के ऊपर ही बहुत कुछ निर्भर करती है। जन-निक्षेप का उपयोग प्रवर्तको को समुचित रूप से करना चाहिये, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति दुर्बल न हो जाय।

(IV) बैंकों से ऋण लेना (Bank Loans)

सामान्यतः कम्पनी की प्रारम्भिक स्थायी पूँजी अश एव ऋण-पत्रो के निर्गमन से ही प्राप्त करनी चाहिए। आदर्श व्यवस्था तो वह है, जिसमे न्यूनतम कार्यशील पूँजी भी इन्ही साधनो द्वारा प्राप्त की जाय। हाँ, न्यूनतम कार्यशील पूँजी के अतिरिक्त, भावी पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताओ को बैंक से ऋण लेकर पूरा किया जा सकता है। कम्पनी जिन बैंको से आर्थिक सहायता प्राप्त करती हैं, वे प्रायः दो प्रकार के होते हैं—(क) व्यापारिक बंक और (ख) औद्योगिक बैंक। भारत मे जितने भी सयुक्त स्कन्ध बैंक है, वे सभी व्यापारिक कार्यों के लिये ही ऋण देते हैं, औद्योगिक कार्यों के लिये नही। भारत मे अभी तक ऐसा कोई भी औद्योगिक बैंक नही है जो इस अर्थ की पूर्ति कर सके, अतः औद्योगिक कार्यों के हेतु औद्योगिक बैंक की स्थापना अति आवश्यक है। इस बात की सिफारिश औद्योगिक कमीशन तथा 'बैंक इन्क्वायरी कमेटी' ने भी की है।

व्यापारिक बैंक लम्बी अवधि के लिए उद्योगो को ऋण दे भी नही सकते, क्योंकि अल्पकालीन निक्षेपो से दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना सुदृढ बैंकिंग सिद्धान्तो के विरुद्ध होता है, अतएव भारतीय बैंक कम्पनियो को केवल कार्यशील पूँजी अल्पकालीन ऋणो द्वारा देते रहे है, किन्तु अल्पकालीन ऋण भी विचित्र शर्तों पर दिया जाता है। वे शर्त निम्नलिखित हैं :—

बैंक-ऋण की कठिन शर्तें—

(१) बैंक कम्पनी के व्यापार में लगे हुए स्टॉक का अधिकाश भाग रहन या बन्धक के रूप मे रखकर ऋण दिया करती है। रहन तथा बन्धक (Pledge and

Hypothecation) मे अन्तर है। जब किसी कम्पनी का स्टॉक रहन किया जाता है तो वह ऋण लेने वाली कम्पनी के गोदामो मे ही एकत्रित रहता है। कम्पनी को अपने स्टॉक का विवरण निश्चित अवधि पर बैंक को भेजना पडता है। बन्धक रखने की दशा मे स्टॉक बैंक की सुरक्षा मे रखना पडता है और जिन गोदामो मे वह एकत्रित होता है, उन पर बैंक का नाम डाल दिया जाता है तथा कम्पनी को उससे कोई सरोकार नही रहता। स्पष्ट है कि बन्धक की शर्त कितनी कठिन है, अत कोई भी कम्पनी अपने स्टॉक को रहन अथवा बन्धक के रूप मे रखना पसन्द नही करती, क्योंकि इससे कम्पनी की साख एव प्रतिष्ठा पर बुरा प्रभाव पडता है।

(२) जब किसी कम्पनी के स्टॉक को रहन करके कोई बैंक ऋण दिया करती है तो वह ऋण लेने वाली कम्पनी से एक प्रतिज्ञा-पत्र लिखवाती है, जिस पर कम्पनी तथा उसके प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के हस्ताक्षर होते है। अगर कम्पनी का स्टॉक बैंक के पास बन्धक के रूप मे रखा जाता है तो प्रबन्ध-अभिकर्त्ता की वैयक्तिक प्रतिभूति नही ली जाती है।

(३) ये ऋण प्रारम्भ मे प्राय १२ माह के लिये ही दिये जाते हैं, बाद मे उनका नवकरण करना बैंक की इच्छा पर निर्भर करता है।

(४) ब्याज की दर ऋण लेने वाले प्रमण्डल की साख के अनुसार कम अथवा अधिक होती है। जो कम्पनी सुव्यवस्थित होती है, उससे तो इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की दर पर ही ब्याज लिया जाता है, किन्तु यदि किसी कम्पनी की दशा अच्छी नही होती तो उससे ये बैंकें १% या २% अधिक ब्याज लिया करती हैं।

(५) अगर कोई रोकड ऋण (Cash Credit) लेना है तो ये बैंकें लिये हुये ऋण का लगभग आधा ब्याज के रूप मे देने के लिए विवश करती हैं, जोकि अत्यन्त कठिन शर्त है।

(६) ये बैंकें बिना किसी प्रतिभूतियो के ऋण नही देती। यदि प्रतिभूति के रूप मे रखा हुआ माल निर्मित माल है तो लगभग ३०% का अन्तर ऋण राशि एव माल के मूल्य मे रखते है, किन्तु निर्मित माल न होने की दशा मे यह अन्तर और भी अधिक हो जाता है।

अस्तु स्पष्ट है कि बैंको से ऋण प्राप्त करने मे भारतीय प्रमण्डलो को कितनी असुविधाओ एव कठिनाइयो का सामना करना पडता है। पुनर्वित्त निगम की तीसरी वार्षिक व्यापक सभा म अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए रिजर्व बैंक के गवर्नर श्री एच० वी० आर० आयगर (H. V R Iengar) ने १३ मार्च सन् १९६१ को यह विचार प्रगट किए कि आगामी कुछ वर्षो तक भारतीय बैंक स्थायी सम्पत्तियो के अर्थ प्रबन्धन म योग नही दे सकती। निम्न रीति से बैंक उसकी सहायता कर सकती हैं :—

बैंक सहायक कैसे हो ?—

(१) **जर्मन बैंक का आदर्श—**वर्तमान व्यापारिक बैंक जर्मनी के व्यापारी

अधिकोषों की तरह उद्योगों को आर्थिक सहायता कर सकती हैं। जर्मनी में कम्पनी तथा बैंक के बीच चल लेखा (Current A/c.) द्वारा व्यापार होता है, जिसका सन्तुलन दैनिक न होकर सामयिक, विशेषतः षटमासिक, होता है, किन्तु इन चल लेखों में तथा भारतीय बैंकों में पाये जाने वाले प्रचलित चल लेखा में काफी अन्तर है। वहां दोनों के बीच पहले से ही निश्चित हो जाता है कि—(अ) उद्योग अधिक से अधिक कितना ऋण बैंक से ले सकेगा, (ब) लिया हुआ ऋण कितनी अवधि के भीतर वापिस करना होगा, (स) लिए हुये ऋण की प्रतिभूति क्या होगी, तथा (द) अन्य शर्तें क्या होंगी। जो राशि बैंक से मिलती है वह कार्यशील पूंजी के रूप में ही प्रयोग की जानी चाहिये, ऐसा अनिवार्य नहीं होता। उस ऋण-राशि का उपयोग उद्योग के विस्तार के लिये भी किया जा सकता है। नवीन उद्योग को प्रारम्भ करने के लिए जिस अंश पूंजी की आवश्यकता होती है, उसका अधिकांश भाग भी उन्हीं अधि-कोषों द्वारा दिया जाता है। यदि कोई एक संस्था सम्पूर्ण भार का नहीं सँभाल पाती तो इस प्रकार की अनेक संस्थाएँ मिलकर उत्तरदायित्व को अपने ऊपर ले लेती हैं। उनके इस प्रकार के संगठन को कन्सोरट पद्धति (Consortium Mode') कहते है। इस कार्य को करने के लिये बैंक अपना एक पृथक उद्योग विभाग रखती थी, जिसकी विनियोग पूंजी भी पृथक रखी जाती थी। इस विभाग के संचालन के लिए तान्त्रिक सलाह देने के हेतु एवं औद्योगिक सम्पत्ति का मूल्यांकन करने के लिये विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती थी।

उद्योगों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रखने के लिये बैंक अपने प्रबन्धक अथवा उनके अन्य प्रतिनिधि औद्योगिक प्रमण्डल की संचालन समिति में भेजती थी, जिससे उनके कार्यों का नियन्त्रण होता था तथा बैंक भी निश्चिन्त हो जाती थी कि उनकी ऋण राशि का अपव्यय नहीं हो रहा है।

(२) व्यापारिक बैंक कुछ ऐसे निश्चित राशि के अंशों का निर्गमन करें, जिसकी पूंजी से केवल उद्योग को ही आर्थिक सहायता दी जाय।

(३) उदार नीति का पालन हो—यद्यपि प्रतिभूति की प्रकृति एवं उसकी यथेष्ठता के निर्णय करने का अधिकार पूर्ण रूप से बैंकों को ही है, फिर भी उन्हें कुछ उदार नीति का पालन करना चाहिये। यह जर्मन बैंकों की नीति का रहस्य था, जिसे वे औद्योगिक कम्पनियों के लिये उपयोग में लाती थी। बैंकों को चाहिये कि वे औद्योगिक प्रमण्डलों को आर्थिक सुविधाएँ वैयक्तिक साख पर भी दिया करें, जिससे उनको कार्यशील पूंजी मिलती रहे, क्योंकि वे तरल सम्पत्ति की प्रतिभूति नहीं दे सकते।

(४) जिन बैंकों का औद्योगिक प्रमण्डलों से सम्बन्ध रहता है, वे अपनी प्रबन्ध व्यवस्था में ऐसे व्यक्ति रखें जो सामान्य औद्योगिक प्रबन्ध में पूर्ण ज्ञान रखते हों। इससे औद्योगिक संस्थाओं से व्यवहार रखने में सरलता रहेगी।

(५) जर्मन बैंकों की भांति अपने ग्राहक प्रमण्डलों से निकट सम्बन्ध स्थापित

करने के लिए वे अपनी प्रबन्ध समिति का एक सदस्य उनकी पर्यवेक्षण समिति (Board of Supervisors) में अपने प्रतिनिधि के रूप में रखें। अर्थ-प्रबन्धन के विषय में अनुभव के कारण ये प्रतिनिधि प्रमण्डलों के लिये तो हितकर सिद्ध होंगे ही, सम्बन्धित बेंक को भी प्रमण्डल की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराने और इस प्रकार आशङ्काजनित हानि की सम्भावनाय कम करने में सहायक होंगे।

(६) बेंक प्रमण्डलों को उनके नवीन पूँजी प्राप्त किये जाने वाले अंश एवं अभिगोपन ऋण-पत्रों के निर्गमन में जर्मन बेंक की भांति निर्गमन के कुल अथवा कुछ भाग को स्वयं स्वीकार करके और बाद में सुअवसर उपस्थित होने पर उन्हें जनता को सौंप करके सहायता कर सकती हैं। इसमें अपनी हानि के भय को कम करने के लिए कई बेंक परस्पर संयुक्त रूप से कार्य का बीड़ा उठा सकती हैं। ऐसी बेंकों में सामान्य बेंकिंग विभाग के अतिरिक्त एक विनियोग विभाग और हो, जिसमें उनके निजी अर्थ-साधनों का कुछ सीमित भाग समय-समय पर ऐसे कार्यों के किये जाने पर लगाया जाय। निश्चय ही इन कार्यों को करने में बड़ी विशाल पूँजी एवं औद्योगिक अनुभव की आवश्यकता होगी। प्रायः बड़ी-बड़ी बेंक भी इस कार्य को करने में हिचकती हैं। कनाडा आदि देशों में तो केवल यही काम करने वाली बेंक पृथक स्थापित हो गई हैं।

(७) प्रत्येक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र में बेंकों की एक-एक स्थानीय सलाह-समिति होनी चाहिये। ये समितियाँ केवल अपनी सम्बन्धित कम्पनियों की अर्थ-पूर्ति करने में सहायता प्रदान नहीं करती, वरन् बेंकों के अनुदान एवं अव्यवहारिक बर्ताव के संशय को भी अपने ऋण लेने वालों के मस्तिष्क से निकाल देती हैं।

दूसरा सुझाव : औद्योगिक अधिकोषों की स्थापना—

यह तो निश्चय है कि उदार नीति के उपरान्त भी व्यापारिक बेंक ही अकेले कम्पनियों की अर्थ पूर्ति नहीं कर सकती, क्योंकि उनका औद्योगिक क्षेत्र का ज्ञान सीमित होता है तथा औद्योगिक सहायता के लिए एक बड़ी मात्रा में स्थाई पूँजी की आवश्यकता होती है। व्यापारिक बेंकों में इतनी सामर्थ्य नहीं होती कि वे देश की औद्योगिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकें, अतएव अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋणों की समस्याय भिन्न भिन्न होने से कार्य-क्षमता की दृष्टि से यह उत्तम होगा कि पृथक रूप से औद्योगिक बेंकों की स्थापना की जाय। आजकल भारत में इस प्रकार की केवल एक ही संस्था है, जो गत २५ वर्षों से काम कर रही है और वह है "कनाडा इन्डस्ट्रियल एण्ड बेंकिंग सिन्डीकेट लिमिटेड, उदीपी।" यह भी स्पष्ट है कि केवल एक अधिकोष से सम्पूर्ण देश की औद्योगिक-अर्थ आवश्यकतायें कैसे पूरी हो सकती हैं, अतः नवीन औद्योगिक अधिकोषों की आवश्यकता है, जिनके पास दीर्घकालीन विनि-योग के लिए पर्याप्त साधन हो। इन अधिकोषों को केवल औद्योगिक अर्थ सुविधायें ही देनी चाहिये, जिससे व्यापारिक बेंकिंग क्षेत्र औद्योगिक-बेंकिंग क्षेत्र से भिन्न हो एवं उनकी क्रियायें भी पृथक-पृथक हों।

(V) आय का पृष्ठ विनियोग (Ploughing Back its Income)

इस पद्धति के अनुसार कम्पनी अपनी सम्पूर्ण आय का वितरण लाभांश देने में न करती हुई उसका एक अंश विभिन्न विधियों में रखती जाती है, जैसे—सञ्चित प्रणीवि, नवकरण प्रणीवि, पुनः सस्थापन प्रणीवि आदि। इसी प्रकार अंशधारियों की जानकारी के बिना वह गुप्त-कोष (Secret Reserve) भी बना सकती है, जिसके अनुसार यन्त्र आदि की घिसावट पर अधिक अवमूल्यन किया जाता है। इन विभिन्न विधियों की राशि से वे अपनी विकास योजनाओं की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। यह प्रमण्डल की आर्थिक दृढ़ता के लिए अधिक लाभकर है, क्योंकि ऋण विकास योजनाओं की पूर्ति करने से प्रमण्डल पर ब्याज का बोझ बढ़ता है और यदि इन ऋणों का भुगतान अकल्पित समय माँगा जाय तो कम्पनी की आर्थिक स्थिति शिथिल हो जाती है, अतः अच्छी एवं पूर्व स्थापित कम्पनियों के लिए यह पद्धति अत्यन्त उपयोगी है।

(VI) प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं से ऋण लेकर
(Loans from Managing Agents)

भारत में औद्योगीकरण के विकास में प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का विशेष स्थान रहा है। प्रशुल्क आयोग (१९४९-५०) ने प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का महत्त्व स्वीकार करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि औद्योगीकरण के प्रारम्भिक दिनों में जबकि न तो साहस और न पूँजी ही प्राप्त थे, प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने दोनों ही को प्रदान किया। "जहाँ तक अर्थ पूर्ति का सम्बन्ध है प्रबन्ध अभिकर्त्ता न केवल प्रारम्भिक स्थायी पूँजी का वरन् पुनर्संङ्गठन, विकास तथा आधुनिकीकरण के हेतु स्थायी व कार्यशील पूँजी का भी प्रबन्ध करते हैं। वे अर्थ प्रबन्ध निम्न ढङ्गों में करते हैं:—

(अ) वे स्वयं कम्पनी के अंशों व ऋण-पत्रों को ले लेते हैं और अपने मित्रों तथा नातेदारों को भी खरीदवा देते हैं।

(आ) जिस समय बैंक से ऋण लेने की वार्ता चलती है तो कम्पनी द्वारा माँगे हुए ऋण के लिए प्रतिभूति प्रदान करते हैं।

(इ) उनकी ख्याति के बल पर प्रमण्डल अपनी स्थायी पूँजी का बहुत बड़ा भाग जनता में धरोहर के रूप में प्राप्त कर लेता है।

(ई) सङ्कटावस्था में, जबकि अन्य ढङ्गों से उसे सहायता मिलना सम्भव नहीं, इनका आगे आना प्रशंसनीय है। कई उदाहरण ऐसे हैं, जिनमें प्रमण्डल टूटने से केवल इस कारण बच गये कि उन्होंने इनको समय पर आर्थिक सहायता दे दी और उनके पुनर्संङ्गठन में मदद की।

(उ) नई कम्पनी जनता को अपने अंश व ऋण-पत्र खरीदने के लिए प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के नाम के बल पर ही आकर्षित कर पाती हैं। किसी अनुभवी एवं ख्याति प्राप्त प्रबन्ध अभिकर्त्ता का नाम जब कम्पनी के

प्रविवरण मे दिया जाता है तो उसमे जनता का कम्पनी के प्रति विश्वास बढ जाता है ।

(ऊ) वे कम्पनियो के अशो और ऋण-पत्रो का अभिगोपन करते हैं । इससे कम्पनी निडर होकर कार्य आरम्भ कर सकती हैं, क्योकि निश्चित मात्रा मे अश न बिके तो यह अभाव प्रबन्ध अभिकर्त्ता स्वयं पूरा कर देंगे ।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रथा के लाभ—

भारत के औद्योगीकरण के इतिहास मे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है । इस प्रणाली के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं :—

(१) प्रवर्तन एव निर्माण—प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ ने प्रारम्भिक अनुसन्धान करके एव असुविधाओ तथा असफलताओ का सामना करते हुए अनेक सफल उद्योगो की नीव डाली थी । इनकी सहायता के बिना चाय, जूट, कपास, कोयला आदि बडे-बड़े व्यवसाय न तो स्थापित ही किये जाते और न उनकी शीघ्र उन्नति ही होती ।

(२) आर्थिक सहायता—प्रबन्ध अभिकर्त्ता विभिन्न रीतियो से, जिनका उल्लेख हम कर चुके है, कम्पनी को आर्थिक सहायता पहुचाते है । इनके व्यावसायिक जीवन और वाणिज्य जगत मे ख्याति के बल पर जनता को नव निर्मित कम्पनियो से सम्पर्क स्थापित करने मे सुविधा रहती है ।

(३) वैज्ञानीकरण एव सूत्रीकरण—इन सेवाओ के अतिरिक्त प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने अन्तर्गत कम्पनियो की व्यवस्था मे एकसूत्रता लाते है, जिससे उसमे मितव्ययिता होती है और कार्यक्षमता बढती है । प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की व्यावसायिक सस्थाये होती हैं, जिनके विशिष्टीकरण के लिए वे अपने कार्यालय मे अलग-अलग विभाग रखते है, जिससे उनके अन्तर्गत जितनी कम्पनियाँ हैं, उनको उनकी विशेष योग्यता का लाभ हो सके । व्यक्तिगत रूप मे कम्पनियो के लिए यह सम्भव नही होता कि विशिष्ट योग्यता वाले अनुभवी व्यक्तियों की नियुक्ति कर सकें, किन्तु प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ के माध्यम से न्यूनतम व्यय पर उन्हे विशेषज्ञो की सेवा का लाभ प्राप्त हो जाता है । दूसरे, पूरक व्यवसायो की दशा मे एक व्यवसाय का माल दूसरे व्यवसाय मे सुविधा के साथ खप जाता है । तीसरे, प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपना क्रय-विक्रय विभाग भी रखते है, जिससे उनके प्रबन्ध मे जो व्यवसाय हैं, उनकी आवश्यकताओ का क्रय तथा विक्रय इसी विभाग के द्वारा सुगमता से हो जाता है ।

(४) विशेषज्ञो द्वारा सहायता—प्रत्येक प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने यहाँ कुशल एव अनुभवी विशेषज्ञ रखता है । इस प्रकार थोडे से व्यय मे ही सरलतापूर्वक इन विशेषज्ञों का परामर्श प्राप्त हो जाता है, जिनसे समय-समय पर व्यवसाय को अत्यन्त लाभ होता है ।

(५) विनियोगो की सुरक्षा—प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपनी ख्याति का बड़ा ध्यान रखते हैं और जहाँ तक बन पड़ता है, इस पर कलक नही लगने देते, इसलिए

जनता तथा विनियोगिताओं को यह विश्वास हो जाता है कि प्रतिष्ठित प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के प्रबन्ध में जो कम्पनियाँ हैं, उनमें उनका धन सुरक्षित रहेगा।

(६) प्रतिभूतियों का अभिगोपन—अन्य देशों की भाँति हमारे देश में औद्योगिक प्रतिभूतियों का अभिगोपन करने के लिए विशेष संस्थाओं का अभाव है, अतः परिस्थितिवश यह कार्य बिचारे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को ही करना पड़ता है, इसलिए इनकी इन सेवाओं के परिणामस्वरूप कम्पनी के अंश ऋण-पत्रादि शीघ्र बिक कर उन्हें पूँजी की प्राप्ति हो जाती है तथा जनता के निष्क्रिय धन का भी उद्योगों में सदुपयोग हो जाता है।

(७) प्रतिस्पर्द्धा का अन्त—एक ही प्रबन्ध अभिकर्त्ता के नियन्त्रण में रहने से कम्पनियों की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा का उन्मूलन हो जाता है, अतः उनमें सहयोग की भावना बढ़ती है, जिससे प्रबन्ध एवं व्यवस्था में मितव्ययिता आती है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति के दोष—

उपरोक्त गुणों के होते हुए भी प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति को दोषरहित नहीं कहा जा सकता। इस प्रणाली के प्रमुख दोष निम्नांकित थे :—

(१) आर्थिक प्रभुत्व—प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति में प्रायः सभी उद्योगों के अन्तर्गत औद्योगिक प्रतिफल की अपेक्षा आर्थिक प्रभुत्व की ही महत्ता दिखाई देती है। इसका कारण यह है कि इन संस्थाओं में मुख्यतः पूँजीपति ही होते हैं; जो तान्त्रिक योग्यता उतनी नहीं रखते, जितनी आर्थिक सहायता प्रदान कर सकते हैं। रोते हुए बच्चे को पुचकारने की भाँति ये लोग संकट की अवस्था में कम्पनी को केवल आर्थिक सहायता देकर उनमें पुनर्जीवन का संचार कर देते हैं, परन्तु उस कम्पनी की सच्ची प्रगति के लिये जिस तान्त्रिक एवं व्यापारिक योग्यता की आवश्यकता होती है, उसकी पूर्ति ये नहीं कर पाते। फलतः कम्पनी की व्यवस्था में अनेक दोष आ जाते हैं। इस आर्थिक प्रभुत्व का यह परिणाम होता है कि यदि किसी समय कम्पनी अर्थ संकट के दलदल में फँस जाती है और इन लोगों के पास भी पर्याप्त धन नहीं होता तो ऐसी संकटपूर्ण परिस्थितियों में प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने अधिकार दूसरे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को, जिनके अच्छे आर्थिक साधन होते हैं, सौंपकर स्वयं अलग हो जाते हैं। ऐसा करते समय वे अंशधारियों के हितों की लेशमात्र भी चिन्ता नहीं करते।

(२) अंशों की अधिक परिकल्पना—इस प्रणाली के अनुसार अनेक स्कन्ध विपणियों में, विशेषकर बम्बई में कम्पनियों के अंशों में अत्यधिक परिकल्पना पाई जाती है। ये लोग प्रायः कम्पनी या अंशधारियों के हितों की ओर ध्यान न देते हुए सट्टेबाजी में व्यस्त हो जाते हैं। अपने हित के लिये कम्पनी के धन की बलि चढ़ा देते हैं, जिससे कभी-कभी कम्पनी को महान् आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है।

(३) संचालकीय नियन्त्रण की शिथिलता—अभी तक संचालकों की नियुक्ति में प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का बहुत बड़ा हाथ रहता है, अतः यद्यपि कम्पनी की व्यवस्था का समस्त भार संचालकों पर ही होता है और उन्हीं को प्रबन्ध नीति का निर्धा-

रण करना चाहिये, किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि सचालकगण कठपुतली की भाँति नाचते हैं और इनको नचाने वाले हैं परदे के पीछे कार्य करने वाले प्रवन्ध अभिकर्त्ता।

(४) अन्तर-विनियोग—प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ ने अपने नियन्त्रण के अन्तर्गत आधिक्य राशि को दूसरी कम्पनियो को ऋण देने मे भी लगाया। यदि दोनो ही कम्पनियो की आर्थिक स्थिति अच्छी होती तब तो इसमें कोई हानि नही थी, किन्तु विपरीत परिस्थिति मे यदि अच्छी स्थिति की कम्पनी का कोष एक दुर्बल कम्पनी को दे दिया जाय तो इसने अच्छी स्थिति वाली कम्पनी को हानि उठानी पडती है।

(५) अयोग्य व्यवस्था—प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति के अन्तर्गत कौटुम्बिक अनुशासन के कारण व्यावसायिक सगठन मे स्थिरता आ जाती है। व्यवसाय मे कार्य-कुशल व्यक्तियों का प्रवेश रुक जाता है।

(६) शोषण—प्रबन्ध अभिकर्त्ता विभिन्न ढङ्गों से कम्पनियो का शोषण करते रहते हैं :—प्रथम तो, इन लोगो को कम्पनी की व्यवस्था सम्बन्धी समस्त आन्तरिक बातो का ज्ञान रहता है, जो कि अशधारियो को नही होता, अतः वे आन्तरिक व्यवस्था मे ऐसा परिवर्तन करते है कि जिससे केवल इनको ही लाभ होता है, अश-धारियो को तो उसकी हवा भी नही लगती। अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए ही ये लाभाश की दर कम या अधिक करते रहते हैं। दूसरे प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने पारिश्रमिक के लिए जो अनुबन्ध करते हैं वे अनुचित एव न्यायविरुद्ध होते हैं। ये निम्न प्रकार के विभिन्न रूपो मे पारिश्रमिक लेते रहते हैं—व्यक्तिगत भत्ता, उत्पादन पर कमीशन, कच्चे माल के क्रय पर कमीशन, निर्मित माल के विक्रय पर कमीशन, लाभ पर कमीशन, अन्य विशेष कमीशन तथा कार्यालय भत्ता आदि। तीसरे, कभी-कभी ये लोग कम्पनी के धन को भी व्यक्तिगत कार्यों मे प्रयोग कर लेते है। चल लेखे की चाल द्वारा ये लोग कम्पनी का धन पर्याप्त मात्रा मे ऋण लेकर अपना काम चलाया करते है। चौथे, प्रबन्ध अभिकर्त्ता बहुधा कम्पनी के लाभ को लाभाश के रूप मे वितरण न करके कम्पनी के कार्यो मे लगा देते है और अन्य लोगो को दिखाने के लिए कम्पनी की कार्यशीलता बढ जाती है।

(७) किन्ही-किन्ही प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ ने अपने दिये हुए ऋण को ऋण-पत्रो मे परिवर्तित कर लिया और इस प्रकार सस्थायें उनके हाथ मे पहुँच गई। बेचारे अशधारियो की वह पूँजी, जो उन्होने कम्पनी मे लगाई थी, उनके हाथ मे चली गई।

(८) कम्पनियो की सख्या मे लगातार वृद्धि से प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ की सख्या मे भी बरसाती नदी के पानी की भाँति वृद्धि होने लगी है। नये प्रबन्ध अभिकर्त्ता ग्रह पुराना की भाति अनुभवी, योग्य और साधन सम्पन्न भी नही है, जो सेवायें कर सकें, जैसा कि इस पद्धति के अन्तर्गत अब तक होती रही है।

कम्पनी अधिनियम, १९५६ के अन्तर्गत प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ की कुप्रथाओ को बहुत कुछ नियन्त्रित कर दिया गया है। अब आशा है कि भविष्य मे वे राष्ट्र के विकास मे अधिक सक्रिय योगदान कर सकेंगे।

अध्याय १४

औद्योगिक अर्थ-निगम

(Industrial Finance Corporation)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—

भारत मे औद्योगिक संस्थाओ को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए विशिष्ट संस्थाओ का अभाव बहुत दिनो से रहा है। इस अभाव का अनुभव सबसे पहले सन् १६१८ के औद्योगिक आयोग ने किया, जिसने अपनी रिपोर्ट मे देश के उद्योगो को आर्थिक सहायता प्रदान करने की आवश्यकता पर विशेष जोर दिया था। तत्पश्चात् सन् १६३१ मे केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति ने भी देश मे बढते हुए औद्योगीकरण के लिए पूजी की आवश्यकता पर अधिक बल दिया। किन्तु दुर्भाग्यवश अथवा या कह कि विदेशी शासन की उपेक्षापूर्ण नीति के कारण इन प्रस्तावो को क्रियान्वित नही किया जा सका। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त, सन् १६४५ मे भारत सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रलेख मे इस बात का सकेत किया था कि औद्योगिक विनियोग निगमो की स्थापना के प्रश्न पर विचार किया जा रहा है। कुछ समय बाद इस पर विचार विमर्श हेतु वित्त मत्रालय ने रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया से परामर्श मागा। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने एक बिल बनाया, जिसमे औद्योगिक इकाइयो को मध्यकालीन एव दीर्घकालीन साख सुविधाएँ प्रदान करने के लिए औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation) की स्थापना के लिए सुझाव दिया। यह बिल पहले विधान सभा मे सन् १६४६ के बजट अधिवेशन मे सर आरचीडेल्ड रोलेन्डस ((Sir Archidald Rowlands) के द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला था, परन्तु अन्य विधान सम्बन्धी अधिकता के कारण ऐसा सम्भव न हो सका। कुछ समय बाद माननीय आर० के० षणमुख चैट्टी ने भारतीय ससद मे कुछ सशोधन करके औद्योगिक अर्थ निगम की स्थापना सम्बन्धी बिल को प्रस्तुत किया। २७ मार्च सन् १६४८ को गवनर जनरल से इस बिल पर स्वीकृति मिली और एक जुलाई सन् १६४८ से इस निगम का कार्य प्रारम्भ हुआ।

निगम के उद्देश्य—

निगम का मुख्य उद्देश्य उद्योगो को दीर्घ एव मध्यकालीन आर्थिक सहायता प्रदान करना है। हमारे देश के अधिकोष भी इस प्रकार की सहायता प्रदान करते

है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि निगम अधिकोषो मे प्रतियोगिता करना चाहता है अथवा उनको इस कार्य से विचलित करना चाहता है। निगम का उद्देश्य आर्थिक क्षेत्र मे अधिकोषो की सहायता करना है, जिससे ये दोनो सस्थायें मिलकर देश मे पूंजी की कमी को दूर कर उद्योगो की उन्नति मे सहायक हो। अधिकोषो का मुख्य कार्य तो उद्योग को अल्पकालीन सहायता और निगम का कार्य लम्बी अवधि के लिए या मध्यम समय के लिए आर्थिक सहायता देना है। विकास का अर्थ केवल नवीन उद्योगशालाम खोलना नही है। नई उद्योगशालाओ के स्थापन के साथ-साथ आज भारत म चालू *उद्योगो के युक्तिसगत विवेकीकरण की आवश्यकता भी है। औद्योगिक सस्थाग्रा की* प्राप्त पूंजी का लगभग सारा भाग मशीन, भूमि व अन्य औजारा के खरीदने मे ही चला जाता है और समय पर कार्यशील पूंजी की बडी भारी कमी पड जाती है, जिसका परिणाम उद्योग की सफलता के लिए घातक सिद्ध हो सकता है, इसलिए निगम का प्रधान उद्देश्य चालू व नवीन सावजनिक कम्पनियो को मध्यकालीन आर्थिक सहायता प्रदान करना है। किन्तु वे उद्योग जो बुनियादी उद्योगो की श्रेणी मे है अथवा जिनका राष्ट्रीयकरण हो चुका है, इस साख-सहायता के भागीदार नही बन सकते। *इस सम्बन्ध मे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि निगम केवल उन्ही उद्योगो को* आर्थिक सहायता देगा, जो सार्वजनिक अथवा लोक सीमित होगे अथवा जो सहकारिता के सिद्धान्तानुसार कार्य कर रहे है। यह आर्थिक सहायता केवल उन क्षेत्रो तक सीमित रहेगी, जिनम औद्योगिक अर्थ निगम लागू होता है, अतएव स्पष्ट है कि अलोक सीमित प्रमण्डल तथा साभेदारी की सस्थाये निगम द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता का लाभ न उठा सकेगी।

औद्योगिक अर्थ-निगम अधिनियम (I. F. C. Act) १६४८ का सबसे बडा *दोष यह था कि निगम केवल उन्ही औद्योगिक सस्थाओ को ऋण दे सकता था,* जो पहले से ही व्यापार कर रही हो, अर्थात् यह उन सार्थो को ऋण नही दे सकता था जो व्यापार प्रारम्भ करने वाले थे। इन दोषो को दूर करने के लिए अधिनियम मे सन् १६५५ मे कुछ सशोधन किए गए, जिनके अनुसार अब निगम नव निर्मित कम्पनियो को सहायता दे सकता है।

निगम के कार्य—

औद्योगिक अर्थ निगम अधिनियम, १६४८ की धारा २३ के अनुसार, यह निगम निम्नलिखित कार्य कर सकता है :—

(१) गारन्टी देना—औद्योगिक सस्थाओ के ऋणो पर जिसे उन्होने सार्वजनिक बाजार से लिया है और जिसके भुगतान की अवधि अधिक से अधिक २५ वर्ष है, गारन्टी दे सकता है।

(२) अभिगोपन करना—औद्योगिक सस्थाओ द्वारा निर्गमित स्टाक, अश, बान्ड या ऋण पत्रो का अभिगोपन करना, यदि इन प्रतिभूतियो का विक्रय सात वर्ष की अवधि के भीतर कर दिया जाता है।

(३) ऋण व अग्रिम देना—औद्योगिक संस्थाओं को अधिक से अधिक २५ वर्ष की अवधि के लिए ऋण तथा अग्रिम प्रदान करना और उसके द्वारा निर्गमित ऋण पत्रों को (जिनकी अवधि २५ वर्ष से अधिक नहीं है) क्रय करना।

वर्जित कार्य—

अधिनियम के अनुसार औद्योगिक अर्थ निगम निम्नलिखित कार्य नहीं कर सकता है :—

(i) अधिनियम की शर्तों के विरुद्ध जमा (Deposits) स्वीकार करना।

(ii) किसी भी सीमित दायित्व वाले अंशों अथवा स्टाक को प्रत्यक्ष रूप से क्रय करना;

(iii) सात वर्ष की अवधि के अंशों अथवा ऋण पत्रों का अभिगोपन करना;

(iv) एक करोड़ से अधिक का कर देना।

ऋण देने में सावधानी—

(१) निगम उस समय तक किसी भी ऋण की स्वीकृति अथवा अभिगोपन नहीं करता है जब तक कि उस पर प्रत्याभूति न हो।

(२) किसी भी एक औद्योगिक सार्थ को दिए जाने वाले ऋण की अधिकतम राशि ५० लाख रुपये से सन् १९५२ में एक करोड़ रुपया कर दी गई है। एक करोड़ से अधिक का ऋण केवल उसी दशा में दिया जाता है जब कि भारत सरकार ने उस पर गारन्टी दी हो।

(३) यदि ऋण लेने वाली कम्पनी ऋण का भुगतान करने में अथवा निगम द्वारा निर्धारित शर्तों के पालन करने में कोई त्रुटि करती है, तो निगम को कम्पनी के विरुद्ध उचित कार्यवाही करने, उस कम्पनी की संचालन सभा में संचालक नियुक्त करने अथवा उसके प्रबन्ध को अपने हाथ में लेने का अधिकार है। निगम को ऐसी ऋण लेने वाली कम्पनियों से भुगतान की तिथि से पूर्व भी भुगतान मांगने का अधिकार प्राप्त है।

ऋण देने की शर्तें—

अपने उद्देश्यानुसार अर्थ निगम किसी सीमित पब्लिक कम्पनी तथा सहकारी समिति को निम्न शर्तों पर ऋण दे सकता है :—

(१) ऋण मुख्यतः स्थायी एवं अचल सम्पत्ति खरीदने के लिये अचल सम्पत्ति, जैसे—भू-गृहादि, यन्त्र औजार आदि, की प्रथम रहन (First Mortgage) पर दिया जाता है। यह कम्पनी कार्यशील पूंजी के लिए कच्चे-पक्के माल के आधीन ऋण न देगी, क्योंकि यह काम व्यापारिक बैंकों का है। अर्थ निगम उनके साथ प्रतियोगिता नहीं करना चाहता।

(२) दिये हुए ऋण का समुचित प्रवन्ध एव व्यय हो रहा है या नही, इस बात को निश्चित करने के लिये ऋण लेने वाली कम्पनी के सचालको से उनकी व्यक्तिगत स्थिति मे वैयक्तिक तथा सामूहिक जमानत ली जाती है, जिससे उद्योग का प्रवन्ध समुचित रीति से हो सके।

(३) अर्थ निगम को उद्योग की सचालक सभा मे दो सचालको की नियुक्ति करने का अधिकार है, जिससे वे सचालक उद्योग के प्रवन्ध का निरीक्षण करते है तथा यह भी देखते है कि उसका प्रबन्ध अर्थ निगम के हित मे हो रहा या नही।

(४) औद्योगिक कम्पनी को उन्नतिशील वर्षों मे होने वाला लाभ लाभांश देने मे ही न बाँटा जाय, इसलिए जब तक ऋण का भुगतान न हो तब तक वह उद्योग ६% से अधिक लाभांश न दे सकेगा। हाँ, दोनो की सहमति से इस दर मे परिवर्तन सम्भव है।

(५) ऋण भुगतान की अवधि साधारणतः १२ वर्ष है, परन्तु अभी तक जो अधिकतम अवधि दी गई है वह १५ वर्ष है। इस शर्त के अतिरिक्त ऋण भुगतान की अवधि ऋण लेने वाली कम्पनी के व्यापारिक स्वरूप और उसके भविष्य के अनुसार निश्चित की जाती है।

(६) ऋण का भुगतान सामान्यत: समान प्रभागो (Equal Instalments) मे होना चाहिये, परन्तु ये प्रभाग कितने होगे, यह दोनो की सहमति से निश्चित होता है।

(७) अर्थ निगम के पास रहन रखी हुई सम्पत्ति का आग, साम्प्रदायिक कलह, विद्रोह आदि की सुरक्षा के लिये किसी अच्छे बीमा प्रमण्डल से बीमा कराना अनिवार्य है।

(८) जब उद्योग को ऋण दे दिया जाता है तो उसका उपयोग जिस कार्य के लिये ऋण लिया गया है उसी कार्य के लिये हो रहा है अथवा नही, यह देखने के लिये अर्थ निगम आवश्यक कदम उठाता है।

निगम का प्रबन्ध—

निगम का प्रवन्ध एक सचालक समिति द्वारा होता है, जिसकी सहायता के लिये एक केन्द्रीय समिति और एक जनरल मैनेजर भी होता है। सचालक समिति मे चेयरमैन सहित कुल १३ सदस्य है। ये सदस्य निम्नलिखित पद्धति से निर्वाचित अथवा मनोनीत होते हैं :—

औद्योगिक वित्त निगम की संचालक समिति

(३० जून, १९६० को)

क्रम संख्या	नाम	पद्धति
१.	श्री के० आर० के० मैनन	चेयरमैन
२.	श्री एम० सी० रॉय	बीमा कम्पनियो, विनियोग प्रन्यासो तथा अन्य वित्तीय संस्थाओ द्वारा निर्वाचित
३.	श्री सी० सी० देसाई	
४.	श्री वी० पी० वार्दे	सहकारी संस्थाओ द्वारा निर्वाचित
५.	श्री आर० एम० देशमुख	
६.	श्री एस० वी० राममूर्ती	अनुसूचित बैंको द्वारा निर्वाचित
७.	श्री एम० सी० मूथिया	
८.	श्री डा० वी० के० मदन	रिजर्व बैंक के केन्द्रीय बोर्ड द्वारा मनोनीत
९.	श्री एस० पी० वीरमणी	
१०.	श्री जी० डी० अम्बेकर	केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत
११.	प्रो० एस० के बसु	
१२.	श्री रगनाथन	
१३.	श्री ए० बक्शी	

३० जून सन् १९६० को निगम की केन्द्रीय समिति मे नीचे दिये हुए पाच व्यक्ति थे :—

क्रम संख्या	नाम	निर्वाचन पद्धति
१.	श्री के० आर० के मैनन	चेयरमैन
२.	श्री एस० सी० रॉय	निर्वाचित सचालको द्वारा निर्वाचित
३.	श्री एम० सी० मूथिया	
४.	श्री एस० पी० वीरमणी	मनोनीत सचालको द्वारा निर्वाचित
५.	रिक्त	

आजकल निगम के जनरल मैनेजर हैं श्री एच० वी० वेन्कटा सुब्बिया । श्री डी० आर० मदोक इसके सेक्रेटरी हैं । श्री ज्वालाप्रसाद चोपडा इसके वैधानिक सलाहकार एव रिजर्व बैंक व स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया इनके बैंकर्स है ।

निगम का मुख्य कार्यालय नई दिल्ली मे एव शाखा कार्यालय बम्बई, कलकत्ता व मद्रास मे हैं । औद्योगिक अर्थ निगम अधिनियम सचालक-सभा के सदस्यो से यह आशा करता है कि वे उद्योग, व्यापार व जनहित के सिद्धान्तो को सामने रखते हुये व्यापारिक सिद्धान्तो का पालन करगे । यदि सचालक समिति उचित समझे, तो विभिन्न वस्तो के विचारार्थ सलाहकार समितियाँ नियुक्त की जा सकती हैं । निगम की सामान्य नीति का सचालन केन्द्रीय सरकार करेगी ।

निगम की पूंजी का कलेवर—

(अ) अंश पूंजी—निगम की अधिकृत पूंजी १० करोड रुपये है, जो ५,००० रु० के २०,००० अंशो मे विभाजित है। अंशो की मूल राशि तथा २$\frac{1}{4}$% लाभांश की गारन्टी केन्द्रीय सरकार ने दी है। इस समय ५ करोड रुपये के मूल्य के केवल १० हजार अंशो का निर्गमन किया गया है और शेष अंशो का निर्गमन समय-समय पर केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जायेगा। इन अंशो को क्रय करने का अधिकार केवल केन्द्रीय सरकार, रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंक, बीमा कम्पनी, विनियोग प्रन्यास तथा इसी प्रकार की वित्त संस्थाओ को है। अतएव यह स्पष्ट है कि निगम के अंश खरीदने व पूंजी मे योग देने का अधिकार किसी व्यक्ति विशेष को नही है। प्रारम्भ मे इन संस्थाओ को एक निश्चित अनुपात मे अंशो का आबटन किया गया था, किन्तु कालान्तर मे इस आवन्टित संख्या मे कुछ परिवर्तन हो गया है। इसका आभास निम्न तालिका से लगाया जा सकता है :—

क्रमांक	संस्थाये	पूर्व निर्धारित अंशो की संख्या	क्रय किए गए अंशो की संख्या	धन राशि (रुपये)
१	केन्द्रीय सरकार	२,०००	२,०००	१,००,००,०००
२	रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया	२,०००	२,०५४	१,०२,७०,०००
३	अनुसूचित बैंक	२,५००	२,४०५	१,२६,६०,०००
४	बीमा कम्पनी, विनियोग प्रन्यास व अन्य वित्तीय संस्थाये	२,५००	२,५६८	१,२६,६०,०००
५	सहकारी संस्थायें	१,०००	९४३	४७,१५,०००
	योग	१०,०००	१०,०००	५,००,००,०००

(ब) ऋण पत्र पूंजी—निगम ऋण पत्रो का निर्गमन करके तथा बाडस का विक्रय करके कार्यशील पूंजी प्राप्त कर सकता है परन्तु ऋण पत्रो, बॉड्स तथा

इसी प्रकार से प्राप्त की हुई पूँजी निगम की चुकता पूँजी तथा संचित कोष के पाच गुने से अधिक नही होनी चाहिए।

(स) रिजर्व बैंक से ऋण—निगम केन्द्रीय सरकार की प्रतिभूतियो के विरुद्ध ९० दिन की अवधि के लिये रिजर्व बैंक से धन उधार ले सकती है। धारा २१ (३) (ब) के अन्तर्गत निगम अपने ऋण-पत्रो का प्रतिभूति के आधार पर अधिक से अधिक ३ करोड़ रु० का धन १८ माह की अवधि के लिये उधार ले सकता है।

(द) जमा—निगम जनता से कम से कम पाच वर्ष के लिए तथा अधिक से अधिक १० करोड़ रु० की धन राशि तक जमा स्वीकार कर सकता है।

(य) विदेशी मुद्रा मे ऋण—सन् १९५६ के संशोधित अधिनियम के अनुसार निगम विश्व बैंक से विदेशी मुद्रा मे ऋण ले सकता है और भारतीय सरकार ऐसे ऋणो पर गारन्टी देगी।

(र) केन्द्रीय सरकार से ऋण—सन् १९५२ के संशोधित अधिनियम के अनुसार निगम केन्द्रीय सरकार से ऋण ले सकती है।

निगम की आर्थिक स्थिति को और सुदृढ़ करने के लिये एक विशेष सचय कोष स्थापित किया गया है। इस कोष मे केन्द्रीय सरकार तथा रिजर्व बैंक के अंश पर प्राप्त होने वाले सम्पूर्ण लाभांश उस समय तक जमा किये जायेंगे जब तक कि इसकी राशि ५० लाख रुपये न हो जाय।

लाभ का वितरण—

निगम के नियमो मे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि निगम एक बचत कोष रक्खेगा। सन्देहास्पद ऋण, सम्पत्ति का मूल्य ह्रास तथा इस प्रकार के अन्य व्यापारिक घाटो के लिए आयोजन करने के उपरान्त, यदि कुछ लाभ शेष बचे, तो निगम उसे अंशधारियो मे बाँट देगा। किन्तु इस लाभ की दर उस समय तक सरकारी गारन्टी से अधिक नही हो सकती, जब तक कि उक्त बचत कोष का धन निगम की प्राप्त पूँजी के बराबर न हो जाये।

निगम की कार्य विधि—

निगम द्वारा किसी भी औद्योगिक संस्था को ऋण प्रदान करने की संक्षिप्त विधि इस प्रकार है :—

(१) ऋण लेने वाली कम्पनी की प्रकृति, माल आदि की जाँच—निगम किसी भी उद्योग को ऋण देने के पूर्व, ऋण लेने वाली कम्पनी से निर्मित किये

जाने वाले माल की प्रकृति, कारखाने की स्थिति का स्थापन (Location), भूमि पर अधिकार, भवन, विद्युत शक्ति की उपलब्धता, तान्त्रिक स्टाफ, बाजार की स्थिति, उत्पादन की अनुमानित लागत, मशीनों की किस्में, दी जाने वाली प्रतिभूति का मूल्य, सहायता लेने का उद्देश्य तथा लाभ कमाने व ऋण चुकाने की क्षमता, आदि के विषय में सूचना प्राप्त कर लेना है।

(२) निगम के अधिकारियों द्वारा निरीक्षण—तत्पश्चात् निगम के अधिकारियों द्वारा ऋण लेने वाली कम्पनी का निरीक्षण किया जाता है। वे निगम को कम्पनी का लेखा (A/c Books), सम्पत्ति की वास्तविक स्थिति, प्रबन्ध की कार्यक्षमता, कच्चे माल की उपलब्धता तथा निर्मित माल के बाजार की स्थिति के विषय में सूचना देते हैं। औद्योगिक संस्थायें अपने कुशल तान्त्रिक पदाधिकारियों को इस विषय में वार्तालाप के हेतु भेज सकती हैं।

(३) सामयिक रिपोर्टें—निगम, ऋण लेने वाली संस्थाओं से सामयिक रिपोर्ट भी माँगती है, जिससे कि ऋण के सदुपयोग के विषय में उसे जानकारी रहे।

(४) ऋण देते समय स्मरणीय घटक—ऋण प्रदान करते समय निगम निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखता है :—

(i) उद्योग का राष्ट्रीय महत्त्व,
(ii) उसके द्वारा निर्मित वस्तुओं की देश में माँग,
(iii) तान्त्रिक व्यक्तियों एवं कच्चे माल की उपलब्धता,
(iv) प्रबन्ध की योग्यता,
(v) दी गई प्रतिभूति की प्रकृति,
(vi) निर्मित वस्तुओं के गुण, और
(vii) प्रस्तावित योजना की सम्भावना तथा लागत।

निगम द्वारा किए गए कामों का ब्यौरा—

औद्योगिक अर्थ निगम ने ३० जून सन् १९६० को १२ वर्ष पूर्ण किए और इन १२ वर्षों में निगम ने अनेक प्रकार की औद्योगिक संस्थाओं को ऋण दिए हैं। निगम के पास इन १२ वर्षों में जितने आवेदन पत्र आए एवं जिन्हें ऋण स्वीकृत किए गए तथा जिन आवेदन पत्रों का अस्वीकार किया गया, उनका ब्यौरा इस प्रकार है :—

तालिका १

(हजार रुपयों में)

क्रमांक	विवरण	संख्या	३० जून सन् १९५७ तक	संख्या	३० जून सन् १९५८ तक	संख्या	३० जून सन् १९५९ तक	संख्या	३० जून सन् १९६० तक
१.	प्राप्त आवेदन पत्र	६७	२१,३६,२५	४८	१४,८८,५०	२६	११,१६,५७	३८	१७,५४,१०
२.	स्वीकृत आवेदन पत्र	५१	११,६०,७५	२२	७,७८,५०	१६	३,७६,००	२६	१७,६१,७४
३.	भुगतान किये गये ऋण	—	६,७७,५०	—	८,३३,३५	—	७,४७,७१	—	८,४०,८१
४.	अस्वीकृत प्रार्थना-पत्र	१४	४,८७,५०	१	१०,००	३	३१,५०	१	४०,००
५.	वापिस लिए हुए अथवा लैप्स्ड (lapsed) प्रार्थना-पत्र	१०	२,७३,१०	१०	२,११,५०	२२	६,७६,५०	६	८,५०,००
६.	वर्ष के अन्त में विचाराधीन प्रार्थना-पत्र	२६	११,३७,००	४१	१४,६८,४०	२३	११,७०,६७	२५	७,८८,१०

३० जून सन् १९६० तक निगम ने ८४'६१ करोड रु० के कुल ऋण १८५ कम्पनियो को स्वीकृत किए और जिनमे से कुल ५०'७३ करोड रुपए वास्तव मे वितरित कर दिए गए। इसका स्पष्टीकरण निम्न तालिका मे हो जाता है :—

३० जून को ग्रन्त होने वाला वर्ष	ऋण की कुल स्वीकृत धनराशि (करोड रु०)	वास्तव म दी गई धनराशि (करोड रु.)	प्राप्त प्रार्थना पत्रो की सख्या	स्वीकृत प्रार्थना पत्रो का सख्या
१९४९	३'४२	१'३३	६५	२१
१९५०	७'१९	३'४१	१६०	४८
१९५१	९'५८	५'७९	२०५	६१
१९५२	१४'०३	७'५७	२५९	६४
१९५३	१५'४७	१०'०७	३३३	१०८
१९५४	२०'७४	१२'८९	३७६	१३७
१९५५	२८'०८	१४'५३	४२२	१६४
१९५६	४३'२१	१६'७३	५०८	२०८
१९५७	५५'४२	२६'५१	५७५	२५९
१९५८	६२'९०	३४'८४	६२३	२८१
१९५९	६६'६९	४२ ३२	६४९	३००
१९६०	८४'६१	५०'७३	६८७	३२९

स्थगित चुकारो की गारन्टी—

औद्योगिक अर्थ निगम (सशोधन) अधिनियम सन् १९५७ के अन्तर्गत निगम को स्थगित चुकारा (Deferred Payments) की गारन्टी करने का भी अधिकार मिल गया है। औद्योगिक सस्थाओ द्वारा विदेशो से पूँजीकृत माल (Capital Goods) आयात करने के सम्बन्ध मे जो स्थगित भुगतान थे, उनकी गारन्टी अर्थ निगम ने दी। इसका संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है :—

(करोड रुपयों में)

तालिका २

क्रमाङ्क	विवरण	संख्या	२१ जून सन् १९५७ से ३० जून सन् १९५८ तक रु०	संख्या	३० जून सन् १९५९ तक रु०	संख्या	३० जून सन् १९६० तक रु०
१.	स्थगित भुगतान के हेतु गारन्टी के लिए प्राप्त प्रार्थना-पत्र	६	५,२४,००,०००	११	१९,५०,८०,५००	५	३,७२,४५,०००
२.	स्वीकृत प्रार्थना-पत्र	३	३,९६,००,०००	२	३५,००,०००	६	७,८७,०६,८००
३.	अस्वीकृत प्रार्थना-पत्र	—	—	—	—	—	—
४.	वापिस ले लिये गये प्रार्थना-पत्र ...	—	—	५	५,१४,१७,७००	३	३,४५,१७,०००
५.	विचाराधीन प्रार्थना-पत्र ...	३	१,२८,००,०००	७	१२,२९,६२,८००	३	३,९२,१३,०००

गत वर्षों मे अर्थ निगम द्वारा जो प्रार्थना पत्र अस्वीकृत किये गये उनकी अस्वीकृति के कारणों को मोटे तौर पर निम्न प्रकार वर्णित किया जा सकता है :—

(१) प्रार्थी द्वारा योजना का त्याग देना या स्थगित करना,
(२) प्रार्थी द्वारा योजना मे सशोधन करना,
(३) प्रार्थी की आर्थिक स्थिति मे सुधार,
(४) अन्य स्रोतो से ऋण उपलब्ध हो जाना,
(५) निगम की शर्तों को पूरी न कर पाना।

औद्योगिक अर्थ निगम द्वारा गत १२ वर्षों मे भारत के जिन विभिन्न उद्योगो को ऋण स्वीकार किये गये, उनका सक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है —

उद्योगो का प्रकार	३० जून १९५९ तक स्वीकृत ऋण	३० जून १९६० को समाप्त होने वाले वप के लिए	योग
	रु०	रु०	रु०
वस्त्र मशीनरी	८३,००,०००	—	८३,००,०००
मैकेनिकल इन्जीनियरिंग	२,२८,००,०००	९५,००,०००	३,२३,००,०००
एलेक्ट्रीकल इन्जीनियरिंग	१,८१,७०,०००	१५,००,०००	१,९६,७०,०००
सूती वस्त्र	९,३७,७५,०००	२५,००,०००	९,६२,७५,०००
ऊनी वस्त्र	३५,००,०००	—	३५,००,०००
रेयन उद्योग	१,१०,००,०००	३,००,००,०००	४,१०,००,०००
रासायनिक	८,५३,२५,०००	८४,५०,०००	९,३७,७५,०००
सीमेन्ट	६,१७,००,०००	—	६,१७,००,०००
सेरेमिक व ग्लास	१,९१,७५,०००	९५,००,०००	२,८६,७५,०००
तेल मिल	११,००,०००	—	११,००,०००
विद्युत शक्ति	८२,७५,०००	—	८२,७५,०००
मेटेलर्जीकल उद्योग	४५,५०,०००	६,००,०००	५१,५०,०००
लौह व स्पात	२,६०,५०,०००	३०,००,०००	२,९०,५०,०००
अल्युमीनियम	५०,००,०००	८०,००,०००	१,३०,००,०००
चीनी उद्योग	२०,६२,,००,०००	५,००,००,०००	२५,६२,००,०००
खनिज	३७,००,०००	—	३७,००,०००
कागज	५,७१,५०,०००	४,०२,२४,०००	९,७३,७४,०००
ऑटोमोबायल व ट्रेक्टर	१,६४,५०,०००	९,००,०००	१,७३,५०,०००
प्लाईवुड	३०,००,०००	—	३०,००,०००
होटल उद्योग	—	१,५०,००,०००	१,५०,००,०००
अवर्गित	१,१६,८०,०००	—	१,१६,८०,०००
योग	६६,६९,००,०००	१७,९१,७४,०००	८४ ६०,[illegible]४,०००

गत वर्ष अन्तरिम ऋण (Interim Loan) के प्रदान करने मे भी निगम ने बडी नर्मी दिखलाई ।

औद्योगिक अर्थनिगम संशोधन अधिनियम सन् १९५३—

औद्योगिक अर्थनिगम का कार्य-क्षेत्र तथा आर्थिक साधन बढाने के लिए उपर्युक्त अधिनियम बनाया गया, जिससे दीर्घकालीन ऋण देने म वह अधिक उपयोगी हो सके। इस संशोधित अधिनियम के अन्तर्गत निगम को निम्नलिखित अधिकार मिल गए हैं :—

(१) औद्योगिक संस्थाओ की परिभाषा के अन्तर्गत जहाजी कम्पनियो का भी समावेश होगा, जिन्हे अर्थनिगम ऋण दे सकेगा।

(२) प्रत्येक उद्योग मण्डल को अर्थनिगम १ करोड रुपया अधिकतम ऋण दे सकेगा।

(३) सरकार अथवा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक द्वारा भारतीय उद्योगो को जो ऋण दिए गए है, उनका निरीक्षण सरकार एव अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के प्रतिनिधि के नाते अर्थनिगम स्वय करेगा।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से अर्थनिगम जो ऋण लेगा, उसकी जमानत भारत सरकार देगी तथा इस प्रकार के विनिमय व्यवहारो में निगम का जो हानि होगी उसकी क्षति पूर्ति केन्द्रीय सरकार करेगी।

(५) केन्द्रीय सरकार की जमानत पर अर्थनिगम किसी एक उद्योग प्रमण्डल को एक करोड रुपए से अधिक ऋण दे सकेगा, परन्तु ऐसी जमानत के लिए अर्थनिगम द्वारा ऋण की स्वीकृति की सिफारिश आवश्यक है।

(६) अर्थनिगम अपनी राशि रिजर्व बैंक की सलाह से किसी भी सूचीबद्ध बैंक अथवा प्रान्तीय सहकारी बैंक के पास निक्षेप (Deposit) मे रख सकेगा। इस संशोधन में यह आवश्यक नहीं है कि वह अपनी राशि का विनियोग सरकारी प्रतिभूतियो म ही करे। इसमे अर्थनिगम को ब्याज की हानि नहीं होगी।

(७) अर्थनिगम अपनी कार्यशील पूँजी के लिए १८ माह से अधिकतम अवधि के लिए ३ करोड रुपये का ऋण दे सकेगा। इसमे निगम को स्वीकार करते ही बन्ध अथवा ऋण पत्रो के निर्गमन की आवश्यकता नही रहेगी। जब तक अर्थनिगम का सचित कोष ५० लाख रुपए तक नहीं हो जाता, तब तक रिजर्व बैंक एव केन्द्रीय सरकार को मिलने वाले लाभाश इसी मे जमा होंगे।

(८) किसी ऋण लेने वाले उद्योग का नियन्त्रण अर्थनिगम ले सकेगा। इस सम्बन्ध म ३० A से ३० E तक नई धाराएँ जोड दी गई है। इससे नियन्त्रित उद्योग मे वह अपने सचालको की नियुक्ति करेगा, जिसके बाद पूर्व सचालक अपना पद छोड देंगे। दूसरे, मैनेजिंग एजेन्ट्स का उद्योग प्रमण्डल के साथ जो अनुबन्ध होगा उसका बिना किसी क्षति पूर्ति के अन्त हो जायगा। तीसरे, अंशधारियो के मनोनीत सचालको की नियुक्ति निरस्त होगी और बिना अर्थनिगम की अनुमति के अंशधारियो द्वारा

स्वीकृत कोई भी प्रस्ताव कार्यान्वित नहीं हो सकेगा। चौथे, अर्थनिगम की अनुमति के बिना किसी उद्योग प्रमण्डल का समापन भी नहीं हो सकेगा।

(६) अर्थनिगम की सचालक सभा पर केन्द्रीय सरकार के मनोनीत ४ सचालक होंगे तथा उप प्रबन्ध सचालक (Deputy Managing Director) सचालक सभा में बैठ सकेगा, किन्तु उसे मत देने का अधिकार न होगा। इसी प्रकार प्रबन्ध सचालक को किसी भी समय निकाला जा सकता है। हाँ, ऐसी परिस्थिति में प्रबन्ध सचालक को स्पष्टीकरण करने के लिए समुचित अवसर दिया जायगा, किन्तु दो-तिहाई बहुमत से सचालक सभा चाहे तो उसे कर सकती है।

प्रमण्डल की कठिनाइयाँ—

गत वर्षों में कॉरपोरेशन ने करोड़ो रुपयो के ऋण औद्योगिक सस्थाओ को प्रदान किये, किन्तु फिर भी प्रमण्डल पूर्णरूपेण सहायता नही पहुँचा सका। कॉरपोरेशन का तो अनुभव यह है कि भारतीय औद्योगिक कलेवर की नाडी कमजोर है। प्रमण्डल के मार्ग मे मुख्य दो बाधाये निम्न हैं:—

(१) योजना का अभाव—अनेक उदाहरणो मे ऐसी योजनाएँ कॉरपोरेशन के पास भेजी गई, जिनमे तान्त्रिक पहलुओ व वित्त समस्याओ पर पूर्ण विचार नहीं किया गया था। कुछ मे तो यह भी नही बताया गया कि भूमि, इमारत, मशीनरी आदि अन्य विभागो पर अलग-अलग कुल कितनी राशि व्यय होगी। ऐसे भी उदाहरण हैं, जहाँ मशीन आदि इसलिए खरीद ली गई हैं, क्योकि वे सस्ते दामो मे उपलब्ध हैं। ऐसी अधूरी कागजी योजनाओ मे वास्तविक योजना के मूल तत्त्वो का अभाव होना स्वाभाविक ही है। माग और पूर्ति की समस्याओ पर अधिकाश सस्थाये पर्याप्त रूप से सोचने मे असमर्थ रही हैं, अतः ऐसी दशा मे कॉरपोरेशन के लिए अन्धाधुन्ध ऋण देना क्योकर सम्भव हो सकता है?

(२) अपर्याप्त साधन—अनेक उदाहरण ऐसे है, जिनमे पूँजी आवश्यकता से बहुत कम है। ऐसी सस्थाओ का ऋण देकर उनका अहित करना है।

(३) कुछ उदाहरणो मे यद्यपि प्राप्त पूजी पर्याप्त थी, किन्तु सस्था की अधिकाश सम्पत्ति गिरवी रखी जा चुकी थी। ऐसे भी उदाहरण हैं, जहाँ संस्था के सारे अश प्रवर्तको को उनसे ली गई सम्पत्ति के बदले मे दे दिए गए है और ऐसी सम्पत्ति बहुत अधिक मूल्य पर प्राप्त की गई है।

(४) ऐसे भी, प्रमन्डल हैं जो ऋण स्वीकृत हो जाने पर वैधानिक कार्यवाही पूरी नही करते और न इस दिशा म प्रयत्न ही करते हैं।

अतः औद्योगिक अर्थ प्रमण्डलो को चाहिए कि वे उक्त कठिनाइयो को दूर करने मे तथा अधिकाधिक सहायता प्रदान करने मे औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल को सहयोग दें, तभी विकास सम्भव है।

औद्योगिक अर्थ निगम की आलोचना—

जिस समय लोक सभा मे औद्योगिक अर्थ निगम (सशोधन) अधिनियम, सन्

१९५२ तथा औद्योगिक एवं राज्य अर्थ निगमों (संशोधन) अधिनियम, १९५५ पर बहस हो रही थी, उस समय इस निगम की बड़ी कठोर आलोचना की गई। आलोचनाओं के प्रमुख आधार निम्नलिखित थे :—

(१) पक्षपात बरतना—निगम कम्पनियों को ऋण देते समय पक्षपात व भेदभाव की भावना रखता है, दूसरे शब्दों में निगम केवल संस्थाओं को ऋण प्रदान करता है, जिनमें उसके संचालक अथवा अन्य पदाधिकारी हित रखते हों।

(२) अविकसित क्षेत्रों की उपेक्षा—निगम उन राज्यों अथवा क्षेत्रों में, जो अपेक्षाकृत कम विकसित हैं, औद्योगिक उद्योग धन्धे स्थापित करने में असफल रहा है।

(३) किंचित व्यक्तियों का प्रभुत्व—निगम पूर्णतया सरकार के स्वामित्व व नियन्त्रण में नहीं है, अतएव किंचित महारथियों की चतुरता सम्पूर्ण देश की आर्थिक स्थिति को अपने अधिकार में ले सकती है।

(४) लघु व कुटीर उद्योगों की उपेक्षा—निगम की सबसे कठोर आलोचना यह है कि इसने केवल बड़े पैमाने के उद्योगों की वित्तीय समस्याओं की ओर ही अधिक ध्यान दिया है, मध्य-स्तरीय, लघु एवं कुटीर उद्योग इसकी सहायता से वंचित हो गए हैं।

(५) आधारभूत उद्योगों के प्रति उपेक्षा—निगम ने ऐसी औद्योगिक इकाइयों को वित्तीय सहायता दी है, जो पंच-वर्षीय योजना के कार्यक्रम के अन्तर्गत नहीं मानी हैं। अन्य शब्दों में, निगम ने आधारभूत तथा पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों को बहुत कम सहायता प्रदान की है, जबकि उपभोक्ता सम्बन्धी उद्योगों को पर्याप्त सहायता दी गई है।

(६) ऋण लेने वाली कम्पनियों पर नियन्त्रण का अभाव—निगम ऋण लेने वाली कम्पनियों के द्वारा व्यय की जाने वाली राशि की देखरेख करने में असफल रहा है। परिणामतः वस्तुओं के उत्पादन तथा उत्पादन-शक्ति में कोई वृद्धि नहीं हुई।

(७) सामान्य पूँजी प्रदान करने में असमर्थता—निगम कम्पनियों को सामान्य पूँजी नहीं प्रदान करता है, अतः उनको अन्य संस्थाओं का मुँह ताकना पड़ता है।

(८) ख्याति प्राप्त कम्पनियों को ऋण देना—निगम ने ऐसी कम्पनियों को भी ऋण दिया है जो खूब लाभ कमा रही थीं तथा अपनी ख्याति के कारण मुद्रा बाजार से ऋण प्राप्त कर सकती थीं।

(९) फिजूलखर्ची—यह भी कहा गया है कि निगम अपने स्थापन व्यय तथा अन्य व्ययों में मितव्ययिता नहीं कर सका है।

उपरोक्त आलोचनाओं के आधार पर निगम की क्रियाओं का पर्यवेक्षण कराने के लिए भारतीय सरकार ने श्रीमती सुचेता कृपलानी एम० पी० की अध्यक्षता में

दिसम्बर सन् १९५२ मे एक समिति नियुक्त की। इस समिति के अन्य सदस्य श्री वी० वी० गाधी, श्री श्रीनारायण मेहता, श्री पी० एल० नारियलवाला, श्री आर० सूर्यनारायण राव तथा श्री जी० वासु थे। इस समिति को निम्न बातो के सम्बन्ध मे अपनी रिपोर्ट देनी थी :—

(१) लोक सभा मे औद्योगिक अर्थ निगम (सशोधक) बिल पर बहस के समय निगम के द्वारा दिये गये ऋणो पर लगाये गये दोष की छान-बीन करना।

(२) यह पता लगाना कि ऋण देते समय साधारण रूप से उचित सावधानी रखी जाती है अथवा नही।

(३) निगम की ऋण देने की नीति को इस विचार से देखना कि वह निगम के अधिनियम के उद्देश्यो तथा सरकार द्वारा निर्गमित आदेशो का पालन करती है अथवा नही।

(४) निगम की क्रियाओ मे सुधार करने के लिए उचित सुझाव देना।

कृपलानी समिति के सुझाव—

श्रीमती सुचेता कृपलानी समिति ने अपनी रिपोर्ट ७ मई सन् १९५३ को प्रस्तुत की। इस समिति ने बहुत से साधारण सुझाव दिये तथा 'सौदेपुर ग्लास वर्क्स' को दिये गये ऋण के बारे मे भी विस्तारपूर्वक रिपोर्ट दी।

जहाँ तक प्रथम दोष का सम्बन्ध है, समिति की राय मे यह आधार रहित है। समिति ने इस बात को स्वीकार किया है कि ऐसे उद्योगो, जिनमे निगम के सचालक या अध्यक्ष नेकमात्र भी हित रखते थे, उनको ऋण सुगमता व शीघ्रता से मिल गया है। समिति ने यह भी स्वीकार किया है कि निगम ऋण देते समय सुस्थापित व ख्यातिप्राप्त उद्योगो को अन्य उद्योगो की अपेक्षा प्राथमिकता देता है। समिति ने किस आधार पर ऐसा निर्णय दिया, रिपोर्ट मे नही बताया गया है। फिर भी भारतीय सरकार ने इस समिति की रिपोट की विवेचना करते हुए कहा है कि "समिति ने जो कुछ भी रिपोर्ट दी है, सही तथ्यो पर आधारित है।"

कृपलानी समिति के सुझाव—

समिति द्वारा दिये गये सुझावो का अध्ययन की दृष्टि से हम तीन भागो मे बाँट सकते हैं —

(i) शासन तथा सगठन सम्बन्धी,
(ii) कार्य विधि सम्बन्धी तथा
(iii) नीति सम्बन्धी।

(I) शासन तथा संगठन सम्बन्धी सुझाव—

इस सम्बन्ध मे समिति ने निम्न सुझाव दिए हैं :—

(i) निगम के वर्तमान अवैतनिक अध्यक्ष तथा वैतनिक प्रबन्ध सचालक के

स्थान पर पूर्ण वैतनिक अध्यक्ष तथा एक जनरल मैनेजर की नियुक्ति होनी चाहिए।

(ii) प्रत्येक उप कार्यालय के लिए एक क्षेत्रीय परामर्शदाता परिषद होना चाहिए जिनमे से कुछ सदस्य ऋण आवेदन-पत्रो पर विचार करने के लिए चुन लेना चाहिए, इसके अतिरिक्त कभी-कभी निगम की सचालक सभा को बम्बई, कलकत्ता, मद्रास इत्यादि मे अपनी सभा करनी चाहिए।

(iii) समिति की राय मे प्रबन्ध सचालक के हाथ अधिक अधिकारो का केन्द्रीयकरण उचित नही। प्रबन्ध सचालक तथा उप-प्रबन्ध सचालक के कर्तव्य तथा अधिकारो को स्पष्ट रूप म परिभाषित कर देना चाहिए।

(iv) निगम को ऋण लेने वाली कम्पनियो की सचालक सभा मे अपने पदाधिकारियो को सचालक नियुक्त करने के अधिकार का अधिक से अधिक प्रयोग करना चाहिए। इन सचालको को ऋण देने वाली कम्पनी के स्थिति-विवरण तथा हानि लाभ के खाता पर हस्ताक्षर करने का अधिकार होना चाहिए।

(v) ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिसमे निगम की सचालक सभा पर बडे-बडे उद्योगपतियो का आधिपत्य न हो सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार को चाहिए कि वह निगम की सचालक सभा मे एक अर्थशास्त्री, एक प्रबन्धकीय विशेषज्ञ तथा एक चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट को मनोनीत करें। मनोनीत किये गये सचालको मे एक ऐसा भी व्यक्ति होना चाहिए जो लघु उद्योगो के विकास म हित रखता हो।

उपरोक्त सुझावो को सरकार ने लगभग मान लिया है तथा तदनुसार व्यवस्था की जा चुकी है।

(II) कार्य विधि सम्बन्धी सुझाव—

(i) निगम का कोई भी सचालक जो किसी भी ऋण लेने वाली कम्पनी मे हित रखता हो तो उसे अपने हित को प्रकट कर देना चाहिए। ऐसी कोई भी फर्म जिसमे निगम का कोई भी सचालक, प्रबन्ध सचालक, या साझेदार या प्रबन्ध अभिकर्त्ता हो तो उस कम्पनी को ऋण नही दिया जायगा। यदि निगम का कोई सचालक किसी ऋण लेने वाली कम्पनी का केवल साधारण सचालक या अशधारी हो तो कम्पनी को ऋण उसी अवस्था म मिलेगा जब निगम की सचालक सभा के सचालकगण, जो मत देने के अधिकारी हैं, एकमत मे ऋण देने के लिए प्रस्ताव पास कर दें। ऐसा सचालक जो किसी कम्पनी का ऋण

दिलाने मे हित रखता हो, वो सचालक सभा की शासकीय समिति जिसमे इस ऋण पर विचार किया जा रहा हो, उपस्थित नही होना चाहिए।

(ii) ऋणो को स्वीकृत करने मे सचालको की सभा को अन्तिम अधिकार होना चाहिए तथा शासकीय समिति को चाहिए कि वह कठिन तथा मुख्य ऋणो वाले प्रार्थना-पत्रो को सचालक-सभा की अनुमति के लिए बाद मे प्रस्तुत करे।

(iii) निगम को अपनी वार्षिक रिपोर्ट जिसमे अधिक से अधिक सूचना हो तथा पच-वर्षीय रिपोर्ट जिसमे ऋण लेने वाली कम्पनियो के नाम प्रत्येक ऋण लेने वाली कम्पनी की क्रियाओ एव सफलताओ के बारे मे तथा उद्योगो के विकास की स्थिति के सम्बन्ध मे सूचना प्रकाशित करनी चाहिए। स्थिति विवरण तथा लाभ-हानि के खाता का प्रारूप भी सशोधित कर देना चाहिये।

(iv) ऋण देते समय कम से कम ५०% का अन्तर रखना चाहिये। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ऋण लेने वाली कम्पनी अपनी सम्पत्ति का अतिमूल्यन न कर दे। ऋण लेने वाली कम्पनियो की लाभोपार्जन शक्ति तथा दीर्घकालीन पूँजी की आवश्यकताओ के सम्बन्ध मे ऋण स्वीकृत करने से पहले ठीक-ठीक अनुमान लगा लेना चाहिये। ऋण लेने वाली कम्पनी के प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ को अपने अशो को बिना निगम की आज्ञा के बेचने का अधिकार नही होना चाहिये।

(v) ऋणो के स्वीकृत करने मे तथा उनके चुकाने मे जो देर लगती है उसे कम से कम कर देना चाहिये।

(vi) निगम के पास तान्त्रिक विशेषज्ञो का दल होना चाहिये।

(vii) निगम यदि किसी कम्पनी को खरीद लेता है तो उसका प्रबन्ध विभागीय प्रबन्ध या प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ के द्वारा होने की अपेक्षा सिद्धान्ततः मनोनीत सचालको की सभा को दे देना चाहिए।

अभी तक निगम ने केवल एक ही कम्पनी (सौदेपुर ग्लास वर्क्स) का क्रय किया है, जिसका प्रबन्ध मनोनीत सचालको के द्वारा किया जा रहा है।

(III) नीति सम्बन्धी सुझाव

इस सम्बन्ध मे समिति ने निम्न सुझाव दिये हैं :—

(i) निगम को पच-वर्षीय योजना मे दी गई प्राथमिकताओ के अनुसार तथा योजना आयोग के द्वारा ४२ उद्योगो के अनुसूचित कार्यक्रम का पालन करना चाहिए। निगम को ऐसी कम्पनी को ऋण स्वीकृत नही करना चाहिए जो स्वय काफी विकसित हो चुकी है।

(११) औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन अधिनियम की धारा ६—(३) के अनुसार सरकार को निगम को सिद्धान्त अपनाने के सम्बन्ध में आदेश देने चाहिए। सरकार को निगम को ऐसे आदेश देना चाहिए जिसमें अवकसित तथा विकसित क्षेत्रों का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। निगम को ५० लाख से अधिक राशि वाले आवेदन पत्रों को तीन वर्ष तक केन्द्रीय सरकार के सामने रखना चाहिए।

(३) इस समय तक निगम के राष्ट्रीयकरण के लिए सुझाव नहीं दिया गया है। लोक सभा के सदस्यों को निगम के दैनिक शासन में अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। परन्तु लोकसभा को इसकी क्रियाओं पर नियन्त्रण रखने के सम्बन्ध में समिति ने सुझाव दिया कि लोक सभा की एक पब्लिक कॉरपोरेशन कमेटी' बना दी जाय।

(४) निगम को सामान्य पूँजी या जोखिम पूँजी में भाग नहीं लेना चाहिए।

(५) निगम के संचित कोष के ५ करोड़ रुपये से अधिक हो जाने पर सामान्य पूँजी में भाग लेने पर विचार किया जा सकता है।

(६) निजी सीमित कम्पनियों को निगम ऋण नहीं दे सकता है।

(७) निगम किसी कम्पनी के अस्थायी ऋण, जिनको वह किसी बैंक से प्राप्त करता है, पर गारन्टी दे सकता है।

(८) किसी नई कम्पनी के लिए प्रारम्भिक वर्षों में ब्याज की राशि को स्थगित कर सकता है।

(९) उन कम्पनियों के सम्बन्ध में जिनका निर्माण व पंजीयन भारतवर्ष में हुआ है परन्तु अंशधारियों की संख्या विदेशियों की अधिक है तो यह निश्चित करना कि ऐसी कम्पनी भाग लेने की अधिकारी है। अथवा नहीं।

(१०) जहाँ पर कोई राज्य विशेष पृथक रूप से राज्य अर्थ प्रबन्धन निगम स्थापित करने में असमर्थ हो तो ऐसी दशा में दो राज्य निगम की स्थापना कर सकते हैं। औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन निगम की क्रियाओं का स्पष्ट विवेचन होना चाहिए।

उपरोक्त सुझावों को भारत सरकार ने लगभग पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है।

श्रॉफ समिति के सुझाव—

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा नियुक्त श्रॉफ कमेटी ने निजी क्षेत्र को आर्थिक सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से औद्योगिक अर्थ निगम की क्रियाओं का पर्यवेक्षण भी किया। समिति ने इस सम्बन्ध में निम्न दोष व सुझाव प्रेषित किए :—

(१) ऋणों की स्वीकृति में विलम्ब—समिति ने यह अनुभव किया कि ऋणों की स्वीकृति में बहुत समय लगता है। विलम्ब का कारण आवेदन पत्रों में वैधानिक उपचारों की कमी थी। इस दोष को दूर करने के लिए समिति ने सुझाव दिया कि मुख्य शहरों में वैधानिक परामर्शदाताओं का दल रखा जाय।

(२) ऋण देने की शर्तें—निगम की ऋण देने की शर्तें बहुत ही अनाकर्षक है। उदाहरणार्थ, निगम ५०% का मार्जिन रखने के अतिरिक्त उस कम्पनी के प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की प्रत्याभूति पर भी जोर देते हैं। समिति ने सुझाव दिया कि निगम को ऋण देने वाली कम्पनी की सुदृढता के आधार पर ऋण देना चाहिए, प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की प्रत्याभूति पर नहीं।

(३) अधिक ब्याज दर—निगम ऋण लेने वाली कम्पनियों से जो ब्याज लेता है वह अपेक्षाकृत बहुत अधिक है। यह ब्याज की ऊँची दर नवनिर्मित औद्योगिक कम्पनियों के विकास में बाधा डाल सकती है। समिति के विचार में निगम को नवीन कम्पनियों के प्रारम्भिक काल में नीची दर से ब्याज लगाना चाहिए और बाद में कम्पनी की लाभोपार्जन शक्ति बढने पर ब्याज की दर बढ़ाई जा सकती है।

राज्य अर्थ-प्रबन्धन निगम

(State Financial Corporation)

अखिल भारतीय औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल का क्षेत्र सीमित है, अतः औद्योगिक क्षेत्र के लिये ऐसे प्रान्तीय अर्थ प्रमण्डलों की आवश्यकता है, जो साझेदारी संस्थाओं, अलोक प्रमण्डलों तथा व्यक्तियों को भी ऋण प्रदान कर। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि प्रान्तीय अर्थ-प्रमण्डल तथा औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल परस्पर सहयोग से कार्य करें, जिससे ये एक-दूसरे के पूरक हो, क्योंकि मध्यम एवं लघु उद्योगों को आर्थिक सहायता देने का कार्य क्षेत्र विस्तृत होने से औद्योगिक अर्थ निगम को यह क्षेत्र अपनाने में कठिनाइयाँ भी होंगी। इसी हेतु संसद ने २८ सितम्बर सन् १९५१ को 'प्रान्तीय आर्थिक अर्थ-प्रमण्डल सन्नियम' पास किया, जो सम्पूर्ण भारत में लागू होता है।

इस विधान के अनुसार प्रत्येक प्रान्तीय सरकार अपने प्रान्त में प्रान्तीय अर्थ-प्रमण्डल स्थापित कर सकती है। इस सन्नियम की अधिकांश धारायें औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल सन्नियम सन् १९४८ से मिलती जुलती हैं। केवल तीन बातों में भिन्नता है—(१) 'औद्योगिक संस्थाओं' की परिभाषा इस प्रकार विस्तृत की गई है कि प्राइवेट लिमिटेड कम्पनियों, साझेदारियों एवं यहाँ तक कि एकाकी स्वामित्त्व वाली संस्थाएं भी इसके क्षेत्र में आ जाती है। (२) जन साधारण और अनुसूचित बैंक भी राज्य निगमों की अंश पूँजी में भाग ले सकते है। (३) ऋण की अवधि केवल २० वर्ष रखी गई है।

सन् १९५१ का अधिनियम पास होने से अब तक कुल १३ अर्थ निगम बन चुके हैं। इनका कार्य कुछ अधिक संतोषजनक नहीं रहा है और वे लघु एवं मध्यम

उद्योगों को विशेष सहायता नहीं कर पाये हैं। इस असफलता के लिए कुछ तो अधिनियम की दुर्बलताएँ रही थी। कुछ सीमा तक लघु उद्योगों का स्वभाव एवं संगठन भी बाधक हुआ। ये उद्योग भली प्रकार संगठित नहीं थे, अतः वे निगम से सहायता माँगने में समर्थ नहीं हुये। फलतः सन् १९५६ में सन् १९५१ के राज्य वित्त निगम अधिनियम में संशोधन किए गए, जिनके उद्देश्य निम्न थे :—

(१) अधिनियम के कार्यान्वित करने में जो कतिपय कठिनाइयाँ गत कुछ वर्षों में अनुभव हुईं उन्हें दूर करना।

(२) दो या दो से अधिक राज्यों को पारस्परिक समझौते द्वारा एक संयुक्त वित्त निगम की स्थापना करने के लिए अनुमति देना।

(३) एक राज्य के विद्यमान वित्त निगम का क्षेत्र दूसरे राज्य पर, एक पारस्परिक ठहराव के अन्तर्गत, विस्तृत करना।

(४) राज्य वित्त निगम को केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार या अखिल भारतीय वित्त निगम की ओर से एजेन्सी कार्य लेने की अनुमति देना।

(५) रिजर्व बैंक से लघुकालीन ऋण लेने की अनुमति देना।

(६) लघु एवं कुटीर उद्योगों को, जिनके पास यथेष्ठ सम्पत्ति नहीं है, किसी राज्य सरकार या अनुसूचित बैंक या सहकारी बैंक को प्रत्याभूति देने पर आर्थिक सहायता देने की अनुमति प्रदान करना।

(७) निगमों को अपने अधिकार में की गई औद्योगिक संस्थाओं के कुशल प्रबन्ध संचालन के लिए अधिकार प्रदान करना।

(८) रिजर्व बैंक को, केन्द्रीय सरकार की आज्ञा पर, राज्य वित्त निगमों की कार्य-प्रणाली को जाँचने की अनुमति प्रदान करना।

यह अनुभव किया गया है कि लघु उद्योगों के विकास से रोजगार में विशेष वृद्धि होगी और आय में असमानता घटेगी, अतः इनकी उन्नति पर सरकार बड़ा ध्यान दे रही है। लघु उद्योगों की उन्नति के लिए वित्तीय सहायता बड़ी आवश्यक है, जो केवल राज्यों के वित्त निगम ही दे सकते हैं। राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम इनको अधिक सहायता नहीं दे सकता, क्योंकि लघु उद्योग सारे देश में बिखरे हुए हैं।

प्रबन्ध—

प्रत्येक प्रान्तीय संस्था के प्रबन्ध के लिये १० सदस्यों की एक सभा होगी, जिसके सदस्यों की नियुक्ति इस प्रकार की जायगी :—

(क) प्रान्तीय सरकार द्वारा मनोनीत संचालक	३
(ख) रिजर्व बैंक " " "	१
(ग) औद्योगिक अर्थनिगम " "	१
(घ) प्रान्तीय सरकार द्वारा नियुक्त प्रबन्ध-संचालक	१
(ङ) अनुसूचित बैंकों, सहकारी बैंकों, शेष आर्थिक व्यवसायों तथा अंशधारियों में से प्रत्येक का अलग-अलग प्रतिनिधि संचालक	४
कुल	१०

राज्य वित्त निगमों के कार्य—

राज्य वित्त निगम को निम्न के लिये अधिकार दिये गय हैं :—

(१) औद्योगिक सस्थाओ को ऋण देना या उनके ऋण-पत्र खरीदना, जो कि २० वर्ष में वापिस लिये जा सकते है।

(२) औद्योगिक सस्थाओ द्वारा खुले बाजार मे (२० वर्ष की अवधि में चुकता किये जाने वाले) ऋण-निर्गमनो की प्रत्याभूति देना।

(३) औद्योगिक सस्थाओ के अशो, ऋण-पत्रो, बॉन्ड आदि का अभिगोपन करना, बशर्ते जो अश आदि निगम को लेने पड़े उन्हे ७ वर्ष के अन्दर बाजार मे बेच दिया जाय।

निगम के निश्चित कार्य—

(१) अधिक से अधिक उद्योगो की सहायता करने के विचार से निगम किसी एक औद्योगिक सस्था को अपनी प्रदत्त पूँजी के १०% भाग अथवा दस लाख रुपये, जो भी कम हो, से अधिक नही दे सकता।

(२) निगम किसी भी औद्योगिक सस्था के अशो अथवा स्कन्धो को प्रत्यक्ष रूप से क्रय नही कर सकता।

(३) निगम जनता से पाँच वर्ष से कम अवधि की जमा (Deposits) स्वीकार नही कर सकता।

(४) निगम अपने अशो की प्रतिभूति पर ऋण नही दे सकता।

(५) निगम अपनी प्रदत्त पूँजी से अधिक राशि की जमा स्वीकार नही कर सकता।

विभिन्न राज्यों के अर्थ-निगम

(I) महाराष्ट्र राज्य का अर्थ-निगम

महाराष्ट्र राज्य मे अर्थ-निगम की स्थापना ३० नवम्बर सन् १९५३ को हुई। इसकी अधिकृत पूँजी ५ करोड रुपये है। इस पूँजी का क्रय महाराष्ट्र राज्य की सरकार सयुक्त स्कन्ध बैंको, बीमा कम्पनियो, सहकारी बैंको, विनियोग प्रन्यास तथा अन्य आर्थिक सस्थाओ ने किया है। इस निगम का मुख्य कार्यालय बम्बई मे है।

उद्देश्य—

महाराष्ट्र राज्य के अर्थ निगम का उद्देश्य राज्य के आर्थिक विकास के लिए आर्थिक सुविधाय प्रदान करना है।

कार्य—

(१) औद्योगिक इकाइयो के ऋण पत्रो का क्रय करना तथा उन्हे ऋण देना।

(२) औद्योगिक सस्थाओ द्वारा स्कन्ध विपणि मे लिए गए ऋण की गारण्टी देना।

(३) औद्योगिक संस्थाओं के ऋण-पत्रों, बधों एव स्कन्धो के निर्गमन का अभिगोपन करना।

(४) औद्योगिक संस्थाओं को कम से कम दस हजार तथा अधिक से अधिक ५ लाख रुपये का ऋण देना।

ऋण देने की शर्तें —

(i) स्थायी सम्पत्ति के शुद्ध मूल्य के ५०% राशि तक ऐसी सम्पत्ति की प्रथम वैधानिक प्राप्ति पर ऋण दिया जा सकेगा।

(ii) ऋण अधिक से अधिक दस से बारह वर्ष की अवधि के लिए दिया जा सकेगा और इसका भुगतान किस्तों मे होगा। इन किस्तों की राशि एव ऋण की अवधि प्रत्येक उद्योग की योग्यता एव उसकी स्थिति के अनुसार निर्धारित होगी।

(iii) ब्याज की दर ६% सालाना होगी।

(iv) ऋण के लिए प्रस्तुत आवेदन-पत्रों पर ऋण की स्वीकृति देने के पूर्व नीचे दी हुई बातो पर विचार किया जायगा —

(१) उद्योग की आर्थिक स्थिति, (२) प्रतिभूतियो की पर्याप्तता, (३) लाभार्जन शक्ति, (४) ब्याज तथा प्रभागो मे मूलधन के भुगतान करने की योग्यता, (५) तान्त्रिक विशेषज्ञो एव प्रबन्धको की योग्यता एव अनुभव, (६) आधुनिकीकरण, विस्तार एव विकास योजना की तान्त्रिकता, (७) सम्पत्ति का स्वत्वाधिकार। तथा (८) ऋण लेने वाले उद्योग की साख योग्यता।

(II) उत्तर-प्रदेशीय अर्थ-निगम

२५ अगस्त सन् १९५४ को उत्तर प्रदेशीय अर्थ निगम की स्थापना हुई। इसका प्रधान कार्यालय कानपुर मे है। इसकी अधिकृत पूँजी ३ करोड़ रुपया है। आरम्भ मे केवल ५० लाख रुपय के ५०,००० अशो का निगमन किया गया है। इन अशो का क्रय निम्न सस्थाओ के द्वारा इस प्रकार किया गया है—राज्य सरकार ४६%, अनुसूचित बैंक बीमा कम्पनी आदि ३९%, रिजर्व बैंक १५%, अन्य सस्थाए १०%।

उद्देश्य—

इस निगम का प्रमुख उद्देश्य लघु तथा माध्यमिक उद्योगो को आर्थिक सहायता प्रदान करना है।

ऋण देने की शर्तें —

इस निगम को पजाब राज्य के अर्थ निगम की शर्तों के आधार पर बन्ध तथा ऋण पत्र बेचने का अधिकार है। निगम का सचालक मडल इस बात का निर्णय करता है कि किन उद्योगो को सहायता मिलनी चाहिये। सचालक मडल ही ऋण की अधिकतम व न्यूनतम राशि निर्धारित करता है। निगम द्वारा नवीन तथा विद्यमान दोनो प्रकार की सस्थाओ को आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। निगम द्वारा

दिए गए ऋण पर ६% की दर से ब्याज लिया जाता है और नियत समय पर ऋण की किस्ता तथा ब्याज के भुगतान करने पर १२% छूट दी जाती है।

प्रबन्ध—

उत्तर प्रदेशीय अर्थ-निगम का प्रबन्ध एक सचालक सभा के द्वारा होता है। इसका प्रबन्ध सचालक (Managing director) रिजर्व बैंक की सम्मति के अनुसार नियुक्त किया जाता है। निगम की कार्यक्षमता मे वृद्धि करने के उद्देश्य से परामर्शदाता समितियाँ भी नियुक्त की जा सकती हैं।

(III) मध्य-प्रदेश राज्य वित्त-निगम

मध्य-प्रदेश राज्य वित्त निगम की स्थापना सन् १९५५ मे हुई। इसका प्रधान कार्यालय इन्दौर म है। श्री दुर्गाप्रसाद जी मडेलिया इसके चेयरमैन है तथा सी० बी० गुप्ता इसके प्रबन्ध सचालक हैं। इस निगम के गत पांच वर्षों के कार्यों का अनुमान नीचे दी हुई तालिका से लगाया जा सकता है :—

वर्ष	प्रदान किए गए ऋणो का योग	प्रदत्त ऋण की मात्रा	दत्त पूँजी के प्रतिशत के रूप मे प्रदत्त ऋण की मात्रा
	रु०	रु०	
३१-३-१९५६			..
३१-३-१९५७	५,५०,०००	५,५०,०००	५·५%
३१-३-१९५८	४०,८६,०००	४०,६१,०००	४०·६१%
३१-३-१९५९	४८,१५,०००	४३,२६,५००	४२·२७%
३१-३-१९६०	६०,०२,५००	४९,१०,४४९	४९·१%

राज्य वित्त निगमो के कार्यों की आलोचना

यद्यपि कई राज्यो मे अभी वित्त निगम भली प्रकार स्थापित नही हो पाये हैं, तथापि कुछ वित्त निगमो के कार्यों से यह प्रगट होता है कि यदि उनकी सरचना एव कार्य प्रणाली मे कुछ परिवर्तन कर दिये जायँ तो वे अधिक उपयुक्त बन सकते हैं। निगमो की प्रमुख कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं :—

(१) इन निगमो की रचना ऐसी है कि उद्योगो को अपने विस्तार के लिए अतिरिक्त स्थाई सम्पत्तियाँ (मशीनो, इमारतो आदि के रूप म) खरीदने के हेतु पूँजी की सहायता मिल सकती है, किन्तु अधिकाश लघु उद्योगो को कार्यशील पूँजी चाहिए, जिसे देने मे राज्य निगम सकोच करते है।

(२) अधिकाश लघु उद्योगो का सगठन छोटे पैमाने पर हुआ है। उनकी वित्तीय आवश्यकतायें निगम के कार्य-क्षेत्र से परे रह जाती हैं, क्योकि राज्य निगम एक न्यूनतम राशि से कम आर्थिक सहायता नही देते।

(३) लघु उद्योगो द्वारा उचित रूप मे हिसाब किताब नही रखा जाता। ये

उद्योग प्राय. एकल स्वामित्त्व या साझेदारी के आधार पर सगठित किये गये हैं, अतः इन पर हिसाव किताव सम्बन्धी कोई वैधानिक प्रतिबन्ध भी नही है। जब निगम किसी उद्योग को सहायता स्वीकार करता है तो वह यह आशा करता है कि उचित हिसाव-किताव रखा जायेगा। छोटे-छोटे उद्योग इसके लिए अपने को असमर्थ पाते हैं।

(४) लघु उद्योगो के पास प्रतिभूति के रूप मे देने के लिये पर्याप्त स्थाई सम्पत्ति (Block assets) नही है। भूमि और भवन प्राय. किराये का होता है, मशीने भी कम होती है। यही नही, निगम स्थाई सम्पत्ति का ५०% मार्जिन भी छोडता है। फलस्वरूप उद्योग निगम को पर्याप्त प्रतिभूति नही दे पाते हैं।

(५) अधिकाश राज्य-वित्त निगमो ने कर मुक्त ३½% न्यूनतम लाभाश की गारटी के आधार पर पूँजी प्राप्त की है, जिसके कारण वे स्वय उद्योगो से ६% या ७% व्याज लेने के लिये विवश हो जाते हैं, किन्तु यही अन्त नही है। उद्योग को ऋण लेने मे कुछ व्यय करना पडता है, जिसको मिलाकर कुल व्याज लगभग ६-१०% पड जाता है।

राज्य अर्थ-प्रबन्धन निगम (संशोधन) अधिनियम सन् १९५६—

उपरोक्त कठिनाइयो के कारण राज्य निगमो को अधिक सफलता नही मिल रही थी। इन कठिनाइयो को दूर करने के उद्देश्य से सरकार ने अधिनियम मे सशोधन किया और ३० अगस्त सन् १९५६ को राज्य अर्थ-प्रबन्धन निगम (सशोधन) अधिनियम पास हो गया। इसके निम्न उद्देश्य थे :—

(१) पिछले वर्ष मे अनुभव की गई कठिनाइयो को दूर करना।

(२) जो राज्य वित्तीय निगम की स्थापना करने मे असमर्थ है उनके हित के लिए सयुक्त अर्थ-प्रबन्धक निगम की स्थापना करना।

(३) जिन लघु तथा कुटीर उद्योगो के पास प्रत्याभूति (Guarantee) देने के लिये उचित प्रतिभूतियाँ नही हैं उनको राज्य, सरकार, अनुसूचित बैंक अथवा सहकारी बैंक की प्रत्याभूति पर ऋण देना।

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट, १९३४ को ३० अप्रैल सन् १९६० मे सशोधन किया गया है। इस सशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक, स्टेट फाइनान्स कॉरपोरेशन को को केन्द्रीय सरकार अथवा राज्य सरकारो की प्रतिभूति (Security) पर ऋण अथवा अग्रिम १८ मास तक की अवधि के लिए दे सकती है। स्वीकृत की गई ऋण अथवा अग्रिम की कुल धनराशि किसी भी समय निगम की चुकता पूँजी के ६०% से अधिक नही होगी।*

---

* *Reserve Bank of India Bulletin,* June 1960, p 822.

STANDARD QUESTIONS

1 How far do you think the establishment of the Industrial Finance Corporation has been able to remove the drawbacks of Indian industrial finance and has helped in the growth of large scale industries in the Indian Union? Examine critically in the light of its working for the last year

2 Review the working of State Finance Corporations during the past few years and offer suggestions for their better working

---

अध्याय १५

अन्य विशिष्ट अर्थ-संस्थायें

(Other Special Finance Institution)

(I) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम

(National Industrial Development Corporation)

स्थापना—

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (N I D C.) की स्थापना २० अक्टूबर सन् १९५४ को एक करोड रुपये की दत्त पूँजी से की गई है। यह समस्त पूँजी भारत सरकार द्वारा प्रदान की गई है। राष्ट्रीय औद्योगिक निगम पूर्णतया राजकीय सस्था है। इसका पूर्ण स्वामित्व तथा नियन्त्रण सरकार के हाथो मे है। इस निगम की स्थापना देश मे शीघ्रातिशीघ्र औद्योगीकरण करने के उद्देश्य से की गई है। उपभोक्ता उद्योगो के क्षेत्र मे निजी साहस थोडी सी ही बाहरी सहायता से सम्पूर्ण देश की आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकता, किन्तु जहाँ तक आधारभूत व तालिका उद्योगो की स्थापना व विकास का प्रश्न है, निजी क्षेत्र के लिए यह अत्यन्त दुलभ कार्य है। अत. सरकार को इस क्षेत्र मे स्वय अगुआ बनना पडेगा।

उद्गम्—

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की स्थापना की बात तत्कालीन व्यापार एवं उद्योगमन्त्री श्री० टी० टी० कृष्णमाचारी के मस्तिष्क मे आई थी। अक्टूबर सन् १९५३ मे योजना आयोग के उप-अध्यक्ष श्री वी० टी० कृष्णमाचारी ने राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक मे इस बात की घोषणा की थी कि पच वर्षीय योजना के एक अंग के रूप मे एक औद्योगिक विकास निगम की स्थापना की जायगी। इस निगम का मुख्य उद्देश्य अन्य निगमों की भाँति उद्योगो का अर्थ-प्रबन्धन करके, उनके विकास एवं स्थापना के साधनो को जुटाना होगा। निजी साहस को यद्यपि करने मे अधिक सफलता मिलने की आशा नही है, परन्तु वह अपने विनियोगो, अनुभव एवं योग्यता के द्वारा सहायता पहुँचा सकता है। यह निगम अपने उद्देश्य की पूर्ति मे निजी साहस को सहर्ष स्वीकार करेगा और उसका सदुपयोग करेगा।

पूँजी—

'राष्ट्रीय औद्योगिक विकास' निगम की पूँजी १ करोड रुपया है, किन्तु प्रारम्भिक अवस्था मे केवल १० लाख रुपये की दत्त पूँजी होगी, जो सरकार देगी। इस निगम का रजिस्ट्रेशन भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत किया गया है। इस निगम को जो अतिरिक्त राशि की आवश्यकता होगी वह केन्द्रीय सरकार निम्न रीति से प्रदान करेगी :—

(१) औद्योगिक योजनाओ के अध्ययन, अनुसन्धान एव औद्योगिक निर्माण के लिए तथा ऐसी ही अन्य औद्योगिक योजनाओ की पूर्ति के लिए देश मे आवश्यक तान्त्रिक एव शासकीय कर्मचारियो का दल तैयार करने के लिए वार्षिक अनुदान द्वारा। अनुदान की इन राशि का आयोजन वार्षिक बजट मे किया जायगा।

(२) औद्योगिक विकास निगम की प्रस्तावित औद्योगिक योजनाओ की पूर्ति के लिए आवश्यकता के समय देकर।

प्रबन्ध—

औद्योगिक विकास निगम का प्रबन्ध एक सचालक सभा द्वारा होगा, जिसमे २० सदस्य है। वाणिज्य एव उद्योगमन्त्री इसके सभापति हैं। इन सचालको को केन्द्रीय सरकार ने मनोनीत किया है। औद्योगिक अनुभव तथा तान्त्रिक एव इन्जीनियरी कार्यक्षमता की दृष्टि से सचालक सभा मे १० उद्योगपति, ५ अधिकारी तथा ४ इन्जीनियर हैं।

उद्देश्य—

(१) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम का प्रमुख उद्देश्य देश की औद्योगिक उन्नति के लिए आवश्यक मशीनरी एव यन्त्र प्रदान करना तथा आधारभूत उद्योगो का प्रवर्तन एव उनकी स्थापना करना।

(२) देश के औद्योगिक विकास मे सहायक वर्तमान व्यक्तिगत उद्योगो को

तान्त्रिक एवं इञ्जीनियरिंग सेवाओं की सुविधा देना तथा यदि आवश्यक हो तो पूँजी देना।

(३) व्यक्तिगत उपक्रमियों को सरकार द्वारा स्वीकृत औद्योगिक योजनाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक तान्त्रिक, इन्जीनियरिंग, आर्थिक अथवा अन्य सुविधायें प्रदान करना।

(४) प्रस्तावित औद्योगिक योजनाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक अध्ययन करना, उनको तान्त्रिक, इन्जीनियरिंग तथा अन्य सुविधायें प्रदान करना तथा उनकी पूर्ति के लिए धन देना।

इस प्रकार राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम का उद्देश्य लाभार्जन न होते हुए देश के सुदृढ औद्योगिक कलेवर के निर्माण मे सरकार के एजेन्ट के रूप मे कार्य करता है, ताकि जल्दी से देश का औद्योगिक विकास हो सके।

इस उद्देश्य से निगम के बोर्ड ने २३ अक्टूबर सन् १९५४ को हुई अपनी पहली मीटिंग मे उद्योगो की अस्थायी सूची तैयार की, जिसके अध्ययन से निगम को इस बात का पता लग जाय कि नया औद्योगिक विकास किस सीमा तक आवश्यक है और विद्यमान उद्योगो को किस सीमा तक बढाना चाहिये ? चुने गये उद्योग इस प्रकार है :—

(१) कुछ उद्योगो के लिये (जैसे—जूट, कपास, वस्त्र, चीनी, कागज, सीमेंट रासायनिक, छपाई, खान, निर्माण एव यान्त्रिक आवागमन आदि उद्योग) मशीनरी और साज सज्जा (Machinery and Equipment) का निर्माण।

(२) लौह मिश्रण और मैंगनीज फेरोक्रीम।

(३) अल्मूनियम।

(४) तांबा, जस्ता और अलौह धातुयें।

(५) डीजल इंजिन और जैनेरेटर।

(६) भारी रासायनिक द्रव्य।

(७) खाद और उर्वरक।

(८) कोयले और कोलतार का सामान।

(९) मेथानोल, फोरमेलडिहाइड।

(१०) काजल।

(११) कागज, अखबारी कागज आदि बनाने के लिए लकडी की लुगदी।

(१२) कृत्रिम दवायें, विटामिन और हारमोन।

(१३) एक्सरे और डाक्टरी औजार आदि।

(१४) हाइबोर्ड और इन्सूलेशन बोर्ड आदि।

लेकिन यह स्पष्ट है कि मशीनरी और साज-सज्जा के निर्माण पर काफी जोर दिया गया है, क्योकि अगले कुछ वर्षों मे औद्योगिक विकास के विशाल कार्यक्रम पूरे

करने पड़ेगे। स्थूल मशीनरी एवं उद्योग की स्थापना के अलावा निगम कुछ विद्यमान उद्योगों को उनके विशाल पैमाने पर उनके विकास के हेतु भी सहायता करेगा। उदाहरण के लिए, भारत सरकार देश मे ३० नये चीनी मिल स्थापित करके चीनी का उत्पादन १२ लाख टन से बढ़ाकर १८ लाख टन करने का विचार कर रही है, अतः नये चीनी कारखानो की स्थापना के लिए उदारतापूर्वक लाइसेन्स दिये जा रहे हैं। सूती वस्त्र उद्योग की क्षमता मे भी १०० बुनाई मिलो के बराबर वृद्धि करना आवश्यक है। सीमेंट का उत्पादन भी सन् १९६१ तक ४'५ मिलियन टन से १० मिलियन टन तक बढ़ाना चाहिए, अतः निगम इन क्षेत्रो मे अतिरिक्त इकाइयाँ स्थापित करना चाहता है।

कुछ उद्योगो मे, जहा प्राइवेट और पब्लिक प्रयत्नो द्वारा कुछ उन्नति दिखाई गई, जैसे—अल्यूमीनियम और फर्टिलाइजर उद्योगो मे, निगम कोई हस्तक्षेप नही करेगा। वह केवल तब ही सामने आवेगा जब अधिक सहायता या कार्य की आवश्यकता हो। फेरोमैगनीज उद्योगो म भी यदि प्राइवेट प्रयत्नो द्वारा प्रस्तावित और सरकार द्वारा स्वीकृत योजनाये पूरी हो जाती हैं तो निगम कोई हस्तक्षेप नही करेगा। हाँ, क्षेप्य पदार्थों के उपयोग और कच्चे माल के विकास म काफी टैक्नीकल छानबीन तथा सहायता की आवश्यकता है, अतः निगम ने अपने उद्योगो की सूची मे रेयोन, कागज, अखबारी कागज आदि के उत्पादन मे काम आने वाले कोयला, कोलतार, लकडी की लुग्दी आदि शामिल कर लिये हैं। इस कार्य के लिए एक जर्मन विशेषज्ञ भी आमन्त्रित किया गया है।

निगम के बोर्ड ने अनुभव किया है कि देश के शीघ्र औद्योगीकरण के लिए सबसे पहली बात उद्योगो को ठोस टैक्नीकल सहायता प्रदान करना है, अत. उसने परामर्शदाता इञ्जीनियरो की एक संस्था स्थापित करने पर जोर दिया है। योग्य कार्यकर्ताओ का देश मे मिलना कठिन होने के कारण उसने यह सुझाव दिया कि प्रारम्भिक अवस्था मे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त किसी फर्म को भारत मे अपना कार्यालय खोलने के लिए आमन्त्रित किया जाय और यदि आवश्यक हो तो उसे कुछ फीस भी दी जाय। इस फर्म की सेवायें प्राइवेट उद्योगो के लिए भी सुलभ की जावेंगी। इसके अतिरिक्त बोर्ड ने यह भी निश्चय किया है कि व्यापक अनुभव वाले ३ या ४ इञ्जीनियर भी रखे जावें, जो निगम को उसके सामने आने वाली टैक्नीकल समस्याओ को हल करने और निगम द्वारा कार्यान्वित की जाने वाली विशिष्ट योजनाओ की रूपरेखा तैयार करने के लिए उपयुक्त सलाह दगे। इन प्रारम्भिक निर्णयो से यह प्रगट होता है कि निगम का दृष्टिकोण बडा व्यावहारिक है और वह अपने कार्यो को वास्तविक रूप से हल करना चाहता है।

निगम की क्रियाएँ—

औद्योगिक विकास निगम की सचालक सभा की प्रथम बैठक सितम्बर सन् १९५५ मे हुई। इस बैठक मे कुछ औद्योगिक विकास की योजनाएँ स्वीकृत की गई

तथा उन योजनाओं का पर्यवेक्षण भी प्रारम्भ कर दिया गया। निगम ने भारतीय जूट उद्योग के पुनर्स्थापन तथा आधुनीकरण के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिए आवश्यक साधन जुटाने का निश्चय भी कर लिया। इसने एक समिति, जिसके सदस्य अधिकतर उद्योगों से सम्बन्धित थे, की स्थापना की और निश्चय किया कि इस समिति की सिफारिशों के आधार पर स्वीकृत मिलों को केवल ४॥% ब्याज पर दीर्घकालीन ऋण दिया जायगा।

जूट उद्योग की सात मिलों को आधुनीकरण के लिए राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम ने १·३६ करोड रुपए का ऋण दे दिया है और ८ अन्य मिलों के लिए १·५८ रुपये का ऋण निगम के विचाराधीन है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि उपरोक्त ऋणों के द्वारा तथा जूट उद्योग के आन्तरिक साधनों के द्वारा सम्पूर्ण जूट उद्योग की लगभग आधी पुरानी मशीनों का आधुनीकरण हो जायगा।*

निगम ने कुछ अन्य उद्योगों की स्थापना करने का भी निश्चय किया है। ये उद्योग स्टील फाउण्ड्रीज फोर्जेज, प्रिंटिंग मशीनरी, एयर कम्प्रेसर्स (Air Compressors), कागज की लुग्दी, कार्बन इत्यादि है।

निगम के सचालकों ने २३ मार्च सन् १९५६ को दिल्ली में हुई बैठक में सरकार के सम्मुख कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव रखे। इन सुझावों में से एक सुझाव 'सिन्थैटिक रबड प्लान्ट', (Synthetic Rubber Plant) के सम्बन्ध में भी था। निगम ने भारतीय सरकार के सामने तीन योजनाओं के पर्यवेक्षण कराने का सुझाव रखा। ये योजनाएँ निम्न चीजों के निर्माण से सम्बन्धित थी :—

(अ) औद्योगिक मशीनरी तथा प्लान्ट,

(ब) एल्यूमिनियम, तथा

(स) एलीमेन्टल फास्फोरस (Elemental Phosphorus)

निगम ने यह भी निश्चय किया है कि 'स्ट्रक्चरल-कम-मशीनशाप' (Structural-Cum-Machineshop) भिलाई में तथा 'स्ट्रक्चरल शाप' दुर्गापुर में स्थापित किए जायेंगे। निगम ने सूती वस्त्र उद्योग के पुनर्स्थापन तथा आधुनीकरण करने के सम्बन्ध में आर्थिक सहायता की समस्या पर विचार किया। सचालक सभा की एक समिति वस्त्र उद्योग से प्राप्त ऋण आवेदन पत्रों पर विचार करने के लिए स्थापित की गई। यह उपसमिति 'टेक्सटाइल कमिश्नर' के कार्यालय के पर्यवेक्षण दल की सहायता से कार्य करेगी।

द्वितीय पच-वर्षीय योजना में कार्य क्रम—

द्वितीय पच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत निगम की क्रियाओं के लिए ५५ करोड रुपये की धनराशि का प्रावधान किया गया था। इस धनराशि का एक भाग (लगभग २० या २५ करोड रु०) सूती वस्त्र उद्योग तथा जूट उद्योग के आधुनीकरण की

* *Indian Finance*, August 2, 1958, p. 175.

योजनाम्रो को सफल बनाने मे खर्च किया गया। शेष धनराशि नवीन आधारभूत तथा मुख्य उद्योगो के निर्माण तथा प्रवर्त्तन मे व्यय की गई।

आलोचना--

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम को तखमीना समिति की राय मे निगम से वित्तीय व्यवस्था का काम छीन लिया जाना चाहिए, जोकि उसका इस समय मुख्य कार्य है। समिति का कहना है कि यदि ऐसा हो जाय, तो निगम का विकास सम्बन्धी कार्य अन्य संस्थाएं कर सकती हैं। इस दशा मे सिफारिश की गई है कि सरकार को विचार करना चाहिए कि निगम को बनाये रखना कहाँ तक उचित है। तखमीना समिति की -१२२वीं ,रिपोर्ट आज लोकसभा मे रख दी गई। समिति की राय मे निगम निजी व सरकारी क्षेत्र मे उद्योगो का सन्तुलित विकास करने मे भी असमर्थ है। क्योकि हिन्दुस्तान स्टील, हिन्दुस्तान मैशीन टूल्स आदि उद्योग उसकी सहायता के बगैर ही स्थापित कर लिये गये और इसके अलावा उसके पास टैक्नीकल स्टाफ भी नही है।

(II) औद्योगिक ऋण एवं अर्थ निगम

(Industrial Credit and Finance Corporation)

यह एक विशुद्ध गैर सरकारी संस्था है, जिसकी स्थापना जनवरी सन् १६५५ मे २५ करोड रुपये की अधिकृत पूंजी से हुई है। इसका मुख्य उद्देश्य नये उद्योगो के प्रवर्तन को प्रोत्साहित करना, विद्यमान उद्योगो का विस्तार तथा आधुनिकीकरण करना एव तान्त्रिक तथा प्रबन्ध सम्बन्धी सहायता देना है, जिससे राष्ट्रीय उत्पादन 'दिन दूनी रात चौगुनी' उन्नति करे और रोजगार के अवसरो की वृद्धि हो।

उद्गम--

सन् १६५३ मे भारत सरकार तथा विश्व बैंक द्वारा नियुक्त तीन व्यक्तियो के मण्डल ने इङ्गलैण्ड के औद्योगिक तथा व्यापारिक वित्त निगम के आधार पर उपरोक्त निगम को स्थापित करने का निश्चय किया था, क्योकि भारतीय औद्योगिक अर्थ निगम अर्द्ध सरकारी होने के कारण उद्योगो की दीर्घकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति उतनी कुशलता से नही कर सका जैसी कि इसको करना चाहिये था। फरवरी सन् १६५४ मे विश्व बैंक का एक प्रतिनिधि एव अमेरिका के वित्त निगमो के दो प्रतिनिधि भारतवर्ष मे आये। निगम की स्थापना के ध्येय ने भारत सरकार के प्रतिनिधियो तथा बम्बई, मद्रास, कलकत्ता तथा दिल्ली के उद्योगपतियो की सलाह से, 'स्टीयरिंग समिति' नियुक्त की गई। इस समिति मे ५ सदस्य थे, जिनमे से २ सदस्य संयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा संयुक्त राज्य विदेशी विनियोक्ताओ तथा विश्व बैंक की सहायता प्राप्त करने के लिये गये। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप निगम का रजिस्ट्रेशन जनवरी सन् १६५५ मे भारतीय कम्पनी अधिनियम (Indian Companeis Act) के अन्तर्गत हुआ। इसका प्रमुख कार्यालय बम्बई मे है।

पूँजी का ढाँचा—

निगम की अधिकृत पूँजी २५ करोड रु० है, जो सौ-सौ रुपये के ५ लाख साधारण अंशो तथा सौ-सौ रुपये के २० लाख अवर्गीय अंशो (Unclassified Shares) मे विभाजित है। निगम की चुकता पूँजी ५ करोड रुपये है, जो सौ-सौ रुपये वाले ५ लाख साधारण अंशो मे विभाजित है। अंशो का निर्गमन सम मूल्य पर किया गया और उनके धारियो को प्रति अंश पर एक मत (वोट) देने का अधिकार है। निर्गमित पूँजी का क्रय विभिन्न संस्थाओ के द्वारा इस प्रकार किया गया है :—

(१) भारतीय बैंक, बीमा कम्पनियाँ तथा विनियोक्ता वर्ग आदि	३½ करोड रु०
(२) ब्रिटिश ईस्टर्न एक्सचेंज बैंक तथा अन्य औद्योगिक सगठन आदि	१ करोड रु०
(३) अमरीकी विनियोक्ता-गण	५० लाख रु०
योग	५ करोड रुपये

अमेरिकन विनियोक्तागणो मे 'रोकफैलर ब्रदर्स' 'वेस्टिंग हाउस', 'इलेक्ट्रीकल इन्टरनेशनल कम्पनी' तथा 'मेसर्स आलिन मैथीमन केमिकल कॉरपोरेशन' सम्मिलित हैं।

भारत सरकार ने निगम को ७½ करोड रुपये का ऋण बिना ब्याज के दिया है, जिसका भुगतान १५ वार्षिक किस्तो मे ऋण देने की तिथि के १५ वर्ष पश्चात होगा। विश्व बैंक ने भी निगम को समय-समय पर विविध मुद्राओ मे १० मि० डालर के बराबर ऋण देना स्वीकार किया है। ऋण के मूलधन, ब्याज तथा अन्य व्ययो की गारन्टी भारत सरकार ने मार्च सन् १९५५ मे दी है। ऋण की अवधि ५ वर्ष तथा ब्याज की दर ४½% है। जीवन बीमा के राष्ट्रीयकृत हो जाने के कारण भारतीय सरकार के स्वामित्व व अधिकार मे पूँजी का लगभग १८% भाग आ गया है। परन्तु सरकार इसका दुरुपयोग नही करना चाहती है।

उद्देश्य—

औद्योगिक ऋण एवं अर्थ निगम का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तिगत क्षेत्रो के औद्योगिक उपक्रमो को सहायता प्रदान करना है। यह सहायता निम्न रीति से दी जावेगी :—

(१) ऐसे उपक्रमो के निर्माण, विस्तार एवं आधुनिकीकरण मे आर्थिक सहायता देना।

(२) ऐसे उपक्रमो मे देशी एवं विदेशी व्यक्तिगत पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहन देना।

(३) विनियोग विपणि को विस्तृत करना एवं औद्योगिक विनियोगो के व्यक्तिगत स्वामित्व को प्रोत्साहित करना।

(४) व्यक्तिगत उपक्रमियों को मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन आर्थिक सुविधायें देना अथवा उनके निर्गमित साधारण अंशों को खरीद कर आर्थिक सुविधायें देना।

(५) नई कम्पनियों के अंशों एवं प्रतिभूतियों का अभिगोपन करना।

(६) व्यक्तिगत उपक्रमों के लिए व्यक्तिगत विनियोग स्रोतों से प्राप्त ऋणों की जमानत देना।

(७) चक्रित विनियोग द्वारा पुनः विनियोग के लिये व्यक्तिगत उपक्रमों को राशि प्रदान करना।

(८) व्यक्तिगत उपक्रमों को प्रबन्ध सम्बन्धी तांत्रिक एवं शासकीय सलाह देना एवं उनके उद्योगों को इस हेतु आवश्यक विशेषज्ञ प्रदान करना।

प्रबन्ध—

इस निगम का प्रबन्ध संचालक सभा द्वारा होगा, जिसमें ११ सदस्य तथा १ जनरल मैनेजर होगा। इन संचालकों में ७ भारतीय, २ ब्रिटिश, १ अमरीकी तथा १ संचालक वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्रालय की ओर से है। इसके जनरल मैनेजर बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड के प्रमुख कोषाध्यक्ष पी० एस० बील हैं तथा चेयरमैन श्री रामास्वामी मुदालियर है।

भारत सरकार ने कम्पनी को ७½ करोड़ रुपये की राशि देना स्वीकार कर लिया है, जिस पर कोई ब्याज न होगा। यह राशि कम्पनी को धन मिलने की तिथि से १५ वर्ष बीत जाने के बाद से शुरू होने वाली १५ वार्षिक किश्तों में चुकाई जावेगी। सरकार को एक संचालक नामांकित करने का अधिकार है। विश्व बैंक ने कम्पनी को समय समय पर विभिन्न मुद्राओं में १ करोड़ डालर की राशि उधार देना स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार निगम को १७½ करोड़ रुपये की कार्यशील पूँजी मिल गई है। यह भी आशा है कि इस निगम के माध्यम से विदेशी पूँजी का ऋणों के रूप में मदद मिलेगी और कुछ ही समय में निगम के पास ५० करोड़ रुपये हो जायेंगे।

निगम के अंशधारी दूर-दूर तक फैले हुये हैं और इसके कार्यों तथा पूँजी नियोजन के अन्तर्गत छोटे-बड़े सब तरह के उद्योग धन्धे आ जायेंगे। निगम दीर्घकालीन और मध्यकालीन ऋण देगा, अंश पूँजी में भाग लेगा और प्रतिभूतियों के नये निर्गमन का अभिगोपन करेगा। निगम का प्रारम्भिक धन और वह धन जो इसको विश्व बैंक से मिलता है, यदि विवेक से काम में लाया जाय तो वह देश में व्यक्तिगत पूँजी बाजार के साधनों को और भी बढ़ा सकता है तथा भविष्य में उपलब्ध सरकारी तथा अर्द्ध सरकारी सुविधाओं को प्रोत्साहित कर सकता है।

निगम के कार्य और उनकी आलोचना—

सन् १९५६ के अन्त में कम्पनी ने २४ योजनाओं के सम्बन्ध में सहायता देना

स्वीकार किया था और शेष विचाराधीन थी। बाद मे कुछ और योजनायें स्वीकृत की गई। इस प्रकार कुल २८ योजनाओ के लिए ८ करोड से अधिक रुपया स्वीकृत किया जा चुका है। निगम के लिए यह कोई बडी सफलता नही कही जा सकती। यह भी दोष बताया जाता है कि निगम का कार्य बहुत धीमा है और अपनी ऋण एव विनियोग नीति मे वह अत्यधिक कृपणता से काम ले रहा है।

इस सम्बन्ध मे कम्पनी की द्वितीय वार्षिक व्यापक सभा मे, जोकि २२ अप्रैल सन् १६५७ को बम्बई मे हुई, अध्यक्ष पद से अपने भाषण मे श्री रामास्वामी मुदालियर ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। उन्होने बताया है कि निगम के विरुद्ध आक्षेपो की जाँच कराई गई है और वे सही नही लगे। उन्होने बताया कि कम्पनी को प्रारम्भ हुए अभी थोडा समय हुआ है, अत. सगठित होने व अनुभव प्राप्त करने मे कुछ समय लगना अनिवार्य है। ऐसा ही कारोबार करने वाली भारत और विदेशो की अन्य कम्पनियो का भी रिकार्ड उनकी प्रारम्भिक अवस्थाओ मे बहुत कुछ इस निगम के ही समान था। फिर निगम का कार्य-क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है। वह कुछ ऐसे कार्यों को भी कर रहा है, जो कि अन्य कम्पनियो ने भारत मे नही किये। निगम कोई पूर्णतः ऋण देने वाली कम्पनी मात्र नही है, जिसका सम्बन्ध केवल उस प्रतिभूति से हो जोकि बदले मे उसे दी जा रही है। इसने अशो के अभिगोपन का कार्य भी किया और वस्तुतः कई कम्पनियो की अश पूँजी मे भाग लिया है। इस सबके लिए यह स्वाभाविक है कि कम्पनी द्वारा प्रस्तुत किए गये आवेदन-पत्रो की निकट से जाँच की जाय।

श्री मुदालियर ने कहा कि कम्पनी के पास न केवल अशधारियो का, अपितु सरकार का भी काफी धन ऋण के रूप मे है। कम्पनी के उद्देश्य स्पष्ट रूप से सीमाबद्ध कर दिए गए है और इन्हे अति सावधानी से ही पूरा किया जा सकता है। निश्चय ही ऐसे उद्देश्यो की पूर्ति मे कुछ खतरा तो लेना ही पडेगा, परन्तु यह खतरा अन्धे होकर नही लेना चाहिए, सोच-समझ कर उठाना है। कुछ उद्योगपतियो को इस बात की शिकायत है कि प्रस्तावो पर व्यर्थ इतना सोच-विचार किया जाता है। वे ऐसा कह सकते है, क्योकि उन्होने योजनाओं की अपने सन्तोष के लिए परीक्षा कर ली है, परन्तु इससे यह तो नही कहा जा सकता कि निगम जाँच न करे या ढिलाई बरते। यदि निगम ऐसा करे तो वह अपने कर्त्तव्यपालन मे त्रुटि का दोषी होगा।

निगम के विरुद्ध यह आरोप लगाया जाता है कि वह विश्व बैंक द्वारा दिये गये १० मिलियन डालर के ऋण का उपयोग करने मे असमर्थ रहा है। इस सम्बन्ध मे श्री मुदालियर ने बताया कि कम्पनी स्वतः यह चाहती थी कि इसका प्रयोग किया जाये, परन्तु दुर्भाग्य से कम्पनी के पास विदेशी मुद्रा की सुविधा देने के लिए एक भी आवेदन-पत्र नही आया, क्योकि औद्योगिको और प्रवर्तको को सामान्य ढङ्ग से ही पर्याप्त विदेशी मुद्रा प्राप्त हो जाती थी, अतः ऐसी स्थिति मे विश्व बैंक से सहायता लेने का प्रश्न नही उठा। कम्पनी बेकार मे ही क्यो एक साधन से हाथ धोये। हाँ,

अब विदेशी मुद्रा का अभाव अनुभव किया जा रहा है और विदेशी मुद्रा के ऋणो के आवेदन भी आने लगे है।

कम्पनी की स्थापना प्राइवेट क्षेत्र मे उद्योगो के विकास को प्रोत्साहित करने के लिए की गई है, किन्तु श्री मुदालियर ने कहा कि सन् १९५४ से प्राइवेट क्षेत्र की स्थिति बिगड गई है। यदि प्राइवेट क्षेत्र मे नये उद्योग स्थापित करना है और पुरानो का विस्तार एव आधुनिकीकरण करना है तो यह आवश्यक था कि इस क्षेत्र मे विनियोग करने वाली जनता को धक्का न पहुँचे। दुर्भाग्य से अभी हाल मे ऊँचे कर लगा दिये गये है। आय-कर, कॉरपोरेशन टैक्स और सुपर टैक्स मे वृद्धि हो गई है, पूँजी लाभ पर कर लग गया है और पिछले एव चालू लाभो के सम्बन्ध मे डिपोजिट सिस्टम चालू कर दिया गया है। इन सबका प्राइवेट क्षेत्र के विकास पर बुरा प्रभाव पडा है। जो थोडा बहुत विकास आज प्राइवेट क्षेत्र मे दिखाई पड रहा है वह पूर्व योजनाओ का परिणाम है। नई योजनाओ पर तो बडा कुठाराघात हुआ है। निश्चय ही सरकार को कुछ अधिक आमदनी हो गई है। वह पब्लिक क्षेत्र मे अधिक विकास कर सकती है, लेकिन दूसरी ओर प्राइवेट क्षेत्र का विकास खतरे मे पड गया है और भारतीय एव विदेशी, दोनो ही पूँजियो का अभाव हो गया है। सम्भवत. इसलिए सरकार ने अभी हाल मे विदेशी पूँजी को कुछ अधिक सुविधायें दी है। यह इस बात का प्रमाण है कि सरकार कर नीति के परिणामो को समझ रही है।

निगम के प्रारम्भ सन् १९५५ से लेकर सन् १९५९ के अन्त तक ५९ कम्पनियो के लिये स्वीकृत की गई वित्तीय सहायता २०'४० करोड रुपये थी। सन् १९५८, सन् १९५७ और सन् १९५६ के अन्त तक यही सहायता क्रमश. १३ ३७ करोड रुपये, ११'६५ करोड रुपये तथा ६'०१ करोड रुपये थी और कम्पनियो की सख्या क्रमशः ४४, २८ तथा ११ थी।

सन् १९५९ के अन्त तक स्वीकृत किए गये २०'४० करोड रुपये मे से १०'२४ करोड रुपये (लगभग ५०%) ऋण और गारन्टी के रूप मे थे। ८'३० करोड रुपये साधारण तथा पूर्वाधिकारी अशो के अभिगोपन (Under writing) कार्य के लिए थे। शेष १'८६ करोड रुपये साधारण तथा पूर्वाधिकार अशो का क्रय करके दिये गये।

निगम ने अपनी क्रियाओ मे और अधिक प्रसार किया है और पहली बार सन् १९५८ मे विदेशी मुद्रा मे ऋणो को बाँटा है। सन् १९५९ के अन्त तक स्वीकृत किए गए ऋणो मे से ६'७८ करोड रुपये (कुल ऋण का ६६%) विदेशी मुद्रा मे तथा ३'५५ करोड रुपये (कुल का ३४%) के ऋण देशी मुद्रा मे दिये गये।

कॉरपोरेशन की कुल आय सन् १९५९ मे ५७ लाख रुपये थी। यही आय सन् १९५८, १९५७ और १९५६ मे क्रमशः ५७ लाख, ५४ लाख और ४७ लाख रुपये थी। सस्थापन तथा अन्य व्यय (७'२९ लाख रुपये) तथा करो के लिये प्रावधान (२२४३ लाख रुपये) करने के पश्चात् कॉरपोरेशन को २८'३३ लाख रुपये का शुद्ध

लाभ (Net Profit) हुआ, जो कि पिछले वर्ष (२५·२२ लाख रुपये) की अपेक्षा मे ३ ५१ लाख रुपये अधिक था।*

(III) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम प्राइवेट लिमिटेड

(National Small Industries Corporation Private Limited)

स्थापना—

सरकारी आदेशो की पूर्ति के लिए लघु उद्योगो के उत्पादन का सगठन करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने लघु उद्योगो के लिए एक निगम की स्थापना की है। निगम एक प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी के रूप मे रजिस्टर्ड कराया गया है।

निगम की पूंजी—

निगम की स्थापना २० लाख रुपये की अधिकृत पूंजी से निजी सीमित कम्पनी के रूप मे हुई है। इसे केन्द्रीय सरकार से आवश्यकतानुसार अतिरिक्त आर्थिक सहायता मिलती रहेगी। इसका प्रधान कार्यालय दिल्ली मे रखा गया है।

निगम के उद्देश्य—

(१) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो के समय समय पर निकलने वाले सप्लाई सम्बन्धी टेन्डरो को दिलाना।

(२) निगम उन उद्योगो की तान्त्रिक एव आर्थिक सहायता करेगा जो कि केन्द्रीय एव राज्य सरकारो की आवश्यकता का सामान तैयार करते है, ताकि उनका उत्पादन प्रमाप के अनुसार हो।

(३) निगम का मुख्य कर्त्तव्य लघु एव विशाल उद्योगो के बीच सामजस्य लाना भी है, ताकि लघु उद्योग विशाल उद्योगो के पूरक बन सके। यह आशा भी की जाती है कि निगम द्वारा छोटे उद्योगो को बडे उद्योगो से छोटे-मोटे पुर्जों के लिए आदेश प्राप्त हो जाया करेगे।

निगम की क्रियायें—

निगम ने राज्य सरकारो की सिफारिश पर 'डाइरेक्टर जनरल ऑफ सप्लाइज एण्ड डिस्पोजल्स' की आवश्यकता पूर्ति के लिए अपने द्वारा रजिस्टर्ड लघु उद्योगो को आदेश दिये है। प्रारम्भ मे २०० वस्तुओ से अधिक के आदेश कुटीर तथा उद्योगो के लिए सुरक्षित किए गये थे। सन् १९५५-५६ मे निगम ने छोटे उद्योगो के लिए ४,६८,५६५ रु० के आदेश प्राप्त किए।

निगम ने तीन 'चल विक्रय गाडियाँ' दिल्ली क्षेत्र की ३०० वस्तुओ का क्रय करने के लिए चालू कर दी है। इसके अतिरिक्त आगरा के लघु उद्योगो द्वारा निर्मित जूतो का विक्रय करने के लिए आगरा मे एक होल सेल डिपो भी खोला गया है। इसी प्रकार अलीगढ के तालो और खुर्जा की पॉटरीज के लिए अलीगढ मे एक होल-सेल डिपो

---

* Reserve Bank of India Bulletin, April 1960

खोली जा रही है। लघु उद्योगों को मशीन भी किराया खरीद आधार पर सप्लाई करने की व्यवस्था की जा रही है।

निगम की क्रियाओं को और विस्तृत करने के लिए चार और शाखायें, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और दिल्ली में खोली जायगी। सब राज्यों में कार्यक्रम प्रसारित करने के उद्देश्य से 'उद्योग सेवा संस्थाओं' की संख्या ४ से बढ़ाकर २० कर दी जावेगी।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत कुटीर एवं लघु उद्योगों पर कुल व्यय इस प्रकार किया गया है, जिसका ब्यौरा निम्न प्रकार है :—

सन् १९५१-५६

विवरण	करोड़ रुपये
हाथ कर्घा	११.१
खादी	७.४
ग्राम उद्योग	४.१
लघु उद्योग	५.३
हस्त शिल्प	१.०
सिल्क एवं सेरीकल्चर	१.३
योग	३०.२ करोड़ रुपये

द्वितीय पंच वर्षीय योजना के अन्तर्गत लघु उद्योगों के विकास के लिये २०० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। इसका ब्यौरा निम्न प्रकार है :—

(१) हाथ कर्घा	५९.५ करोड़ रुपये
(२) खादी	१६.७ ,, ,,
(३) ग्राम उद्योग	३८.८ ,, ,,
(४) दस्तकारियाँ	९.० ,, ,,
(५) लघु उद्योग	५५.० ,, ,,
(६) अन्य उद्योग	६.० ,, ,,
(७) सामान्य योजनायें, प्रशासन, शोध आदि	१५.० ,, ,,
	२००.० करोड़ रुपये

तृतीय पंच-वर्षीय योजना में २६९ करोड़ रुपये कुटीर, लघु एवं मध्यम वर्ग के उद्योगों के विकास के हेतु आवंटित किए गये हैं।

अभी हाल में ही हमारी केन्द्रीय सरकार ने राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम के लिए १० मिलियन डालर की धन राशि प्राप्त करने के उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के 'विकास-ऋण कोष' (Development Loan Fund of U. S.) से एक अनुबन्ध किया है। इस राशि का प्रयोग मुख्यत: लघु उद्योगों के हितार्थ मशीनरी को

आयात करने के लिए किया जाएगा। यह मशीनरी लघु उद्योगों को किराया खरीद के आधार पर प्रदान की जाएगी।*

(IV) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम
(International Finance Corporation)

स्थापना—

निजी व्यवसाय को विशेष रूप से आर्थिक सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से जुलाई, सन् १६५६ में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation) की स्थापना की गई। यह एक सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है तथा इसका अनेक देशों का सहयोग प्राप्त है। इस अन्तर्राष्ट्रीय निगम के सदस्य केवल वे ही देश हो सकते हैं, जो विश्व बैंक के सदस्य हैं। आज तक ३२ देश इसके सदस्य हो चुके हैं।

उद्देश्य—

निगम का प्रमुख उद्देश्य वित्तीय सहायता द्वारा अपने सदस्य देशों की आर्थिक उन्नति करना है। निम्न ढङ्गों से यह निगम इस उद्देश्य की पूर्ति करेगा :—

(१) यदि पर्याप्त मात्रा व उचित शर्तों पर निजी पूंजी उपलब्ध नहीं हो रही है, तो उसकी व्यवस्था करना।

(२) विकास सम्बन्धी सुअवसरों, निजी पूंजी (देशी एवं विदेशी) तथा कुशलता को एकत्रित करके निकास गृह (Clearing house) के रूप में कार्य करना।

(३) देशी तथा विदेशी निजी पूंजी के उत्पादनशील विनियोग को प्रोत्साहित करना।

पूंजी—

इस निगम की अधिकृत पूंजी १०० मिलियन डालर है। प्रमुख देशों द्वारा, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की पूंजी, इस प्रकार क्रय की गई है :—

क्रम संख्या	देश	राशि (००० डालरों में)
१.	संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	३५,१६८
२.	इङ्गलैण्ड	१४,४००
३	फ्रान्स	५,८१५
४	भारत	४,४३०
५.	जर्मनी	३,६५५
६.	कनाडा	३,६००
७.	जापान	२,७६८
८.	आस्ट्रेलिया	२,२१५
६.	पाकिस्तान	१,१०८
१०.	स्वीडन	१,१०८

* See 'Economic Times' dated 10 March, 19 1.

निगम को अपने बान्ड इत्यादि बेचकर रुपये जुटाने का अधिकार है, किन्तु सम्भवतः प्रारम्भिक वर्षों में इस अधिकार का प्रयोग नहीं किया जाएगा, अतः विनियोग के लिए उपलब्ध कोष इसकी प्रार्थित पूँजी तक ही सीमित है।

निगम का प्रबन्ध—

निगम अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के साथ मिल कर काम करेगा, यद्यपि उसका एक पृथक वैधानिक अस्तित्व है और उसके कोष भी बैंक से बिल्कुल पृथक हैं। जो सरकारें बैंक की सदस्य है वे ही निगम की सदस्य बन सकती हैं। बैंक के ये एक्जीक्यूटिव डाइरेक्टर जो कम से कम एक सरकार का प्रतिनिधित्व करते हैं, निगम के डाइरेक्टर का भी काम करेंगे। बैंक का प्रेसीडेन्ट इस बोर्ड का चेयरमैन होगा। निगम का प्रेसीडेण्ट बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स द्वारा चेयरमैन की सिफारिश पर नियुक्त किया जाता है और निगम का अपना स्टॉफ है।

विनियोग-प्रस्ताव की स्वीकृति के लिए योग्यता-गुण—

(१) निगम विनियोग सम्बन्धी उन्हीं प्रस्तावों पर विचार करेगा जिनका उद्देश्य किसी उत्पादक प्राइवेट उपक्रम (Productive Private Enterprise) की स्थापना, विस्तार या सुधार करना है।

(२) निगम से वित्तीय सहायता पाने वाले उपक्रम किसी सदस्य देश में ही स्थापित होने चाहिए। प्रारम्भिक वर्षों में निगम केवल अविकसित देशों के विषय में ही अपना ध्यान केन्द्रित करेगा।

(३) निगम यह आशा करता है कि प्राइवेट विनियोग भी आवश्यक पूँजी का कम से कम आधा होगा। वस्तुतः निगम वित्तीय सहायता के लिए तभी हाथ बढ़ाएगा जबकि प्राइवेट विनियोग यथासम्भव पूँजी दे चुके हों और शेष पूँजी समुचित शर्तों पर प्राप्त करना असम्भव हो।

(४) प्रारम्भिक वर्षों में निगम ऐसे ही विनियोग प्रस्तावों पर विचार करेगा :—

(i) जिनमें उपक्रम का नया विनियोग कम से कम पाँच लाख अमेरीकन डालर हो, और

(ii) निगम से कम से कम १,००,००० डालर की सहायता माँगी गई हो।

(५) सहायता की अधिकतम मात्रा तो अभी निर्धारित नहीं की गई, किन्तु सामान्य नीति यह होगी कि इने-गिने उपक्रमों में बड़ी राशियाँ लगाने की अपेक्षा पर्याप्त संख्या में समुचित मात्रा के विनियोग किये जायें।

(६) यों तो कार्पोरेशन से औद्योगिक, कृषि, वित्तीय, व्यापारिक एवं अन्य प्राइवेट उपक्रम सभी सहायता ले सकते हैं, बशर्ते उनका कार्य उत्पादन से सम्बन्ध रखता है, तथापि प्रारम्भिक वर्षों में कॉरपोरेशन उन्हीं उपक्रमों को चुनेगा जो कि औद्योगिक प्रकृति के हों। वह गृह-निर्माण, अस्पताल, स्कूल आदि सामाजिक उपक्रमों

या सार्वजनिक उपयोगिता के उपक्रमो मे विनियोग नही करेगा। निगम किसी ऐसे वित्त प्रबन्ध म भी भाग न लेगा जो कि पुनर्प्रबन्धन (re-financing) के लिये हैं।

(७) निगम केवल प्राइवेट उपक्रमों को सहायता देगा, सरकारी उपक्रमो को नही। किसी उपक्रम म सरकारी कोष लगे होने से ही वह निगम की सहायता से वचित नही होगा, बशर्ते उसका स्वभाव एक प्राइवेट उपक्रम जैसा हो।

विभिन्न विचार-योग्य प्रस्तावो पर अंतिम निर्णय देते समय कॉरपोरेशन निम्न बातो का ध्यान रखेगा :—

(१) निगम की सहायता से अन्य विनियोगको द्वारा प्राइवेट पूँजी का विनियोग कितना बढ जायेगा ?

(२) निगम व उसके सहयोगियो को विनियोग से लाभ की क्या सम्भावनायें हैं ?

(३) निगम के विनियोग करने से उत्पादन को कितना प्रोत्साहन मिलेगा।

वित्तीय प्रबन्ध के रूप एवं ढंग—

निगम को यह अधिकार है कि वह किसी भी रूप मे विनियोग करे, किन्तु केवल एक अपवाद यह रखा गया है कि वह पूँजी अशो मे विनियोग नही कर सकता, अत. निगम के विनियोग ऋण के समान होंगे, किन्तु साधारण ऋण की भाँति नही होंगे। कॉरपोरेशन अपना विनियोग निरन्तर बदलता रहना चाहता है, अतः प्रत्येक दशा म उसका प्रमुख उद्देश्य विनियोग के सम्बन्ध मे ऐसा अधिकार प्राप्त करना होगा कि ऋण को अशो मे बदला जा सके। कॉरपोरेशन स्वय इस अधिकार का प्रयोग नही करेगा, किन्तु जिसे वह अपने ऋण बेच देगा वह ऐसा कर सकेगा। इस प्रकार निगम अपने सफल विनियोगो को लाभ पर बेच सकेगा। कॉरपोरेशन यह भी चाहेगा कि स्थाई ब्याज के अलावा उसे लाभो मे भी कुछ भाग दिया जाय, जिससे उपयुक्त क्रेता मिलने तक वह लाभ ग्रहण कर सके।

ब्याज की दर—

ब्याज की दर प्रत्येक दशा मे विशिष्ट परिस्थितियो एव जोखम के अनुसार निश्चित की जायेगी। निगम द्वारा दिये गये ऋणो की अवधि प्राय. ५ से १५ वर्ष तक हुआ करेगी। किस्तो मे भी विनियोग के भुगतान की व्यवस्था की जा सकती है। निगम ऋण जमानत पर या बिना जमानत के दे सकते हैं। यदि वह जमानत लेगा तो उसका क्या रूप होगा, यह प्रार्थी की हैसियत एव विनियोग की शर्तों पर निर्भर है।

ऋण देने की शर्तें—

वित्तीय सहायता की रकम इकट्ठी दी जा सकती है या किस्तो मे। इस रकम का प्रयोग प्रार्थी उपक्रम अपने सामान्य व्यापारिक कार्यो म कर सकता है, किसी विशिष्ट सेवा या माल के भुगतान मे उसका प्रयोग किया जाय, ऐसा कोई प्रतिबन्ध

नहीं है। साधारणतः ऋण का अमरीकी डालरों में मूल्यांकन किया जायेगा, किन्तु उपयुक्त दशा में वह करेन्सी में भी किया जा सकता है।

निगम तब ही विनियोग करेगा जब उसे यह सन्तोष हो जाय कि प्रार्थी उपक्रम का प्रबन्धक-वर्ग योग्य एवं अनुभवी है। किन्हीं आवश्यक दशाओं में निगम उपयुक्त प्रबन्धक खोजने में सहायता दे सकता है, किन्तु वह स्वयं प्रबन्ध का उत्तरदायित्व ग्रहण नहीं कर सकता है। निगम सामान्यतः अपने प्राइवेट सहयोगियों से ही प्रबन्धक उपलब्ध करने की अपेक्षा रखता है। हाँ, इतना वह अवश्य चाहेगा कि प्रबन्ध में कोई बड़ा परिवर्तन करने से पूर्व उसकी राय ले ली जायेगी। वह बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स में अपने प्रतिनिधि भी रख सकता है।

निगम इस बात का सन्तोष प्राप्त करना चाहेगा कि उपक्रमों को वास्तव में उस ऋण की आवश्यकता है और प्रबन्धकों ने एक उपयुक्त कार्यक्रम भी तैयार कर लिया है। वह संस्था द्वारा पूँजीगत सामान और सेवाओं के खरीदने का ढंग भी जाँच सकता है, जिससे उसके विनियोग सुरक्षित रहें। यह भी आवश्यक है कि उपक्रम के हिसाब-किताब का सरकारी अंकेक्षकों से निरीक्षण कराया जाय तथा वे निगम के प्रतिनिधियों के लिये खुले रहें। निगम को वार्षिक खाते, प्रगति-विवरण एवं अन्य सूचनायें भेजी जायें। निगम के प्रतिनिधियों को सहायता लेने वाले उपक्रम के प्लान्ट, कारखाने आदि को देखने का भी अधिकार होगा।

निगम का सरकार से सम्बन्ध—

कॉरपोरेशन सरकार की गारन्टी नहीं मांगेगा। हाँ, यदि देश की सरकार को आपत्ति है तो कॉरपोरेशन विनियोग नहीं करेगा। सम्बन्धित देश की सरकार को आपत्ति करने के लिये उचित अवसर प्रदान किया जाय। यदि किसी सदस्य देश की सरकार ने विदेशी विनिमय पर प्रतिबन्ध लगा रखा हो तो एक साधारण विनियोगिक के रूप में निगम अपने विनियोग एवं तत्सम्बन्धी लाभ के ट्रान्सफर के लिये सरकार के साथ उचित समझौता करेगा। इन सब मामलों में निगम कोई विशेष अधिकार नहीं चाहेगा।

पुनः अर्थ प्रबन्धन निगम
(Re Finance Corporation)

स्थापना—

यद्यपि दीर्घकालीन साख की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये देश में अनेक संस्थायें थीं, किन्तु ऐसी कोई भी संस्था नहीं थी जो कि केवल मध्यकालीन साख की व्यवस्था करती हो। अतः औद्योगिक संस्थाओं के लिए मध्यकालीन साख सुविधाओं की व्यवस्था करने के उद्देश्य से ५ जून, सन् १९५८ को पुनः अर्थ प्रबन्धन निगम की स्थापना की गई। यह निगम एक स्वतंत्र अर्द्ध सरकारी संस्था है। यह निजी उद्योगपतियों को तीन से सात वर्ष के लिए ऋण प्रदान करती है।

उद्देश्य—

इस निगम का प्रमुख उद्देश्य मध्यम पैमाने की औद्योगिक इकाइयों को वित्तीय सहायता प्रदान करना है। किसी भी एक संस्था को ५० लाख रु० से अधिक ऋण नहीं मिलेगा। यह निगम इन उद्योगों को प्रत्यक्ष रूप से उधार नहीं देगा, वरन् बैंकों को उधार देने में सहायता पहुँचायेगा। इस निगम से केवल ऐसी ही औद्योगिक संस्थायें ऋण प्राप्त कर सकती हैं जिनकी दत्त और संचित पूँजी २½ करोड़ रु० से अधिक न हो।

पूँजी—

पुनः अर्थ निगम की अधिकृत पूँजी २५ करोड़ रु० तथा निर्गमित पूँजी १२½ करोड़ रुपए है। निर्गमित पूंजी १,२५० अंश पत्रों (प्रति अंश १ लाख रुपया) में विभाजित है, जिसमें से १०% आवेदन पत्र और १०% आबटन पर देना आवश्यक है। इस पूँजी का क्रय निम्न संस्थाओं द्वारा किया गया है :—

(१) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया	५·० करोड़ रुपये
(२) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया	२·५ " "
(३) राज्य जीवन बीमा निगम (L. I. C of India)	२·५ " "
(४) अन्य बैंक	२·५ " "
योग	१२.५ करोड़ रुपये

अन्य बैंकों के अन्तर्गत सेन्ट्रल बैंक आफ इण्डिया, पंजाब नेशनल बैंक लिमिटेड, बैंक आफ बड़ौदा, नेशनल बैंक ऑफ इण्डिया, युनाइटेड कॉमर्शियल बैंक, लायड्स बैंक, इलाहाबाद बैंक, चार्टर्ड बैंक, इण्डियन बैंक, युनाइटेड बैंक, मरकेन्टाइल बैंक ऑफ इण्डिया, डैना बैंक (Dena Bank), तथा स्टेट बैंक ऑफ हैदराबाद सम्मिलित हैं।

अगस्त सन् १९५६ में भारतवर्ष तथा अमेरिका के बीच 'भारत अमरीकी कृषि' सम्बन्धी वस्तुओं का समझौता हुआ था, जिसके अनुसार भारतवर्ष को अपने निजी व्यवसाय वाली संस्थाओं को पुनः उधार देने के लिए ५५ मि० डालर या ३६ करोड़ रुपये का कोष रखा गया था। यह राशि इस निगम को दे दी गई है। २९ जुलाई सन् १९५८ को भारतीय वित्त मन्त्रालय के संयुक्त मन्त्री एन० सी० सैन गुप्ता तथा अमेरिका के टैक्नीकल कोआपरेशन मिशन (T. C. M) के संचालक श्री हावर्ड हौस्टन (Howard Houston) के मध्य हुए समझौते के अनुसार यह ५५ मिलियन डालर का ऋण अमेरिका को भारतवर्ष भारतीय मुद्रा (रुपये) में ३० वर्ष के अन्दर ब्याज सहित वापस कर देगा।*

भारत सरकार समय समय पर निगम को ब्याज पर ऋण देकर सहायता

* *American Reporter, August 13, 1958*

करेगी और उस कोष मे से उचित समय पर ऋण के पुनर्भुगतान का प्रबन्ध करेगी। इस प्रकार से प्रारंभ मे निगम के पास कुल ३८'५ करोड रुपय (१२'५ करोड रु०+२६ करोड रु०) की पूंजी होगी, जिसमे से १५ अनुसूचित बैंकों मे से प्रत्येक का कोटा निश्चित होगा और उसी सीमा के अन्तर्गत निगम से उस बैंक को पुनः अर्थ-प्रबन्ध की सुविधाएँ मिलेगी।

निगम का प्रबन्ध—

पुनः अर्थ प्रबन्धन निगम का प्रबन्ध एक सचालक समिति के द्वारा होगा। इस समिति के सात सदस्य होगे, जिसमे रिजर्व बैंक आफ इन्डिया का गवर्नर उसका चेयरमैन होगा। शेष छः सदस्य इस प्रकार होगे :—

(१) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया का डिप्टी गवर्नर
(२) स्टेट बैंक आफ इण्डिया का चेयरमैन
(३) जीवन बीमा निगम (L. I. C.) का चेयरमैन
(४) अन्य बैंको के तीन प्रतिनिधि।

पुनः अर्थ-प्रबन्धन निगम पूर्व स्थापित औद्योगिक साख तथा विनियोग निगम (Industrial Credit and Investment Corporation) की क्रियाओ मे सहायता पहुँचाता है। वास्तव मे आधारभूत तथा मध्यवर्गीय उद्योगो को अपनी जीर्ण मशीनो तथा साज-सज्जाओ के परिवर्तन के लिए तथा अन्य सम्बन्धित कार्यों के लिए धन की आवश्यकता होती थी, जिसकी पूर्ति अब पुनः अर्थ प्रबन्धन निगम से होने लगेगी। इस प्रकार इस निगम का औद्योगिक क्षेत्र मे विशेष महत्त्व है।

निगम की क्रियाओं का ब्यौरा—

३१ दिसम्बर सन् १९६० को अन्त होने वाले वर्ष तक पुनर्वित्त निगम की क्रियाओ के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि निगम का कार्य क्षेत्र दिन प्रति दिन बढता चला जा रहा है। आलोच्य वर्ष मे पुनर्वित्त के हेतु ८ बैंको से ४५६'५० लाख रुपये के लिए निगम के पास २५ आवेदन पत्र आये, जबकि गत वर्ष केवल ३ बैंकों ने २२३ लाख रु० के लिए ही प्रार्थना पत्र दिए थे। इस प्रकार सदस्य बैंको द्वारा प्राप्त की जाने वाली पुनर्वित्त की राशि लगभग दुगुनी हो गई। १४ प्रार्थना-पत्रो के सम्बन्ध मे निगम ने १७५ लाख रु० की राशि स्वीकार की, किन्तु वास्तव मे १४१ लाख रु० ही प्रदान किया गया, किन्तु यह राशि भी गत दो वर्षों मे प्रदान की हुई राशि (जो ८५ लाख रु० थी) से कही अधिक है।

आलोच्य वर्ष के अन्त तक निगम ने कुल २२६ लाख रु० की राशि (Total Disbursement) प्रदान की, जिसमे से २१६ लाख रु० की राशि अदत्त (Out Standing) थी। निगम के कार्यों के ब्यौरे के अवलोकन से इस बात का स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि पुनर्वित्त (Refinance) की माग दिन प्रति दिन बढती जा रही है। उदाहरण के लिये अकेले जनवरी, फरवरी सन् १९६१ मे ही ८८'४५ लाख रु० के पुनर्वित्त की माग निगम के सम्मुख आई। जैसा कि निगम के

चेयरमेन श्री एच० वी० आर० आयंगर (H. V. R. Iengar) ने कहा है कि तृतीय पंच-वर्षीय योजना अवधि मे निगम का कार्य क्षेत्र बहुत अधिक बढ जायेगा।

इस वर्ष भी निगम द्वारा ऋण देने की दर ५% प्रति वर्ष ही है। अभी हाल मे निगम ने अपने ऋण लेने वालो पर दो शर्ते लगा दी है—(१) ऋण लेने वाली सस्थाओ (अर्थात् बैंको) को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जिस दर पर वे निगम से ऋण ले और जिस पर औद्योगिक सस्थाओ को ऋण दे, उनके बीच कम से कम १½ % का अन्तर हो। (२) यदि स्थानीय वित्तीय सस्थाओ द्वारा औद्योगिक सार्थों को सुगम दरो पर ऋण मिल जाता है और पुनर्वित्त की दशा मे उनको वे सुविधायें नही मिलती, तो ऐसी परिस्थिति में पुनर्वित्त की माग करने वाली सस्थाओ को ऋण नही प्रदान किया जायेगा।

आलोच्य वर्ष मे निगम को २८·८६ लाख रु० की कुल आय हुई। गत वर्ष यह राशि २६·५७ लाख रु० थी। आय मे कमी होने के कारण निगम को लाभ इस वर्ष केवल १९·३९ लाख रु० ही हुआ। गत वर्ष लाभ की राशि २०·०२ लाख रु० थी।

आलोचना—

निगम के अध्यक्ष के अनुसार पुनर्वित्त निगम का क्षेत्र औद्योगिक अर्थ निगम तथा औद्योगिक साख तथा विनियोग निगम की अपेक्षा अधिक सकुचित है। यह निगम केवल मध्यकालीन ऋण (अर्थात् तीन वर्ष से सात वर्ष के लिये) दे सकता है। अत: इस निगम की सुविधाये केवल उन निगमो के लिये उपयुक्त हैं जो सात वर्ष के अदर ऋण का भुगतान कर सके।

सुझाव—

निगम के सचालको ने इसके क्रिया क्षेत्र को विस्तृत करने के लिये निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये है :—

(१) अधिक से अधिक बैंको को चाहे वे निगम के सदस्य हो अथवा न हो पुनर्वित्त निगम की सुविधायें प्रदान करना है।

(२) उन समस्त उद्योगो को जो विकास योजनाओ के अन्तर्गत आते है, सुविधायें प्रदान करना है।

(३) निगम द्वारा लिये गये ऋण और इस ऋण को पुनः देने पर ब्याज की दर मे अन्तर कम से कम १½% प्रतिशत का हो, इस प्रतिबध को दूर करना।

ये सुझाव केन्द्रीय सरकार तथा भारत स्थित सयुक्त राष्ट्र तात्रिक सहयोग आन्दोलन (U. S. Techincal Co-operation Mission) के विचाराधीन है।

भविष्य—

निगम का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल प्रतीत होता है, क्योंकि उपरोक्त सुझाव लगभग स्वीकार कर लिये गये है। इन सुझावो के अनुसार कार्य करने के लिये निगम ने ४३ व्यापारिक बैंको, १४ राज्य अर्थ निगमो और ३ राज्य सहकारी बैंको के मध्य पुनर्वित्त की योजना का विस्तार करने का निर्णय कर लिया है। वित्तीय संस्थाओ द्वारा लघु उद्योगो को जो वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है, उसके सबंध मे भी वित्तीय सस्थाओ को पुनर्वित्त की सुविधायें प्रदान की जायेगी। लेकिन इसके लिये गारटी सगठन द्वारा प्रत्याभूति की आवश्यकता है।

इन परिवर्तनो के परिणामस्वरूप आशा ही नही वरन् पूर्ण विश्वास है कि निगम का कार्य क्षेत्र अवश्य बढेगा।

विनियोग प्रन्यास
(Investment Trusts)

विनियोग प्रन्यास वे वित्तीय सस्थाये हैं जो व्यक्तिक विनियोक्ता को, चाहे उसके साधन कितने भी कम क्यो न हो, इस योग्य बनाने के उद्देश्य से गठित की जाती है कि वह एक ही विनियोग मे विविधता (Diversification) के लाभ प्राप्त कर सकें। प्रन्यास विभिन्न कोटि के स्कन्धो, अशो तथा ऋण-पत्रों मे अपने कोष का विनियोग करते हैं, अतः विनियोग प्रन्यास के अशधारी विनियोक्ताओ का जोखिम कई जगह बँट जाता है। यह उल्लेखनीय है कि विनियोग प्रन्यास प्रतिभूतियो को नियन्त्रण के उद्देश्य से नही खरीदते है, बल्कि विनियोग के उद्देश्य से खरीदते है। इसी बात में वे सूत्रधारी कम्पनियो से भिन्न हैं। प्राप्त ब्याज और लाभाश मे से वे अपनी प्रतिभूति पर ब्याज तथा लाभाश चुकाते हैं।

विनियोग कम्पनी या प्रबन्ध प्रन्यास (Discretionary Trust) मे सचालको को प्रतिभूतिया के मौलिक चुनाव तथा बाद मे उसमे विनियोग के समय परिवर्तन की पर्याप्त छूट देता है। चूँकि समय-समय पर प्रतिभूतियों का चुनाव करना प्रबन्धकों का काम है, इसलिए प्रबन्ध-प्रन्यास को विवेकाधीन प्रन्यास भी कहा जाता है। यह आवश्यक है कि जिन व्यक्तियों का उक्त विवेकाधिकार दिया जाये, वे सदा चौकन्ने तथा सावधान रहे। उन्हे अपने विशेष क्षेत्र म व्यापारी, उत्साही, सत्यवादी, उद्देश्य के प्रति निष्ठा रखने वाला होना चाहिए।

लाभ—

(१) इकाई प्रन्यास के सामान्य लाभ, जैसे—वैविध्यकरण (Diversification), विशिष्ट ज्ञान तथा सतत् निरीक्षण प्राप्त होते हैं।

(२) विनियोक्ता को अपनी पूँजी पर अधिक लाभ अर्जन करने मे समर्थ करता है।

(३) सभी प्रकार के लोगो को अपनी बचतें निरापद तथा लाभप्रद सरणि मे विनियोग करने की योग्यता प्रदान करता है।

(४) प्रबन्ध व्यय कम होता है, क्योकि हजारो व्यक्तियो के विनियोग का थोडे विशेषज्ञ लोग प्रबन्ध कर सकते है।

(५) यह विनियोग प्रन्यास साधारण विनियोक्ता को सट्टेबाजी से दूर रखता है तथा दृढ कम्पनियो के अनुपात को बढाता है।

(६) जो जोखम उठाता है वही नियन्त्रण करता है।

त्रुटियाँ—

(१) प्रबन्ध ऐसे व्यक्तियो के हाथो मे आ सकता है जो अयोग्य हो।

(२) चूँकि प्रबन्ध को प्रतिभूतियो के चुनाव का सोलहो आने अधिकार दे दिया जाता है, इसलिए निर्णय सम्बन्धी भूलो का जोखिम भी रहता है।

सीमित प्रबन्ध प्रन्यास (Flexible Trusts)—

पहला दो वर्गों के प्रन्यासो के बीच का मार्ग है। इस प्रकार का प्रन्यास एक ओर तो नियत प्रन्यास की अनम्यता को दूर करता है और दूसरी ओर प्रबन्ध प्रन्यास के प्रबन्धाधिकारियो के विवेकाधीन अधिकार मे कटौती करता है, अर्थात् सीमित विवेकाधिकार देता है।

विनियोग को निरुत्साहित करने वाले कारण—

(१) राष्ट्रीयकरण का भय—यह सही है कि योजना मे प्राइवेट विनियोजन को महत्त्व दिया गया है तथापि देश मे ऐसी व्यापक धारणा फैली हुई है कि प्राइवेट उपक्रम विकास के साधन के रूप मे 'सहन' किया जा सकता है, 'स्वीकार' नही। औद्योगिक नीति की घोषणा से भी यह प्रकट होता है कि सरकार किसी भी सस्था को, सावजनिक हित मे या प्राइवेट उपक्रम द्वारा असन्तोषप्रद आचरण किए जाने की दशा मे, अपने अधिकार मे ले सकती है। इसी प्रकार उद्योग (विकास एवं नियन्त्रण) अधिनियम भी सरकार को यह अधिकार देता है कि किसी भी अनुसूचित उद्योग या सस्था की जाँच-पड़ताल के लिए आदेश दे। इस प्रकार हर समय प्राइवेट उपक्रम के ऊपर राष्ट्रीयकरण का डर मडराया करता है, अतः जिन उद्योगो मे विशाल पूँजी लगती है और लाभो का अर्जन कुछ वर्षों के पश्चात् आरम्भ होता है उनमे प्राइवेट विनियोजक हिचकते हैं। विदेशों से भी प्राइवेट पूँजी प्राप्त करने मे कठिनाई होती है। कम से कम सरकार ऐसे उद्योगो मे, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध कुछ आश्वासन दे सकती है।

(२) उद्योगों का नियमन—सरकार ने नियन्त्रण सम्बन्धी जो अधिकार प्राप्त किये हैं उनके कार्यान्वित होने मे कुछ अनिश्चिततायें एव कठिनाइयां है। जैसे, एक नई इकाई की स्थापना या विद्यमान इकाइयो मे विस्तार अथवा किसी नये प्रकार की वस्तु बनाने के लिए सरकार से लाइसेंस लेना पड़ता है, नये पूँजी निर्गमन के लिए

कन्ट्रोल ग्रॉफ कैपीटल इश्यूज से आज्ञा लेनी पडती है, मशीनो व अन्य सामान के आयात के लिए विदेशी विनिमय की व्यवस्था करनी पडती है। जहां एक ग्रोर इन आदेशो का उद्देश्य ग्रार्थिक विकास को एक निश्चित दिशा मे प्रवाहित करना है, वहाँ यह दोष भी है कि इन कार्यों मे देरी बहुत लग जाती है। प्रत्येक कदम पर ग्रधिकारियो को सन्तुष्ट करना पडता है, ग्रतः यह आवश्यक है कि इस कार्य विधि को सरल बनाया जाय, जिससे ग्रनावश्यक देरी न लगे।

(३) सरकार की श्रम नीति—जिन परिस्थितियो मे ग्राज श्रम की नियुक्ति की जाती है वे पहले की अपेक्षा बहुत बदल गई है। मजदूरी के सामान्य स्तर मे तो वृद्धि हुई है, किन्तु साथ मे उनको ग्रनेक प्रकार से क्षतिपूर्ति भी देनी पडती है। इन सब बातो से श्रम-लागत बहुत बढ गई है और उद्योगपतियो को अनुशासन रखने मे भी कठिनाई हो रही है। वह उद्योग की ग्रावश्यकता के ग्रनुसार श्रमिको की सख्या मे घटा-बढी नही कर सकता। उसे यह भी सुविधा नही है कि वैज्ञानिकन की योजनायें उद्योग मे लागू कर सके।

(४) विशेष नियन्त्रण—कुछ उद्योगो पर विशेष नियन्त्रण लगाये गये है। जैसे, लोह एव स्पात, कोयला व सीमेंट उद्योग। इनके मूल्य नियत कर दिये गये हैं ग्रौर उत्पादन के वितरण पर भी नियन्त्रण लगा दिया गया है। मिलो द्वारा धोतियो का उत्पादन भी सीमित कर दिया गया है। इन नियन्त्रणो के फलस्वरूप ग्रान्तरिक प्रसाधनो का उद्योग के विस्तार के लिए ग्रधिकतम उपयोग नही हो पाता।

(५) बचत की प्रवृत्तियाँ—युद्ध युग ग्रौर युद्ध के बाद वस्तुग्रो के मूल्य मे तेजी से वृद्धि हो गई है। कर भी बढते जा रहे है। ग्रतः स्थायी ग्राय वालो की बचत-क्षमता बहुत घट गई। यही नही, सामाजिक एव राजनैतिक परिवर्तनो के फलस्वरूप राजे महाराजे, जमीदार ग्रादि समाप्त हो गये हैं, जिससे विनियोग बाजार को बडा झटका लगा है। ग्रनाज का मूल्य बढने से ग्रामीण जनता की ग्रामदनी मे ग्रवश्य वृद्धि हुई है, किन्तु उसकी बचत-क्षमता पर, जो कि पहले नही के बराबर थी, बहुत कम प्रभाव पड सका है। वास्तव मे देश मे ग्राय का पुनर्वितरण हो रहा है। जिनकी बचत-क्षमता नही थी, उनकी बचत-क्षमता किंचित बढ गई है, जबकि ग्रधिक बचत-क्षमता वाले व्यक्ति कम होते जा रहे है। यह ऐसी प्रवृत्ति है जो विनियोग के लिए प्रतिकूल है।

(६) प्रबन्ध की दुर्बलतायें—बाहरी कारणो के ग्रलावा स्वय प्राइवेट साहस की कुछ ऐसी बुराइयाँ हैं जिनके कारण विनियोग सुविधा मे उपलब्ध नही होते। प्रबन्ध ग्रभिकर्ताग्रो मे बार-बार परिवर्तन होना, व्यापार के सचालन मे दूषित कार्यवाहियाँ करना, इन्होने विनियोगको के मन मे शङ्का का बीज बो दिया है, ग्रतः हमारे प्रबन्धको को चाहिए कि वे ग्रपने कार्यो मे जनता मे विश्वास उत्पन्न करें। इस दिशा मे व्यापारिक एव ग्रौद्योगिक सगठनो से बडी सहायता मिल सकती है।

मध्यम वित्त निगम

(Medium Finance Corporation)

जून सन् १९५८ मे मध्यम वित्त निगम की स्थापना की गई। इस निगम का प्रधान कार्यालय बम्बई मे है। यह निगम पंच-वर्षीय योजना मे सम्मिलित निजी क्षेत्र के मध्यम कारखानो को आर्थिक सहायता प्रदान करता है। इस निगम की पूंजी ३१ करोड रु० है जिसमें से ५ करोड रुपया १५ बैंको से प्राप्त हुआ है। निम्नलिखित बैंको के प्रतिनिधि निगम के सचालक मण्डल म है —(१) स्टेट बैंक, (२) सेन्ट्रल बैंक, (३) पञ्जाब नेशनल बैंक (४) इलाहाबाद बैंक, (५) बैंक ऑफ इण्डिया, (६) हैदराबाद बैंक, (७) बैंक आफ बडोदा, (८) नेशनल बैंक ऑफ इण्डिया, (९) यूनाइटेड कमर्शियल बैंक, (१०) चारटर्ड बैंक, (११) यूनाइटेड बैंक आफ इण्डिया तथा देना बैंक। इन बैंको के प्रतिनिधि विशेष प्रशिक्षण के हेतु अमेरिका भेजे गय है।

निगम की शेष २६ करोड रु० की पूंजी भारत सरकार ने इसे ऋण स्वरूप प्रदान की है। आशा ही नही, वरन् पूर्ण विश्वास है कि मध्यम वर्गीय उद्योगो को निगम से बडी सहायता मिलेगी।

STANDARD QUESTIONS

1 Describe the functions of (a) National Industrial Development Corporation and (b) National Small Industries Corporation

2 Attempt a lucid note on the International Finance Corporation

3 What do you know about Refinance Corporation ?

4. What is Industrial Credit and Investment Corporation of India ? What part is it expected to play in the provision of Industrial Finance in India ?

5 Describe briefly the principal factors which inhabit private investment in industries at the present time in India

6 What do you mean by Investment Trusts' ? Describe its classifications

अध्याय ९

निर्माणी व्यवसाय का संगठन

(Organisation of a Manufacturing Business)

आदर्श संगठनकर्त्ता के कार्य (Functions of Sound Organisation)—प्रत्येक औद्योगिक संस्था के संगठन को दो मुख्य शीर्षको मे विभाजित किया जा सकता है :—(१) भौतिक (Physical) एव (२) मानवीय (Human)। 'भौतिक शीर्षक' के अन्तर्गत कारखाने की इमारत, प्लान्ट, औजार, टूल्स, सामग्री एवं विधियों को सम्मिलित किया जाता है। इसके विपरीत, 'मानवीय शीर्षक' के अन्तर्गत वह कर्मचारी वर्ग आता है जो कि संस्था के लक्ष्य की पूर्ति के लिये निर्माण एव अन्य कार्य करने व प्रबन्ध एव व्यवस्था के हेतु आवश्यक होता है। वैज्ञानिक संगठन इस बात का प्रयत्न करता है कि ये दोनो तत्व उचित अनुपात मे संयुक्त हो जायें और संस्था विशेष की आवश्यकतानुसार समन्वित होकर कार्यशील बने।

अतः आधुनिक कारखाना संगठन का आशय व्यक्तियों अथवा व्यक्तियों के किसी समूह के प्रयासो का युक्तिपूर्वक सचालन करने के सर्वोत्तम ढगो का आयोजन करने से है, ताकि उत्पादन मितव्ययिता के साथ होने लगे। यह वास्तव मे व्यक्ति, सामग्री, साज-सामान व विधियों का एक युक्तिपूर्ण एव व्यवस्थित सयोग है, जिसके द्वारा कार्य सुचारु रूप से होता रहता है। इसके अन्तर्गत कार्यों का विश्लेषण, विभाजन व वितरण किया जाता है और अधिकारों एव दायित्वो का विभाजन भी होता है। संस्था के विभिन्न विभागो व उपविभागो का, प्रत्येक स्तर पर, क्रमशः इस प्रकार समन्वय किया जाता है कि कुल पर सम्पूर्ण संस्था को निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति मे सफलता मिले तथा अधिकतम मितव्ययिता हो।

सगठन का सर्व प्रथम कर्त्तव्य कारखाने की इमारतो का डिजायन तैयार करवाना व उन्हे बनवाना है। उत्पादक एव अनुत्पादक विभागो तथा प्लान्ट और साज-सामान की समुचित व्यवस्था भी उसे ही करनी पड़ेगी। मनुष्य, सामग्री, मशीन व साज-सामान सम्बन्धी सभी उपलब्ध साधनो को सग्रह करना, विश्लेषित करना, वर्गित व समूहबद्ध करना भी सगठन का ही कर्त्तव्य है। उसे चाहिये कि वह योजना एव नीतियो, सचालन एव प्रबन्ध, क्रियाओ एव अनुत्पादक सेवाओ, निरीक्षण एवं नियन्त्रण के ढगो से सम्बन्धित सभी कार्यों का इस प्रकार समन्वय करे तथा सम्पूर्ण कर्मचारी वर्ग

को इस प्रकार मार्गदर्शन एवं प्रेरणा प्रदान करे कि उच्च अथॉरिटी लक्ष्यों एवं योजनाओं की सम्भाविक पूर्ति में उनका हार्दिक प्रयत्न एवं सहकारिता सम्भव हो जाय।

संगठनकर्त्ता को चाहिये कि वह सामग्री एवं श्रम से सम्बन्धित कार्य की विस्तृत योजना पहले से ही तैयार कर ले और विभिन्न विभागों से प्राप्त होने वाली रिपोर्टों, चार्ट आदि के सामयिक निरीक्षण की व्यवस्था करे, ताकि स्वामियों को वास्तविक परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों का यथासमय सही-सही ज्ञान होता रहे।

उसे चाहिये कि व्ययों पर सबसे अधिक प्रभावपूर्ण नियन्त्रण की व्यवस्था करे। इससे सामग्री व मशीन तथा श्रम का दुरुपयोग कम हो जायगा। इसके लिये यह आवश्यक है कि सभी कार्यों व उत्पादन के सभी अंगों का प्रमापीकरण हो तथा समय व कार्यपूर्ति के समुचित रिकार्ड रखे जाय।

संगठनकर्त्ता को चाहिये कि समुचित साख्यिकी रिकार्ड रखे, ताकि कारखाने की क्रियाओं के विविध पहलुओं का सही व स्पष्ट चित्र प्राप्त हो सके। प्रत्येक विभाग के खर्चों पर नियन्त्रण रखने के लिये बजट नियन्त्रण की स्थापना करनी चाहिये। लागत लेखे भी रखे जाने चाहिये, ताकि प्रत्येक विभाग की प्रभावशीलतता का अनुमान लग सके।

अन्त में, संगठनकर्त्ता को ऐसी कार्य-दशायें विकसित करनी चाहिए जिनसे श्रमिकों को प्रबन्धकों के नेक इरादों का विश्वास हो जाय और वे सहयोग देने को प्रस्तुत रहें।

संगठन प्रगतिशील होना चाहिये। उसमें न केवल वर्तमान वरन् भावी आवश्यकताओं का भी ध्यान रखा जाय। परिस्थितियों के अनुसार संशोधन कर सकने की सुविधा भी होनी चाहिये।

कारखाना प्रबन्ध एवं संगठन की किसी भी प्रणाली में समन्वय का गुण होना जरूरी है। किसी भी दशा में विभागीय अध्यक्षों को मनमानी नीति बरतने की स्वतन्त्रता नहीं होनी चाहिये। समन्वय के अभाव में द्वेष, दावागीरी, संघर्ष व अपव्यय को बढ़ावा मिलता है।

यह उल्लेखनीय है कि संगठन का कौनसा रूप सबसे उपयुक्त है। इसका उत्तर प्रत्येक संस्था की विशिष्ट आवश्यकताओं पर निर्भर करता है। लेकिन सभी प्रणालियों में मितव्ययिता, लचक, समन्वय, सहयोग आदि सामान्य गुण होने चाहिये।

संगठन के सिद्धान्त

(Principles of Organisation)

संगठन के सिद्धान्तों को दो मुख्य शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है :—(I) प्रशासनिक सिद्धान्त एवं (II) प्राविधिक सिद्धान्त।

(I) प्रशासनिक अथवा व्यवस्था सम्बन्धी सिद्धान्त—

व्यवस्था सम्बन्धी सिद्धान्त (Administrative Principles) निम्नलिखित हैं :—

(१) सभी बातों का सावधानीपूर्वक एवं विस्तृत अध्ययन करके संस्था का लक्ष्य निर्धारित करना।

(२) सर्वोत्तम 'ले-आउट' करना तथा सबसे उपयुक्त एवं नवीनतम साज-सामान क्रय करना।

(३) समुचित निरीक्षण एवं नियंत्रण की सुविधा के लिये सम्पूर्ण कार्य को विभिन्न विभागों में विभक्त करने की योजना बनाना।

(४) कर्मचारियों की सुविधा एवं मार्गदर्शन के लिए उपयुक्त नीतियाँ बनाना।

(५) *कार्य के लिए योग्यतानुसार श्रमिकों का चुनाव करना।*

(६) प्रत्येक मुख्य क्रिया का उपविभाजन तथा दायित्व एवं अधिकारों का विभाजन करना।

(७) व्यवसाय के सभी विभागों एवं सभी क्रियाओं के मध्य उचित समन्वय स्थापित करना।

(८) विपणन तथा वितरण के सम्बन्ध में सबसे उपयुक्त नीतियों का निर्माण करना।

(९) एक केन्द्रीय नियंत्रण की व्यवस्था करना।

(II) प्राविधिक सिद्धान्त

(१) कार्य के सही सम्पादन करने के लिये विस्तृत नियम, कार्यविधियाँ एवं ढंग निश्चित करना।

(२) कार्य करने की कुशलता को मापने के लिए उपयुक्त प्रमाप स्थापित करना।

(३) दोषों का पता लगाने व सही-सही कार्य करने के लिये निरीक्षण की उचित व्यवस्था करना।

(४) रिकार्ड रखने की उचित व्यवस्था करना।

(५) अनुसन्धान की व्यवस्था करना।

(६) विपणन एवं विज्ञापन के ढंगों का विकास करना।

(७) सभी कर्मचारियों के मन में एकता व सहयोग की भावना विकसित करना।

(८) सबसे उपयुक्त कार्यदशायें उपलब्ध करना।

(९) सभी के प्रति न्याय एवं सहानुभूति से युक्त दृष्टिकोण अपनाना।

उचित संगठन के अभाव में उत्पादन की लागतों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है

यदि किसी औद्योगिक संस्था का संगठन उचित प्रकार नहीं किया गया है, तो निम्न तारीखों से उसकी उत्पादन लागतों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा अथवा यों कहिये कि उसकी उत्पादन लागतों में वृद्धि हो जायेगी :—

(१) कारखाने को विभिन्न उत्पादन-विभागों में उचित प्रकार से न बांटने की दशा में वस्तुओं के उत्पादन पर ठीक-ठीक नियन्त्रण नहीं रखा जा सकेगा तथा परिव्यय लेखा कार्यालय (Cost Office) को भी सही व शीघ्र सूचना नहीं मिल सकेगी।

(२) आन्तरिक यातायात की उचित व्यवस्था न होने पर समय, श्रम व व्यय बेकार जायेगा।

(३) सहायक क्रियाओं (Auxiliary Activities) का संगठन ठीक न होने पर अप्रत्यक्ष व्ययों का उचित प्रकार विभाजन न हो सकेगा और लागत व्यय ठीक-ठीक नहीं निकाले जा सकेंगे।

(४) स्टोर्स, टूल्स, इन्सपेक्शन, असैम्बली तथा पैकिंग विभागों का उचित स्थान पर निर्माण न होने से भी अकुशलता बढ़ती है और अनावश्यक व्यय करने पड़ते है।

(५) यदि क्रय विभाग का संगठन न किया जाय, तो यह सम्भव है कि कच्चा माल व अन्य सामग्री या तो आवश्यकता से अधिक मंगा ली जाये अथवा कम मंगाई जाय। प्रथम दशा में पूंजी व्यर्थ फँस जाती है तथा ब्याज की हानि होती है और दूसरी दशा में पूर्ति समय पर न मिलने से काम के रुक जाने का डर है।

(६) निरीक्षण की अकुशल व्यवस्था के कारण यह सम्भव है कि कच्चा माल बाहर से प्राप्त होने पर उसमें दोषों का पता न लग सके। फल यह होगा कि निर्मित माल बिगड़ जायगा और उसे रद्द करना पड़ेगा।

(७) स्टॉक से सामग्री के आवागमन पर उचित अंकुश न होने से वह चोरी जा सकती है, छीज सकती है और टूट फूट भी सकती है।

(८) लापरवाही से श्रमिकों की भरती एवं नियुक्ति करने की दशा में तथा श्रमिकों के उचित निरीक्षण के अभाव में समय व्यर्थ नष्ट होता है, उत्पादन की कुशलता भी घटती है।

(९) श्रमिकों द्वारा किये गये कार्य व समय का उचित लेखा न रखे जाने पर इस बात का डर है कि श्रम सम्बन्धी व्ययों का भार आवश्यक रूप से बढ़ जायगा और उनका ठीक ठीक वितरण न हो सकेगा।

(१०) उचित संगठन के अभाव में, उत्पादन करने वाले विभागों को सामग्री

व औज़ार आवश्यकतानुसार तथा समय पर नहीं मिल पाते। इससे कार्य की गति में बाधायें पड़ती हैं।

(११) यदि पहले वर्षों के आंकड़े नहीं रखे गये हैं, तो तुलना न की जा सकेगी और दोष व दुर्बलतायें छिपी रह जायेंगी।

(१२) यदि कोई 'रख रखाव विभाग' (Maintenance Department) नहीं है, तो बार-बार टूट-फूट होने से, मरम्मत समय पर न हो पाने से, दुर्घटना आदि में उत्पादन कार्य बार बार रुक जाया करेगा। इससे उत्पादन लागत में अनावश्यक वृद्धि हो जाती है।

(१३) प्रेरणाओं, उचित प्रशिक्षण एवं पदोन्नति योजना के अभाव में कर्मचारियों में असन्तोष बढ़ता है और वे मन लगाकर कार्य नहीं करते।

(१४) यदि अनुशासन सम्बन्धी नियमों को उचित प्रकार कार्यान्वित नहीं किया जाता है, तो भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं और अनुशासनहीनता बढ़ती है।

(१५) यदि परिव्यय लेखा व वित्तीय खातों के रखने की कोई उपयुक्त व्यवस्था नहीं है तो सामग्री, श्रम व उपरिव्ययों के सम्बन्ध में विद्यमान दोषों का पता नहीं लग पावेगा। इससे उत्पादन लागत बढ़ने का डर है।

(१६) यदि बजट नहीं बनाया जाता है, तो कार्य की अकुशलता व अमितव्ययिता का पता नहीं लग सकता।

उद्योग में मानवीय घटक

(The Human Factor in Industry)

प्रत्येक व्यवस्थापक को चाहिये कि वह व्यवसाय से न केवल पर्याप्त लाभ प्राप्त करने की चेष्टा करे वरन् अपने श्रमिकों को उचित एवं उपयुक्त कार्य-दशायें प्रदान करे, उनके साथ सहानुभूति का बर्ताव करे, उन्हें उचित पुरस्कार दे तथा नियमित रोजगार उपलब्ध करे। संक्षेप में, उसे श्रमिकों का विश्वास प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। हमारे कारखाना प्रबन्धकों का यह कर्त्तव्य है कि वे सहिष्णुता, उदारता तथा संयम से काम लें। भावना की अपेक्षा युक्ति एवं विवेक से कार्य लें। वास्तव में हमारे कारखानों को ऐसे व्यवस्थापकों, प्रबन्धकों एवं संगठनकर्त्ताओं की नितान्त आवश्यकता है, जोकि अपने कर्त्तव्यों को करते समय श्रमिकों के प्रति सहानुभूति एवं सज्जनता का व्यवहार कर सकें, नम्रता का व्यवहार करने से गाँठ का कुछ नहीं जाता, लेकिन श्रमिकों में हार्दिक सहयोग सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। धमकी देकर और दबाव डालकर श्रमिकों से कार्य कराने का युग अब बीत गया है। अब तो सहानुभूति, समझौते एवं सहयोग से ही अच्छा कार्य लिया जा सकता है।

निस्सन्देह यह हमारा दुर्भाग्य है कि वैज्ञानिक यन्त्रों को अपनाने की धुन में हमारे औद्योगिक व्यवस्थापक एवं प्रबन्धक उत्पादन के ढंगों एवं टेक्नीकल पहलुओं

पर तो बहुत ध्यान दे रहे हैं, लेकिन श्रमिको की कुशलता की समस्या को जो कि एक महत्त्वपूर्ण समस्या है, लगभग उपेक्षित ही छोड दिया है। क्या यह आश्चर्य की बात नही है कि वे 'भौतिक मशीनो' के चुनाव व देखरेख मे तो इतना अधिक विचार एव समय देते है जबकि 'मानवीय मशीन' (Human machine) पर जो कि बहुत नाजुक है, कोई ध्यान नही देते ? सच तो यह है कि उद्योग की मानवीय समस्याओ को हल करने के लिए अभी तक कोई गम्भीर प्रयास किया भी नही गया है।

अभी तक अधिकाश सेवायोजको के ध्यान मे यह बात नही आई है कि यान्त्रिक गतियो को लगातार दुहराना, कार्य की नीरसता, मशीनो का शोर गुल, दमघोट वायुमण्डल व कारखाना जीवन की अन्य निराशाजनक दशायें श्रमिको के मानसिक एव भौतिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालती हैं और इन कुप्रभावो को रोकने के लिये उनका यह कर्त्तव्य है कि वे अत्यन्त उपयुक्त दशायें (कारखाने मे और कारखाने के बाहर) उपलब्ध करे व कुशलता मे वृद्धि करने वाली सुविधायें दे।

अब समय आ गया है जब कि हमारे प्रबन्धक इस बात को समझते है कि 'उद्योग का प्रबन्ध' वास्तव मे 'जीवित एव विचारशील प्राणियो का प्रबन्ध' है। ये प्राणी उसके साथ विरोध कर सकते हैं और सहयोग भी। तानाशाही व दबाव से उनमे इतना अच्छा कार्य नही लिया जा सकता जितना कि पारस्परिक सहयोग द्वारा लिया जा सकता है। यदि श्रमजीवी सतुष्ट है, तो कारखाने का उत्पादन निसदेह बढ जायगा। अनुशासन श्रमिको के हृदय से कायम होने लगेगा, वे अपना कर्त्तव्य मन लगाकर करेंगे। इसके विपरीत जब श्रमिक असतुष्ट, असहयोगी व शकालु होते है तो अन्य सब सुविधाओ के होने पर भी उत्पादन की दर बहुत कम हो जाती है।

काम मे रुचि एव श्रमिक सहयोग की वृद्धि के लिए केवल ऊँची मजदूरी एव आकर्षक प्रेरणायें ही पर्याप्त नही है, वरन् श्रमिको के प्रति सहानुभूति, उदारता व सम्मान का व्यवहार करना भी आवश्यक है। अत प्रबन्धको को ऐसे कार्य नही करने चाहिए अथवा ऐसे नियम नही बनाने चाहिये जो कि श्रमिको के सहयोग की भावना पर कुठाराघात करें।

श्रमिको के चुनाव मे सावधानी न रखना श्रमिको व सेवायोजक दोनो के लिये हानिप्रद है। वास्तव मे ऐसे कुसमायोजन (unsfits) ही आर्थिक असतोष के लिये बहुत सीमा तक दायी होते हैं। श्रमिको से अत्यधिक कार्य लेकर उत्पादन बढाने से वे बहुत जल्द शारीरिक एव मानसिक दृष्टि से दुर्बल होने लगते है। उनका स्वास्थ्य बिगड जाता है, काम मे मन नही लगता व कुशलता घट जाती है। श्रमिको से सख्त एव अनुचित व्यवहार करना श्रमिको के सहयोग करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव डालता है।

हमारे श्रमिको मे आजकल अनुशासनहीनता व अनुत्तरदायित्व की जो प्रवृत्ति दिखाई दे रही है उसके लिये हमारे औद्योगिक सगठनकर्त्ता ही दोषी हैं, जिन्होने श्रमिकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियो को व्यक्त होने के लिये उचित अवसर नही दिया।

हमारे प्रबन्धको एव श्रमिको में दृष्टिकोण का एक व्यापक अन्तर है। इसके कारण जो बाते एक औसत श्रमिक चाहता है उन्हे करने के लिये प्रबन्धक तैयार नही है। श्रमिक ऊँची आशाये व इच्छाये लेकर कारखाने मे नौकरी करने के लिये आता है, लेकिन जल्दी ही उसकी आशाये व्यर्थ हो जाती है। वह यह अनुभव करने लगता है कि उसका हित प्रबन्धको के हित से भिन्न है। फलतः अपनी इच्छाओ व आशाओ को दबाने के लिये विवश हो जाता है। सन्देह, असहयोग, उपेक्षा एव उदासीनता की भावनायें उसमे घर करने लगती हैं। वह अपना आत्म-विश्वास व आत्मसम्मान खो बैठता है। स्पष्ट ही वह इन परिस्थितियो मे अपने कर्त्तव्य को उचित प्रकार से नहीं निभा सकता। जब तक श्रमिको को यह विश्वास न होगा कि सस्था की नीति कार्य विधि आदि उनकी आशाओ के अनुकूल हैं, तब तक वे प्रसन्नता एव सहयोग से कार्य करने को प्रस्तुत नही होगे।

अब हमारे लिये यह सम्भव नही है कि केवल पैतृक धन सम्पत्ति, पारिवारिक स्थिति आदि के आधार पर ही व्यक्तियो को उद्योग मे उच्च पदो पर नियुक्त करें वरन् कुशलता के लिये यह जरूरी है कि योग्यता, अनुभव एव वफादारी को ही पदोन्नतियो के समय ध्यान मे रखें। उच्च वर्ग के प्रबन्धको के लिये तो उत्पादन एव नियत्रण की टेक्नीक का ज्ञान होना ही पर्याप्त नही है वरन् उन्हे श्रम-प्रबन्ध के विज्ञान का अध्ययन करना भी आवश्यक है। उन्हे मानव सम्बन्धो के मनोविज्ञान की जानकारी होनी चाहिये ताकि वे चतुरता, सहानुभूति एव समझौते से नित्य प्रति की अनेक श्रमिक और औद्योगिक समस्याओ को सुलझा सके।

वास्तव मे आज हमे ऐसे नेताओ की आवश्यकता है जो अन्य लोगो का मार्ग-दर्शन कर सकें। उनके कार्यों का नियत्रण कर सकें, उनमे अनुशासन व सहयोग की भावना विकसित कर सकें। इन व्यक्तियों को चाहिये कि वे अपने परिश्रम, चरित्र व दृष्टिकोण का उदाहरण सबके सामने रखें। हमे ऐसे व्यक्तियो की आवश्यकता है, जो न केवल उच्च टेक्नीकल योग्यता व कार्य सम्बन्धी जानकारी रखते हो वरन् जिनमे विश्लेषण-युक्त तर्क करने की शक्ति, दूसरे लोगो को अपने अनुकूल बनाने की शक्ति, जिम्मेदारी ग्रहण करने की शक्ति और उचित व शीघ्र निर्णय करने की शक्ति भी हो। उनमे बदले हुए समय के अनुसार ढलने की क्षमता भी होनी चाहिये।

हमारे उद्योगपतियो एव औद्योगिक प्रबन्धको को चाहिये कि वे देश की औद्योगिक समस्याओ पर नए सिरे से विचार करें तथा उनके निवारण के लिये अधिक युक्तिपूर्ण उपाय करें। उद्योग का महत्त्व केवल इसीलिये नही है कि वह एक उत्पादन करने वाला सगठन है वरन् इसलिये भी है कि वह योग्य, सतुष्ट एव सहयोग-पूर्ण नागरिकों का निर्माण कर सकता है। अत. औद्योगिक प्रबन्धकों को श्रम सम्बन्धो का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना चाहिए, ताकि वे श्रम के सुप्रबन्ध द्वारा उत्पादन मे वृद्धि कर सकें और अच्छे नागरिक बन सकें।

औद्योगिक सफलता की वास्तविक कसौटी—

प्राचीन काल मे किसी औद्योगिक संस्था की सफलता का अनुमान उनके लाभो की मात्रा से लगाया जाता था किन्तु आधुनिक काल मे एक औद्योगिक संस्था की सफलता का अनुमान निम्न बातो से लगाया जाता है :—

(१) मशीन व श्रमशक्ति का सर्वोत्तम उपयोग, जिसमे न्यूनतम लागत पर अधिक उत्पादन हो सके।

(२) समस्त दिशाओं मे अपव्ययों, टूट-फूट व हानिपूर्ण प्रयत्नो की समाप्ति।

(३) सबसे उपयुक्त कार्य-दशाओ एव भौतिक वातावरण की विद्यमानता, जिसमे श्रमिको को कोई तकलीफ न हो।

(४) सेवायोजक एव सेवायुक्तो के मध्य अत्यन्त मधुर सम्बन्धों की स्थापना।

(५) उत्पादित वस्तुओ का सरलता व मितव्ययिता से विपणन करने की व्यवस्था।

(६) लाभो के वितरण की न्यायपूर्ण योजना।

STANDARD QUESTIONS

(1) Discuss the functions of a sound factory organisation.

(2) Describe the administrative and managerial principles of organisation. How would a lack of proper organisation adversely effect the production costs

(3) "The most vital facts which our management yet need to realise are that the management of industry is essentially a management of live, thinking, feeling human beings, who are capable of resentment as much as of cooperation, and that more satisfactory results can always be achieved by conciliation and persuation rather than dictation and coercion". Amplify

(4) What is the true measure of industrial success ? *Does it apply* to Indian industries ?

अध्याय १७

उत्पादन कार्य का नियोजन

(Production Planning)

प्रारम्भिक—

उत्पादन कार्य के नियोजन का उद्देश्य एक पूर्व निश्चित किस्म की वस्तुयें यथासम्भव कम से कम लागत पर उत्पन्न करना है। साथ ही मजदूरी एवं कारखाना सम्बन्धी दशाओं को भी एक स्वीकृत मानवीय स्तर पर कायम रखना है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि उत्पादन से सम्बन्धित विभागों का इस प्रकार नियोजन एवं नियमन किया जाय कि कारखाने मे अन्तर विभागीय कार्य श्रम अथवा सामग्री का तनिक भी माय-व्यय हुये बिना सहज गति से चलता रहे। वर्क्स आफिस (Works office) को यह देखना चाहिये कि प्रत्येक विभाग को कार्य के वास्तव मे आरम्भ होने के पहले से ही यह पता हो कि क्या कार्य करना है, कब करना है और किस तरह करना है। पूर्ण समन्वय सद्भावना, हार्दिक सहयोग तथा न्यायोचित एवं सहानुभूति पूर्ण व्यवहार उसकी समस्त क्रियाओं का आधार होना चाहिये।

'उत्पादन के नियोजन' से आशय—

स्पष्टत उत्पादन विभागों का अधिकांश कार्य कठिनाइयाँ उदय होने के पश्चात उन्हे दूर करना है। सर्व श्री किम्बाल एवं किम्बाल के शब्दों मे—"वास्तविक योजनाकरण का उद्देश्य कठिनाइयां उदय होने से रोकना है और यही कारण है कि बड़ी-बड़ी संस्थाओं मे योजना विभाग स्थापित होने का एक आन्दोलन सा चल पड़ा है, जो कि उत्पादक क्रियाओं की पूर्व योजना उसी प्रकार तैयार करते हैं जिस प्रकार कि इन्जीनियरिंग विभाग उत्पादक की सरचनात्मक पहलू (structrural side) की योजना बताता है।' *

---

* "True planning, however aims to prevent difficulties from occuring, and, there has been a constant movement, therefore especially in large enterprises, towards the development of planning departments that can plan productive operations in advance, just as the engineering department plans the structural side of the products."
— *Kimball and Kimball*.

श्री टेलर की उत्पादन नियन्त्रण योजना को प्राय उसी रूप मे स्वीकार नही किया गया है जिसमे कि उन्होने उसे बैथलेहम म कार्यान्वित किया था। हा, उस प्रणाली के अनेक सशोधित रूप आजकल चलन मे है तथा लगभग सभी आधुनिक योजना विभाग टेलर की सशोधित प्रणाली पर ही सगठित किये गये हैं। किम्बाल एव किम्बाल के शब्दो मे—औद्योगिक क्रियाओ के नियोजन मे चार समस्यायें उदय होती हैं—(१) क्या कार्य किया जायगा, (२) कैसे किया जायगा, (३) कहां किया जायगा और (४) कब किया जायगा।*

उत्पादन सगठन की आवश्यकता—

प्रत्येक औद्योगिक सस्था के सगठन म उत्पादन का नियोजन एव नियन्त्रण करना बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है, क्योकि लगभग सभी विभागो का कार्य, विभागो की व्यवस्था, साज सामान व सामग्री एव कार्य करने वाले कर्मचारी मुख्यत उत्पादन की समस्या से ही प्रभावित होते हैं। उत्पादन सगठन (Production Organisation) का मुख्य उद्देश्य उत्पादन को बढावा देना है और इस हेतु वह सामग्री व औजारो का नियमित प्रवाह कायम रखता है तथा मनुष्य व सामग्री के पूर्ण उपयोग की व्यवस्था करता है, ताकि कच्चे माल की दशा से लेकर पक्का माल तैयार होने तक किस्म एव टैकनीक के दृष्टिकोण से उत्पादन क्रियाओ का नियमन हो सके। चूंकि प्रत्येक औद्योगिक सस्था का प्रधान उद्देश्य न्यूनतम प्रतियोगी लागतो (Competitive Costs) पर माल उत्पन्न करना है, इसलिये उत्पादन सगठन को चाहिये कि अशुद्ध साज सामान, अशुद्ध कार्य-सम्पादन, अनुचित कार्य प्रणाली व अवांछनीय कार्य-दशाओ के फलस्वरूप उदय होने वाली अकुशलताओ को कम से कम सीमा तक घटा कर या बिल्कुल ही समाप्त करके व्ययो पर नियन्त्रण करने की चेष्टा करे।

यदि निर्माणी क्रियाओ के नियमन की कोई उचित योजना नही है, तो मनुष्य व मशीनो की सेवाओ का पूर्ण सदुपयोग नही किया जा सकेगा तथा वे खाली पडे रहेगे। यही नही, ऐसी दशा मे अकुशलता भी उदय हो सकती है, क्योकि तब कारखाने के व्ययो पर नियन्त्रण रखना सम्भव नही होता तथा अपव्ययो का भी पता नही लग पाता। इस प्रकार सस्था प्रतियोगिता मे टिक न सकेगी। वास्तव मे उत्पादन-कार्य का नियोजन करना व्यय नियन्त्रण (Cost Control) का एक प्रभावपूर्ण साधन है।

उत्पादन कार्य के नियोजन एव नियन्त्रण का एक अन्य महत्त्वपूर्ण उद्देश्य उत्पादन-क्रिया को विक्रय सम्बन्धी आवश्यकताओ से समायोजित करना है। यदि बिक्री

---

* "The planning of the industrial operations involves four considerations, namely, what work shall be done, how the work shall be done where the work shall be done and lastly, when the work shall be done."

—*Kimball and Kimball*

कम है तथा माल का बहुत स्टाक कर लिया गया है, तो माल जल्द नही बिकेगा। इसके फलस्वरूप स्टाक मे बहुत सी पूँजी व्यर्थ फँस जायेगी। इसी प्रकार संस्था की साख के लिए यह भी अच्छा नहीं मालूम पड़ता। कि स्टाक म माल कम पडने के कारण वह निश्चित की हुई तिथियो पर माल की सुपुर्दगी न दे सके। वास्तव मे जब उत्पादन क्रियाओ का पक्के माल सम्बन्धी विक्रय आवश्यकताओ से उचित समायोजन स्थापित हो जाता है, तो निर्माणी संस्था का कार्य कुशलता एव मितव्ययिता से चलता रहता है।

यह उल्लेखनीय है कि किसी भी वस्तु को अन्तिम रूप तब ही दिया जा सकता है जबकि उस वस्तु को बनाने वाले विभिन्न पदार्थ आवश्यक मात्रा मे पहले से तैयार हो। यदि तैयार माल म शामिल होने वाले कुछ भागो का समय पर उत्पादन नही हो पाया है तथा वे असैम्बली कक्ष (Assembly room) मे नही पहुँच सके हैं, तो वस्तु को अंतिम रूप देने का कार्य (Assembling) रुक जायगा।

उत्पादन के संगठन एव नियंत्रण की जो भी योजना बनाई जाय वह प्रत्येक संस्था की विशेष परिस्थितियो के अनुरूप होनी चाहिये। जिस सीमा तक उत्पादित वस्तुओ, मशीनो, सामग्री, श्रम, कार्य-प्रणालियो व निरीक्षण के ढगो का प्रमापीकरण कर लिया जाता है उसका उत्पादन-विभागो के सुचारु क्रियान्वन (Functioning) पर गहरा प्रभाव पडता है। जब उत्पादन के नियोजन द्वारा उत्पादित वस्तुओ, प्रक्रियाओ व प्लान्ट तथा श्रम क्षमताओ की प्रकृति को सही रूप से विचार मे ले लिया जाता है, फोरमैनो को उचित समय पर कार्य-निर्देश, कच्चा माल तथा औजार देने की व्यवस्था कर दी जाती है तथा कार्य की गतिविधि भी निश्चित कर दी जाती है, तो निर्माण लक्ष्य की पूर्ति हो जायगी। लेकिन केवल योजना बना देने से ही सफलता नही मिल सकती है। हमे यह भी व्यवस्था करनी चाहिये कि योजना के अनुसार कार्य भी किया जाय।

उत्पादन करने वाले विभागो का 'ले-आउट'—

उत्पादन करने वाले विभागों की इस प्रकार युक्तिपूर्ण व्यवस्था होनी चाहिये कि उत्पादन कार्य एक विभाग से दूसरे विभाग म प्रवाध गति से जारी रहे। कुशल ले-आउट (Efficient layout) की एक समस्या यह भी है कि कच्ची सामग्री, उपभोग्य स्टोर्स एव औजारो को अत्यन्त सुविधाजनक स्थानो पर संग्रह करके रखा जाय, ताकि उनके आन्तरिक यातायात की कम से कम आवश्यकता पडे। इसके अतिरिक्त निरीक्षण विभाग, असैंबली विभाग, स्टॉक विभाग व निर्मित माल को भेजने वाला विभाग कारखाने म किस स्थान पर बनाये जावें, इसका निश्चय करना भी 'कुशल ले-आउट' की एक महत्त्वपूर्ण समस्या है।

उत्पादन की क्षमता तथा उत्पादित वस्तुओ की शुद्धता, फिनिश (Finish) एव लागतें, मशीनो व साज सामान तथा उनके सुनियोजित ले-आउट पर उतनी ही निर्भर होती है जितनी कि श्रमिकों की चतुराई, कार्य विधि एव निरीक्षण की व्यवस्था

ग्रादि पर। ग्रतः यह ग्रावश्यक है कि कार्य के लिये सर्वोत्तम प्रकार की मशीने व साजसामान क्रय किया जाय। ग्रौर साथ ही उत्पादन विभागो का नियन्त्रण जिन व्यक्तियो के हाथो मे है उनको विभिन्न मशीनो की क्षमताग्रो, उनकी गतियो, ग्रावश्यक सामग्रियो, रखरखाव तथा निर्माण की टेक्नीक ग्रादि के बारे मे निश्चित व सही जानकारी हो। प्रत्येक सगठन को विशेष समस्याये हल करनी पडती हैं, भले ही वे एक समान उद्योग मे कार्यशील हो। इसी प्रकार प्रत्येक विभाग के लिये भी सावधानी से योजना बनानी चाहिये। योजना मे पर्याप्त लोच भी होनी चाहिये, ताकि मशीनो व विधियो मे कोई सुधार होने पर उसका लाभ उठाया जा सके।

मशीनों का ले-ग्राउट—

प्लाण्ट का ले-ग्राउट (Plant lay-out) मुख्यतः वस्तु के उत्पादन मे की जाने वाली क्रियाग्रो तथा एक क्रिया से दूसरी क्रिया मे सामग्री के नियमित प्रवाह की सुविधा पर निर्भर होता है। एक ग्रादर्श प्लाण्ट ले ग्राउट वह है जिसमे मशीनो के टिकाऊपन, सरलता एव कार्यशील व्ययो का तथा कुशलता सचालन व्यवस्था का ध्यान रखा गया हो। मशीनो की मूल लागत व क्षमता, मशीनो को चलाने के व्यय, रखरखाव सम्बन्धी व्यय (Maintenance charges), घिसाई, प्रचलन की हानि ग्रादि को भी विचार मे लेना ग्रावश्यक है।

मशीनो की सख्या ग्रौर उनकी सापेक्षिक स्थिति तथा सामूहीकरण सस्था की प्रकृति व ग्राकार पर निर्भर होता है। मशीनो के सामूहीकरण (Grouping) की दो विधियाँ हैं :—(१) **क्रिया सामूहीकरण** (Process Grouping or One Type Grouping) :—इस विधि के ग्रन्तर्गत एक विशेष वर्ग (class) की सभी मशीन जो कि एक विशेष प्रकार का कार्य करती है, एक ही विभाग मे लगा दी जाती हैं। (२) **इकाई सामूहीकरण** (Unit Arrangement, Staight Line or Product Grouping) :—इस विधि के ग्रन्तर्गत विभिन्न मशीनो को (चाहे वे किसी भी टाइप की हो), जो कि एक भाग या वस्तु बनाने के लिये ग्रावश्यक हैं, उनको एक ही विभाग मे लगाया जाता है। उपरोक्त प्रत्येक विधि के ग्रपने-ग्रपने गुण-दोष हैं। ग्रतः मशीनो की व्यवस्था ले-ग्राउट के सम्बन्ध मे कोई निर्णय करने के पूर्व सम्बन्धित प्लाण्ट की ग्रावश्यकताग्रो व प्रभाव डालने वाले ग्रन्य घटको पर पूर्णतः विचार कर लेना चाहिये।

'क्रिया सामूहीकरण' के निम्न लाभ हैं :—

(१) कार्य ग्रधिक उत्तम किस्म का होता है, क्योकि फोरमैन व ग्रन्य कर्मचारियो को एक विभाग मे केवल एक ही श्रेणी का कार्य करना पडता है, जिससे वे साज सामान का प्रयोग करने मे बहुत चतुर हो जाते है।

(२) निरीक्षण भी प्रभावशाली ढग से किया जा सकता है तथा वह कम खर्चीला होता है।

(३) प्लाण्ट एव साज-सामान पर कम पूँजी लगती है तथा मशीनो के खाली

पड़े रहने की सम्भावना भी कम हो जाती है, क्योंकि एक विभाग मे उतनी ही मशीने रखी जाती हैं जो कि उसके कार्य के लिये विशेष रूप से आवश्यक हैं।

(४) चूँकि प्रत्येक विभाग केवल एक ही प्रकार का कार्य करता है, इसलिये करीगरी (Workmanship) के स्तर में समानता स्थापित हो जाती है।

इस विधि के दोष निम्नलिखित हैं :—

(१) सामग्री को उठाने-धरने का व्यय बढ जाता है, क्योंकि उत्पादित भागो (Parts produced) को एक विभाग से दूसरे विभाग मे ले जाना पडता है तथा कुछ भागो को उसी विभाग मे कई बार लौटाना भी पडता है। इसमे समय व श्रम का अपव्यय होता है।

(२) एक विभाग मे प्लाण्ट टूटने पर अन्य विभागो का कार्य भी रुक जाता है।

(३) यह विधि उत्पादन के अन्तर-विभागीय नियन्त्रण पर तथा एक विभाग की दूसरे विभाग के प्रति जिम्मेदारी पर बुरा प्रभाव डालती है।

(४) तैयार माल (Finished product) के लिये अंतिम जिम्मेदारी किसी भी विभाग पर निश्चित रूप से नही डाली जा सकती।

(५) उत्पादन की प्रति इकाई वास्तविक लागत का पता लगाना कठिन हो जाता है।

इकाई सामूहीकरण की विधि के लाभ इस प्रकार है :—

(१) प्रत्येक विभाग मे क्रियाओ के क्रम मे मशीनें लगी होने से सामग्री उठाने धरने की अधिक आवश्यकता नही पडती तथा कार्य अबाध गति से चलता रहता है।

(२) लागत मालूम करना (Costing) सरल हो जाता है, क्योकि एक उत्पादन इकाई से सम्बन्धित सभी क्रियाये एक ही विभाग मे सम्पन्न की जाती है।

(३) किसी एक विभाग मे टूट-फूट (Breakdown) होने से दूसरे विभाग के उत्पादन कार्य पर असर नही पडता।

(४) प्रत्येक विभाग को कुछ क्रियाओ के पूर्ण होने तथा उनकी किस्म के लिये व्यक्तिगत रूप मे दायी ठहराया जा सकता है।

हानियाँ निम्नलिखित है :—

(१) पूँजी की आवश्यकता बढ जाती है, क्योंकि प्रत्येक विभाग मे सभी क्रियाओ के लिए मशीने लगानी पडती हैं।

(२) कई विभागो मे एक सी मशीने रखी होने से यह सम्भव है कि कुछ मशीनो का पूर्ण उपयोग न हो सके और ये कुछ समय तक खाली पडी रहे।

(३) इस विधि मे अधिक कुशल निरीक्षण की आवश्यकता पडती है।

'क्रिया-सामूहीकरण' की विधि का प्रयोग प्राय उन संस्थाओ मे किया जाता है जो कि अनेक प्रकार की वस्तुयें निर्माण करती हैं अथवा जिनमे निर्माण-कार्य

विशेष जॉब आर्डरो के आधार पर किया जाता है। किन्तु 'इकाई सामूहीकरण' की विधि उन उद्योगो के लिये उपयुक्त है जिनमे क्रियाओ (Processes) का प्रमापीकरण हो गया है या जिनमे थोडी ही किस्म की वस्तुयें बनाई जाती है तथा कार्य का नियोजन इस प्रकार किया जाता है कि सभी मशीनें निरन्तर व्यस्त रहे।

उत्पादन-नियन्त्रण के प्रमुख-अंग

(Main Constituents of Production Control)

उत्पादन नियन्त्रण के प्रमुख-अग निम्नलिखित है :—

(1) उत्पादन का नियोजन (Production Planning)—

उत्पादन की योजना बनाने के लिए विभिन्न क्रियाओ से सम्बन्धित टेक्नीक का विस्तृत अध्ययन करना एव पहले ही उनका क्रम-बन्धन कर देना आवश्यक होता है, जिससे कि उचित किस्म एव मात्रा मे ठीक समय पर तथा सबसे आर्थिक लागत पर वस्तुयें बन सके। क्या काम किया जायेगा, कितने समय के अन्दर किया जायेगा और उसे करने की सबसे कुशल व सस्ती विधियाँ क्या हैं, इसे निर्णय करना ही उत्पादन की योजना का उद्देश्य है।

उत्पादन की एक प्रभावपूर्ण योजना बनाने के लिये सम्बन्धित अधिकारियो को निम्न बातो की पूर्ण सूचना होनी चाहिये :—

(१) इन्जीनियरिंग आंकडे (Engineering data), जिनमे निर्मित की जाने वाली वस्तु का पूर्ण विश्लेषण, वस्तु बनाने के लिए आवश्यक विभिन्न क्रियायें, निरीक्षण का स्वभाव तथा असेम्बली के ढङ्ग सम्मिलित है।

(२) प्रत्येक असेम्बली के लिये कितने भागो (parts) की आवश्यकता है तथा अन्तिम असेम्बली के लिए किन-किन सामग्रियो व भागो (Parts) की आवश्यकता पडेगी।

(३) निर्माणी क्रियाओ का सबसे लाभप्रद क्रम (sequence) क्या होगा और प्रत्येक उत्पादन (Production Unit) के लिये सबसे आर्थिक आकार क्या है।

(४) मशीन सम्बन्धी विश्लेषण (Machine analysis), जिससे यह मालूम हो जाय कि उपलब्ध मशीनो की गतियाँ (Speeds) प्रयोग की जाने वाली सामग्रियो की मात्रा, कार्य की क्षमता, प्रति दिन, प्रति सप्ताह या प्रति माह उत्पादन की दर (rate of output) और प्रत्येक क्रिया के लिये अधिकतम प्लान्ट-क्षमता क्या हैं।

(५) उत्पादन के लिये और किस प्रकार के औजारो व साज सामान की आवश्यकता पडेगी।

(६) सामग्री विश्लेषण (Material Analysis), जिससे यह सूचना मिल जाय कि प्रत्येक निर्माण-क्रिया मे किस प्रकार की व कितनी मात्रा मे कच्ची सामग्री की आवश्यकता होगी।

(७) स्टोर में कितना कच्चा माल रहना चाहिए तथा कितने माल के लिये आर्डर भेजना चाहिए।

(८) प्रत्येक उपक्रिया (Job) की विशेषतायें तथा उन्हें अच्छी प्रकार से सम्पादित करने के लिये आवश्यक कर्मचारियों की योग्यतायें।

(९) किस प्रकार का श्रम उपलब्ध है, मजदूरी की दरें क्या है तथा मजदूर कितना उत्पादन करते हैं।

(१०) शक्ति के उत्पादन एवं उपभोग, आन्तरिक यातायात व सामग्री उठाने-धरने की सेवा से सम्बन्धित सूचना।

(११) पूर्व कार्य-सम्पादनों (Previous Performances) की वास्तविक लागतों से सम्बन्धित सूचना।

(१२) उपभोक्ताओं के लिए कितना उत्पादन तत्काल करना चाहिए तथा स्टॉक में कितना माल रहना चाहिए।

उत्पादन की योजना बनाने वाले अधिकारियों का यह कर्त्तव्य है कि वे उस क्रम को निर्धारित करें जिसमें कार्य चलेगा तथा यह भी निश्चित करना उन्हीं का काम है कि किन मशीनों, सामग्री व कर्मचारियों से काम लिया जायेगा। उचित योजना बना लेने से कार्यवाहन में कुशलता आ जाती है तथा लागत व्यय कम हो जाते हैं। लेकिन जब उचित योजना नहीं बनाई जाती है, तो कार्यवाहन में अकुशलता होने से लागत व्यय बढ़ जाते हैं।

योजना विभाग (Planning Department)—

योजना विभाग का मुख्य उद्देश्य ऐसी व्यवस्था को जन्म देना है, जिससे आवश्यक किस्म व मात्रा का माल न्यूनतम लागत पर बनाया जा सके, उसे कार्य-सम्पादन की ऐसी रीति मालूम करनी पड़ती है जो कि उपलब्ध मनुष्यों, मशीनों व साज-सामान के संदर्भ में सर्वोचित हो।

कारखाने की प्रारम्भिक अवस्था में, वर्क्स मैनेजर व चीफ इन्जीनियर के परामर्श से प्लानिंग डिपार्टमेन्ट को कारखाने के आकार व रचना सम्बन्धी निर्णय करने होंगे। उत्पादन व अन्य विभागों तथा कार्यशालाओं की स्थिति, प्लान्ट व साज-सामान का चुनाव, मशीनों का सामूहीकरण आदि बातें भी उसे तय करनी होंगी।

इसी विभाग को उत्पादन की पूर्व योजना बनाने, डिजाइन तैयार करने, निर्देश देने व क्रियाओं का मार्ग निश्चित करने का अधिकार है।

किस प्रकार की व कितनी मात्रा में सामग्री चाहिए, कौनसी मशीनें व औजार प्रयोग में लाये, मजदूरी के भुगतान की दर क्या हो, यह निर्णय भी प्लानिंग डिपार्टमेन्ट को करना होगा।

उसे आवश्यक श्रम की किस्म व मात्रा का भी निर्णय करना चाहिये। उसे व्यक्तियों व मशीनों में कार्य का आवन्टन इस प्रकार करना चाहिये कि निश्चित समय के भीतर ही वह समाप्त हो सके।

उसे यह निरन्तर ध्यान रखना चाहिये कि मशीन, औजार या कार्य-विधि में अधिक कुशल बनाने की दृष्टि से यदि कोई सुधार सम्भव हो तो कर दे।

समय व गति के विश्लेषात्मक अध्ययन द्वारा वह यह मालूम कर सकता है कि प्रत्येक क्रिया या जॉब के सम्पादन के लिये अधिक से अधिक कितना समय चाहिये। उसे यह भी निर्णय कर लेना चाहिए कि उत्पादन की सबसे आर्थिक इकाई क्या है।

निर्देशों (Specifications) के तैयार करने में उसे ड्राइङ्ग व डिजायन आफिस के साथ सामग्री की प्राप्ति के लिये क्रय व स्टोर्स विभागों के साथ सहयोग करना चाहिए। पूर्व निश्चित समय के अन्दर कार्य की पूर्ति के लिए उसे प्रगति एवं निरीक्षण विभागों के परामर्श से कार्य करना चाहिये।

जब कभी सम्भव हो, डिजायन में परिवर्तन करने अथवा शीघ्र सुपुर्दगी देने के सम्बन्ध में सेल्स आफिस की प्रार्थनाओं को सन्तुष्ट करना चाहिये। किन्तु इन परिवर्तनों का असर कारखाने के सामान्य कार्य पर नहीं पड़ने देना चाहिये, अन्यथा लागतों में वृद्धि हो जाने का डर है।

प्रत्येक मशीन पूरे समय कार्य-व्यस्त रहे, इस हेतु यह आवश्यक है कि मशीनों के कार्य की पूरी योजना पहले से तैयार कर ली जाय, अन्यथा देरी लग सकती है और गड़-बड़ हो सकती है। आर्डरों के लिये व स्टॉक में संग्रह करने के लिये वस्तुयें बनाने का सम्पूर्ण कार्य सतुलित, सहज एवं अबाध गति से चलता रहे। इसके लिये उत्पादन का एक सुनियोजित कार्य-क्रम बनाया जाय तथा निर्माण क्रियाओं व जॉब का क्रम पहले से निश्चित करना आवश्यक है।

योजना विभाग का अध्यक्ष—

योजना विभाग के मुख्याधिकारी (Head of the Planning Department) में निम्न योग्यताएं होना अनिवार्य हैं :

योजना विभाग के मुख्याधिकारी के ५ गुण

(१) व्यावहारिक अन्तर्दृष्टि।
(२) उद्योग की विशेष आवश्यकताओं का ज्ञान।
(३) मशीनों का व्यावहारिक अनुभव।
(४) सामग्री आदि के चयन की योग्यता।
(५) यान्त्रिक एवं श्रम-क्षमता का ज्ञान।

(१) व्यावहारिक अन्तर्दृष्टि—योजना विभाग के मुख्याधिकारी को उत्पादन के आधुनिक ढङ्गों की आधुनिकतम साज-सामान की गहरी व्यावहारिक अन्तर्दृष्टि (Practical insight) होनी चाहिये।

(२) उद्योग की विशेष आवश्यकताओं का ज्ञान—उसे अपने उद्योग की विशेषताओं एवं विशिष्ट आवश्यकताओं का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। वस्तु को जिन निर्माण क्रियाओं से गुजरना पड़ता है। उनका भी ज्ञान होना आवश्यक है।

(३) मशीनों का व्यावहारिक अनुभव—प्रत्येक जॉब को कुशलता एवं

उसे यह निरन्तर ध्यान रखना चाहिये कि मशीन, औजार या कार्य-विधि मे अधिक कुशल बनाने की दृष्टि से यदि कोई सुधार सम्भव हो तो कर दे।

समय व गति के विश्लेषात्मक अध्ययन द्वारा वह यह मालूम कर सकता है कि प्रत्येक क्रिया या जॉब के सम्पादन के लिये अधिक से अधिक कितना समय चाहिये। उसे यह भी निर्णय कर लेना चाहिए कि उत्पादन की सबसे आर्थिक इकाई क्या है।

निर्देशो (Specifications) के तैयार करने मे उसे ड्राइङ्ग व डिजायन आफिस के साथ सामग्री की प्राप्ति के लिये क्रय व स्टोर्स विभागो के साथ सहयोग करना चाहिए। पूर्व निश्चित समय के अन्दर कार्य की पूर्ति के लिए उसे प्रगति एवं निरीक्षण विभागो के परामर्श से कार्य करना चाहिये।

जब कभी सम्भव हो, डिजायन मे परिवर्तन करने अथवा शीघ्र सुपुर्दगी देने के सम्बन्ध मे सेल्स आफिस की प्रार्थनाओं को सन्तुष्ट करना चाहिये। किन्तु इन परिवर्तनो का असर कारखाने के सामान्य कार्य पर नही पडने देना चाहिये, अन्यथा लागतो मे वृद्धि हो जाने का डर है।

प्रत्येक मशीन पूरे समय कार्य-व्यस्त रहे, इस हेतु यह आवश्यक है कि मशीनो के कार्य की पूरी योजना पहले से तैयार कर ली जाय, अन्यथा देरी लग सकती है और गड-बड हो सकती है। आर्डरो के लिये व स्टॉक मे संग्रह करने के लिये वस्तुये बनाने का सम्पूर्ण कार्य सतुलित, सहज एव अबाध गति से चलता रहे। इसके लिये उत्पादन का एक सुनियोजित कार्य-क्रम बनाया जाय तथा निर्माण क्रियाओ व जॉब का क्रम पहले से निश्चित करना आवश्यक है।

योजना विभाग का अध्यक्ष—

योजना विभाग के मुख्याधिकारी (Head of the Planning Department) मे निम्न योग्यताय होना अनिवार्य है :

योजना विभाग के मुख्याधिकारी के ५ गुण

(१) व्यावहारिक अन्तर्दृष्टि।
(२) उद्योग की विशेष आवश्यकताओ का ज्ञान।
(३) मशीनो का व्यावहारिक अनुभव।
(४) सामग्री आदि के चयन की योग्यता।
(५) यान्त्रिक एव श्रम-क्षमता का ज्ञान।

(१) व्यावहारिक अन्तर्दृष्टि— *योजना विभाग के मुख्याधिकारी* को उत्पादन के आधुनिक ढङ्गो की आधुनिकतम साज-सामान की गहरी व्यावहारिक अन्तर्दृष्टि (Practical insight) होनी चाहिये।

(२) उद्योग की विशेष आवश्यकताओ का ज्ञान—उसे अपने उद्योग की विशेषताओ एव विशिष्ट आवश्यकताओ का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। वस्तु को जिन निर्माण क्रियाओ से गुजरना पडता है। उनका भी ज्ञान होना आवश्यक है।

(३) मशीनो का व्यावहारिक अनुभव—प्रत्येक जॉब को कुशलता एव

मितव्ययिता से करने के लिये जिन विशेष मशीनो व कारीगरो की आवश्यकता पडती है उनकी उपयुक्तता के सम्बन्ध मे भी उसे व्यापक जानकारी होनी चाहिये।

(४) सामग्री आदि के चयन की योग्यता—किसी वस्तु के बनाने के लिये कौन सी सामग्री सर्वोत्तम रहेगी, इसके चुनाव की योग्यता भी विभागाध्यक्ष में होनी चाहिये।

(५) यान्त्रिक एव श्रम क्षमता का ज्ञान—कारखानो की मशीनो व श्रमिको की अधिकतम कार्यक्षमता का ज्ञान भी उसे होना चाहिये।

उत्पादन कार्य की कुशल व्यवस्था (Efficient Production Routine)—

उत्पादन की योजना बना लेने के बाद प्रत्येक निर्माणी आदेश (Manufacturing order) को पहले टुकडो मे बाँटा जाना है। तत्पश्चात् प्रत्येक भाग के लिये मार्ग सूचियाँ (Route Shets) तैयार की जाती है और उनमे प्रयोग किये जाने वाले औजारो व सामग्री की तथा निर्माण क्रियाओ के क्रम (Sequence) की विस्तृत सूचना दी जाती है। प्रत्येक क्रिया के लिय कितना समय दिया गया है, प्रत्येक क्रिया को सम्पादित करने का स्थान, मशीन का नम्बर जिसे प्रयोग करना है, जाँच को प्रारम्भ करने व समाप्त करने की तिथियाँ भी उसमे दी जाती हैं।

प्रत्येक आर्डर के सम्बन्ध मे आवश्यक कागजात (जैसे मार्ग सूचियाँ शिडयूल चार्टस, इन्स्ट्रक्शन शीट, ड्राइङ्ग आदि) डिस्पैच क्लर्क द्वारा सम्बन्धित कर्मचारियो को जारी कर दिये जाते है, ताकि मशीन, सामग्री, औजार आदि पहले से ही तैयार रखे जा सकें।

एक निर्माणी व्यवसाय की सफलता बहुत कुछ उसके उत्पादन कार्य की सुव्यवस्था पर निर्भर होती है। सर्वप्रथम, वर्क्स आर्डरो के आधार पर ही समस्त उत्पादन किया जाना है। ये वर्क्स आर्डर लिखित निर्देश होते है तथा निर्दिष्ट वस्तुओ का निर्माण करने की अनुमति देते हैं। इन वर्क्स आर्डरो के द्वारा कारखाने का कार्य श्रमिकों मे बाँटा जाता है। प्रत्येक वर्क्स आर्डर की एक निश्चित संख्या होती है और सामग्री एव श्रम का व्यय इसी संख्या क्रम से नोट किया जाता है।

कारखाने के सहज व अबाधगति मे कार्यशील रहने के लिये यह बहुत आवश्यक है कि उत्पादन कार्य की सामान्य गति विधि बहुत ही व्यवस्थित हो। जो लोग निर्माण के आदेशो को कार्यान्वित करते हैं उनके दायित्व एवं कर्तव्य स्पष्ट कर दिये जाने चाहिये तथा प्रत्येक कार्य एव उप-कार्य को पूर्व योजना के अनुसार ही करना चाहिये। इस उद्देश्य से प्लानिंग विभाग को चाहिये कि वह प्रत्येक वर्क्स आर्डर के सम्बन्ध म विस्तृत योजना पहले से ही तैयार कर दे। टैण्डरो के भरने मे एस्टीमेशन डिपार्टमेन्ट को प्लानिंग डिपार्टमेन्ट तथा कोस्ट आफिस से पूर्ण सहयोग करना चाहिये। स्टोर्स डिपार्टमेंट को भी इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि आवश्यक मात्रा मे कच्चा माल व स्टोर्स सदा उपलब्ध रहे तथा भविष्य के लिये नई मात्रा के

मितव्ययिता से करने के लिये जिन विशेष मशीनो व कारीगरो की आवश्यकता पड़ती
है उनकी उपयुक्तता के सम्बन्ध मे भी उसे व्यापक जानकारी होनी चाहिये ।
(४) सामग्री आदि के चयन की योग्यता—किसी वस्तु के बनाने के लिये
कौन सी सामग्री सर्वोत्तम रहेगी, इसके चुनाव की योग्यता भी विभागाध्यक्ष में होनी
चाहिये ।
(५) यान्त्रिक एव श्रम क्षमता का ज्ञान—कारखानो की मशीनो व श्रमिकों
की अधिकतम कार्यक्षमता का ज्ञान भी उसे होना चाहिये ।

उत्पादन कार्य की कुशल व्यवस्था (Efficient Production Routine)—
उत्पादन की योजना बना लेने के बाद प्रत्येक निर्माणी आदेश (Manufactur-
ing order) को पहले टुकडो मे बाँटा जाता है । तत्पश्चात् प्रत्येक भाग के लिये
मार्ग सूचियाँ (Route Sheets) तैयार की जाती है और उनमे प्रयोग किये जाने
वाले औजारो व सामग्री की तथा निर्माण क्रियाओ के क्रम (Sequence) की
विस्तृत सूचना दी जाती है । प्रत्येक क्रिया के लिय कितना समय दिया गया है,
प्रत्येक क्रिया को सम्पादित करने का स्थान, मशीन का नम्बर जिसे प्रयोग करना है,
जॉब को प्रारम्भ करने व समाप्त करने की तिथियाँ भी उसमे दी जाती हैं ।
प्रत्येक आर्डर के सम्बन्ध मे आवश्यक कागजात (जैसे मार्ग सूचियाँ, शिडयूल
चार्टस, इन्स्ट्रक्शन शीट, ड्राइङ्ग आदि) डिस्पैच क्लर्क द्वारा सम्बन्धित कर्मचारियों को
जारी कर दिये जाते हैं, ताकि मशीन, सामग्री, औजार आदि पहले से ही तैयार रखे
जा सकें ।

एक निर्माणी व्यवसाय की सफलता बहुत कुछ उसके उत्पादन कार्य की
सुव्यवस्था पर निर्भर होती है । सर्वप्रथम, वर्क्स आर्डरों के आधार पर ही समस्त
उत्पादन किया जाता है । ये वर्क्स आर्डर लिखित निर्देश होते है तथा निर्दिष्ट वस्तुओ
का निर्माण करने की अनुमति देते हैं । इन वर्क्स आर्डरो के द्वारा कारखाने का कार्य
श्रमिकों मे बांटा जाता है । प्रत्येक वर्क्स आर्डर की एक निश्चित संख्या होती है और
सामग्री एव श्रम का व्यय इसी संख्या क्रम मे नोट किया जाता है ।
कारखाने के सहज व अबाधगति से कार्यशील रहने के लिये यह बहुत आवश्यक
है कि उत्पादन कार्य की सामान्य गति विधि बहुत ही व्यवस्थित हो । जो लोग
निर्माण के आदेशो को कार्यान्वित करते हैं उनके दायित्व एवं कर्तव्य स्पष्ट कर दिये
जाने चाहिये तथा प्रत्येक कार्य एव उप-कार्य को पूर्व योजना के अनुसार ही करना
चाहिये । इस उद्देश्य से प्लानिंग विभाग को चाहिये कि वह प्रत्येक वर्क्स आर्डर के
सम्बन्ध मे विस्तृत योजना पहले से ही तैयार कर दे । टेण्डरो के भरने मे एस्टीमेशन
डिपार्टमेन्ट को प्लानिंग डिपार्टमेन्ट तथा कोस्ट आफिस से पूर्ण सहयोग करना
चाहिये । स्टोर्स डिपार्टमेन्ट को भी इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि आवश्यक
मात्रा मे कच्चा माल व स्टोर्स सदा उपलब्ध रहे तथा भविष्य के लिये नई मात्रा के

आर्डर उचित समय पर भेज दिये जावें, ताकि किसी जॉब का कार्य रोकना न पड़े। उपयुक्त सामग्री को न्यूनतम मूल्य पर और उचित समय के अन्दर क्रय करने की जिम्मेदारी क्रय विभाग पर होनी चाहिये। अति आवश्यक आदेशों की पूर्ति के लिये भी ऐसी व्यवस्था रहनी चाहिये कि उनके कारण साधारण कार्य में विघ्न न पड़े।

प्रगति विभाग (Progress Department) को चाहिये कि वह वर्क्स आफिस को प्रति दिन यह सूचित करता रहे कि विभिन्न जॉब किस प्रकार प्रगति कर रहे हैं। निरीक्षण विभाग (Inspection Department) को असेम्बली के पूर्व वस्तु के भागों की एवं पूर्ण वस्तु की भी जाँच करनी चाहिये और डिस्पैच करने के पूर्व उनकी उपयुक्तता को भी प्रमाणित करना चाहिये। सेल्स आफिस को सुपुर्दगी देने की तिथियों की सूचना होनी चाहिये, ताकि वह माल को डिस्पैच करने की समुचित व्यवस्था कर ले। इस प्रकार सभी विभागों का मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिये कि उत्पादन का कार्य अधिकतम कुशलता व मितव्ययिता के साथ तथा सुपुर्दगी की तिथियों को ध्यान में रखते हुये एक पूर्व योजना के अनुसार चलता रहे।

किसी ग्राहक से आदेश मिलने और उस आदेश की पूर्ति होने के समय तक जो कार्यक्रम अपनाना चाहिये उसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है। इससे यह मालूम हो जाता है कि उत्पादन-आदेशों (Production Orders) की सफल पूर्ति के लिये सभी विभागों को सहयोग से कार्य करना पड़ता है :—

(१) सर्वप्रथम सभी आदेशों पर जो कि ग्राहकों से प्राप्त हों, ग्राहक के हस्ताक्षर होने चाहिये तथा वे लिखित होने चाहिये, ताकि भविष्य में आदेशित माल की किस्म या मात्रा के सम्बन्ध में मतभेद की कोई सम्भावना न रहे।

(२) आदेश के प्राप्त होते ही किसी उत्तरदायी अधिकारी को उसकी जाँच-पड़ताल करनी चाहिये और यह मालूम करना चाहिये कि ग्राहक की आर्थिक दशा ठीक है या नहीं। तत्पश्चात् आर्डर क्लर्क इस आदेश को आर्डर बुक में दर्ज करे और ग्राहक को भी आदेश प्राप्ति की सूचना भेज दे। उसमें उसे सुपुर्दगी की सम्भावित तिथि लिख देनी चाहिये।

(३) जब आदेशित माल स्टॉक में रखा हो तो ग्राहक के आदेश की एक प्रति सेल्स आफिस को भेज दी जावेगी। सेल्स आफिस उस आदेश के अनुसार ही माल को पैक करके ग्राहक को भेज देगा तथा एकाउन्ट्स डिपार्टमेन्ट को भी रिपोर्ट करेगा।

(४) यदि आदेशित माल तैयार नहीं है तथा उसका निर्माण करना है, तो वर्क्स मैनेजर का आफिस एक वर्क्स आर्डर (इन्स्ट्रक्सन शीट, आदि सहित) जारी करेगा। इसमें जॉब का नम्बर, ग्राहक का नाम, माल की किस्म व मात्रा और जॉब को पूर्ण करने का समय दिया जाता है।

(५) यदि आदेशित माल के निर्माण में कई विभागों को कार्य करना है तो

प्रत्येक विभाग के लिये एक पृथक इन्स्ट्रक्शन शीट (Instruction Sheet) तयार की जावेगी, उस क्रिया का उल्लेख होगा जो कि उस विभाग को करनी है।

(६) यदि माल बहुत जल्द मांगा गया हो, तो वर्क्स आर्डर पर 'अति आवश्यक' लिख देना चाहिए तथा इन्स्ट्रक्शन शीट मे यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि प्रत्येक विभाग अपना कार्य कितने समय म समाप्त कर दे।

(७) जहाँ प्रमापित वस्तुयें (Standardised products) बनाई जाती है तथा आवश्यक मात्रायें स्टॉक मे नही है, वहाँ वर्क्स मैनेजर या प्रोडक्शन मैनेजर ही प्रत्येक वर्क्स आर्डर के कार्य-सम्पादन (Execution) की देखभाल करता है। किन्तु जब विविध प्रकार की वस्तुओं मे व्यवहार किया जाता है तथा वस्तुयें ग्राहकों के निर्देशानुसार बनाई जाती हैं तो प्लानिंग डिपार्टमेंट कारखाने के विभिन्न विभागों को इन्स्ट्रक्शन शीट बना कर दे देता है। इनमे निर्माण क्रियाओं का क्रम (Sequence), ड्राइंग व डिजायन आदि की सूचना दी जाती है।

(८) प्रमापित वस्तुयें बनाने वाले कारखानों की अपेक्षा विविध प्रकार की बनाने वाले कारखानों मे जॉब का ले-आउट करना कठिन कार्य होता है। अतः अन्तिम प्रकार के कारखानों म प्लानिंग एवं प्रोग्रेस डिपार्टमेंटों के अध्यक्षों को उद्योग सम्बन्धी व्यापक जानकारी होनी चाहिए। वास्तव मे बड़े आकार के इन्जीनियरिंग कारखानों मे चीफ इन्जीनियर तथा प्लानिंग व प्रोडक्शन मैनेजरों का पद वर्क्स मैनेजर के ही बराबर होता है।

(९) यदि उत्पन्न की जाने वाली वस्तु के कई भाग (Parts) हो, तो प्लानिंग डिपार्टमेंट कुल निर्देश प्रोडक्शन डिपार्टमेंट को भेज देगा, जैसे जॉब के विभिन्न भाग क्या हैं, प्रत्येक भाग के लिये क्या निर्माण क्रिया की जावेगी, सामग्री का उपयोग किस मात्रा मे होगा, कौनसी मशीन प्रयोग करनी चाहिये, जॉब कितने समय म पूरा होना चाहिये, आदि।

(१०) यदि कोई आदेश दुहराया गया है, तो इन्स्ट्रक्शन शीट या वर्क्स आर्डर मे पिछले आदेश का हवाला दिया जा सकता है, ताकि विस्तृत बातें देखी जा सकें। एक नई वस्तु की दशा मे ड्राइंग आफिस (Drawing office) ड्राइंग्ज तैयार करके पैटर्न विभाग (Patterns Department) को भेज देता है। पैटर्न तैयार होने पर वह फाउन्ड्री मे भेजा जायेगा, जहाँ से फिर वह अगली क्रियाओं के लिये सम्बन्धित विभागों (Shops) को हस्तान्तरित कर दिया जाता है।

(११) कोई वर्क्स आर्डर जारी करने के पूर्व यह देख लेना चाहिये कि आवश्यक सामग्री स्टॉक मे है या नही, अन्यथा उन्हे तत्काल ही आर्डर देकर बाहर से मँगाना चाहिये। प्लानिंग डिपार्टमेंट आवश्यक सामग्री का शिड्यूल बनाकर उसकी एक प्रति स्टोरकीपर को भेज देता है। जो सामग्री स्टाक मे नही है उसके लिये तत्काल आर्डर भेजा जायेगा। इसके लिए स्टोर कीपर आवश्यक क्रय-निर्देश (Purchase Requisition) क्रय विभाग को भेजेगा। क्रय निर्देश पर किसी

उत्तरदायी अधिकारी की स्वीकृति होने पर तत्काल सुपुर्दगी के लिये सप्लायरों को आर्डर दे दिया जावेगा।

(१२) कार्य की व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिए कि सामग्री के कम पड़ने से उत्पादन कार्य न रोकना पड़े और स्टॉक में पर्याप्त सामग्री सदा रहे।

(१३) प्रत्येक विभाग के फोरमैन को वस्तु के एक विशेष विभाग का निर्माण करने का वर्क्स आर्डर मिलने पर वह प्रत्येक पृथक जॉब के लिए एक जॉब कार्ड तैयार करता है तथा उसमें कार्य सम्बन्धी विस्तृत निर्देश देता है।

(१४) यदि प्लानिंग डिपार्टमेंट्स ने रेट निश्चित नहीं की हैं, तो वर्क्स आर्डर को दर निर्धारण विभाग (Rate Fixer Department) में भेजा जायगा, जहाँ प्रत्येक क्रिया के लिये पृथक डे वर्क टिकट या पीस वर्क टिकट (Day Work Tickets or Piece work Tickets) तैयार किए जायेंगे तथा इसमें कार्य की पूर्ति के लिए स्वीकृत समय व दर का उल्लेख होगा। कुछ दशाओं में फोरमैन स्वयं ही यह कार्य कर लेता है इसके पश्चात् प्रत्येक विभाग का फोरमैन सामग्री सम्बन्धी निर्देश (Material Specification) में निर्दिष्ट की गई सामग्री प्राप्त करता है।

(१५) कार्य की प्रत्येक मद (Item of work) के पूरा होने पर उसकी जाँच की जाती है। तत्पश्चात् सम्बन्धित डे वर्क टिकट पर फोरमैन हस्ताक्षर करता है तथा टाइम क्लर्क को हस्तान्तरित कर देता है। टाइम क्लर्क कार्य में लगाये गये समय का सही सही हिसाब लिखता है और मजदूरी टिकट को मजदूरी व बोनस की गणना के लिए भेज देता है।

(१६) प्रत्येक कारीगर को अपने 'वर्क टिकट' (Work Ticket) पर अपने वर्क्स आर्डर का (जिसमें उसने कार्य किया है) नम्बर तथा शाप का (जिसके अधीन वह कार्य करता है) नम्बर तथा कार्य का समय नोट करना पड़ता है।

(१७) सम्बन्धित जॉब कार्ड (Job Card) पर भी कार्य का समय, मजदूरी एवं बोनस, जो कि जॉब के पूर्ण होने पर चुकाया गया है, लिखा जावेगा और कास्ट आफिस को भेज दिया जायगा। यदि कोई नया जाब उपलब्ध नहीं है तथा कारीगर को इसके लिये प्रतीक्षा करनी पड़ती है, तो उसे एक पृथक टाइम टिकट (Time Ticket) दिया जाता है। इस टिकट पर उसके प्रतीक्षा करने का समय नोट किया जावेगा।

(१८) स्टोरकीपर को चाहिये कि वह कॉस्ट आफिस को अपने द्वारा सप्लाई किये गये सामग्री एवं स्टोर्स के दैनिक विवरण की एक प्रति भेजे। इस पर उस वर्क्स आर्डर का नम्बर भी लिखना चाहिये, जिसके लिये उक्त सामग्री दी गई थी।

(१९) निर्मित होने वाली वस्तुओं के नियमित निरीक्षण के लिये इन्सपेक्टरों व परीक्षकों (Viewers) की नियुक्ति की जाती है। ये लोग न केवल अन्तिम अवस्था में वरन् निर्माण की मध्यवर्ती अवस्थाओं में भी निर्मित होने वाले माल की जाँच करते

हैं। इन इन्सपैक्टरों को पर्याप्त अनुभव एव टैकनीकल ज्ञान होना चाहिए। उन्हे चाहिये कि अपनी जिम्मेदारी का ध्यान रखें। चतुरता भी उनमे काफी होनी चाहिये, जिससे अनावश्यक असतोष न होने पाव, किन्तु उन्हे अपने निर्णय पर अडिग रहना चाहिये अर्थात् यदि कार्य मे कोई दोष रह गया है, तो उसे अस्वीकृत करने मे सकोच नही करना चाहिए।

(२०) मजदूरियो व बोनस का भुगतान हो जाने के पश्चात्, मजदूरी के टिकट दर निर्धारित करने वाले विभाग (Rate fixing department) को हस्तान्तरित कर दिए जाते है, जहाँ प्रत्येक जॉब के सम्बन्ध मे अनुमानित समय व वास्तव मे लगे हुए समय की तुलना की जाती है तथा भविष्य के लिये कार्यानुसार दरें निश्चित की जाती हैं।

(२१) प्राइम कॉस्ट आफिस को प्रत्येक वर्क्स आर्डर के सम्बन्ध मे सामग्री एव श्रम लागतो तथा डिस्पेच चार्जेज से सूचित रखा गया है, इसलिये वह प्राइस कॉस्ट (Price cost) मे वर्क्स एव ऑफिस ऑन कॉस्ट (Works and Office on costs) के पूर्व निश्चित प्रतिशत जोडकर प्रत्येक जॉब की कुल लागत (Total cost) मालूम कर सकता है।

(२२) इन्सपैक्शन डिपार्टमेन्ट्स अपने निरीक्षण की रिपोर्ट वर्क्स मैनेजर के आफिस को भेजता है और उसमे दोषपूर्ण कार्य का उल्लेख करता है।

(२३) प्रत्येक वर्क्स आर्डर के लिए प्रगति कार्डों (Progress cards) की उचित व्यवस्था होनी चाहिये, ताकि वर्क्स ऑफिस को यह मालूम होता रहे कि अब जॉब किस अवस्था मे है। प्रगति विभाग विभिन्न अवस्थाओ से होकर कार्य की प्रगति का निरीक्षण करेगा। प्रत्येक शॉप या विभाग को चाहिए कि वर्क्स ऑफिस को पूर्ण हुये या अन्य विभाग को हस्तातरित हुये जॉब के सम्बन्ध मे अपनी इन्स्पैक्शन रिपोर्ट भेजें, जिसमे जॉब की प्रगति का उल्लेख हो। इन दैनिक रिपोर्टों के आधार पर ही प्रगति कार्ड भरे जायेंगे।

(२४) जैसे ही पृथक-पृथक भाग तैयार हो जाय, वैसे ही फिट करने के पूर्व उनकी जाँच की जावेगी। तत्पश्चात उन्हे असेम्बली डिपार्टमैन्ट को भेजा जायेगा, जहाँ फिट किये जाने पर पूर्ण वस्तु की फिर से जाँच होगी।

(२५) तैयार हुये माल की प्राप्ति पर डिस्पैच डिपार्टमेन्ट उसे ग्राहक को आदेशानुसार भेजने की व्यवस्था करेगा। डिस्पैच डिपार्टमेन्ट को चाहिये कि वह जिन-जिन आर्डरो का माल भेजे उनका एक दैनिक विवरण (Daily statement) एकाउण्ट्स् व कॉस्ट विभाग (Accounts and Cost department) की सूचना के लिये बनाये और भेजने के व्ययो का उल्लेख करे।

(२६) इस बात को अधिक से अधिक सावधानी रखी जाय कि माल की सुपुर्दगी वायदे के अनुसार हो। यदि सुपुर्दगी देने मे देर हुई है तो उसका कारण दर्ज कर लेना चाहिए, जिससे जो पक्ष जिम्मेदार है उसका पता लग सके।

(२७) अत्यावश्यक आदेशो मे वर्क्स आर्डरो तथा जॉब कार्डों को रंगीन कागज पर बनाया जाता है, ताकि साधारण आर्डरो व कार्डों से उनकी भिन्नता स्पष्ट हो जाय।

(२८) ग्राहको से प्राप्त हुए आर्डर की पूर्ण सूचना विक्रय विभाग को भेजनी चाहिए, जिससे कि कारखाने से माल बनकर आने पर तत्काल ही उसे भेजने की व्यवस्था कर दी जाय। माल भेजने की तिथि व साधन (Date and mode of dispatch) सूचना ग्राहक को आफिस द्वारा दी जानी चाहिये।

(२९) निर्देश-कार्ड (Instruction card) मे, जो कि प्रत्येक वर्क्स या आपरेशन आर्डर (Work or Operation Order) के साथ लगाया जाता है, Drawings, फिक्चर्स आदि की पूर्ण सूचना तथा प्रत्येक कारीगरो को जिस क्रम मे निर्माण क्रियायें करनी पड़ेंगी उसका सही सही ब्यौरा देना चाहिये। प्रायः उसमे कार्य की पुरस्कार दर भी दी जाती है।

(३०) जॉब कार्ड—लागत (Costs) की सही-सही गणना के लिये प्रत्येक कारीगर को इस बात का आदेश दिया जाता है कि वह अपने जॉब कार्ड मे उस जॉब का जिसमे उसने कार्य किया है, पूरा ब्यौरा लिखे।

(३१) रूट क्लर्क—रूट क्लर्क (Route clerk) उस क्रम (Sequence) का निर्धारित करता है, जिसमे कि प्रत्येक कार्य किया जायेगा, मशीने प्रयोग की जायेंगी व श्रमिको को कार्य करना होगा।

(३२) गेंग बॉस—तत्पश्चात गेंग बॉस (Gang Boss) का यह कर्तव्य है कि वह आवश्यक Drawings, जिग (Jigs) इत्यादि एकत्र करने की तैयारी करे तथा मशीन पर कार्य प्रारम्भ होने की व्यवस्था कर दे।

(३३) स्पीड बॉस—जब मशीन पर कार्य की व्यवस्था हो जाय, तो स्पीड बॉस (Speed Boss) को यह देखना चाहिये कि कार्य के सही ढग व औजार प्रयोग किये जायें। मशीन को बराबर कार्य मिलता रहे तथा उसकी गति का भी उचित नियमन हो।

(३४) परीक्षक—परीक्षक (Viewer) को यह देखना चाहिये कि जो भी कार्य हो रहा है वह सब उचित स्तर व प्रमाप का हो।

(३५) रिपेयर बॉस (Repair Boss)—इसे समस्त मशीनें औजार साजसामान आदि कार्य योग्य दशा मे रखने पड़ने है तथा उनकी मरम्मत भी करनी पड़नी है।

(३६) शॉप अनुशासक (Shop disciplinarian)—इसका कर्तव्य कर्मचारियो मे अनुशासन रखना है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि एक प्रोडक्शन आर्डर (Production order) की सफल पूर्ति के लिये वर्क्स मैनेजर के आफिस के साथ योजना एव प्रगति

विभागो, ड्राइङ्ग आफिस, रेट फिक्सर्स, स्टोर्स एवं क्रय विभाग, इन्सपेक्शन स्टाफ, सेल्स व डिस्पैच विभागो का अत्यन्त घनिष्ट सहयोग होना आवश्यक है।

प्रगति विभाग (Progress Department)

प्रगति विभाग के निम्न कार्य हैं :—

(१) निर्माण क्रियाओं के कुशल सचालन पर ध्यान देना—प्रगति विभाग का एक मुख्य कार्य यह है कि वह यह देखे कि निर्माण-क्रियायें अत्यन्त कुशलता-पूर्वक सम्पादित की जाय तथा प्रत्येक उत्पादन-इकाई का कार्य निश्चित समय के भीतर न्यूनतम लागत पर सम्पन्न हो जाये।

(२) योजना के अनुसार कार्य कराना—प्रगति विभाग का ऐसा प्रयास करना चाहिए कि कर्मचारियो, मशीनो व सामग्रियो से योजना विभाग के कार्य-क्रमानुसार पूर्ण क्षमता तक कार्य होता रहे।

(३) कार्य का वितरण करना—विभिन्न उत्पादक केन्द्रो में कार्य का आबन्टन करने के लिए भी यह विभाग ही जिम्मेदार होता है। उसे चाहिए कि प्रत्येक वर्क्स आर्डर (Work-Order) के लिए मशीनें व कर्मचारी दल रिजर्व कर दे।

(४) कार्य सम्बन्धी निर्देश दिलाना—उसे यह भी देखना चाहिए कि प्रत्येक विभाग में कर्मचारियो को अपने फोरमैन से कार्य की किस्म, विधि तथा उसकी पूर्ति के समय आदि से सम्बन्धित निर्देश आवश्यकतानुसार मिलते रहे।

(५) कार्य ठीक समय पर कराना—प्रगति विभाग को इस बात की निगरानी भी करनी चाहिए कि प्रत्येक वर्क्स आर्डर को उचित समय पर कार्यान्वित किया जाय, औजारो व सामग्री की सप्लाई भी समय पर की जाय, मशीनो व

प्रगति विभाग के मुख्य १५ कार्य

(१) निर्माण क्रियाओ के कुशल सचालन पर ध्यान देना।
(२) योजना के अनुसार कार्य करना।
(३) कार्य का वितरण करना।
(४) कार्य के निर्देश दिलाना।
(५) कार्य ठीक समय पर कराना।
(६) उचित साज-सामान का प्रयोग करना।
(७) किस्म पर ध्यान देना।
(८) विभागीय प्रगति का लेखा रखना।
(९) वर्क्स आफिस की प्रगति रिपोर्ट भेजना।
(१०) आन्तरिक यातायात की व्यवस्था।
(११) मशीनो व मनुष्यो से अधिकतम क्षमता तक काम लेना।
(१२) असेम्बली के लिए तैयार भागो, निर्मित वस्तुओ आदि का लेखा रखना।
(१३) प्रत्येक विशिष्ट जाँच सम्बन्धी सूचना रखना।
(१४) मशीनो पर नम्बर डालना।
(१५) प्रत्येक आर्डर की प्रगति की सूचना रखना।

कर्मचारियो का समय व्यर्थ बर्बाद न हो, कारखाने के किसी भी विभाग म काय न रके तथा कार्य का बोझ अधिक न हो।

(६) उचित साज सामानो का प्रयोग करना—मशीनो की क्षमता का उचित ध्यान रखते हुए सबसे अच्छी किस्म का साज सामान दिलाना तथा सर्वोत्तम विधि से काय कराना चाहिए।

(७) किस्म पर ध्यान देना—प्रगति विभाग को यह भी देखना चाहिए कि किस्म का जो स्तर एक बार निश्चित कर ले उसे सदा ही बनाए रखा जाय।

(८) वर्क्स आफिस को प्रगति रिपार्ट भेजना—प्रगति विभाग का यह कर्तव्य है कि वह वर्क्स आफिस को निम्न के सम्बन्ध मे दैनिक रिपोर्ट भेजे—(अ) पूर्ण हुए कार्य, (ब) पूर्ण होने की प्रगति मे कार्य, (स) सामग्री की कमी या किसी अन्य कारण से रुका हुआ कार्य, (द) किसी विभाग मे कार्य की अधिकता होना। जो दैनिक प्रगति-रिपोर्टें दी जायें वे ऐसी होनी चाहिए कि वर्क्स मैनेजर को प्रत्येक आर्डर पर किये जाने वाले काय की सही सही स्थिति सरलता मे मालूम होती रहे।

(९) विभागीय प्रगति के लेखे रखना—जहां सगठन विभागीय आधार पर किया गया हो, वहां प्रत्येक विभाग-अध्यक्ष या फोरमैन को चाहिए कि कार्य का समय, दर, सामग्री एव मशीन, कार्य विधियाँ आदि निर्धारित कर दे। ऐसी दशा मे विभाग के अध्यक्ष या फोरमैन को ही अपने विभाग की प्रगति का लेखा रखना होगा।

(१०) आन्तरिक यातायात की व्यवस्था करना—प्रगति विभाग को आन्तरिक यातायात एव सामग्री के उठाने-धरने के प्रश्नो पर भी ध्यान देना चाहिए, जिससे कारखाने मे कच्चा माल आने के समय से लेकर तैयार माल के रूप मे उनके बाहर निकलने तक मितव्ययितापूर्वक कार्य हो।

(११) मशीनो व मनुष्यो से अधिकतम क्षमता तक काम लेना—प्रगति-विभाग को चाहिए निर्माण सम्बन्धी सभी क्रियाओ पर निरन्तर अकुश रखे, जिसमे सभी मशीनें व कर्मचारी अपनी पूर्ण क्षमता से कार्य करने के लिए प्ररित हो। इस बात को भी देखना चाहिए कि सभी वर्क्स आर्डरो का कार्य उनके महत्त्वानुसार व सुपुर्दगी के समय के क्रम म सम्पादित किया जाय।

(१२) असैम्बली के लिए तैयार भागो तथा निर्मित वस्तुओ का लेखा रखना—प्रगति विभाग को तैयार माल के निर्माण एव विक्रय का तथा असैम्बली करने के लिए उपलब्ध भागो का लेखा रखना चाहिए। कोई वस्तु स्टॉक मे कम न पड जाय और उचित समय पर नया माल बन कर आता रहे, इसका ध्यान रखना भी इस विभाग की जिम्मेदारी है। विभाग को अत्यधिक उत्पादन के विरुद्ध भी सावधानी रखनी चाहिए।

(१३) प्रत्येक जॉब की सूचना रखना—जहां प्रमापीकृत माल कम बनाया जाता है तथा ग्राहको के आर्डर के अनुसार विविध प्रकार का माल अधिक बनाया

जाता है वहाँ प्रोडक्शन मैनेजर के लिए पहले से ही निश्चित रूप से यह कह देना कठिन है कि प्रत्येक जॉब को करने का सबसे मितव्ययी एवं गतिवान ढङ्ग कौन सा है। प्रबन्धकों को ऐसी सूचना देने के लिए प्रत्येक जाब का पूर्ण रिकार्ड रखना चाहिये, जिसमे क्रियाओं का क्रम, प्रयोग की गई मशीन व औजार, सामग्री की किस्म एवं मात्रा, लिया गया समय श्रम, उत्पादन की न्यूनतम आर्थिक मात्रा, मशीन, घन्टे आदि का ब्यौरा दिया गया हो। भविष्य में जब कभी इनसे मिलते-जुलते जॉब लेने हो, तो उक्त सूचना का लाभ उठाया जा सकता है।

(१४) मशीनों पर नम्बर डालना—प्रत्येक मशीन का एक विशिष्ट नम्बर होना चाहिए तथा उसमे एक कार्ड भी लगा हो। इस कार्ड मे प्रत्येक जॉब को करने के लिए जो समय निश्चित हो वह लिखा होना चाहिए। किसी विशेष जॉब पर कितना कार्य किया जा चुका है और कितना कार्य बाकी है इसका ब्यौरा भी कार्ड मे दिया जाय। जब जॉब पूर्ण हो जावे, तो उस एन्ट्री को काटा जा सकता है।

(१५) प्रत्येक आर्डर की प्रगति से परिचित होना—कभी-कभी ग्राहक यह पूछते हैं कि उनके आर्डर का माल कितना बन चुका है। यदि उन्हे यह सूचना नही दी जाती है, तो संस्था की इससे बदनामी होती है, क्योंकि इससे उसकी अकुशलता का पता चलता है। अतः प्रोडक्शन मैनेजर को चाहिए कि प्रत्येक आर्डर की प्रगति से अपने को परिचित रखे तथा वर्क्स मैनेजर को भी रिपोर्ट देता रहे।

उत्पादन नियन्त्रण के अन्य अङ्गो की विस्तृत चर्चा अगले अध्याय मे की गई है।

STANDARD QUESTIONS

1. What do you understand by the term 'Production Planning'? Discuss the importance of production organisation in a manufacturing concern.
2. What general considerations should be borne in mind in the layout of (i) Producing Departments and (ii) Machines?
3. Discuss carefully the advantages and disadvantages of Process Grouping and Product Grouping
4. What information is essential for the executive of the manufacturing concern for the efficient planning of production activities?
5. Discuss the various functions of the planning department. What special qualifications the head of the Planning Department should possess for the efficient performance of his functions.
6. Attempt a brief essay on an efficient production routine
7. What are the functions of the Progress Department? Explain them.

अध्याय १८

उत्पादन कार्य का क्रियान्वन अथवा उत्पादन नियन्त्रण

(Execution or Work or Production Control)

उत्पादन-नियन्त्रण से आशय—

'उत्पादन' के अन्तर्गत वे सब क्रियाये सम्मिलित होती हैं, जो कि कच्चे माल को एक निर्मित पदार्थ मे परिणित करने के लिए आवश्यक है, ताकि उसकी सुपुर्दगी ग्राहक को की जा सके। व्यापक अर्थ मे वह निर्माणी नियन्त्रण का पर्यायवाची शब्द है। 'नियन्त्रण' का अभिप्राय है सचालन या प्रबन्ध करना। अत 'उत्पादन नियन्त्रण' से अभिप्राय निर्माण क्रियाओ का प्रबन्ध करने से है। इस व्यापक दृष्टिकोण से इसमे न केवल किस्म-नियन्त्रण (Quality Control) वरन् लागत एव विधि का नियन्त्रण (Cost and Method Control) भी सम्मिलित है। ब्रिटिश स्टैण्डर्ड्स इन्स्टीट्यूट ने उत्पादन नियन्त्रण के निम्न ६ सिद्धान्त बताये हैं :—

(१) उत्पादन की योजना बनाना (Planning or the Production Plan)।
(२) समय अनुसूचियन (Scheduling)।
(३) कार्य प्रारम्भ सम्बन्धी आदेश (Despatching)।
(४) स्टोर्स एव स्टॉक कन्ट्रोल (Stores and Stock Control)।
(५) मार्ग निर्देशन (Routing)।
(६) प्रगति (Progress)।

अत. उत्पादन नियन्त्रण की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—'उत्पादन नियन्त्रण' से अभिप्राय उस निर्देशक एजेन्सी का है जिसका उद्देश्य सबसे कुशल ढङ्ग मे विभिन्न उत्पादक क्रियाओ का समन्वय करना है, ताकि एक निश्चित मात्रा मे सही किस्म की वस्तु सही समय व स्थान पर बन सके और इसके लिए वह योजनाकरण, समय अनुसूचियन, मार्ग निर्देशन, निरीक्षण आदि के ढङ्ग अपनाती है। डाक्टर वाल्टर्स, प्रेसीडेन्ट अल्फ्रेड यूनीवर्सिटी, अपनी पुस्तक (Modern Management) मे लिखते हैं कि "योजनाकरण निर्माण कार्य का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है। इसके अन्तर्गत प्रारम्भ मे लेकर अन्त तक सम्पूर्ण उत्पादन क्रिया पर सावधानी से विचार

किया जाता है, ताकि सही किस्म व मात्रा मे वस्तु सही समय पर व सस्ते ढग द्वारा निर्मित हो जाय।*

उत्पादन नियन्त्रण के अङ्ग—

उत्पादन नियन्त्रण के निम्नलिखित महत्वपूर्ण अग है :—

(१) उत्पादन नियोजन।
(२) कुशल उत्पादन दिनचर्या।
(३) मार्ग निर्देशन।
(४) समय अनुसूचियन।
(५) कार्य प्रारम्भ सम्बन्धी आदेश।
(६) अनुसरण।

उत्पादन नियन्त्रण के प्रथम दो अगो का वर्णन गत अध्याय मे किया जा चुका है तथा शेष अगो की विस्तृत व्याख्या हम नीचे प्रस्तुत करते हैं।

(III) मार्ग निर्देशन (Routing)—

'मार्ग निर्देशन' उत्पादन नियन्त्रण का तीसरा महत्वपूर्ण अग है। कार्यशालाओ (Shops) म काम अधिक प्रभावपूर्ण ढग से हो, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये मार्ग निर्देशन की आवश्यकता पड़ती है। सर्व श्री किम्बाल एव किम्बाल न अपनी पुस्तक 'Principles of Industrial Organisation' मे मार्ग निर्देशन की परिभाषा इस प्रकार दी है—"मार्ग निर्देशन से अभिप्राय उन मार्गों का निश्चित करना है जिनसे कच्चा माल पक्के माल मे परिणित किय जाते समय गुजरेगा।" मार्ग निर्देशन का उद्देश्य क्रियाओ को करने का सर्वोत्तम एव सस्ता से सस्ता क्रम निर्धारित करना है तथा यह देखना है कि उस क्रम का व्यवहार मे पालन भी किया जाय।

यह उल्लेखनीय है कि निरन्तर प्रक्रिया वाले उद्योगो (Continuous industries) म मार्ग निर्देशन स्वचालित होता है, क्योकि इनमे प्लान्ट ही इस तरह लगाया जाता है कि निर्माण के काल म उत्पादन एक निश्चित क्रम या मार्ग से गुजरे। लेकिन विशेष आदेश पर निर्माण करने वाले उद्योगो (Intermittant Series) मे अनेक क्रम (Sequences) होते है और इनमे से किसी भी क्रम का पालन किया जा सकता है। फिर भी एक दी हुई वस्तु के लिये क्रियाओ का एक विशेष क्रम ही सर्वोत्तम होता है। इस बात को हम रेल मार्गों के उदाहरण से समझा सकते हैं। किसी विशेष स्थान को जाने के लिये, जैसे ग्वालियर से कानपुर जाने के लिये, कई रेलमार्ग हो सकते हैं, यथा ग्वालियर से कानपुर को आगरा होकर अथवा ग्वालियर से कानपुर को झाँसी होकर। रेल यात्री वही मार्ग चुनेगा जो उसके लिये समय, धन व आराम की दृष्टि से सर्वोत्तम हो। इसी प्रकार कच्चे माल को तैयार माल मे परिणित करने के लिये कई क्रम हो सकते है। उत्पादन के लिये इनमे से वही क्रम चुनना चाहिये जिसे ग्रहण करके वस्तु सस्ती, पर्याप्त मात्रा मे व सही किस्म की बनाई जा सके।

---

* 'Planning is the most important part of manufacturing. It involves thinking through the whole production process from beginning to end for the required quantity and quality at the proper time and by the most economical method"

— *Dr. Walters*

मार्ग निर्देशन का आर्थिक महत्त्व श्रम विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है। मार्ग सम्बन्धी योजना किसी न किसी अधिकारी को बनानी ही चाहिये। लेकिन फोरमैन अपने काय म बहुत व्यस्त रहता है। वह इस ओर पर्याप्त ध्यान नही दे सकता। अत इसके लिय कोई पृथक अधिकारी होना चाहिय। जब एक बार एक श्रष्ठ मार्ग निश्चित कर लिया जाता है तथा उसके अनुसार कुछ वस्तुओ का निर्माण भी हो जाता है तो वही मार्ग भविष्य मे वसी ही वस्तुओ का पुन निर्माण होने पर अपनाया जा सकता है। यह स्मरणीय है कि प्लाट मे सामग्री के मार्ग निदशन की समस्या इमारत व क्रियाओ (Operations) के डिजायन पर बहुत प्रभाव डालती है। मार्ग निदशन के अन्तगत उचित औजारो साज सामान एव आवश्यक कमचारियो का भी सकेत किया जाता है जो कि एक विशेष उत्पादन क्रिया मे प्रयोग किय जाते। इस काय के लिये मार्ग निदेशक एक मार्ग सूची (Route Sheet) तयार करता है और उसमे निम्न बातें देता है —

(१) वक्स आडर का नम्बर (Works Order No)।
(२) बनाई जाने वाली इकाइयो की सख्या (Number of pieces to be made)।
(३) भाग का चिन्ह एव वग (Symbol and classification of the part)
(४) उत्पादन की प्रत्येक इकाई के लिये समूह आकार (Lot size) यदि उत्पादन समूह (lot) मे किया जाता है।
(५) प्रत्येक भाग के लिये क्रियाओ की सूची।
(६) क्रियाओ का निश्चित क्रम।
(७) प्रत्येक क्रिया के लिये प्रयोग की जाने वाली मशीन का नाम।

एक वक्स आडर के प्रत्येक भाग (part) के लिये एक पृथक मार्ग सूची बनाना आवश्यक है। नीचे एक मार्ग सूची का नमूना दिया गया है —

Rout Sheet

Part No — Material
Part Name — Pattern No
Date Issued — Forging No
Bar Stock

Oper No	Operation Name	Standard Machine	Alternate Machine	Dept
1				
2				
3				
4				
5				
6				
7				

जटिल वस्तुओं की दशा मे (जैसे कि टायपराण्टर व मोटर गाडी) पूर्ण वस्तु बनाने के हेतु विभिन्न भागों (parts) को असेम्बिल (assemble) करने के लिये जो क्रियायें की जाती हैं वे भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। अतः इनकी भी योजना सावधानी से बना लेनी चाहिये।

(IV) समय-अनुसूचियन (Scheduling)—

समय अनुसूचियन भी उत्पादन नियत्रण का एक महत्त्वपूर्ण अग है। वास्तव मे देखा जाय तो अनुसूची एक सूची होनी है। ऐसी अनेक अनुसूचियो के नाम हमने अपने दैनिक जीवन मे सुने होगे, जैसे—रेलवे दरो की अनुसूचियाँ (Schedules of Railway Rates), बनाये जाने वाले विभिन्न भागो की अनुसूचियाँ, आदि-आदि। सर्वश्री किम्बाल एव किम्बाल के शब्दों मे—"समय अनुसूचियन से अभिप्राय उस समय को निश्चित करना है जो कि प्रत्येक क्रिया के पूर्ण होने मे लगेगा तथा उस समय को निश्चित करना भी समय अनुसूचियन मे आता है जो कि सम्पूर्ण क्रिया शृंखला को सम्पादित करने के लिये आवश्यक होगा। यह समय प्रभाव डालने वाले सभी घटकों पर विचार करने के पश्चात् ही निर्धारित किया जाता है।"*

जबकि मार्ग निर्देशन उस मार्ग का सकेत करता है जिससे कोई यात्री एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक जाने के लिये गुजरेगा, समय अनुसूचियन समय का सकेत करता है, जबकि उस यात्री को उस निर्धारित मार्ग से गुजरना चाहिये। वास्तव मे मार्ग निर्देशन की समस्या इतनी कठिन नही है जितनी कि समय अनुसूचियन की है। उत्पादक क्रियाओं के प्रारम्भ करने व समाप्त करने का ठीक-ठीक समय निर्धारित करना एक कठिन कार्य है।

उक्त समय अनुसूचियन तीन प्रकार का हो सकता है :—

(१) रूपरेखा अनुसूचियन (Master Scheduling)—रूपरेखा अनुसूचियन मे केवल उन तिथियो का ही निर्धारण किया जाता है जबकि किसी उत्पादन कार्य के महत्त्वपूर्ण अग समाप्त कर लिये जाने चाहिये।

(२) क्रिया अनुसूचियन (Operation Scheduling)—इस प्रकार के अनुसूचियन के अन्तर्गत एक दी हुई मशीन या क्रिया के द्वारा किसी कार्य विशेष को करने मे जितना कुल समय लगाना चाहिये उसे निर्धारित किया जाता है।

(३) विस्तृत क्रिया अनुसूचियन (Detail Operation Scheduling)—किसी दिये हुये जॉब को एक दी हुई मशीन या क्रिया द्वारा करने मे जो समय लगे उसे निर्धारित करना विस्तृत क्रिया अनुसूचियन का काय है।

अनेक वस्तुये ऐसी हैं जिनमे कई उप वस्तुओं या भागो (parts) का समावेश होता है और इन उप-वस्तुओं व भागो का पृथक-पृथक निर्माण करना पडता है। ऐसी

---

* "Scheduling is defined as the determination of the time that should be required to perform each operation, and also the time necessary to perform the entire series as routed, making allowance for all factors concerned." —*Kimball and Kimball.*

दशा में विभिन्न उप-वस्तुओं का निर्माण करने के लिये जो अलग-अलग क्रियायें की जाये उनमें पूर्ण समन्वय होना चाहिये, ताकि असेम्बिल करने की अन्तिम क्रिया भी उचित समय के भीतर पूर्ण की जा सके। चूंकि विभिन्न भागों के निर्माण करने के लिये अलग-अलग मात्राओं में समय लगता है, इसलिये जिन भागों के निर्माण करने में अधिक समय लगता है उन्हे प्राथमिकता दी जाती है। समय-अनुसूचियन द्वारा सभी कार्य-भागों (Jobs) के लिये विवेकयुक्त समय-तालिका बना ली जाती है, जिसे देखकर यह मालूम किया जा सकता है कि कौन-कौन से भाग बन रहे हैं, उनके बनने में कितना समय लगेगा और वे कब-कब पूर्ण हो जायेंगे।

(V) कार्य प्रारम्भ सम्बन्धी आदेश (Despatching)—

जब उत्पादन क्रियाओं का मार्ग एवं समय निश्चित कर दिया जाता है, तो वास्तविक उत्पादन करने का प्रश्न उठता है। डिस्पैचिंग का अभिप्राय कार्य प्रारम्भ कराने से है। इस आशय के लिये श्रमिकों को कार्य सम्बन्धी आदेश, निर्देश, व सूचना दी जाती है। वास्तव में डिस्पैचिंग उत्पादन नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण अंग है व उत्पादन सम्बन्धी आदेशों का पालन करने के हेतु जिस सामग्री, श्रम व मशीनों की आवश्यकता होगी वह सब जुटाना डिस्पैचिंग का ही कार्य है। इसी विभाग के जिम्मे प्लाण्ट की उत्पादन सम्बन्धी क्रियाओं के नियंत्रण करने का कार्य भी होता है। जब काम प्रारम्भ हो जाय, तो उसे यह भी देखते रहना चाहिये कि उत्पादन सही ढंग से व सही समय पर हो। निर्माण की लागत मालूम करने के लिये आवश्यक आंकड़े व सूचना प्रदान करना भी डिस्पैचिंग का कार्य है। निरन्तर उद्योगों (Continuous industries) में डिस्पैचिंग एक दैनिक (routine) कार्य है, जो कि उत्पादन से सम्बन्धित होता है। लेकिन ग्राहकों के आदेशानुसार माल बनाने वाले उद्योगों (Intermittent industries) में प्रत्येक क्रिया एक नवीन कार्य (Task) है। अतः उनमें मनुष्य और मशीनों को सर्वदा व्यस्त रखने की समस्या पैदा होती है।

सर्वश्री किम्बाल एवं किम्बाल के अनुसार डिस्पैचिंग के प्रमुख कार्य (functions) निम्नलिखित है :—

(१) श्रमिक को वे सब औजार आदि दिलाना जो कि उसे उत्पादन क्रिया के लिये, जिसमें वह लगने जा रहा है, आवश्यक होंगे।

(२) कार्य प्रारम्भ करने का समय आने पर श्रमिकों को सभी वर्क्स आर्डर, निर्देश ड्राइङ्ग इत्यादि देकर कार्य प्रारम्भ कराना।

(३) प्रत्येक क्रिया कब आरम्भ की गई और कब समाप्त हुई, इसका लेखा रखना।

(४) एक क्रिया के समाप्त होने पर उत्पादित भाग दूसरी क्रिया के स्थान पर पहुँचाना।

(५) क्रियाओं की प्रगति का पता लगाना तथा आवश्यकतानुसार शिड्यूल में संशोधन करना।

(VI) अनुसरण (Follow-up)—

उत्पादन-नियंत्रण की कोई भी व्यवस्था तब तक पूर्ण नहीं कही जा सकती, जब तक कि उत्पादन-कार्य क्रम (Production Programme) शिड्यूल के अनुसार अमल में न लाया जाय। अतः अनुसरण कार्य में संलग्न व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि वे वास्तविक उत्पादन कार्य का सावधानी से अवलोकन करते रहें। उसका रिकार्ड भी रखें तथा पूर्व निश्चित योजना से तुलना करने पर उसमें कोई त्रुटि या परिवर्तन मालूम पड़े, तो उसकी तत्काल रिपोर्ट भी करें। संक्षेप में अनुसरण-विभाग (Follow-up Section) के कर्तव्य निम्न से सम्बन्ध रखते हैं :—

(१) क्या उत्पादन सम्बन्धी आदेश (Production Orders) (पूर्ण निर्देशों व अन्य सहायक कागज पत्रों सहित) कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व उचित समय के अन्दर प्राप्त हो गये हैं।

(२) क्या आवश्यक सामग्री, औजार आदि सही समय पर मिल गये हैं।

(३) मशीनों पर कार्य भार अधिक तो नहीं है।

(४) कार्य की प्रगति सही किस्म व सही मात्रा में हो रही है या नहीं ?

(५) मशीन, औजार अथवा निर्मित वस्तु में कोई दोष तो नहीं है ?

(६) क्या कार्य की प्रगति समय के अनुसार हो रही है ?

(७) क्या सभी उत्पादन आदेश निश्चित समय के अन्दर पूरे हो गये हैं।

(८) अति आवश्यक आदेशों को हाथ में लेने से साधारण कार्य की प्रगति में कोई विघ्न तो नहीं पड़ा ?

(९) क्या मनुष्य व मशीनों को खाली रखना पड़ा है ?

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'अनुसरण क्रिया' (Follow-up process) के द्वारा यह मालूम हो जाता है कि योजना को व्यावहारिक रूप दिया गया है या नहीं। विभिन्न उत्पादन क्रियाओं का समन्वय करना, लागत खाते तैयार करने के लिये आवश्यक आंकड़े इकट्ठे करना तथा त्रुटियों व अकुशलताओं का पता लगाना भी अनुसरण विभाग का ही कार्य है।

STANDARD QUESTIONS

(1) What do you understand by 'Production Control'? What are its principles?

(2) Carefully describe the objectives of Routing, Scheduling and Despatching as essentials of production control.

(·) What do you understand by 'Follow up as a constituent of Production Control'? Describe its various functions.

अध्याय १६

कारखाने के प्रशासन एवं प्रवन्ध सम्वन्धी विभाग

(Administrative & Managerial Departments of a Factory)

प्रारम्भिक—

एक बडे कारखाने की विविधमुखी क्रियाओ के सुचारु सम्पादन के लिये यह आवश्यक होता है कि प्रशासन एव प्रबन्ध सम्वन्धी कर्त्तव्यों व अधिकारो का विभाजन उचित रूप से किया जाय। ऐसा करने मे यह निश्चित करने मे सरलता हो जाती है कि कौनसा अधिकारी त्रुटि के लिये दायी था। सम्पूर्ण सस्था का विभागो, उप-विभागो व कार्यशालाओ मे विभाजन सस्था के व्यवसाय के स्वभाव, आकार व क्षेत्र पर निर्भर होता है। प्रस्तुत अध्याय मे सस्था के प्रशासन एव प्रबन्ध सम्बन्धी विभागो की चर्चा की गई है।

प्रशासन विभाग

(Administrative Division)

प्रशासन विभाग के अन्तर्गत निम्न का समावेश किया जाता है:—(I) प्रशासन (II) सचिवालय, (III) लेखा एव वित्त, (IV) लागत लेखा विभाग, और (V) साख्यिकी विभाग।

(I) प्रशासन (Administration)—

सस्था का बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स एक मैनेजिंग डाइरेक्टर या जनरल मैनेजर की सहायता से प्रशासन का कार्य करता है और निम्न बातो पर ध्यान देता है:—

(१) सगठन की व्यवस्था बनाना व व्यवसाय की वित्त एव सामान्य नीतियाँ निर्धारण करना।

(२) पूँजी प्राप्त करना व बैंकिंग सुविधाओ की व्यवस्था करना।

(३) स्थायी सम्पत्तियाँ खरीदना तथा अतिरिक्त पूँजी व्यय एव व्यवसाय विस्तार की स्वीकृति देना।

(४) ऋण लेना या देना, पर्याप्त पूँजी कोष रखना तथा अतिरिक्त धन का विनियोग करना।

(५) व्यवसाय सम्बन्धी कानूनी कार्य करना।

(६) विद्यमान प्राबन्धिक नीति या निर्माणी क्रियाओ मे सशोधन करना।

(७) विक्रय एव विज्ञापन नीतियो का सचालन करना।

बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स (Board of Directors)—

बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स का मुख्य कर्त्तव्य है सस्था की क्रियाओ का इ-

प्रकार निर्देशन करना कि लगाई हुई पूंजी पर पर्याप्त आय हो, सम्पत्तियां सुरक्षित रहे तथा संयुक्त कोषो (Corporate funds) का प्रयोग निर्धारित लक्ष्यो के लिये हो। उन्हे व्यवसाय की वित्त, उत्पादन, विक्रय एव सामान्य नीतियां निश्चित करनी पडती हैं, पूंजी व्यय स्वीकृत करना पडता है, कारखाने का साज सामान, विभिन्न वस्तु सम्बन्धी अनुसन्धान, श्रम अनुसन्धान, विज्ञापन आदि बातो पर भी ध्यान देना पडता है।

संस्था की विभिन्न इकाइयो के कार्यो का युक्तिसगत वर्गीकरण एव समन्वय करके तथा कार्याध्यक्षो (Executives) को उचित अधिकार देकर सम्पूर्ण संस्थाओ पर केन्द्रीय नियन्त्रण रखना भी बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स का काम है। उसे यह देखना चाहिये कि व्यवसाय के विभिन्न विभाग एक दूसरे से सहयोग करें।

अपने कर्त्तव्यो का कुशलतापूर्वक निष्पादन करने के लिये बोर्ड को चाहिये कि विभाग कार्याध्यक्षो (Department Executives) द्वारा प्रस्तुत की गई आवधिक (Periodical) रिपोर्टो व सांख्यिकी सूचना का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तथा यह पता लगावे कि सभी विभाग (Sections) पृथक्-पृथक् रूप से एव सामूहिक रूप मे कुशलतापूर्वक काम कर रहे हैं या नही।

उसे यह भी देखना चाहिये कि संस्था मे उच्च कोटि की टेक्नीकल योग्यता रखने वाले एव प्रगतिशील विचारो के कार्याध्यक्ष (Executives) नियुक्त किये जावें, जो कि संस्थाओ की नीति को सफलतापूर्वक कार्यान्वित कर सकें।

चूंकि बोर्ड पर बहुत अधिक जिम्मेदारियां होती है इसलिये यह आवश्यक है कि उसके सदस्यो के चुनाव मे बहुत सावधानी रखी जाय। सदस्यो मे उच्च कोटि की व्यापारिक एव औद्योगिक सूझ बूझ तथा ठोस व्यावसायिक योग्यता होनी चाहिए। यद्यपि विशिष्ट योग्यता होना अत्यन्त वाछनीय है, लेकिन उन व्यक्तियो की दशा मे जिन्हे प्रशासन एव वित्तीय मामलो का दीर्घकालीन अनुभव एव योग्यता हो, अपवाद किया जा सकता है।

साधारणत. बोर्ड अपने एक सदस्य को प्रबन्ध सचालक नियुक्त कर देता है और कभी-कभी वह बाहर के किसी व्यक्ति को, जिसे उस उद्योग की विशिष्ट जानकारी हो, जनरल मैनेजर के रूप मे नियुक्त कर सकता है। इन परिस्थितियो मे उक्त प्रबन्ध-सचालक या जनरल मैनेजर निर्देशन एव क्रियान्वन-कर्त्तव्यो (Directive and Executive Functions) के मध्य सम्पर्क जोडने वाली कडी का काम करते हैं।

कभी कभी बोर्ड विभिन्न उद्देश्यों के लिये कई कमेटियो मे विभाजित हो जाता है। ये कमेटियां वित्त, व्यवसाय विस्तार, निर्माण क्रिया मे सशोधन आदि विषयो पर विचार करने के लिये निश्चित समयान्तरों पर बैठकें करती हैं। सम्बन्धित विभागो के अध्यक्षो से भी इन सभाओ मे उपस्थित होने के लिए कहा जाता है, ताकि वे भी विचार विनिमय मे भाग ले सकें।

वित्त, टेक्नीकल एवं व्यापारिक विभागों के कार्याध्यक्षों (Executive Heads) की सहायता से मैनेजिंग डाइरेक्टर जो सूचनाएँ विभागीय कार्यों के बारे में प्रदान करता है तथा डाइरेक्टरों की कमेटियों द्वारा जो सुझाव दिये जाते हैं उनके आधार पर बोर्ड उचित निर्णय करता है।

मैनेजिंग डाइरेक्टर या जनरल मैनेजर—

एक निर्माणी व्यवसाय का मैनेजिंग डाइरेक्टर अथवा जनरल मैनेजर एक वित्त विशेषज्ञ एवं कुशल प्रशासक होना चाहिये। उसमें मनुष्यों का नेतृत्व करने की क्षमता हो, तथ्यों को समझाने, विश्लेषित करने व समन्वित करने की योग्यता तथा तत्काल निर्णय लेने की व वांछित उद्देश्यों की पूर्ति कराने की क्षमता भी हो। संस्था की भौतिक, मानसिक एवं यान्त्रिक शक्तियों को संयुक्त करके उनसे अधिकतम कार्य लेने की योग्यता होना भी उसके लिये आवश्यक है।

मैनेजिंग डाइरेक्टर या जनरल मैनेजर वित्तीय एवं व्यावसायिक क्षमता का व्यक्ति हो या टेक्नीकल योग्यता एवं अनुभव का, यह बात संस्था के स्वभाव पर निर्भर करती है। जहाँ संस्था का काम बहुत ही टेक्नीकल प्रकृति का है वहाँ यह उचित होगा कि मैनेजिंग डाइरेक्टर टेक्नीकल विशेषज्ञ हो। लेकिन जिन संस्थाओं में निर्माणी कार्य कम तथा क्रय-विक्रय सम्बन्धी कार्य अधिक हो, वहाँ मैनेजिंग डाइरेक्टर या जनरल मैनेजर में व्यापारिक एवं वित्तीय योग्यता होनी चाहिए। फिर भी इस उत्तरदायित्व-पूर्ण पद पर जिस व्यक्ति को नियुक्त किया जाय उसमें विशेष टेक्नीकल योग्यता के साथ-साथ कुछ वित्तीय एवं व्यापारिक योग्यता एवं विशेष वित्तीय एवं व्यापारिक योग्यता के साथ कुछ टेक्नीकल योग्यता भी होनी चाहिए।

बड़ी संस्थाओं में मैनेजिंग डाइरेक्टर या जनरल मैनेजर की सहायता के लिए कई कार्याध्यक्ष (Executives) होते हैं, जिनमें अपने-अपने कार्य (Function) सम्बन्धित विशिष्ट योग्यता होती है। इस प्रकार मैनेजिंग डाइरेक्टर को दिन प्रति दिन की बातों में अपना समय व श्रम खर्च नहीं करना पड़ता और वह महत्वपूर्ण विषयों पर अधिक ध्यान दे सकता है।

मैनेजिंग डाइरेक्टर या जनरल मैनेजर का कार्य अत्यन्त ईमानदारी के साथ बोर्ड की नीति को व्यावहारिक रूप देना है तथा सम्पूर्ण संस्था को एक कुशल इकाई के रूप में संचालित करना है।

एक प्रधान (Chief) एक्जीक्यूटिव होने के नाते उसमें भावी व्यापारिक दशाओं का अनुमान लगाने की योग्यता होनी चाहिए। उसे सदा ही परिणामों की निगरानी रखनी चाहिये, ताकि उसे यह मालूम पड़ता रहे कि व्यवसाय की प्रगति कहाँ तक आशानुकूल है तथा व्यय किस सीमा तक बजट के अनुसार किये जा रहे हैं। उसे यह भी देखना चाहिए कि सम्पूर्ण संगठन एक अत्यन्त समुचित ढंग से कार्य करे तथा उत्पादन एवं विक्रय की मात्रा पूर्व निर्धारित स्तर पर हो।

जनरल मैनेजर या मैनेजिंग डाइरेक्टर को मानव मनोविज्ञान की भी जानकारी

होनी चाहिए। उसे 'यह' अनुभव करना चाहिये कि अधिकतम कुशलता से कार्य अभी हो सकता है, जबकि उसके और आधीन कार्यकारी अधिकारियों एवम् विभागीय मैनेजरों के बीच हार्दिक सहयोग हो। उसे अपने आधीन कार्यकारी अधिकारियों (Subordinate Executives) और टैक्नीशियनों के सुझावों पर ध्यान देना चाहिये तथा उनकी सूझ-बूझ को बढ़ावा देना चाहिये।

उसमें अनेक तथ्यों को सन्तुलित करने की क्षमता भी होनी चाहिये, ताकि वह सभी तथ्यों एवं परिस्थितियों का पूर्ण विचार करने के पश्चात् एक उचित नीति बना सके।

वह बोर्ड को आर्थिक एवम् वित्तीय मामलों में भी परामर्श देता है। चूंकि सम्पूर्ण जिम्मेदारी उसी पर डाल दी गई है इसलिये वह यह आशा करता है कि वर्क्स एवम् आफिस मैनेजर उसके मार्ग-दर्शन के अनुसार चलेंगे। इस प्रकार उसका मुख्य कर्त्तव्य संचालन, समन्वय एवं नियन्त्रण करना है।

नई वस्तुओं के लिये माँग कैसे उत्पन्न की जाती है तथा वस्तुयें निर्मित करने का सबसे उत्तम एवं सबसे सस्ता ढंग क्या है, ताकि प्रतियोगिता में सफलता मिले, आदि बातों की जानकारी भी होना आवश्यक है। उसे भृत्ति भुगतान की कोई उचित पद्धति निर्धारित करनी चाहिए। सामग्री एवं व्ययों के नियन्त्रण की व्यवस्था करना भी आवश्यक है।

(II) सचिव एवं सचिवालय (The Secretary & Secretarial Section)—

एक बड़ी संस्था में सेक्रेटरी का पद अत्यन्त विश्वास एवं जिम्मेदारी का होता है। वह मैनेजिंग डाइरेक्टर या जनरल मैनेजर के प्रत्यक्ष मार्ग-प्रदर्शन में कार्य करता है। साधारणतः वह कार्यालय स्टाफ (Office Staff) के नियन्त्रण के लिये दायी माना जाता है। पत्र-व्यवहार करना, फाइल करना, सांख्यिकी आंकड़े रखना, वित्तीय खाते तैयार करना तथा कम्पनी का लिपिक कार्य उसके ही निरीक्षण में होता है।

कम्पनी के निर्माण, शेयरों के आबन्टन, समामेलन, प्रमाण-पत्र एवं नई संस्था में उसे नियम सम्बन्धी आदेशों को पूरा करना पड़ता है। संचालकों एवं शेयर होल्डरों की सभी बैठकों में उपस्थित रहना भी उसका एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य है। उसे इन सभाओं का एजेण्डा बनाना पड़ता है तथा सभाओं की कार्यवाहियों का रिकार्ड रखना पड़ता है तथा इन सभाओं में जो निर्देश दिये जायें उनको भी कार्यान्वित करना पड़ता है। सभा में बुलाने के नोटिस जारी करना, प्रस्तावों के ड्राफ्ट तैयार करना तथा कार्यवाही विवरण लिखना भी सेक्रेटरी की ही जिम्मेदारी है। सेक्रेटरी को सभाओं में उचित कार्यविधि (Procedure) के पालन होने का ध्यान रखना चाहिये। उसे विभिन्न रिपोर्टें (जैसे संचालक समितियों की रिपोर्ट, वैधानिक रिपोर्ट तथा वार्षिक रिपोर्ट आदि) भी उचित रूप में तैयार करके बोर्ड के सामने रखनी पड़ती हैं।

उसे हिसाब-किताब सम्बन्धी ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि आवश्यक

सूचनाये सरलता से मिल सके। अकाउन्ट्स एवं कॉस्ट विभाग की रिपोर्टें भी उसे ही बोर्ड के समक्ष रखनी पड़ती है।

एक कम्पनी सेक्रेटरी को कम्पनी एवं व्यापारिक सन्नियमों का विशेष ज्ञान होना चाहिये। वह व्यापारिक प्रथाओं से भी भली प्रकार परिचित होना चाहिये। अकाउन्ट्स, सांख्यिकी एवं व्यापारिक संगठन आदि विषयों का भी ज्ञान होना आवश्यक है। कारखाना सन्नियमों का भी ज्ञान अनिवार्य होता है।

उपरोक्त कार्यों के अलावा सेक्रेटरी को करारोपण, बीमा कम्पनी के कोषों के विनियोजन आदि बातों पर भी ध्यान देना चाहिए। क्रय, मजदूरी, उत्पादन, व्यय-अनुपात, विक्रय आदि से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सांख्यिकी सूचना एकत्र करना भी उसी की जिम्मेदारी है। इन सूचनाओं को वह प्रबन्धकों के सम्मुख रखता है, ताकि वे उपयुक्त निर्णय कर सकें।

वह अपने आधीन कर्मचारियों को नियन्त्रण में रख सके, इस हेतु उसमें चतुरता, चरित्र व डिप्लोमेसी होनी चाहिये।

(III) अकाउन्ट्स विभाग (Accounts Section)—

इस विभाग का मुखिया एक चीफ अकाउन्टेन्ट होता है। इसे निम्न कार्य करने पड़ते है :—

(i) नगद कोषों की व्यवस्था करना एवं वित्तीय हिसाब खाते रखना।
(ii) विक्रय का रिकार्ड रखना तथा डूबे ऋण वसूल करना।
(iii) खरीद का रिकार्ड रखना व भुगतान करना।
(iv) मजदूरियों एवं व्ययों का रिकार्ड रखना व भुगतान करना।
(v) बोर्ड की सूचना के लिये मासिक वित्तीय विवरण व रिटर्न तैयार करना।
(vi) लाभ-हानि खाते एवं चिट्ठा तैयार करना।
(vii) बीजकों, वाउचरों, विश्लेषणात्मक विवरणों तथा हिसाब सम्बन्धी पत्र-व्यवहार के लिये उचित फाइलें रखना।
(viii) लागत लेखा कार्यालय, सामग्री, स्टोर्स एवं मजदूरी विभागों के साथ तथा कारखाने के उत्पादक एवं अनुत्पादक विभागों के साथ सहयोग करना।

(IV) लागत लेखा विभाग (Cost Section)

एक छोटी औद्योगिक संस्था में लागत लेखा विभाग चीफ अकाउन्टेन्ट की देख-रेख में कार्य करता है तथा अकाउन्ट्स डिपार्टमेन्ट का ही भाग होता है। किन्तु एक बड़ी संस्था में यह स्वतन्त्र विभाग होता है और एक अनुभवी व योग्य कॉस्ट अकाउन्टेन्ट के निरीक्षण में कार्य करता है। इसके निम्न कर्त्तव्य हैं :—

(१) उद्योग की आवश्यकताओं के अनुकूल एक लागत लेखा प्रणाली संगठित करना।
(२) सभी लागत लेखा विवरणों को उपयुक्त फार्मों (forms) में तैयार

करना व प्रस्तुत करना, ताकि उनके वास्तविक एवं तुलनात्मक महत्व का ज्ञान हो सके।

(३) उत्पादन की इकाइयों पर विभिन्न व्ययों का उचित प्रकार से वितरण करना।

(४) लागत लेखा सम्बन्धी संक्षिप्त रिपोर्टें शीघ्रातिशीघ्र प्रबन्धकों के समक्ष रखना, ताकि उनको प्रबन्ध कार्य में सुविधा हो।

(५) वास्तविक लागतों का अनुमानित लागतों से तुलना करके दुर्बलतायें पता लगाना।

(६) सदभ के लिये सभी लागत सम्बन्धी आँकड़े सुरक्षित रखना।

(७) निम्न के सम्बन्ध में प्रबन्धकों को उपयुक्त समयान्तरों पर सूचित करते रहना :—

(अ) पूर्ण हुये जॉब व चालू जॉब की लागत।

(ब) सामग्री लागत का विश्लेषण।

(स) श्रम लागत का विश्लेषण।

(द) कारखाना एवं प्रशासन सम्बन्धी उपरिव्ययों का विश्लेषण।

(य) बिक्री खर्च।

(V) सांख्यिकी विभाग (Statistical Section)—

मुख्य सांख्यिकी अधिकारी निम्न के सम्बन्ध में समय-समय पर सांख्यिकी सूचना प्रदान करता है—(१) श्रम, (२) सामग्री, (३) मशीन, (४) उत्पादन, (५) व्यय, (६) बिक्री व आदेश, (७) अनुमान एवं लागत आदि।

[कुछ संस्थाओं में सेक्रेटरी, चीफ अकाउन्टेन्ट, कॉस्ट अकाउन्टेन्ट एवं चीफ स्टेटिशियन एक आफिस मैनेजर के निरीक्षण एवं मार्ग दर्शन में कार्य करते हैं।]

प्रबन्ध सम्बन्धी व्यवस्था
(Managerial Structure)

प्रबन्ध से सम्बन्धित मुख्य अधिकारी है—(१) वर्क्स मैनेजर, (२) चीफ इंजीनियर, (३) लेबर चीफ, (४) स्टोर्स मैनेजर, (५) आफिस मैनेजर तथा (६) सेल्स मैनेजर। इनमें से प्रत्येक की सहायता के लिये कई उप-अधिकारी (Sub-executives) भी होते हैं और फिर इनके नीचे अनेक कर्मचारी कार्य करते हैं।

कर्त्तव्यों एवं जिम्मेदारियों का विभाजन—

कार्य विभाजन आधुनिक युग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। आजकल विभिन्न क्रियाओं की जटिलता में इतनी वृद्धि हो गई है तथा इनके संचालन के लिये इतने विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता पड़ने लगी है कि एक अकेले व्यक्ति के लिये संस्था को सफलतापूर्वक चलाना असम्भव है। अतः प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य विभिन्न अधिकारियों एवं कर्मचारियों में बाँट देना आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक अधिकारी व कर्मचारी का कार्य क्षेत्र सीमित होता है तथा वह अपने से उच्च अधिकारी के प्रति जिम्मेदार होता है।

कर्त्तव्यो एव दायित्वो का विभाजन निम्न किसी भी ढग से किया जा सकता है :—

(१) प्रत्येक एक्जीक्यूटिव को एक विशेष विभाग या उपविभाग का कार्य सौंप दिया जाय और इसके नियन्त्रण व निरीक्षण के लिये उसे दायी बनाया जाय। या

(२) प्रत्येक एक्जीक्यूटिव एक विशेष कार्य (function) पर ही ध्यान दे। जैसे खरीदारी, श्रम नियन्त्रण, उत्पादन नियोजन, उत्पादन की प्रगति, सामग्री व स्टोर आदि। या

(३) प्रत्येक एक्जीक्यूटिव के नीचे कुछ कर्मचारी हो और कार्यों के लिये वह दायी हो। या

(४) प्रत्येक एक्जीक्यूटिव को एक विशेष वस्तु के उत्पादन की क्रियाओ के लिये उत्तरदायी बनाया जाय। या

(५) प्रत्येक एक्जीक्यूटिव को एक विशेष क्रियाओ या क्रियाओ की एक विशेष शृंखला के लिये जिम्मेदार बनाया जाय। या

(६) प्रत्येक एक्जीक्यूटिव को कारखाने के साज सामान या मशीनो के एक समूह के लिये उचित कार्यकरण के लिये जिम्मेदार बनाया जाय। या

(७) इन सभी क्रियाओ का समन्वय करने वाला एक एक्जीक्यूटिव हो, जिसे सम्पूर्ण अधिकार हो और जो केन्द्रीय नियन्त्रण स्थापित करे।

वर्क्स मैनेजर (Works Manager) चीफ इंजीनियर तथा प्रोडक्शन एवं प्रोग्रेस मैनेजरो की सहायता से निम्न का प्रबन्ध करता है—(१) वर्क्स आर्डरो का वितरण, (२) प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध मे कौन कौन सी विधियाँ एव ढग अपनाये जायेगे, (३) कारखाना व्ययो का नियन्त्रण, (४) कारखाने की उत्पादन विधियो का निरीक्षण एव (५) अमेन्विलिंग काय।

चीफ इंजीनियर (Chief Engineer) का कार्य (जिसे वह सहायक इंजीनियरो की सहायता से करता है) निम्न है—(१) प्लान्ट ले-आउट एवं डेवलपमेन्ट, (२) प्रोडक्शन प्लानिंग एव रूटिंग, (३) डिजायन, ड्राइङ्ग आदि, (४) उत्पादन मे मितव्ययिता, (५) अनुसधान एव प्रयोग, (६) पैटर्न शॉप डेवलपमेन्ट तथा (७) प्लांट एव टूल्स की कुशलता।

लेबर चीफ (Labour Chief) के जिम्मे निम्न कार्य हैं—(१) रोजगार सेवा (श्रमिको की भरती, चुनाव व ट्रेनिंग), (२) सर्विस रिकार्ड, (३) कारखाना नियम, (४) मजदूरी कार्यालय एव (५) श्रम हितकारी कार्य।

स्टोर्स मैनेजर को निम्न कार्य करने पडते है और इनमे उसे चीफ बॉयर व चीफ स्टोरकीपर से सहायता प्राप्त होती है—(१) कच्चा माल, स्टोर सामग्री, टूल्स स्पेयर पार्टस आदि का कुशलतापूर्वक क्रय, (२) कच्चा माल आदि का उचित सग्रह।

सेल्स मैनेजर (Sales Manager) निम्न के लिये दायी होता है—(१) विक्रय सम्बन्धी पूछताछ, निर्ख व आदेश, (२) विक्रेता कर्मचारियो का निरीक्षण, (३) नये बाजारो का विकास, (४) ग्राहको की शिकायते, (५) डिस्पैच की दरे एव

रूट, (६) पैकिंग, (७) विक्रय कर्मचारियों की भरती एवं ट्रेनिंग। इसकी सहायता के लिये पब्लिसिटी हैड, ब्रांच मनेजर, सेल्समैन तथा पैकिंग व डिस्पैच डिपार्टमेन्ट होते हैं।

उपरोक्त के अतिरिक्त निम्न उप-अधिकारी (Sub-executives) भी होते हैं और वे अपना निश्चित कर्तव्य निष्पादित करते हैं :—

प्रोडक्शन मैनेजर (Production Manager) का निम्न कार्य है :— (१) प्लानिंग डिपार्टमेन्ट के निर्देशानुसार निर्माण कार्य-क्रम का कुशल संचालन; (२) विभिन्न उत्पादन विभागों को कार्य का आवंटन। (३) प्रोग्रेस मैनेजरों का निरीक्षण एवं नियंत्रण और (४) यह देखना कि प्रत्येक वर्क्स आर्डर निर्धारित समय के अन्दर तथा न्यूनतम लागत पर पूर्ण हो जाय।

प्रोग्रेस मैनेजर (Progress Manager) निम्न बातों पर ध्यान देता है :— (१) उत्पादन कार्य सहज गति से होता रहे, (२) मशीनों व श्रमिकों का विभिन्न जॉबों में उचित विभाजन हो, (३) विभागीय अध्यक्षों को स्पष्ट निर्देश देना; (४) मनुष्य, मशीन व साज-सामान का सदुपयोग, (५) रिपोर्टें व प्रोग्रेस चार्ट तैयार करना, (६) प्रोग्रेस पर ध्यान रखना और (७) जॉब शिड्यूल के अनुसार पूरा होना।

विभागीय अध्यक्ष (Depa·tmental Heads) के जिम्मे निम्न कार्य हैं :—(१) अपने अधीन कर्मचारियों के कार्य का निरीक्षण, नेतृत्व एवं नियन्त्रण करना, (२) जॉब के लिये टूल्स व सामग्री की शीघ्र सप्लाई मिलने की व्यवस्था करना, (३) समय, सामग्री एवं श्रम के अपव्यय का नियन्त्रण करना, (४) प्रत्येक स्तर पर किस्म का नियंत्रण रखना, (५) साज-सामान कुशल कार्य दशा में रखना, (६) मनुष्य व मशीनों को लगातार काम देना व क्षमतानुकूल काम लेना, इनकी सहायता के लिये इंसपैक्टर्स, परीक्षक एवं फोरमैन होते हैं।

टेक्नीकल मैनेजर वर्क्स मैनेजर व चीफ इन्जीनियर के अधीन कर्म करता है तथा इसके जिम्मे निम्न काम हैं :—(१) समय एवं गति अध्ययन, (२) दर निर्धारण, (३) अनुमान, (४) टूल्स, टेक्नीकल साज-सामान व डिजायन, (५) सामग्री एवं औजारों का निरीक्षण एवं जाँच, एवं (६) आन्तरिक यातायात।

फोरमैन विभागीय अध्यक्षों की सहायता के लिये होते हैं और ये श्रमिकों के समूह के इन्चार्ज होते हैं। इनका मुख्य कार्य श्रमिकों को पथ प्रदर्शन करना, निरीक्षण करना तथा उत्पादन सम्बन्धी निर्देश देना है।

चीफ बायर (Chief Buyer) के जिम्मे निम्न कार्य होता है —(१) टेक्नीकल मांगपत्र, (२) माल के लिये आदेश, (३) सप्लायरों के रिकार्ड, (४) मूल्य सूचियाँ रखना, (५) किस्म सम्बन्धी रिपोर्टें एवं (६) मूल्य तुलनायें।

चीफ स्टोर कीपर (Chief Store Keeper) पर आगमन के समय समस्त सामग्री व स्टोर्स को चैक करने तथा आगमन-निगमन का पूर्ण ब्योरा रखने का दायित्व होता है।

इनके अतिरिक्त, निम्न अधिकारी भी प्रोडक्शन डिपार्टमेन्ट के सहयोग से

अपना कार्य करते हैं :—(१) मोटिव पावर अध्यक्ष, (२) अनुमान विभाग अध्यक्ष; (३) औजार विभाग अध्यक्ष, (४) अनुसंधान विभाग अध्यक्ष, (५) चीफ इंसपेक्टर; (६) मरम्मत एवं रखरखाव अध्यक्ष, (७) अनेम्बली विभाग अध्यक्ष, (८) श्रम-कल्याण विभाग अध्यक्ष, (६) विज्ञापन अध्यक्ष, (१०) डिसैंच विभाग अध्यक्ष आदि।

वर्क्स मैनेजर—वर्क्स मैनेजर की सबसे बड़ी योग्यता यह है कि उसे सम्बन्धित उद्योग की प्रोडक्शन इन्जीनियरिंग का विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त हो। वह कारखाने की इमारत का डिजायन बनाने तथा उसमें चीफ इन्जीनियर की सहायता से आधुनिकतम एवं कुशलतम प्लाण्ट लगाने में समर्थ हो। उसे सम्पूर्ण कारखाने की योजना इस प्रकार बनानी चाहिये कि उत्पादन कार्य अबाधित चलता रहे।

उसमें कुशल उत्पादन के हेतु मनुष्य, सामग्री एवं मशीनों से अधिकतम लाभ उठाने, उनका नियन्त्रण एवं संचालन करने की योग्यता होनी चाहिये।

केवल उपयुक्त व्यक्तियों को ही विभागों या कार्यों का अधिकारी नियुक्त करे। वह उनमें उत्तरदायित्व एवं सद्भावना भरे। उसे उत्पादन कुशलता, लागतों में कमी तथा डिजायन की कुशलता के लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। उसे उत्पादन व अन्य क्रियाओं के वास्तविक परिणाम समय-समय पर अनुमानों से मिलाने चाहिये। अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के लिये उचित कार्य दशायें उपलब्ध करना, कुशल विधियों एवं साज-सामान की व्यवस्था करना, वर्क्स एक्जीक्यूटिवों व श्रमिकों के सामयिक सम्मेलन करना, ताकि उनमें सहयोग बढ़े, आदि बातों की जिम्मेदारी भी वर्क्स मैनेजर पर है। वर्क्स मैनेजर को चाहिये कि सेवायोजकों व श्रमिकों के हितों का समन्वय करे, आधुनिकतम इन्जीनियरिंग व टैक्नीकल आविष्कार से परिचित रहे, आन्तरिक यातायात की उचित कुशलता के लिए स्वचालित कन्वेयर्स आदि की व्यवस्था करे, जो कि मानव श्रम की अपेक्षा कार्य को अधिक सरलता, शीघ्रता एवं शुद्धता से कर देते हैं।

STANDARD QUESTIONS

1. State briefly the qualifications and duties of (a) General Manager and (b) Works Manager
2. What are the functions of Board of Directors in a manufacturing concern ?